ऋतञ्च सत्यञ्च

⊙

नैतत्तिरोहितं गीर्वाणवाणीजुषां मनीषिणां यद्देववाणी हि खलु शैवशाक्तवैष्णवजैनबौद्धादिनानासम्प्रदायेषु विभक्तानां विभिन्नमतिजुषाम् आपाततः परस्परविरुद्धत्वेन प्रतीयमानानामपि तेषु तेषु सम्प्रदायेषु तेषु तेषु मतेषु च आवर्त्तबुद्बुद्तरङ्गमयान् विकारान् अम्भो यथा सलिलमेव हि तत्समरतम्—इति न्यायेनैकसूत्ररूपेण ओतप्रोतया एकयैव व्यापिकया भारतीयया लौकिकसंस्कृत्या परस्परं सम्बद्धानां सर्वेषामप्यस्माकं भारतीयसंस्कृत्यभिमानिनामतीव माननीया।

संस्कृतभाषा हि भारतीयार्यधर्म इव सर्वेषामप्यार्यधर्मावलम्बिनां वरिष्ठः शेवधिर्गर्वस्य च विषयः। भारतीयसंस्कृतीत्यपरनामधेयस्य भारतीयजीवनरसस्य सर्वकामदुघा दोग्ध्री वेयमस्माकं मातृरूपा देववाणी।

अत एव तस्याः परिपोषणेनैव भारतीयसंस्कृतेः परिपुष्टिस्समुन्नतिश्च सम्भवति इत्येवमवधार्य विविधभाषायामुपनिबद्धानामनुसन्धानमूलकनिबन्धानां प्रकाशने भारतीपरिषद् दृढपरिकरा तिष्ठति।

विद्वद्धौरेयैः स्वोपज्ञविचारविचारकैर्निबद्धानामनुसन्धानमूलकानामन्येषाञ्चोपयोगिनां प्राचीनानां नवीनानां वा निबन्धानां प्रकाशनेन संस्कृतज्ञेषु अद्य यावदमुद्रितं मुद्रितं चोत्कृष्टं विभिन्नशाखासमन्वितं संस्कृतवाङ्मयमधिकृत्य मौलिकानुसन्धानप्रवृत्तेः सम्यगालोचनाप्रवृत्तेश्चोत्पादनं पोषणम् प्रोत्साहनञ्चैवास्याः भारतीपरिषदः उद्देश्यम्।

अतो भारतीयस्वाधीनतायाः रजतजयन्त्या अवसरमुद्दिश्य विविधनिबन्धालङ्कृतः एषः 'सारस्वत-सन्दर्शनम्' नाम ग्रन्थः प्रकाश्यते।

मकरमासे
२०२९ वै०

देवदत्त शास्त्री
सम्पादकः (भारतश्रीः)

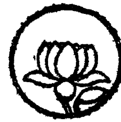
चारित्र्ययोगयुक्त. दिसापामोक्ख आचार्य.

महाप्राज्ञ श्री सरस्वतीप्रसाद चतुर्वेदी



शान्ता सौजन्यपूर्णा परमसुखमयी दिव्यमूर्त्ति पवित्रा
सर्वेषा सौख्यदात्री नयनसुखसुधावर्षिणी कापि रम्या।
सत्यज्ञानप्रकाशप्रकटितमहिमा मानयोग्या गुणाढ्या
भूयाद् भूयोऽघहन्त्री सकलजनमनोहारिणी भव्यभावा ॥

[सुरभारती]



'पद्मभूषण, पण्डितराज'

श्री राजेश्वर शास्त्री द्राविड़

●

राजमान्य-पण्डितकुलमण्डन-भूतपूर्व प्रयागविश्वविद्यालयीयसंस्कृतविभागाध्यक्ष-महाप्राज्ञ-सरस्वतीप्रसादचतुर्वेदिमहोदयानां "सारस्वत सन्दर्शन"--

सम्माननाभिनन्दनम्

राकासुधाकरविसृत्वरचन्द्रिकाभशोभातिशायियशसा विशदीकृताश. ।
अन्वर्थतोऽपि चरितार्थितनामधेय श्रेयान् श्रुतेन स भवानभिनन्दनीय ॥१॥

स्वर्गी सदाशिवसमाधवसत्पराण्डे न्यायाधिराडवसरेष यथाध्यवोचत् ।
आर्यस्य विश्रुतकुलस्य सरस्वतीप्रसादस्य हन्त ! तमुदन्तमिह स्मराम ॥२॥

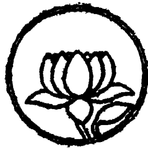
तच्चाद्भुत भवदुदात्तकुले प्रवृत्त कश्चित् पितु प्रतिनिधिः प्रतिपूज्य देवीम् ।
भोक्तु निवेद्यमथ मोक्तुमपि प्रसाद बालो हठेन विवशीकृतवान् महात्मा ॥३॥

श्रीमान् प्रयागगतविश्रुतविश्वविद्यास्थानेऽभवत् निजविभागपदप्रधान ।
सर्वाङ्गसुन्दरमुपास्य सुरेन्द्रभाषा सम्यङ्मन सुमनसा सुरभीचकार ॥४॥

धीरो विपत्तिषु समृद्धिषु चात्युदार शास्त्रेषु च व्यसनवान् रुचिमान्यश सु ।
इत्थ महात्मसु सदा प्रथिता प्रशस्ता स्वादर्शसद्गुणगणा स्पृहयन्ति यस्मै ॥५॥

सारस्वत सुमहताद्य समादरेण सन्दर्शन समुदिता महनीयमान्या ।
सम्भावयन्ति यदमी तदतीव हृष्टा मान्यस्य माननविधे प्रणयन्ति नीतिम् ॥६॥

१८. ३. ७३.



डॉक्टर रामकरण शर्मा
विशेषाधिकारी-सस्कृत
केन्द्रीय शिक्षा मत्रालय, नई दिल्ली



सरस्वत्या प्रसादोऽसि चतुर्वेदविशारद ।
विद्वदग्रेसर श्रीमन् नित्यमेव नमोऽस्तु ते ।।
धन्येय मकरन्दमर्मकुशला रोलम्बमालावली
यस्या सन्ति रसा इमे सुमधुरास्त्यक्ता अपि प्रीतिदा ।
त्वामुत्सृष्टरस स्वय सुमधुर दत्तप्रमोदोदय
वीक्ष्येय मधुहृप्रयासविजिता रेफद्वयी लज्जते ।।
एषा न. सुरभारती सुललिता कल्याणशान्तिप्रदा
विद्याकर्मजुषामुदीक्षत इमा श्रीत्वदृशा दृक्नतिम् ।
वाला बालनिसर्गकर्ममतय शश्रूषवो मादृशा
सस्नेह सकृप भवद्भिरनयो प्राप्या अमुष्या पदो ।।

शिवा स्यात् सस्कृता सृष्टि .
संकरध्वसनात् परम् ।
चिन्मयी सत्कलायुक्ता
विज्ञानाध्यात्मसयुता ।।
तस्या एव वय विप्रा
युवान प्रयतामहै ।
भृतिभोगेन लुब्धेन
नास्माक चरितार्थता ।।

[आचार्य-चतुर्वेदिना शिक्षामन्त्रालयपदात् प्रयागा-
गमनानन्तरं ७ २ १९६१ दिनांके प्रेषितम्]

आचार्य-सरस्वतीप्रसादचतुर्वेदिनां जन्मादिविवरणम्

जन्म १९५९ तमे वैक्रमाब्दे श्रावणशुक्लद्वितीयाया 'भौमवासरे, पूर्वाह्णे मघानक्षत्रस्य तृतीये चरणे, सिंहराशौ।

जन्मस्थानम् ग्राम —लालापुरम्, पत्रालय —लालापुर - भटपुरा, परगना—बारा, तहसील—करछना, जनपदम्—इलाहाबाद ।

वंशाख्यातिः सरयूपारीणब्राह्मण (नयपुरा – चतुर्वेदी), साङ्कृत्यगोत्रम्, त्रिप्रवर (आंगिरस, गौरवीति, साङकृत्य) वाजसनेयशुक्लयजुर्वेदान्तर्गतमाध्यन्दिनीयशाखा।

शिक्षास्थानानि :
(१) धर्मज्ञानोपदेश संस्कृत महाविद्यालय, मालवीयनगर, प्रयाग ।
(२) संस्कृत महाविद्यालय, हिन्दू युनिवर्सिटी, वाराणसी।
(३) दयानन्द एंग्लो वैदिक विद्यालय, प्रयाग ।
(४) गवर्नमेन्ट इण्टर कालेज, इलाहाबाद ।
(५) इलाहाबाद युनिवर्सिटी।

उत्तीर्ण परीक्षा :
(१) आचार्य-परीक्षा (व्याकरणे) १९२५ तमे ईस्वी वर्षे।
(२) काव्यतीर्थपरीक्षा (साहित्ये) १९२६ तमे ईस्वी वर्षे।
(३) एम० ए० (वैदिक वाङमये) १९२९ तमे ईस्वी वर्षे।

सेवा-विवरणम्
(१) मध्यप्रदेशस्य शिक्षा विभागे (क वर्ग) शैक्षणिक कार्यम् (१९२९-५८)
(२) केन्द्रीय शिक्षा मंत्रालये संस्कृत विशेषाधिकारी, केन्द्रीय संस्कृतमण्डलस्य सचिवश्च (५९-६१)
(३) संस्कृतविभागाध्यक्ष इलाहाबाद, विश्वविद्यालये (६१-६६)
(४) केन्द्रीय विश्वविद्यालयानुदान-आयोगेन पुरस्कृत इलाहाबाद विश्वविद्यालये सम्मान्यप्राध्यापक । (१९६६-७१)

अधिष्ठित पदानि
(१) नागपुर-सागर-इलाहाबाद विश्वविद्यालयेषु संस्कृत-विभागाध्यक्ष
(२) अखिलभारतीय-प्राच्यविद्यासम्मेलनस्य (१९५५ तमे ई० अन्नामलइ-नगरे) संस्कृतशाखाधिवेशनेऽध्यक्षः।
(३) केन्द्रीयसंस्कृतमण्डलस्य सचिव । (१९५९-६१)
(४) भारतीयविश्वविद्यालयैः शोध-प्रबन्धपरीक्षा-प्राध्यापकनियुक्ति-पाठ्यक्रमनिर्माणप्रभृतिकार्येषु निमन्त्रित ।
(५) केन्द्रीयशासनेन प्रदेशीयशासनेन च आमन्त्रितेषु संस्कृतशिक्षा-परामर्शसम्मेलनेषु प्रतिनिधित्वेन समाहूत ।
(६) केन्द्रीयशासनस्य आकाशवाणी-संस्कृतकार्यक्रम-परामर्श-समितौ सदस्य ।
(७) केन्द्रीय संस्कृतअकादमी-संस्थानेन महावैयाकरणमालाया पतञ्जलि-विषयक ग्रन्थ रचयितु, मध्यप्रदेशीय-साहित्य-अकादमी संस्थानेन च कृष्णविषयक-व्याख्यानमालाया "पुराणेतरसंस्कृतवाङ्मये श्रीकृष्णस्वरूपम्" इति विषयमधिकृत्य भाषणानि कर्तु समानदेय समाहूत ।

सम्प्रति निवासस्थानम् · 'सारस्वत भवनम्', २५ स्टैनलीरोड, इलाहाबाद-२।

पण्डित सरस्वतीप्रसाद चतुर्वेदी

[संक्षिप्त परिचय]

पण्डित सरस्वतीप्रसाद चतुर्वेदी चतुरस्र प्रतिभा, वैदुष्यपूर्ण वाग्मिता, निश्छल सहृदयता, शालीनता और सुजनता के धनी है। उनके सौम्य मनोरम व्यक्तित्व मे किसी के प्रति विरोध या वैमत्य का सामान्यतया कोई स्थान नही है। गेहुँए रग के, नातिस्थूल, नातिदीर्घ, श्रेष्ठिजनोचित, मझोले कद के उनके सुदर्शन स्वस्थ शरीर तथा कभी भारतीय और कभी पाश्चात्य परम्परा के मिश्रित परिधान को देख कर सहसा यह भान नही होता कि वे विचक्षण प्रतिभा और निर्मल प्रज्ञा के महान व्यक्ति है। किन्तु साधारण बातचीत के अनन्तर ज्यो ही उनकी अगाध विद्या और तथ्यवती चिन्तनधारा का सहज प्रवाह प्रस्फुटित होता है, तो किसी का भी भावविभोर होकर निमज्जित हो जाना सुकर है। वे न केवल भारतीय और पाश्चात्य दर्शन, व्याकरण, वैदिक एव सस्कृत-साहित्य के उद्भट विद्वान है, अपितु अग्रेजी तथा हिन्दी-साहित्य एव अन्यान्य भारतीय भाषाओ के साहित्य मे भी उनकी गहरी पैठ है। निरन्तर स्वाध्याय और चिन्तन उनका व्यसन है, वाग्देवी की वन्दना और आराधना उनका व्रत है तथा यथा नाम तथा गुण की लोकोक्ति को चरितार्थ करने वाले वे विरल महानुभाव है। सयम उनकी वाणी और लेखनी का शृगार है। अपने सहज-प्रसन्न स्वभाव के कारण वे गूढातिगूढ विषयो को भी अपनी प्रसादगुण-मिश्रित शैली मे जब प्रतिपादित करने लगते है, तो उनका वैदुष्य देखते और सुनते ही बनता है। सभाओ मे वे वक्ताओ और श्रोताओ को अभिभूत कर देते है और अपनी महनीय उपस्थिति से साधारण गोष्ठी को भी महिमामयी बना देते है। निरभिमानिता की वे मूर्ति है। उनकी ईषत्स्मित सभाषण शैली और तर्क पद्धति बहुत ही आकर्षक होती है और सर्वथा विरोधी विचारधारा वाले व्यक्तियो को भी वे प्रभावित किए बिना नही छोडते। उनमे अगाध पाडित्य और अध्ययनशीलता के साथ सहृदयता और कर्त्तव्यपरायणता का अद्भुत मेल है। जो भी काम वे हाथ मे लेते हैं, उसका निर्वहण भलीभाति करते है। विद्याव्यसनियो के वे सहज अनुरागी है। विद्या के क्षेत्र मे प्रमाद और आलस्य से उनका विरोध है। अहर्निश अध्ययन, अनुशीलन और चिन्तन के प्रति जागरूक रहकर उन्होने अपना यशस्वी अध्यापक जीवन जिस ढग से जिया है, वैसा बहुत कम लोग जी पाते है। एक बार भी जो उनका छात्र रह चुका है, वह आजीवन उनका पुजारी बन गया है। अपने अन्तेवासियो के प्रति नितान्त निष्कपट अनुराग के कारण उनकी कीर्तिलता का विस्तार समूचे भारत मे है। अपनी जन्मभूमि से सैकडो कोस दूर रह कर जिस कर्त्तव्यपरायणता और निष्ठा से उन्होने विद्या के क्षेत्र मे जो महान कार्य किया है, वह नितान्त दुर्लभ है।

चतुर्वेदी जी का जन्म विक्रमीय सवत् १९५९ के श्रावण मास की शुक्ल द्वितीया मगलवार को इलाहाबाद जिले की करछना तहसील मे बारा परगना के लालापुर नामक ग्राम मे हुआ था। इनके पिता पण्डित लक्ष्मीनारायण चतुर्वेदी अपने युग मे प्रयाग के प्रख्यात कर्मकाण्डी विद्वानो मे से थे और सस्कृत के अच्छे पण्डित थे। चतुर्वेदी जी सरयूपारीण ब्राह्मण है। नयपुरा के चतुर्वेदी वश मे इनका साकृत्य गोत्र है। जिस युग मे चतुर्वेदी जी पैदा हुए थे और जिस वातावरण मे उनका बाल्य जीवन बीता था, वह सस्कृत भाषा से अधिक प्रभावित था और आजकल की भाति अग्रेजीमय नही था। उनके पिता स्वय संस्कृत के बडे विद्वान् और कर्मकाण्डी पण्डित थे, अत अजिन-मेखला-दण्डधारी नितान्त बटु वेश मे इनके विद्याध्ययन का श्रीगणेश प्रयाग के सुप्रसिद्ध सस्कृत विद्यालय धर्मज्ञानोपदेश पाठशाला अहियापुर (वर्तमान मालवीय नगर) मे हुआ। यही से इन्होने प्रथमा, मध्यमा तथा शास्त्री द्वितीय खण्ड की परीक्षाऍ व्याकरण विषय से उत्तीर्ण की, किन्तु शास्त्री तृतीय खण्ड की परीक्षा के समय वाराणसी मे परीक्षा केन्द्र के सम्मुख जो दृश्य इन्होने देखा, उसके कारण परीक्षा मे बैठने से विरत रहे। यह सन् १९२१ ई० के असहयोग आन्दोलन का समय था। इस वर्ष इन्होने कोई परीक्षा नही दी। सन् १९१४ से सन् १९२९ तक निरन्तर पन्द्रह वर्षो मे वही एक वर्ष ऐसा था, जिसमे इन्होने कोई परीक्षा उत्तीर्ण नही की। इसके बाद वे बनारस के हिन्दू विश्वविद्यालय के सस्कृत महा-विद्यालय मे प्रविष्ट हुए, किन्तु वहाँ थोडे ही समय रह सके, क्योकि प्रवास मे छात्र-जीवन की अनेक असुविधाऍ तो थी ही, स्वास्थ्य भी अनुकूल नही रहना था, फलत वे वाराणसी से पुन प्रयाग वापस आ गए और अपनी सस्कृत की परीक्षाए पुन देने लगे।

प्रयाग आकर चतुर्वेदी जी ने सस्कृत अध्ययन के साथ-साथ यहाँ के डी० ए० वी० हाई-स्कूल मे अग्रेजी पढना प्रारम्भ किया। यही से उनके छात्र-जीवन मे एक क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ। अपनी अम्लान प्रतिभा और परिश्रमशीलता के बल पर सस्कृत और अग्रेजी दोनो ही क्षेत्रो मे उन्हे आशातीत सफलताऍ प्राप्त हुई। सन् १९२३ ई० मे जब उनकी अवस्था लगभग २१ वर्ष की थी और वे व्याकरण की शास्त्री परीक्षा उत्तीर्ण कर आचार्य परीक्षा के प्रथम वर्ष मे बैठ रहे थे, उन्होने उत्तर प्रदेश की हाई स्कूल परीक्षा मे भी प्रवेश प्राप्त किया और प्रयाग मण्डल के सम्पूर्ण परीक्षार्थियो मे सर्वप्रथम आए। सन् १९२५ ई० मे वाराणसी की व्याकरणाचार्य परीक्षा उन्होने तत्कालीन श्रेणी विभाजन के अनुसार उपाध्यायवर्ग मे नही, अपितु ताराकिन आचार्यवर्ग मे सम्मानपूर्वक उत्तीर्ण की। सन् १९२६ की काव्यतीर्थ परीक्षा मे बगाली तथा गैर बगाली समस्त छात्रो मे उनका द्वितीय स्थान रहा। सन् १९२९ ई० मे प्रयाग विश्वविद्यालय की एम० ए० (सस्कृत) परीक्षा मे वे सर्वप्रथम आए। उनका चित्र तत्कालीन सर्वविश्रुत अग्रेजी दैनिक पत्र पायोनियर मे निम्नलिखित प्रशस्ति के साथ प्रकाशित हुआ ·

'इन्होने प्रयाग विश्वविद्यालय की एम० ए० (सस्कृत) की प्रीवियस तथा फाइनल (दोनो) परीक्षाओ मे प्रथम बार प्रथम श्रेणी प्राप्त की है। प्रयाग विश्वविद्यालय के अद्यावधि इतिहास मे किसी भी छात्र ने यह विशिष्टता नही प्राप्त की।'

एम० ए० और व्याकरणाचार्य परीक्षाएँ उत्तम श्रेणी मे उत्तीर्ण कर चतुर्वेदी जी यथा समय प्रयाग विश्वविद्यालय मे ही अथवा उत्तर प्रदेश के अन्यान्य राजकीय शिक्षा सेवाओ मे उच्च पद प्राप्त कर सकते थे। किन्तु उनके नितात सकोची और अमहत्वाकाक्षी स्वभाव के कारण उन्हे उत्तर प्रदेश से बाहर मध्यप्रदेश शिक्षा-विभाग मे अध्यापन कार्य सँभालना पडा। उनकी नियुक्ति तत्कालीन मध्यप्रदेश के एकमात्र राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय मॉरिस कॉलेज, नागपुर मे हुई। यह सन् १९२९ का वर्ष था। मध्यप्रदेश मे चतुर्वेदी जी निरतर प्राय ३० वर्षों तक क्रमश प्रवक्ता (लेक्चरर), प्रोफेसर और प्रिसिपल के पद पर समासीन रहे और सन् १९५८ ई० मे पद-निवृत हुए। समूचे मध्यप्रदेश मे विशेषतया शिक्षा-विभाग मे उनके प्रगाढ पाण्डित्य और अध्यापन की बडी धाक थी। उनके छात्र और सहयोगी सब के मन मे उनके प्रति अपार श्रद्धा और आदर के भाव थे। उनके प्रिय छात्रो मे से प्रान्तीय एव केन्द्रीय प्रशासन मे अनेक आई० सी० एस० और आई० ए० एस० के उच्च पदाधिकारी विद्यमान है।

सन् १९५५ ई० मे बनारस सस्कृत कॉलेज (वाराणसेय सस्कृत विश्वविद्यालय का पूर्व रूप) के प्राचार्य (प्रिसिपल) पद के लिए चतुर्वेदी जी चुने गये थे, किन्तु मध्यप्रदेश के तत्कालीन मुख्यमत्री प० रविशकर शुक्ल जी के अनुरोध पर उन्ही की प्रेरणा से नव-सस्थापित राजकीय सस्कृत महाविद्यालय, रायपुर---जो छत्तीसगढ के समृद्धतम दूधाधारी मठ के दान से प्रारम्भ किया गया था---का प्रथम प्राचार्य पद चतुर्वेदी जी ने स्वीकार किया। तीन वर्ष तक वहाँ रह कर आपने अपने ढग के एक अपूर्व सस्कृत सस्थान का सचालन किया, जो आज भी पाठ्यक्रम, छात्रवृत्ति, प्राध्यापक वेतन, प्रतिष्ठापद, विशाल भवन, ग्रन्थागार आदि की दृष्टि से स्पृहणीय और आदर्श है। इसी प्रकार नागपुर और सागर विश्वविद्यालय मे सस्कृत विभाग और ओरिएटल फैकल्टी के अध्यक्ष तथा मध्यप्रदेश मे राजकीय सस्कृत महाविद्यालय के सस्थापक प्राचार्य के रूप मे सस्कृत के उन्नयन मे चतुर्वेदी जी ने विशिष्ट कार्य किया।

मध्यप्रदेश के शिक्षा विभाग से पद-निवृत्त होने के अनन्तर चतुर्वेदी जी कुछ दिनो के लिए भी कार्यविरत नही रह सके। अखिल भारतीय सस्कृतज्ञो की छानबीन करके केन्द्रीय शासन आयोग ने चतुर्वेदी जी को केन्द्रीय शिक्षा मत्रालय मे सस्कृत का विशेषाधिकारी नियुक्त किया, जहाँ वह सन् १९५९-६० मे रहे। अपने कार्यकाल मे चतुर्वेदी जी ने केन्द्रीय शिक्षा मत्रालय की सस्कृत शाखा द्वारा जो उत्तमोत्तम कार्य और योजनाएँ आरम्भ कराई, उनके कारण शासन को बहुत सुयश मिला और वह आज भी इन्ही परम्पराओ पर चल रहा है।

प्रयाग चतुर्वेदी जी की जन्मभूमि ही नही, उनकी पितृभूमि और विद्याभूमि थी। कदाचित मध्यप्रदेश शासन के शिक्षा-विभाग के सेवा-काल मे उन्होने यह सोचा था कि उन्हे अब प्रयाग नही लौटना है, क्योकि उन्होने नागपुर मे अपना सुन्दर भवन 'सारस्वत' बनवा लिया था, किन्तु विधि का विधान कौन टाल सकता है। सन् १९६० ई० मे ही वह प्रयाग विश्वविद्यालय मे सस्कृत विभागाध्यक्ष पद पर सादर समाहूत कर अभिषिक्त किए गए। यह था उनके महनीय तप, साधना तथा सौभाग्य का सुफल, जो यथासमय अनायास ही उन्हे मिला।

प्रयाग विश्वविद्यालय मे सस्कृत विभागाध्यक्ष पद पर चतुर्वेदी जी छ वर्ष तक रहे

(१९६१-१९६६ तक)। इस अवधि मे उन्होने अनेक महत्वपूर्ण कार्य किए। कई दर्जन शोव-निबन्धो का निर्देशन किया, अनेक भाषणमालाएँ आयोजित की, अनेकानेक सास्कृतिक कार्यक्रमो का श्रीगणेश कराया और अपने सैंकडो छात्रों तथा सहयोगियो का॰ अपूर्व सहकार, सौमनस्य एव समादर प्राप्त किया। चतुर्वेदी जी देश के अनेक विश्वविद्यालयो की सस्कृत शिक्षा समिति के सम्मानित सदस्य थे। शोधप्रबन्ध-परीक्षण, प्राध्यापक-नियुक्ति, पाठ्यक्रम-निर्माण प्रभृति की समितियो मे आपका महत्वपूर्ण सहयोग रहता रहा है।

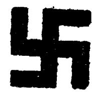
सन् १९६६ ई० मे प्रयाग विश्वविद्यालय के सस्कृत विभागाध्यक्ष पद पर से ससम्मान पदनिवृत होने के अनन्तर चतुर्वेदी जी केन्द्रीय विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा मानदेय सहित प्राध्यापक पद पर बुलाये गए। इस पद पर वह पाँच वर्षों तक (७१ ई०) रहे। और अब सक्रिय सेवा से पदमुक्त होकर अपने नवक्रीत सारस्वत भवन, २५ स्टैनली रोड, इलाहाबाद मे बडी शान्ति और सुख का यशस्वी जीवन यापन कर रहे है। ७१ वर्ष की आयु मे भी वह युवकोचित स्फूर्ति और गतिशीलता से युक्त है। आज वह प्रयाग के सास्कृतिक जीवन मे इतने घुल-मिल गए है कि कोई भी साहित्यिक सभा हो या समारोह, उनकी महनीय उपस्थिति से वह धन्य हो जाता है।

सुन्दर शरीर एव स्वास्थ्य, उत्तम यश, उत्तम कुल, उत्तम चरित्र, पारगत वैदुष्य तथा ऐहिक सुख-साधनो से समन्वित चतुर्वेदी जी स्वल्प परिवार और अपने स्वल्प सन्तोषी स्वभाव के कारण परम सुखी है। उनके एकमात्र अनुज, एकमात्र पुत्र तथा एकमात्र पुत्री है। अनुज पद्मानन्द चतुर्वेदी एम० ए०, साहित्याचार्य है, जो सेवानिवृत्त होकर साथ रहते है, पुत्र स्वतत्र व्यवसाय और गृहस्थी का सचालन करते है, पुत्री देश के प्रख्यात अधिवक्ता प० कन्हैयालाल मिश्र की ज्येष्ठ बधू है, जिसके पति हाईकोर्ट के सुप्रसिद्ध एडवोकेट है। इस प्रकार वह धर्मपत्नी, पुत्र-पुत्रवधू, पुत्री-जामाता, पौत्र-पौत्री, दौहित्र-दौहित्री से घिरे एव आर्थिक दृष्टि से स्वतत्र एक आप्तकाम पुरुष है।

ईश्वर से प्रार्थना है कि वह उन्हे इसी रूप मे स्वस्थ और दीर्घायु करे।

——रामप्रताप त्रिपाठी, शास्त्री
सहायक मत्री

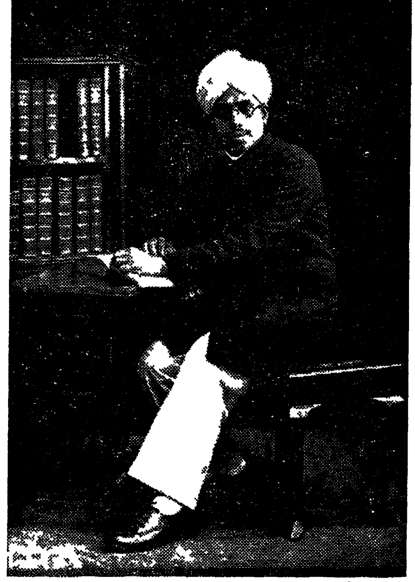
हिन्दी साहित्य सम्मेलन
प्रयाग
२४।३।७३



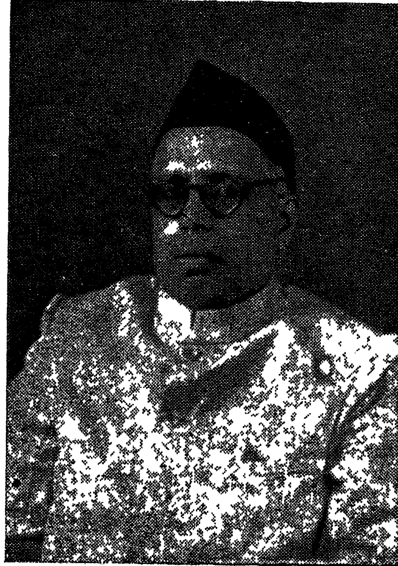
सचित्रं जीवनम्



एम० ए० परीक्षासमुत्तीर्णतावसरे
१९२९ ई०



नागपुर मॉरिसकालेजे
नवनियुक्त प्राध्यापक
१९३१ ई०



प्राचार्यपदारूढ.
१९५५ ई०



लब्धक्षणः
१९७१ ई०

सचित्र-परिवारः



जनकः
स्व० प० लक्ष्मीनारायण चतुर्वेदी



आयुस्मान् पुत्र
श्री सत्यदेव चतुर्वेदी



धर्मपत्नी
सौ० रामदुलारी चतुर्वेदी



आयुष्मती कन्या
सौ० उमा मिश्र

॥ श्री ॥

शासकीय - दूधाधारी - श्रीवैष्णवसंस्कृतमहाविद्यालय-

-प्राचार्यपदमलङ्कृतवतां सुगृहीतनामधेयानां

श्रीमतां सरस्वतीप्रसादचतुर्वेदिमहाभागानां

भारतस्य केन्द्रीये शासने विशेषाधिकारितया

संस्कृत-सेवायै सादरमुपाहूतानां

प्रास्थानिकमभिनन्दनम्

* * *

हे सस्कृतेरभिसमेधयित ! प्रवीण ! प्राज्ञेषु लोक-परलोक-विधानवित्सु ।
अस्मासु सन्नपि भवानधुना विदूरे सत्यापयत्यतितरा निजमीशभावम् ॥१॥
आचारवान् श्रुतिपरो जननीतिवेत्ता मध्यप्रदेश - बुधमानस-राजहस ।
एको बभूव रविशङ्कर-शुक्लनामा श्यामाकटाक्षमहितोऽस्ति भवान् द्वितीय ॥२॥
तस्यापि वाञ्छति विधिर्विनियोगमन्यक्षेत्रे ततो भवति चित्तमधीरमेतत् ।
श्रेयोऽभिलाषिभिरुदारधिया सपर्यैवैका यतो गतिरुदाह्रियते जगत्याम् ॥३॥
श्रीमन् ! तथापि परितोषमिमे व्रजाम. स्थानोन्नतौ वयमुदीक्ष्य निजात्मलाभम् ।
गत्वापि देशमपर न विवेकभाजो विस्मारयन्ति निजपूर्वभुव मराला ॥४॥
मात सरस्वति ! दयस्व पुन प्रसाद वेदैश्चतुर्भिरनपेतमुपानयस्व ।
त तादृश कमपि येन तवैव रूप स्यात् सस्कृतेति विदित प्रतिसस्कृत न ॥५॥
त्व भारती मखभुजामसि भारत च देशोऽयमस्ति मखपुण्यविधौ नदीष्ण ।
मात पुनस्तदिह दिव्यहविष्यभूमौ दिव्य प्रसादमभिवर्षय किञ्चिदित्थम् ॥६॥

काले काले तदिह भवता स्वाङ्कुरे वर्षणीय
कार्ये कार्ये मधुर-मनसा साह्यमस्मै प्रदेयम् ।
सोऽय स्नेहो भवतु भवता प्रत्यहं वर्धमानो
यस्मिन्नेते समरसतमा शिक्षकाश्छात्रकाश्च ॥७॥

तिथिः-पौष - कृष्णा - ६
वि. सं. २०१६
(२१-१२-५९)
रायपुरम् (म० प्र०)

वयमत्रभवता सान्निध्यपरितोषिता
शा० दू० श्री वै० संस्कृत - महाविद्यालयीयाः
शिक्षकाश्छात्राश्च

विविधविद्याविलासविलसितानां महामान्यानां प्राप्तसारस्वतप्रसादानां चरितार्थनाम्नामत्रभवतां श्रीमत्सरस्वतीप्रसादचतुर्वेदिनां प्रयागविश्व-विद्यालयीयसंस्कृतविभागाध्यक्षपदत. निवृत्तिग्रहणावसरे सप्रश्रयं समर्प्यमाणम् अधिकरकञ्जं भृङ्गायतामिदम्

अभिनन्दनपत्रम्

विद्यावदातचरित ! स्थिरकीर्त्तिमूर्त्ते ! !
हीना वय विरहिता भवताऽद्य जाता ।
तस्मान्मनासि सकलानि वियोगदु ख
श्रीमन्निवृत्तिजनित नितरां वहन्ति ॥१॥

अस्मिन्निवृत्तिसमये भवतस्सपर्यां
सम्भावनाञ्च भगवन्नभिनन्दनञ्च ।
कर्तुं वयं समुदिता न च तत्र शक्ताः
सामग्र्यभावपरतैव पर निदानम् ॥२॥

तस्मात्कृपापरवशो निखिलास्त्रुटीर्न
श्रीमन् ! क्षमस्व, हृदये न विधेह्यमर्षम् ।
अस्मन्मनोव्रततिभावसुमानि यानि
स्वीकृत्य तान्यनुगृहाण यथाकथञ्चित् ॥३॥

श्रुतौ, साङ्ख्ये शास्त्रे, परमगहने पाणिनिमते
कवीना दिव्यानां परमरमणीये च समये ।
स्मृतीत्याख्ये शास्त्रे ह्यनुपमपुराणादिषु च यत्
प्रभुत्व सम्प्राप्त निखिलजनसम्भावितमद ॥४॥

पटुत्व व्याहारेष्वखिलव्यवहारेषु च सदा
प्रबन्धेष्वप्येतन्निखिलनिगमेष्वस्ति च पुनः ।
तथा नीतौ प्रीतिर्विबुधजनसङ्गेऽपि च परा
स्वत सिद्ध सर्वं, किमिह विदुषा दुष्करमहो ॥५॥

भवाँल्लब्ध्वा कीर्त्ति परमसुखदां पण्डितपते !
समेषा शिष्याणा सकलममता प्रीतिमधुराम् ।
सहायाना योग विविधकरणीयेष्वपि पुनः
शतायुर्लप्सीष्ट स्थिरविमलकीर्त्यादिलसितम् ॥६॥

इन्द्रो धर्मश्च सोमो वरुणवसुमरुत्सूर्यरुद्रादिदेवा
वाल्मीकिः कुम्भयोनिश्च्यवनभृगुवसिष्ठात्रिपाराशराद्या ।
शैलास्सर्वे समुद्रा वनसरिदवनिद्योदिशो व्योमसन्ध्ये
वेदा यज्ञाश्च लोका ऋतुतिथिदिवसाः स्वस्ति भूयो भवद्भ्यः ॥७॥

वयं स्मः

प्रयागविश्वविद्यालयीयसंस्कृतपरिषदः पारिषदाः

●

संस्कृत-निबन्धावली

⊙

व्याकरण

⊙

साहित्य

हिन्दी-निबन्धावली



वेद



व्याकरण



साहित्य

⊙

दर्शन

⊙

विज्ञान

⊙

इतिहास तथा शोध

⊙

विविध

⊙

संस्मरण

⊙

समीक्षा



अंग्रेजी-निबन्धावली



Veda



Grammar

⊙

Philosophy

⊙

Literature

Raview

⊙

Language and Education

⊙

Reminiscences

⊙

Miscellaneous

⊙

संस्कृत-निबन्धावली

⊙

व्याकरण

⊙

साहित्य

१. पूर्वत्रासिद्धम् (८।२।१) इति सूत्रार्थः

शब्दार्थ—(सूत्र) पूर्वत्र (पूर्वसूत्रदृष्ट्या अर्थात् पूर्वसूत्रस्य प्रवृत्तिकाले) असिद्धम् (अवर्तमानमिव) मन्तव्यम्।

पाणिनि-प्रणीतो ग्रन्थ 'अष्टाध्यायी' नामक। यतस्तत्र अष्टौ अध्याया सन्ति। अष्टानामध्यायानाम् समाहार अष्टाध्यायी इति व्युत्पत्ति। प्रत्येकस्य अध्यायस्य चत्वार पादा इति हेतो द्वात्रिंशत्पादात्मकोऽय ग्रन्थ। "पूर्वत्रासिद्धम्' इति सूत्र सम्पूर्णाष्टाध्यायी भागद्वये विभजते। तत्र प्रथमो भाग अस्मात् सूत्रात्पूर्वम्, द्वितीयस्तु अस्मात्सूत्रात्परम्। पूर्वस्मिन् भागे एकोनत्रिशत् पादा अर्थात् सप्त अध्याया सम्पूर्णा (अष्टाविशति पादा) अष्टमाध्यायस्य प्रथम पाद च, इति साकल्येन एकोनत्रिशत् पादा.। अत तस्य भागस्य "सपादसप्ताध्यायी" इति सज्ञा। द्वितीयभागेऽवशिष्टा अन्तिमा त्रय पादा इति इति हेतो तस्य "त्रिपादी" इति सज्ञा। तदित्थ "पूर्वत्रासिद्धम्" इति सूत्र (८।२।१) सम्पूर्णाष्टाध्यायी भागद्वये (सपादसप्ताध्याय्या त्रिपाद्या च) विभजते।

सूत्रार्थ—पूर्वत्र (सपादसप्ताध्यायी दृष्ट्वा) त्रिपादी असिद्धा अर्थात् अवर्तमानेव भवति। इद तात्पर्यम् यत् सपादसप्ताध्यायीस्थ-सूत्रदृष्ट्या त्रिपादीस्थ-सूत्रम् असिद्ध भवति, शक्तिरहित सञ्जायते। यदि सपादसप्ताध्यायीस्थसूत्र त्रिपादीस्थ सूत्र च एक काले एव प्रवृतिमर्हत तदा त्रिपादीस्थसूत्रमसिद्ध भवति, न प्रवर्तते इत्यर्थं। एवमेव त्रिपादीस्थसूत्रे प्रवृत्ते सति यदि सपादसप्ताध्यायीस्थ-सूत्र प्रवृत्तिमर्हति तदा त्रिपादीस्थ-सूत्रमसिद्ध भवति। अर्थात् तत्कृतकार्यमवर्तमानमिव भवति। इद द्विप्रकारमसिद्धत्व क्रमश समकालासिद्धत्व जातासिद्धत्व च इति सज्ञाद्वयेनाभिधीयते। तत्र समकालासिद्धत्वस्योदाहरम्—मनोरथ इति। अत्र मनस् रथ इति स्थिते "सकारस्य" ससजुषो रु." इति सूत्रेण रुत्वे कृते मनर् रथ इति दशाया "रोरि" (८।३।१४) इति त्रिपादीस्थ-सूत्रस्य, "हशि च" (६।१।११४) इति सपादसप्ताध्यायीस्थ-सूत्रस्य च समकालमेव प्राप्तिर्भवति। तदा "पूर्वत्रासिद्धम्" इति सूत्रेण "रोरि" इति त्रिपादीस्थ-सूत्रमसिद्ध क्रियते इति हेतोस्तन्न प्रवर्तते, किन्तु "हशिच" इति सपादसप्ताध्यायीस्थ-सूत्र प्रवर्तते। एव च रकारस्योत्वे कृते (मन उ रथ इति स्थिति) तत. "आद्गुणः" इति सूत्रेण अकारोकारयो स्थाने एकादेशे गुणे (ओकारे) जाते "मनोरथ" इति रूप सिद्ध भवति। द्वितीयस्य असिद्धत्वप्रकारस्य जातासिद्धत्वस्योदाहरण 'हर इह'। अत्र "हरे+इह" इति दशायाम् एचोऽयवायाव' इति सूत्रेण एकारस्य अयादेशे "हरय् इह" इति दशाया "लोप शाकल्यस्य" (८।३।१९) इति सूत्रेण यकारस्य लोपे "हर इह" इति रूप जायते। अस्या दशाया "आद्गुण." (६।१।८७)

इति सूत्रस्य अकारेकारयो स्थाने एकादेश-गुणविधानाय प्राप्ति सम्भाव्यते। परन्तु "आद्-गुण" इत्यस्य सपादसप्ताध्यायीस्थत्वेन तत्सूत्रदृष्ट्या लोपविधायक (लोप शाकल्यस्य) इति त्रिपादीस्थ सूत्रमसिद्धम् भवति। अर्थात् तत्सूत्रकृतलोपकार्यमवर्तमानमिव भवति। एव गुण-प्रवृत्तिकाले (हर+इह) इत्यत्र यकारलोप असिद्धो भवति, अर्थात् यकारः पुनरागच्छति इति हेतो गुणो न भवति। अकारेकारयोर्मध्ये यकारस्य वर्तमानत्वात्। इदमेव जातस्य (प्रवृत्तस्य सूत्रस्य) असिद्धत्वात् जातासिद्धत्वमित्युच्यते।

पूर्वत्रामिद्धमिति सूत्र स्वस्थाने स्थित (अष्टमाध्यायस्य द्वितीयपादस्य प्रथमसूत्र सत्) पूर्वोक्त कार्यं सम्पादयति। परन्तु इद सूत्रम् यदि अधिकारसूत्रमिति मन्यते, अर्थात् एत-स्मात्सूत्रात् परेषु सूत्रेषु अस्याधिकारो भवेत् अर्थात् एतत् सूत्रमनुवृत्ति लब्ध्वा तेषु परेषु सूत्रेषु गच्छेत्, तदा अष्टमाध्यायस्य द्वितीयपादादारभ्य अवशिष्टेषु सर्वसूत्रेषु 'पूर्वत्रासिद्धम्' इति सूत्र गच्छति। तदा त्रिपादीस्थ प्रत्येक सूत्र पूर्वसूत्रापेक्षया पूर्वसूत्र प्रति असिद्ध भवति। पूर्वत्र-असिद्धम् इति सूत्रस्य "अधिकार"—सूत्रत्वेन स्वीकारादिद निष्पन्न भवति। एवं च त्रिपादीस्थ प्रत्येक सूत्र सपादसप्ताध्यायीस्थसूत्राणि त्रिपादीस्थपूर्वसूत्राणि च दृष्ट्वा असिद्ध भवति। अर्थात् असिद्धत्व न केवल सपादसप्ताध्यायीस्थ-सूत्रदृष्ट्या किन्तु पूर्वगत-त्रिपादीस्थसूत्रदृष्ट्यापि भवति। अतएव किमु उक्तम् इत्यत्र "मय उञो वो वा" (८।३।३३) इति सूत्रेण पूर्वस्य उकारस्य वकारे कृते "किम्वुक्त" इत्यत्र" मोऽनुस्वार·" (८।३।२३) इति सूत्रेण मकारस्यानुस्वारो न भवति। "मोऽनुस्वार" इति त्रिपादीस्थ-पूर्वसूत्रदृष्ट्या "मय उञो वो वा" इति त्रिपादीस्थ-परसूत्रस्य जातसिद्धत्वात्। "पूर्वत्रासिद्धम्" इति सूत्रस्याय विशदार्थ।

सपादसप्ताध्यायीस्थ-सूत्र प्रति त्रिपादीस्थ-सूत्रम् असिद्धम्, कि च त्रिपाद्यामपि पूर्व-सूत्र प्रति परसूत्रमसिद्धम्। एतेन स्पष्ट भवति यत् त्रिपादीस्थ-सूत्रमेव स्वपूर्व-सूत्र प्रति असिद्धम् भवति। सपादसप्ताध्यायीस्थ-सूत्राणा तु परस्परम् असिद्धत्व न भवति।

अष्टमाध्यायस्य द्वितीयपादस्य प्रारम्भे 'पूर्वत्रासिद्धम्' इति सूत्रस्योपन्यासेन कियत्कार्य पाणिनिना सम्पादितम् इतीदानीम् ज्ञातु शक्यते। सिद्धसूत्राणि सपादसप्ताध्याय्याम्, त्रिपाद्या तु असिद्ध सूत्राणि स्थापितानीति प्रशसनीयस्तस्य बुद्धिमहिमा। एव च यत् विवृताकार सवृताकार विदधाति तत् अष्टाध्यायीस्थमन्तिम सूत्रम् "अ अ" इति सर्वाणि सूत्राणि प्रत्यसिद्ध मन्यते। अतएव सर्व-सूत्र-प्रवृत्तिकाले सवृतोऽप्यकारो विवृत इव भवति। अत उच्यते "ह्रस्वस्याकारस्य प्रयोगे सवृतत्वम्, प्रक्रियादशाया तु विवृतत्वमेव" अर्थात् सवृतोऽपि ह्रस्वाकार व्याकरणसूत्रप्रवृत्तिकाले विवृतो मन्यते। अन्यथा धनागम इत्यत्र धनेतिनकारस्थ-ह्रस्वाकारस्य आगम इति शब्दस्थदीर्घाकारेण सह "अक सवर्णे दीर्घ" इति सूत्रेण दीर्घाकाररूप एकादेश न स्यात्। ह्रस्वाकारस्य सवृतत्वेन तथा दीर्घाकारस्य विवृतत्वेन 'सवृत-विवृतेति' प्रयत्न-भेदे जाते तयो सवर्णत्वाभावात् "अकः सवर्णे दीर्घ" इति सूत्र न प्रवर्तेत। 'अ अ' इति अन्तिमसूत्रस्य सकलाष्टाध्यायीस्थ-सूत्राणि प्रति असिद्धत्वे तु सवृतस्यापि ह्रस्वाकारस्य विवृतत्व सुलभ भवति।

इत्थ 'पूर्वत्रासिद्धम्' इति सूत्र पाणिनीय-व्याकरण महोपयोगि। एतेन पाणिनीयसूत्राणा परस्पर बलाबलत्व निश्चीयते। समकालमेव प्राप्तयो सूत्रयोर्मध्ये केन सूत्रेण प्रवर्तितव्यम्

इति ज्ञानाय, तथा सिद्धे पदे प्राप्तस्यान्यसूत्रस्य प्रवृत्ति-निवारणाय चास्य सूत्रस्योपयोग । एव-मेव ह्रस्वाकारस्य दीर्घाकारेण सवर्णत्व-स्थापनायापि अस्य सूत्रस्योपयोग । पाणिनिना अष्टा-ध्याय्या य सूत्राणा क्रमो निर्धारित स पदसाधनोपयोगी सहेतुकश्च, न तु यदृच्छया कृत इति पाणिनीयशास्त्र-वैशिष्ट्य प्रदर्श्यतेऽनेन सूत्रेण ।।

[गुरुवर्यसक्सेना—महोदयानामादेशेन पाणिनिसूत्राणां सरलरीत्या बालछात्रोपयोगिनी व्याख्या कथं कर्तव्येति प्रदर्शनार्थं १९४९ मिते ईशवीये वर्षे लिखितम्]

२. "अकृतव्यूहाः पाणिनीयाः"—इति परिभाषा-विमर्शः

सूत्राणि स्वप्रवृत्तियोग्यस्थले कदापि व्यभिचार न क्षमन्ते। अतएव दुर्दमरिपुतुल्यानीति विदुषामुक्ति। स्वप्रवृत्तये आवश्यकाना समेषा समयानामुपस्थितौ तेषा प्रवृत्तिरनुपेक्षणीया। प्रवृत्तियोग्यस्थलेऽपि तेषामप्रवृत्तेस्त्रय एव अवसरा सन्ति। प्रथम तावत्, बाधकसूत्रेण बाध, द्वितीय तावत्, निषेधकसूत्रेण निषेध। तृतीयस्तावत्, वैकल्पिकसूत्रस्य पक्षान्तरेऽप्रवृत्तिरिति। तत्र तृतीयावसरे अप्रवृत्त्यपेक्षया प्रवृत्ति श्रेयसीति पदसाधुत्वकाराणा मतम्। सूत्रप्रवृत्ते किमपि दृष्ट फल भवेदित्यत्रापि नाग्रह। प्रवृत्तियोग्यस्थले फलाभिसन्धिरहितापि प्रवृति लक्ष्यते। अतएव पतञ्जलिना 'पर्जन्यवल्लक्षणप्रवृत्तिरिति उक्तम्। अर्थात् यथा शुष्क प्रदेशे जलपूर्णप्रदेशे च उभयत्रादि पर्जन्यो वर्षति, एवमेव पदस्वरूपे दृष्ट फल भवेत् न वा प्रवृत्तियोग्यस्थले सूत्र प्रवर्तते एव।

सत्यामेव स्थितौ प्रवृत्तियोग्यस्थलेऽपि पाणिनीयसूत्र न प्रवर्ततेइति विस्मयावहा वार्ता। परन्तु विस्मयकार्यपि इद वचन सत्यमेव। आत्मनो निमित्तस्य भाविन विनाश दृष्ट्वा सूत्र प्रथमत एव न प्रवर्तते इत्यर्थिका 'अकृतव्यूहा. पाणिनीया' इति परिभाषा वर्तते।

न खल्वेषा परिभाषा पतञ्जलिना साक्षात्पठिता, नापि ज्ञायते 'व्यूह' पदस्य निश्चितोऽर्थ.। अत एतत्परिभाषाया अभिमतार्थविचारे विमर्शं प्रतन्यते। न कृतो व्यूह (भाविनिमित्तविनाशे सूत्रप्रवृत्तिविषयक आग्रहो) यैरिति भट्टोजी दीक्षितानुसारमस्या परिभाषाया अर्थ। उदाहरण तु सेदुष इति। 'सद्' धातो क्वसुप्रत्यये निष्पन्नस्य 'सेदिवस्' इत्यस्यद्वितीयाया बहुवचने इद रूपम्। तत्र प्रथमाविभक्तिस्थले इव वलादिलक्षण इडागमो न दृश्यते। इडागमस्य निमित्त वलादित्व, द्वितीयाविभक्तिबहुवचनशस्प्रत्यये समागते 'वसो सप्रसारणम्' इति सूत्रेण वसुप्रत्ययस्थ—वकारस्य सप्रसारणे कृते, नाशमेष्यतीति कृत्वा प्रथमत एव इडागमो न प्रवर्त्तते। अतएव सेदुष इति रूपम्, इडागमे कृते तु सेद्युष इति अनिष्टरूपापत्ति। भाविनि निमित्तविनाशे पूर्वत एव तन्निमित्त प्रयुक्त कार्य न प्रवर्तते। लोकन्यायसिद्धश्चायमर्थ। 'प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शन वरम्' इत्याभाणकममुमेवार्थमभिधत्ते। कैयटस्तु अस्या परिभाषाया भिन्नायेव व्याख्या करोति। तन्मते पूर्वप्रवृत्तमपि सूत्र स्वनिमित्तविनाश निरीक्ष्य निवर्तते इत्यस्या. परिभाषाया अर्थ। तन्मते 'व्यूह' इत्यस्य कारणनाशे कार्यस्थितिरूपो विशिष्टस्तर्क इत्यर्थ.। तथा च निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपाय इति निष्कृष्टोऽर्थ। वलादिनिमित्तको जातोऽपि इडागम शस्प्रत्यये आगते, प्रवृत्ते च सम्प्रसारणे स्वनिमित्तस्य वला-

दित्वस्य नाश निरीक्ष्य निवर्तते, कारणनाशे कार्यनाशवत्। भट्टोजीदीक्षितमते इडागम सूत्र प्रथमत एव न प्रवर्तते, कैयटमते प्रवृत्तमपि सूत्र पश्चात् निवर्तते। एवप्रकारेण समानायामपि सेदुष इत्यादिप्रयोगसिद्धौ दृष्टिकोणभेद स्पष्ट एव। एको दूरदर्शितया भाविनिमित्तविनाशस्थले सूत्र प्रवृत्तिमेव नानुमन्यते, अपरस्तु निमित्तविनाशे जाते पूर्व प्रवृत्तमपि सूत्र अप्रवृत्तमिव मनुते। फलभेदाभावात् एतन्मतद्वयमपि पदसाधुत्वविधाने स्वीकृतिमर्हति।

परन्तु नैतावता सकलकार्यनिर्वाह। सन्त्यनेकान्युदाहरणानि, येशु उपर्युक्तनियम-स्योल्लङ्घन दृश्यते। तद्यथा—स्त्रीप्रत्ययान्तपट्वीशब्दतृतीयैकवचने पट्वयेति रूप लभ्यते। तत्र (पटु+ई+आ) स्त्रीप्रत्ययेकारनिमित्तकम् उकारस्थाने यणविधायकम् 'इकोयणची' ति सूत्रम्, ईकारस्य यणादेशनिमित्तस्यविनाशे सम्भावितेऽपि, प्रवर्तते, अथवा स्त्रीप्रत्ययेकारनिमित्तक यणादेशकार्यं, निमित्तस्येकारस्य द्वितीय यणादेशेन विनाशे जातेऽपि न निवर्तते। एवमेव सूत्थितस्थापत्य सौत्थितिरित्यत्र आदिवृद्धया दीर्घनिमित्तस्य सवर्णाकारस्य भविनिविनाशेऽपि सु+उ इत्यनयो सवर्णदीर्घो भवत्येव। तथा ण्यन्तात् भूधातोर्निष्ठाया क्तप्रत्यये इडागमे णिलोपे जातेऽपि तन्निमित्तको धातुवृद्धिर्न निवर्तते। स्थूलेक्षिकयोपलभ्यमानान् एतादृशानपवादान्मनसि-कृत्य परम्परागतवैयाकरणसम्प्रदायैरस्या परिभाषाया अनित्यतोद्घोषिता। परन्तु सूक्ष्मेक्षिकया उक्तपरिभाषाया यथार्थार्थनिरीक्षणे 'पटव्या, सौत्थिति इत्यादि प्रयोगा नापवादकोटि भजन्ते इति मे मतम्। परिभाषाया प्रवृत्ति कीदृशेषु स्थलेषु जायते इत्यस्य निर्णयेन सम्भा-वितदोषनिराकरण कर्तु शक्यते। धातुसाधितापरपर्यायकृदन्तशब्दाना सुब्विभक्त्यन्तरूपेपद रचनायामस्या परिभाषाया उपयोग। तत्र सुब्विभक्तिमाश्रित्य कृतेनादेशादिरूपकार्येण यदि तन्निमित्तनाश सम्भाव्यते, यन्निमित्तकृत कार्य कृदन्तशब्दरचनाकाले भवति, तर्हि कृदन्त शब्दरचनाकालीन कार्य प्रथमत एव न प्रवर्तते अथवा प्रवृत्तमपि निवर्तते। एतदर्थस्वीकारेण पट्व्येत्यत्र न दोष, यतोऽत्र पट्वीति स्त्रीप्रत्ययरूपतद्धितान्तमङ्गम्, न कृदन्तरूपाङ्गम्। सौत्थितिरित्यत्रापि न कृदन्तरूपाङ्गम्, नापि सुब्विभक्तिमाश्रित्य तत्रादिवृद्धि', किन्तु इञ्प्रत्ययतद्धितीयम्। एवमेव भावित इत्यत्र जातो णिलोपो न विभक्तिमाश्रित्य प्रवर्तते, किन्तु निमित्तक निष्ठाकृदन्तीयम्। यत्र प्राथमिकरूपनिर्माणे कृदन्तशब्दरचनाया कृतमादेशादि कार्य, भाविकाले सुब्विभक्तिमाश्रित्य करिष्यमाणेन कार्येण लुप्तनिमित्तक भवति, तत्रैव इय परिभाषा प्रवर्तते इति मथितार्थं। युक्तचैतत् यत सर्वथेदकार्यकारण विमर्शकोटिमारोहति। किं तत् कारणम्? तदित्थम्। "अपद न प्रयुञ्जीते" तिनियमानुसार लोकव्यवहारे इव शास्त्रेऽपि केवलकृदन्तरूपाङ्गस्य स्वतन्त्रस्थिति. न समुचितेति कृत्वा तद्-विभक्तिमपेक्षते। अतएव विभक्तिमाश्रित्य क्रियमाणस्यादेशादि कार्यस्य कृदन्तरूपाङ्गोपरि प्रभाव स्वाभाविक एव। तद्धितरूपाङ्गोपरि तु प्रभावो न तथा स्वाभाविक, तस्य द्वैतीयिक रूपत्वात्, तद्धितप्रत्ययोत्पत्ते. पूर्वमपि स्वतन्त्रस्थितिसम्भवात्। कि च अनुपेक्षणीयविभक्ति-माश्रित्य क्रियमाणमेव कार्यमत्र निमित्तविनाशसाधतत्वेनाभिप्रेत, नतु कृत्तद्धितादिप्रत्यय-माश्रित्य क्रियमाण कार्यम्।

उपर्युक्तविशिष्टार्थस्वीकारे तत्कार्यकारणपर्यालोचने च कृते अस्या परिभाषाया

कैयटभट्टोजीदीक्षितसम्मतम् अनित्यत्वमनाश्रयणीय भवति। अपवादवत्परिलक्ष्यमाणाना-मुदाहरणाना सर्वथोपपत्तिश्च सुशका भवति। "व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्नहि सन्देहादलक्षणम्" इति भाष्योक्त्यनुसार विशिष्टव्याख्यान वैयाकरणाना शरणमितिमत्वा तस्यैवात्रस्वीकार ।

नागेशभट्टेन पदावधिकसस्कारपक्ष स्वीकृत्य सेदुष इत्यत्र दोषो निवारित । तदपि मत सर्वथा कार्यकारणविमर्शकोटिमारोहति। तस्मिन् पक्षे सम्पूर्णपदस्थ एककालमेव रचना क्रियते। कृदन्तमङ्ग निर्माय विभक्तिर्नानीयते, किन्तु कृदन्ताङ्गरचना--समकालमेव अपेक्षित विभक्तिरपि सयोज्यते। एव च सद्+वस्+शस् इत्येव स्थिते तत्तत्कार्याणि प्रवर्तन्ते। तत्र शस्निमित्तकस्य सप्रसारणस्य विशिष्टकार्यत्वात् पूर्व प्रवृत्तौ वलादित्वाभावान् इडागम सम्भाव्यते एव नेति सर्वमनामयम्। प्रयोगकाले विभक्त्यन्त पदमेव झटिति नेत्रपथ समागच्छति, न तु पूर्व कृदन्तरूपाङगम् स्मर्यते, तत अपेक्षितविभक्ति आगछति । अङगावधिकसस्कार पक्षापेक्षया पदावधिकसस्कारपक्ष समीचीनतर । केवलाङगस्थ प्रयोगाभावेन अपेक्षितविभक्ते अङ्ग रचनाकाले स्थिते सर्वथावश्यकत्वात् ।

पदावधिकसस्कारपक्षवत् वाक्यावधिकसस्कारपक्षोऽपि अवाञ्छनीयसन्धि-निवृत्तये समाश्रयणीय । तदित्थम्। स्वतत्रपदाना स्वातत्र्येण पृथक् पृथग्रचनास्वीकारे हरि गच्छती-त्यादिवाक्ये परिलक्ष्यमाणा विसर्गरूपसन्धि. गतेपतिता स्यात्। वाक्यावधिकसस्कारपक्षाश्रयणे तु हरि+सु+गम्+ति इत्येव स्थिते विरामाभावात् रेफस्य न विसर्ग इति हरिर्गच्छतीति वाक्य निष्पद्यते, नतु हरि गच्छतीति। द्वितीयविधवाक्यस्य पदावधिकसस्कारपक्षे एव साधुत्वं, नतु वाक्यसस्कार पक्षे। कुत्र क पक्ष· समाश्रयणीय इति प्रश्ने समागते इदमेवोत्तररूपेण वक्तु शक्यते यत् गद्यवाक्ये पदसस्कारपक्षाश्रयेणास्य सम्भाव्यमानत्वेऽपि, पद्यवाक्ये वाक्यसस्कार पक्ष एव समाश्रयणीय । अतएव पद्ये प्रत्येकपादस्य पूर्वार्धोत्तरार्धयोरन्यतरस्य वा मध्ये सन्धि-नियमानां पालनमावश्यकमेव। एवं च पूर्वपादान्त्याक्षररूप मुत्तरपादाद्याक्षर निरीक्ष्य निर्धारणीय, न तत पूर्वम्। अन्यथा दुष्टसन्धिप्रसङग स्यात्। ततश्चागामिनाक्षरेण वर्तमानाक्षरस्य रूप परिवर्तने सभाविते प्रथमत एव वर्तमानाक्षररूपभागाम्यक्षरानुसार विधेयमिति वाक्य-सन्धि-विषयेऽस्या परिभाषाया समीचीन उपयोग। भवेन्नाम स एवाभिमतोऽर्थ अस्या. परिभाषाया इति शम्।

३. व्याकरणशास्त्रस्येतिहासः

महत्त्वम्

अतिप्राचीनकालादारभ्य व्याकरणशास्त्रस्य महत्त्व भारतीयवाङमये सुविदितम्। एतच्छास्त्रस्य भारतीय-विद्वद्भि कृतोऽतिसूक्ष्मेक्षिकया ऊहापोहपूर्वको विमर्शो विश्वस्य अन्यदेशेष्वदृष्टचर। यूरोपदेशे भाषा-विज्ञानशास्त्र नितरामाधुनिकम्। सस्कृत-भाषा-परिचय-मुपजीव्यैव यूरोपदेशे भाषाविज्ञानशास्त्र प्रावर्तत, विकास चालभत। अस्माक भारते देशे तु शास्त्रस्यास्य विशिष्ट परिचयो वैदिकयुग एव समपद्यत। निखिलभारतीयविज्ञाननिधेर्वेदस्य षट्सु प्रधानाङ्गेषु व्याकरण प्रधान गण्यते। उक्तमेव शिक्षाया—"मुख व्याकरण स्मृत" मिति। यथा देवदत्तशब्दे समुच्चारिते हस्तपादाद्यङ्गै सहितोऽङगी देवदत्त स्मृतिपथमारोहति, देव-दत्तपरिचये च क्रियमाणे केवल तन्मुखमेव प्राधान्येनावलोक्यते, तथैव वेदशब्दादपि शिक्षा-कल्पाद्यङगसहितस्य वेदराशेर्बोध सञ्जायते। एव वेदपरिचयार्थ तन्मुखभूतस्य व्याकरणस्य सम्यग् ज्ञानमपेक्षित भवति। उक्तञ्च पतञ्जलिना—

"पुरा सस्कारोत्तरकाल ब्राह्मणा व्याकरण स्माधीयते। तेभ्यस्तत्तत्स्थानकरणनादानु-प्रदानज्ञेभ्यो वैदिका शब्दा उपदिश्यन्ते"। अर्थात् व्याकरणाध्ययनानन्तर वेदाध्ययनमुपपद्यते। "स्वाध्यायोऽध्येतव्य" इति श्रुतिवाक्येन वेदाध्ययनवत् तदङगाध्ययनमपि विधिचो-दितमिति बुधैर्मन्यते। "ब्राह्मणेन निष्कारण षडङगो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च" इति आगमवाक्ये-नाऽपि तदेव प्रतिपाद्यते। वेदाङ्गेषु व्याकरणस्य प्राधान्यविषये गमकान्तरमपि विद्यते। वेदाङ्गेषु शिक्षाया निरुक्तस्य च समावेश। शिक्षा-निरुक्ते च भाषाशास्त्रापरपर्यायेण व्याकरणशास्त्रेण साक्षात् सम्बद्धे-इति सर्वसम्मतमेव।

एवञ्च कल्पच्छन्दोज्यौतिषानि विहायावशिष्ट वेदाङगत्रय व्याकरणशास्त्रान्तर्भूत-मिति व्याकरणस्य प्राधान्य सुतरामुपपद्यते।

प्राचीनता

व्याकरणशास्त्रस्य सर्वप्रथम प्रवर्त्तको देवराज इन्द्र.। स च भाषा व्याकृतामकरोत्' इत्यर्थक. स्पष्टोल्लेखस्तैत्तिरीयसहितायामुपलभ्यते। यथा—

'चत्वारि शृङ्गात्रयो अस्य पादा. द्वेशीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यानाविवेश॥

इत्यस्मिन् वैदिकमन्त्रे 'नामाख्यातोपर्गनिपाता' इति चतुष्टयपदभेदस्य, कालत्रयस्य, विभक्तिसप्तकस्य च परीक्षेण निर्द्देश। ब्राह्मणग्रन्थेषु भाषाशास्त्रमुख्याङगस्य निर्वचनस्य पदे पदे-उदाहरणानि दृश्यन्ते। मन्त्राणा पदपाठेऽपि अङगविभक्ति-विभाग, समासच्छेद, सन्धिविच्छेद -इत्येवरूपो व्याकरणशास्त्रोपयोग उपलभ्यते।

वैदिक-वाङमये प्रातिशाख्यग्रन्था, अक्षरोच्चारणपरिवर्त्तनादिविषयनिरूपणे भाषा-शास्त्रनियमाननुसरन्ति। एवमेव यास्काचार्यकृतो निरुक्तग्रन्थो व्याकरणशास्त्रप्रतिपाद्यविषयाद अबहिर्भूत।

पौराणिक-वाङमयेऽपि व्याकरणशास्त्रस्य विशिष्टविषयाणा निरूपण गोचरीक्रियते। पाणिनिकृताष्टाध्याय्यामुपदशाना पूर्ववैयाकरणाना नामग्राहमुल्लेखेनाऽपि व्याकरणशास्त्रस्य परमप्राचीनता सिध्यति।

वैशिष्ट्यम्

पाणिनीयाष्टाध्यायी विश्ववाङमयेऽपूर्वो ग्रन्थ। अस्या पूर्ववैयाकरणाना चिन्त-नान्यनुशीलितानि, सस्कृतवाङमयीयाना शब्दाना व्याकरण सूत्ररूपेणोपनिबद्धम्। ततोऽनु कात्यायन-पतञ्जल्यादय उत्तरकालीन-वैयाकरणा अप्रयुक्तानि नवप्रयुक्तानि च पदानि प्रथम निरूप्य, पाणिनिसूत्रेष्वेव सशोधन-परिबर्द्धन-प्रत्याख्यानात्मक-पद्धतिमनुसृत्य व्याकरणशास्त्र तथा सामर्थ्यसहित कृतवन्त, यथाद्यापि तस्य प्रामाण्य सर्वथाऽक्षुण्ण वर्तते।

पाणिनि-कात्यायन-पतञ्जलीना 'मुनित्रयी' ति सज्ञा। एतन्मुनित्रयी-प्रतिपादित मतमाश्रित्यैवोत्तरकाले पाणिनीयव्याकरणस्येतर-व्याकरणाना वा सम्प्रदायास्त विकास विस्तार च प्रापु, यस्य काल स्थूलदृष्ट्या विक्रमसवत्सरगणनानुसार गता द्विसहस्राब्दा।

विगतद्विसहस्रमितेषु वत्सरेषु भारतीय-वैयाकरणैर्यद् गहन विमर्शितम् ऊहापोहपूर्वक चिन्तनञ्च कृत तत्सर्व सस्कृतविद्याया मेरुदण्ड इत्याख्या लब्धुमर्हति। अस्मिन्नूर्जस्वले व्याकरण-शास्त्रस्याध्ययने सस्कृतम्, प्राकृतम्, इत्युभयभाषयोस्तत्त्वविदा सुकृति सन्निहिताऽस्ति।

एतस्मिन्व्याकरणाध्ययनमहायागे भोजभर्तृहरीत्यादीना विद्वन्नृपाणा, सम्राट्पुष्य-मित्रयाजकस्य पतञ्जले., तन्तुवाय-वशोद्भवस्य जुमरनन्दिन, राजाश्रितस्य समृद्धस्य हेमचन्द्रस्य तथा तप कृशस्य निर्धनस्य नागेशभट्टस्य—आकाश्मीरात् केरलान्तसमस्तभारतस्याद्यावधि प्रादुर्भूताना विदुषामार्त्विज्य दरीदृश्यते।

विक्रमादित्यकालात् पूर्वं सस्कृतवाङमयस्य विविधाना शास्त्राणा प्रादुर्भाव-विकासौ जातौ, किन्तु तेषा सम्यक् परिशीलन, परीक्षण, परिपुष्टचिन्तन, प्रमार्जनच विक्रमकालादुत्तरमेव सम्पन्नम्। एतदेव गतद्विसहस्राब्द्या. विशिष्टता निर्दिशति। दर्शनषट्क, ज्योति शास्त्रमायु-र्वेदशास्त्रञ्च यथा सुसम्पन्नतामलभन्त, तथैव व्याकरणशास्त्रमपि अस्मिन्नेव युगे परा समृद्धि-मानीत वैयाकरणै।

वैयाकरणशास्त्र परिष्कृत सत्शास्त्रीयरूप दधौ, यथा वेदमिदानी केवल 'शब्दानुशासन' शास्त्रम्, अपितु शास्त्राणा शास्त्रमपि समपद्यत। अतएव व्याकरणशास्त्रस्य स्फोटवाद-शब्दविवर्तवाद-

शक्तिवादेत्यादयो वादा, न्यायमीमासाद्यन्यविचारशास्त्राणां प्रतिपाद्यविषयेषु परिगण्यन्ते। सर्वदर्शनसङग्रहे विरचिते व्याकरणशास्त्र दर्शनेष्वन्यतमत्वेन परिगणितम्। तस्य सैद्धान्तिकमताना प्रतिपादन स्वतन्त्ररूपेण कृत विलोक्यते। शब्दसाधुत्वप्रतिपादनरूपात् स्वीयविषयाद्बहिरागत्य व्याकरणशास्त्र तथा समुन्नत स्वक्षेत्रप्रसारमलभत, यथाद्यापि भारतदेशे यावज्जीव व्याकरणाध्ययन कुर्वाणा बहुसख्यका विद्वासो दरीदृश्यन्ते।

"द्वादशभिवर्षैर्व्याकरण स्माधीयते" इत्येव विद्यापरम्परा भारतदेश एव समुपलभ्यते। नैतादृशो दीघकालीन. प्रयासो व्याकरणाध्ययनेऽन्यदेशेषु दृश्यते। समासत इदमेव सस्कृतव्याकरणस्य नात्यत्रदृष्ट वैशिष्ट्यम्।

[वाराणस्याः सुप्रभातनाम्नि मासिकपत्रे १४ वर्षस्य चतुर्थांके प्रकाशितः]

४. वक्रोक्तिवाद:

संस्कृतवाङ्मये साहित्यसमीक्षामभिलक्ष्य विपुल चिन्तन पर्यायलोचन च दृश्यते । नाट्यशास्त्रप्रणेतु भरतमुनेरारभ्य पण्डितराजजगन्नाथपर्यन्त, यस्मिन् विषये अनेके वादा सिद्धान्ताश्च रस-रीति-गुण-अलकार-ध्वनिवक्रोक्तिनाम्ना चर्चिता खण्डन-मण्डनैश्च सुविवेचिता, तेषा मध्ये वक्रोक्तिमाश्रित्य प्रस्तूयते अत्र विचार ।

उक्तिविशेष काव्यम् इति विदग्धोक्ति । एतेन स्पष्ट भवति यत् सर्वा उक्तय. काव्यसज्ञामर्हन्ति किन्तु काश्चन शेषोक्तय एव । कोऽसौ विशेष इति प्रश्नविमर्शे इद मनस्यवतरति यत् यत्र कोऽपि असाधारण प्रकार (साधारण प्रकाराद् भिन्न) बोद्धव्यार्थनिर्देशे समाश्रीयते तत्रैव काव्यसज्ञार्हता स्वीकार्या न सर्वत्र । गतोऽस्तमर्क इति वाक्येन यदि केवल सूर्यास्तकालस्य सूचनैव अभिप्रेयते तदा तत्र न किमपि नावीन्यम्, अतएव काव्यत्वाभाव । परन्तु यदि वक्तृबोद्धव्यकालादि-प्रसगविशेषे सूर्यास्तस्य निर्देशेन कश्चन पूर्वसङ्केतित अर्थान्तरो निर्देष्टुमिष्यते, तर्हि तदेव वाक्य काव्यकोटौ परिगण्यते । एव च उक्तिविशेष अर्थात् असाधारणप्रकारोक्ति काव्यम् इति काव्यलक्षण पर्यवस्यति । एष एव काव्यमार्गो वक्रोक्तिसिद्धान्तनाम्ना अभिधीयते ।

वक्रोक्ति काव्यजीवितम् इत्युक्त्या वक्रोक्ते काव्यप्राणत्वम् ईशवीयदशशताब्द्या अन्तिमे भागे लब्धजन्मना आचार्यकुन्तकेन प्रतिष्ठापितम् इतिविद्वत्समाजे प्रसिद्धमेव । किन्तु ततोऽपि पूर्व सप्तमशताब्द्याम् आचार्यभामहेन अतिशयोक्त्यपरपर्यायस्य वक्रोक्ते महत्त्वमाकलितमासीत् । अतिशयोक्ते अलकारत्ववत् वक्रोक्तेरपि अलकारत्व सूपपादमेव । "सैषा सर्वत्र वक्रोक्ति अनयार्थो विभाव्यते । यत्नोऽस्या कविना कार्य कोऽलकारोऽनया विना" इति भामहोक्ति सुप्रसिद्धैव । परन्तु आचार्यकुन्तकेन वक्रोक्ति किमपि अपूर्वमेव विशिष्टस्थान नीता । तस्य मते वक्रोक्ति न केवलम् अन्यतमालकार, अपितु अलकार्यस्य काव्यस्य जीवितम् प्राणा इति प्रतिपाद्य अपूर्वएव मौलिक साहित्यसमीक्षासिद्धान्त उद्भावित । कुन्तकेन वैदग्ध्यभङ्गीभणिति इति शब्दै वक्रोक्ति वर्णिता । वक्रोक्ति प्रसिद्धाभिधानव्यतिरेकिणी विचित्रैव अभिधा । वैदग्ध्य कविकौशल, तस्य भङ्गी, विच्छित्ति. चमत्कारपूर्ण सन्निवेश । अर्थात् केनापि चमत्कारिणा प्रकारेण कविकौशलप्रदर्शक कथन वक्रोक्ति । काव्यशास्त्रे विभिन्नसाम्प्रदायिकाना "रीतिरात्मा काव्यस्य, काव्यस्यात्मा ध्वनि" इत्यादि डिण्डिमघोषामनुकुर्वन् आचार्य कुन्तकोपिवक्रोक्ति काव्यजीवितम्इति स्वसिद्धान्तम् उच्चैरुद्घोषयामास, प्रतिपादयामास च सविस्तर स्वकीये वक्रोक्तिजीविताख्ये ग्रन्थे स्वाभिप्रेत सुनैपुण्येन ।

काव्यशरीर किम् ? शब्द अर्थं, तदुभय वा ? इति बहुचर्चितप्रश्नस्य समाधाने, विवक्षितार्थैकवाचक शब्द, सहृदयाह्लादकारिस्वस्पन्दसुन्दर अर्थ इति प्रतिपादयन् आचार्यकुन्तक वाचकवाच्यापरपर्याययो प्रसिद्ध "शब्दार्थ" पदयो स्वशास्त्रे कमप्यपूर्वमेव परमार्थ स्वीकरोति। तथाविधौ शब्दार्थौ द्वावपि सम्मिलितौ काव्यमिति कुन्तकाभिप्रेतम्। उभावेतावलकार्यौ तयो पुनरलङ्कृतिरेव वक्रोक्ति इति निर्गलितार्थ। शब्द खलु काव्यस्य सौभाग्यम्, अर्थस्तु काव्यस्य तारुण्यमिति सौभाग्यतारुण्याभ्या सुशोभित शरीर यथा सहृदयाह्लादनाय भवति, तथैव काव्यमपि मर्मज्ञजनमनास्यावर्जयति।

एव वक्रोक्तिस्वरूप सूक्ष्मेक्षिकया प्रतिपाद्य कविव्यापारे वक्रत्वस्य प्रकाराणा विषये तेषा प्रमुखान् भेदान् परिगणयति कुन्तक, उदाहरति च वैशब्द्येन प्रसिद्धश्लोक-व्याख्या साहाय्येन। जिज्ञासुभि सहृदयै श्रोतृवृन्दै स्वकुतूहलशान्त्यै वक्रोक्तिजीवितग्रन्थ अवलोकनीय। अत्र तु केवल दिङ्मात्रमुदाह्रियते। तत्र प्रथम वर्णविन्यासवक्रत्वम्। तच्च अनुप्रासालकारे यमके च दृश्यते। भवभूते कूजत्पक्षिवसमाकुलस्य गोदावरीतटतरो वर्णने 'कूजत्क्लान्तकपोतकुक्कुटकुला कूले कुलायद्रुमा, इत्थ वर्णविन्यासच्छटाया काव्यविच्छित्ति स्पष्टैव। एवमेव आचार्यषट्पद्या परमेश्वर प्रतिमाल्यो भवता भवतापभीतोहम् इति पक्तौ 'भवता भवतापभीतोऽहम् इति नियतवर्णक्रमे स्वरव्यजनसहतिरूपयमकालकारे कविविच्छित्ति सुतरा शोभते। पद-पदाङ्गवक्रता इति द्वितीयो वक्रोक्ति प्रकार। यदा रामचन्द्र आत्मन सकलजीवन दु खसवेदनार्थमेव इति मनस्यनुभवन् 'रामोऽस्मि सर्व सहे', इति शोकोद्गार करोति, तदा तद्वाक्ये रामपदोपादान पदघटकप्रातिपदिक वक्रता धारयति। कुमारसम्भवे पार्वत्या समक्ष वटुरूपिण शिवस्य 'अय जन प्रष्टुमनास्तपोधने, न चेद् रहस्य प्रतिवक्तुमर्हसि' इत्युक्तौ' अह प्रष्टुमना' इति नोक्त्वा अयम् इति प्रथमपुरुषनिर्देशे पुरुषवैचित्र्य मर्मज्ञजनाह्लादि भवति इति स्पष्टमेव। एवमेव पित्रादि गुरुजनसन्निधौ मुग्धाकृतस्य स्वावलोकनस्य वर्णनप्रसगे नायकस्य 'मय्यासक्तश्चकितहरिणीहारिनेत्रत्रिभाग इत्युक्तौ चकितहरिणीहारीति क्रियाविशेषणम् विशेषणवक्रतारूपि कामप्यपूर्वा विच्छित्तिमावहति। "स दहतु दुरित शाम्भवो व. शराग्नि" इति श्लोके दुरितशमनरूपक्रियार्थे 'दहतु' इति 'दह्' धातुप्रयोग 'शराग्नि'-पदसाहचर्येण क्रियावैचित्र्य प्रत्याययतीत्यत्र शब्दमर्मज्ञा प्रमाणम्। वाक्यवक्रताया निरूपणे सर्वोऽपि अर्थालकारवर्ग वक्रोक्तिकोटावन्तर्भावयितु शक्यते, इति आचार्य कुन्तकेन सविस्तर प्रतिपादितम्। एव प्रकारेण आचार्यकुन्तक साहित्यसमीक्षाया काव्यमर्मस्थले सुदूरमन्त प्रविश्य सूक्ष्मेक्षिकया सर्वातिशायिव्यापकदृष्टिमवलम्ब्य काव्यप्राणभूता वक्रोक्ति प्रमुख सिद्धान्तरूपेण प्रतिष्ठापयमान इत्यल पल्लवितेन।

सह तुदुरित शाम्भवोव शराग्नि इतिश्लोकेदुरितशमनरूपक्रियार्थेदहतुइति'दद्'धातुप्रयोग. शराग्निपदसाहचर्येण त्रियावैचित्र्य प्रत्यायतीत्यत्र शब्दमार्मिका प्रमाणम्।

[आकाशवाणीवार्त्ता . ७ ३.१९७२ तिथौ प्रसारिता]

५. भारतीय-काव्यशास्त्रे ध्वनि-सिद्धान्तः

भारतीय काव्यशास्त्रे ध्वनिसिद्धान्तस्य मूर्धन्यतम स्थानम्। अस्मिन् सिद्धान्ते कविकर्मण सर्वथा नवीन दृष्ट्या मूल्याङ्कन भवति। गुणालकाररीत्यादय अन्यसिद्धान्ता काव्यस्य सौन्दर्यदर्शनम् वहिर्मुखदृष्ट्या कुर्वन्ति, किन्तु काव्यतत्वमर्मान्वेषणे अन्त' प्रविश्य काव्यहृदयान्वेषणमुचितम्। यथा भौतिक शरीरम्, औदार्यादिगुणा, भूषणानि, अङगसन्निवेश., अभिनय चेष्टाश्च शरीरसौन्दर्यतत्व न प्रकाशयन्ति तथैव काव्यसौन्दर्यमपि अन्यसिद्धान्तेषु न लब्धु शक्यते। अत. काव्यगतोत्कर्षाधायकतत्वम् व्यञ्जनात्मकध्वनौ समीक्षकै' अन्विष्यते। अतएव काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति काव्यरसिका. आमनन्ति।

कोऽसौ ध्वनिर्नाम। पशुपक्ष्यादीनाम् नाद कलरवो वा अविविक्तरूपतया अव्यक्त इति उच्यते। मानवानाम् विविक्तवर्ण पदार्थबोधक शब्द व्यक्त इति उच्यते। काव्यशास्त्रे व्यक्त शब्दस्यैव विचार करणीय। इद सर्वानुभवगोचरम् यद् वाच्य प्रतीयमानभेदेन पदार्थं द्विविधो भवति। तत्र प्रतीयमान. अर्थं ध्वनि। ध्वनिरेव व्यङ्ग्यो भूत्वा व्यङ्ग्य सन् पदार्थताम् लभते।

एकस्य वाच्यार्थस्य अनेके प्रतीयमानार्था. सम्भवन्ति। यथा 'गतोऽस्तामर्क' इति वाक्यस्य सूर्य एव अस्त गत इति वाच्यार्थ.। किन्तु कोऽस्य वक्ता, क प्रति एत दुच्यते, कस्मिन् देशे काले वा इदमुच्यते, इत्यादि विभिन्नप्रसङगानाम् परामर्शे अस्य वाक्यस्य विभिन्न. प्रतीयमानार्था सम्भवन्ति। यथा रात्रे' प्रारम्भकाले अन्धकारस्य प्रसार, विद्युत्प्रकाशकाल, गृहनिवर्तनसमय', आकाशवाणीसमाचारश्रवणकाल. इत्याद्यनेके भावा एतद्वाक्यश्रवणानन्तर मनसि प्रतीतिं गच्छन्ति इति हेतो प्रतीयमानार्थानामनेकत्व स्पष्टमेव। तथापि विभिन्नेषु प्रतीयमानार्थेषु सहृदयचमत्कारजनक एव प्रतीतयमानार्थ ध्वनिनाम्ना व्यवह्रियते। स एव काव्य रमणीयताया हेतु, वाच्यार्थस्तु काव्यरमणीयताया केवलम् अधिष्ठानम्। ध्वनौ शब्दार्थयोर्मध्ये वाच्यवाचकभावसम्बन्धातिरिक्त व्यग्यव्यञ्जकभावसम्बन्ध स्वीक्रियते। व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभाव सम्बन्ध-सत्वे एव व्यग्यार्थ प्रतीयते। अतएव सर्वत्र ध्वनौ व्यङ्ग्यार्थसत्ता समाद्रियते। द्वितीये सीताविरहे भृश दु खाक्रान्तो रामो यदा स्निग्धश्यामलान् मेधान् दृष्ट्वा शीकरिणो वातान् सस्पृश्य मयूरध्वनि च श्रुत्वा विलपति काम सन्तु दृढ कठोरहृदयो "रामोऽस्मि सर्व सहे" इति तदा 'रामोऽस्मि' इति वाक्यस्य दशरथसूनु राम' इति वाच्यार्थ. कवे न अभिप्रेत, किन्तु स राम य. दुर्वहगर्भखिन्नसीताविवासनपटु दु ख सवेदनायैव शरीर धारयन् अत्यन्त क्रूरकर्मा राम. इति व्यङ्ग्यार्थ सहृदयैरास्वाद्यते।

"या निशा सर्वभूताना तस्या जागर्ति सयमी, यस्या जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुने" इत्यत्र अभिप्रेतार्थ क इति विचारे केवल वाच्यार्थ "योगी रात्रौ जागर्ति दिवा स्वपिति" इत्येवार्थ न चारुतामावहति, चमत्कार वा जनयति। किन्तु कश्चन तत्वज्ञानविषये जागरूक मिथ्याज्ञानविषये पराङ्मुख लोकोत्तर प्राणी, इति प्रतीयमान व्यङ्ग्यार्थ चारुतामावहति। चारुत्वहेतु वाङ्ग्यार्थ नितरामावश्यक काव्ये। अतएव ध्वनिसाम्प्रदायिका काव्ये ध्वने अनिवार्यताम् साभिनिवेशम् प्रतिपादयन्ति। तेषा मतेन चारुत्वहेतुध्वने सत्तेव काव्यसत्ताम् निर्धारयति। ध्वनेरभावे कविकर्मण काव्यत्वमेव निषिध्यते। अतएव ध्वने प्राधान्याप्राधान्यानुसार द्विविध एव काव्यभेद स्वीक्रियते। अस्पष्टव्यङ्ग्य व्याङ्ग्यरहितवा चित्रकाव्यम् न काव्यम्, किन्तु काव्यस्य चित्रम्। अर्थात् काव्यानुकृतिमात्रम्। तत्र वाच्यवाचक भावे वैचित्र्यमूलकत्वेन केवल विस्मयकारित्व परिलक्ष्यते। न तु सहृदयहृदयाह्लादकारि काव्य-रामणीयकम् अनुभूयते।

तस्य व्यङ्ग्यार्थस्य त्रयोभेदा सन्ति, वस्तुध्वनि अलङ्कारध्वनि रसध्वनिश्च। वस्तुध्वनौ विधिमुखेन निषेधव्यञ्जनम्, निषेधमुखेन विधिव्यञ्जन वा दृश्यते। यथा' भ्रम धार्मिक विस्रब्धमिति श्लोके एकान्तगोदावरीतटे प्रेमालापे बाधाकारिण धृष्टभिक्षुकम् प्रति नायिकोक्तौ भ्रम इति विधि, मा भ्रम इति निषेधस्य व्यञ्जक। पूर्वभयहेतुशुनो मरणेऽपि दृप्त सिहस्योपस्थित्या इदानीम् अधिक भयकारणसत्वात्। निषेधमुखेन विधिव्यञ्जनस्य "वापी स्नातुमितो गतासि न पुनस्तस्याधमस्यान्तिकम्" इति श्लोक उदाहरणम्। तत्र सदेश नयनव्याजेन स्वय नायकसमागम सुखमनुभूय प्रत्यागताम् दूती प्रति नायिकोक्तौ स्नानचिन्हापेक्षया सम्भोगचिन्हानामधिकस्पष्टतया अधमेति नायकविशेषणमहिम्ना च विधिव्यञ्जनकाव्यरसिकै परिलक्ष्यते। एतयोरुदाहरणयो व्यङ्ग्य वस्तुरूपम्, वाच्याद्भिन्नम् इति स्पष्टमेव। अलङ्कारध्वनौ अलकार व्यङ्ग्यरूपेण प्रतीयते, यथा—रघुवशश्लोके "दिशि मन्दायते तेजो दक्षिणस्या रवेरपि, तस्यामेव रघो पाड्या प्रताप न विषेहिरे।" तत्र दक्षिणायने मन्दकान्तिसूर्यपेक्षपा, दक्षिणदेशेष्वपि अप्रतिहतकान्ते रघो वर्णनम् क्रियते। उपमानापेक्षया उपमेयाधिक्ये प्रदर्शिते व्यतिरेकालकारो भवति। अत्र उपमानसूर्यपेक्षया उपमेयरघोराधिक्यप्रदर्शनरूपव्यतिरेकालकारो न वाच्यरूपेण, किन्तु व्यङ्ग्यरूपेण प्रतिभासते। अतोऽत्र व्यतिरेकालकारो व्यङ्ग्य इति व्यतिरेकालकारस्योदाहरण साधु सगच्छते।

रसध्वनिविषये न्यकारो ह्ययमेव इति प्रसिद्ध श्लोक उदाहरणम्। अत्रि स्वर्गविजयदर्पाध्मातो रावण शत्रुदर्शनमेव आत्मनोऽपमान मन्यते, किन्तु अत्र पदप्रत्ययादीना भावव्यञ्जनोपयोगिना प्रयोगकौशलेन रावणस्यक्रोध निर्वेदश्च सुस्पष्ट व्यज्येते। रावणस्य अत्र न केवल शत्रुरेको वर्तते, किन्तु अनेके शत्रव तत्रापि तेषा तापसत्व, तत्रापि प्रसह्य लकाक्रमण, तत्रापि क्रियमाणोराक्षसकुलध. इति एतत्सर्वमुत्तरोतराधिकममर्षवर्धकम्। एव सत्यपि "अह जीवामि' इति हेतो. रावणस्य हृदये महान् निर्वेद कोपश्च उत्पद्येते। अस्मिन् श्लोके कोपनिर्वेदौ रसभावौ न वाच्यरूपेण, किन्तु व्यङ्ग्यरूपेण प्रदर्शिताविति रसध्वने रसागभावध्वनेः चेदमुत्कृष्ट मुदाहरण सगच्छते।

वस्तुतस्तु सहृदयास्वाद्यकोटौ रसस्यैव प्रधानता, वस्त्वलंकारध्वन्यो पर्यवसान रस-ध्वनौ एव। अतएव काव्यात्मत्व वस्त्वलकारध्वन्यो प्रतिपादितमपि रसध्वनौ विशेषत. स्वीक्रियते। अतएव रसविषये "काव्यस्यात्मा स एवार्थ" इत्यभियुक्तोक्ति सङगच्छते।

सोय ध्वनिसिद्धान्त सस्कृतवाङमये काव्यसमीक्षाकारै सुपरीक्षित समालोचितश्च भूत्वा परा प्रसिद्धि नीत। आनन्दवर्धनकालादनन्तर काव्यतत्वचर्चायामय सिद्धान्त प्रामुख्य प्राप। वक्रोक्ति-वाद, अनुमितिवादश्च क्रमश कुन्तकेन महिमभट्टेन च साग्रह प्रतिपादितावपि एकदेशिसिद्धान्तरूपेणैव ख्याति भजत। मूर्धाभिषिक्तसिद्धान्तपद तु ध्वनि सिद्धान्तस्यैवेत्यत्र न काव्यरसिकाना वैमत्यम्। अतएव सकलसत्कविकाव्योपनिषद् ध्वनिरिति ध्वनेर्महिमा गीयते।

[आकाशवाणी वार्ता : २३-१-१९७२ तिथौ प्रसारिता]

६. रसगङ्गाधरस्य पूर्णताविषयिणी चर्चा

साहित्यशास्त्रे सुप्रसिद्धो रसगङ्गाधरनामा ग्रन्थ अपूर्ण एवोपलभ्यते इति विदितमेव सर्वेषा विदुषाम्। अद्यावधि प्रकाशितेषु ग्रन्थेषु द्वितीयानने उत्तरालङ्कारनिरूपणावसरे उदाहृताया आर्याया पादत्रयानन्तरमेव ग्रन्थोऽयम् अकस्मादेव त्रुटितो लभ्यते—

कि कुर्वते दरिद्रा, का सारवती धरा मनोज्ञतरा।
को पावनस्त्रिलोक्याम् . .

अय त्रुटितोऽश सर्वत्र देशे तथैवोपलभ्यते इति महदाश्चर्यम्, यत पादत्रयानन्तरमेव ग्रन्थत्रुटि न स्वाभाविकी दृश्यते। तर्हि कि ग्रन्थकारेण कौतूहलोत्पादनाय ग्रन्थ त्रुटित एव त्यक्त स्यात्।

मद्रासनगर्यां 'गवर्नमेटओरियण्टलमैन्यूस्क्रिप्ट-ग्रन्थालये रसगङ्गाधर सम्पूर्णत्वेन उपलभ्यते—इति वार्त्ता श्रुतिपथमायाता। कौतूहलजनकोऽय विषयो हृदि स्थित आसीत्। कालान्तरे मद्रासनगरी गतवता मया तद्विषयिण्या जिज्ञासाया शान्तये सम्बद्धग्रन्थालये ग्रन्थालयाध्यक्षै' सह सम्पर्क. स्थापित। तत्फलस्वरूप निम्नाङ्किता सूचना: उपलब्धा जिज्ञासूना कृते निवेद्यन्ते-

मद्रासनगरे गवर्नमेट-ओरियण्टल-मैन्यूस्क्रिप्टग्रन्थालयो मद्रासविश्वविद्यालयस्य सविध एव स्थितोऽस्ति। तत्र अष्टादशाधिकएकोनविंशतिशततमे ईस्वी-वर्षे हस्तलिखित ग्रन्थाना वर्णनात्मिका सूची प्रथितयशोभि कुप्पूस्वामिशास्त्रिमहाभागै प्रकाशिता, तदनुसारं ग्रन्थालये रसगङ्गाधरस्य पञ्च हस्तलिखितपाण्डुलिपय सन्ति। तेषु द्वे (१२९२२, १२९२३ क्रमाङ्किते) तेलुगुलिप्याम्, अवशिष्टास्तिस्र ताडपत्राङ्किता ग्रन्थलिप्या (तामिल-लिप्या) वर्तन्ते। अन्तिमा तिस्र प्रथमाननावधि सशयालङ्कारावधिवालभ्यन्ते। अपूर्णत्वेन च तासा स्पष्टो निर्देश। किन्तु प्रथमोक्तपाण्डुलिपिद्वयविषये भ्रमवशात् सम्पूर्णग्रन्थात्मिका इति मुद्रितसूच्या निर्दिष्ट वर्तते। प्रथमपाण्डुलिप्या च उक्तार्याश्लोकस्य चतुर्थपादोऽपि एवविधो दृश्यते—

गुरुपदभाग्यासुदेतोयम्।

अय चरण कोष्ठकान्तरगत. ( ) वर्तते, अनेन अस्य क्षेपकत्वमनुमीयते। किन्तु उपलब्धपाण्डुलिपीना साक्षादवलोकनेन प्रथमा पाण्डुलिपि मुद्रितपुस्तकमिव अपूर्णा वर्तते। द्वितीय-पाडुलिपौ तु तृतीयपादस्थाने तृतीयचतुर्थपादौ इत्थम्—

गुरुपदमाम्यासुदेतोयम्।

एतद्‌विषयस्य सम्पूर्णपर्यालोचनेन इत्थ प्रतीयते यद् ग्रन्थसूच्या प्रथमद्वितीयपाण्डुलिप्यो. विषये भ्रमो दृश्यते, अर्थात् सम्पूर्णग्रन्थत्वेन निर्दिष्टा पाण्डुलिप्य मुद्रितग्रन्थ इव अपूर्णा एव वर्तते। द्वितीयपाण्डुलिपौ चतुर्थपादानन्तर पुष्पिकेत्थ दृश्यते—

इति रसगङ्गाधरे उत्तर प्रकरण समाप्तम्।

एतत्पुष्पिकादर्शनेनैव ग्रन्थसमाप्तिभ्रम सञ्जात स्यात्। तथैव च सूचना ग्रन्थसूच्या प्रकाशिता। एव साकल्येन पर्यालोचने कृते रसगङ्गाधरनामा ग्रन्थ अपूर्ण एव आस्ते। केवल चतुर्थपादस्य कोष्ठान्तर्गतसन्निवेश एव नवीनोपक्रमोऽस्तीति।

इदानीमय प्रश्न समुदेति, कोऽर्थ· खलु नवसन्निविष्टचतुर्थपादस्य ? तस्य च प्रकृते किं स्वारस्यम् इति अद्यापि अनाकलित वर्तते। ग्रन्थालये तत्रत्यैर्विद्वज्जनै· सह कृताया चर्चायामित्थ सूचितमासीत् यत् कुप्पूस्वामिशास्त्रिणा सरक्षणे प्रकाशिताया ग्रन्थसूच्या तत्र क्रमाङ्किकतपाण्डूलिपि विषये केनचित् पण्डितेन प्रकरणानुरूपतया चतुर्थपाद सन्निवेशित, परन्तु तस्य स्पष्टव्याख्या नेदानी केनापि तत्र कृता, कर्तु शक्तश्च न कोऽपि दृष्ट.। विदुषा पुरस्तादिम विषय समुपस्थाप्य जिज्ञास्यते यत् चतुर्थपादसन्निवेशस्य किं तात्पर्य कीदृश च तस्य प्रकरणानुरूपत्वम् ? आशास्यते काव्यशास्त्र-मर्मज्ञा एतद्‌रहस्योद्‌घाटने रुचिं प्रदर्शयिष्यन्ति।

['संगमनी' संस्कृत त्रैमासिक पत्रिकायां (प्रयागे)
संवत् २०२३ विक्रम वर्षे प्रकाशित]

७. अनुष्टुभ्-छन्दसः सामान्यापवादप्रकाराः

वाल्मीकिकविना लोके, छन्दस्यस्मिन्प्रचारिते।
अष्टाक्षरीयचरणा. चत्वार सन्त्यनुष्टुभि ।।

[आदिकविवाल्मीकिना लौकिकसस्कृतवाङमये प्रचारिते अनुष्टुभि छन्दसि अष्टाक्षरात्मका चत्वार पादा भवन्ति। वैदिकसस्कृते तु शिथिलबन्धमिद छन्द' वेदकालादेव दृश्यते]

समपादभेदाः

द्विचतुष्पादयोरन्ते जगौ ज्ञेयौ सुनिश्चितम् ।।
'**भ ज या त म**' मध्यात्तु गणो यस्मात्प्रदृश्यते ।।
द्वित्रितूर्याक्षरेष्वेक, तस्मात्पञ्चविधौ हि तौ ।।
आद्यस्य लत्वे गत्वे वा द्वित्वाद्भेदा दश स्मृता. ।।

[तस्यानुष्टुभ समपादयोर्द्वितीयचतुर्थचरणयो अन्ते पञ्चमषष्ठसप्तमाष्टमाक्षरसमूहे जगणो (ISI) गुरुश्च भवति सर्वत्र निश्चयेन। द्वितीयतृतीयचतुर्थाक्षरसमूहे तु भगण (SII) जगण (ISI) यगण (ISS) तगण (SSI) मगणना (SSS) मध्यादेक. कश्चन गणो दृश्यते। एवं च समपादे पञ्चगणवैकल्प्येन पञ्च भेदा, तत्रापि प्रथमाक्षरो लघुर्गुर्वा भवितुमर्हतीति हेतो, पञ्चविधस्य समपादस्य द्विगुणीकरणात् साकल्येन दश भेदा भवन्ति।]

विषमपादभेदाः

एकत्रिपादयोरेव भेदसंख्या प्रतीयताम्।
पञ्चषट्सप्तवर्णानां समूहे परिदृश्यते
'**भ य रा म न**' मध्यात्तु गण एक' सुनिश्चितम् ।।
तस्मात्पञ्चविधावेतौ पादौ नु विषमौ मतौ
एकैकशो विचारोऽस्य भेदाना क्रियतेऽधुना।

[अस्यानुष्टुभो विषमपादयो. प्रथमतृतीयचरणयोः भेदसंख्या निम्नलिखितप्रकारेण ज्ञेया। तत्र पञ्चमषष्ठसप्तमवर्णाना समूहे भगण (SII) यगण (ISS) रगण (SIS) मगण (SSS) नगणाना (III) मध्यात् एक कश्चन गणो निश्चयेन दृश्यते। तस्मात् विषमपादः प्रथम पचविधो भवति। इदानी प्रत्येकविधस्य विषमपादस्य विभिन्नभेदानां विचार. क्रमेण क्रियते।]

(१) भगणीयविषमपादभेदा:

पञ्चषट्सप्तवर्णेषु **भगणे** सति दृश्यते
'ज स या र त मा' ना तु एक आद्याक्षरत्रयी।
सदा गुरुस्तूर्यवर्णोऽत षड् भेदा. प्रकीर्तिता ।।

[भगणीयविषमपादे अर्थात् यत्र पञ्चमषष्ठसप्तमवर्णाना समूहे भगणो (ऽ।।) दृश्यते तथाविधे विषमपादे प्रथमद्वितीयतृतीयाक्षरसमूहे जगण (।ऽ।) सगण (।।ऽ) यगण (।ऽऽ) रगण (ऽ।ऽ) तगण (ऽऽ।) मगणाना (ऽऽऽ) मध्यात् एक कश्चन गणो निश्चयेन दृश्यते। चतुर्थवर्णस्तु सर्वदा गुरुदेव भवति। तस्मात् आद्याक्षरत्रये गणषट्कवैकल्प्येन भगणीय-विषम-पादस्यषड् भेदा भवन्ति।]

(२) यगणीयविषमपादभेदा:

पञ्चषट्सप्तवर्णेषु **यगणे** सति दृश्यते
'ज स या र त मा' ना तु एक आद्याक्षरत्रयी।
ततो भवन्ति षड्भेदा.—**यगणीयविमर्शने**—
तूर्यस्य लत्वे गत्वे वा भेदा द्वादश द्वित्वत ।

[यगणीयविषमपादेऽपि भगणीयविषमपादवत् आद्याक्षरत्रय्या जगण (।ऽ।) सगण (।।ऽ) यगण (।ऽऽ) रगण (ऽ।ऽ) तगण (ऽऽ।) मगणाना (ऽऽऽ) वैकल्प्येन षड्भेदा भवन्ति। किन्त्वत्र चतुर्थाक्षरो लघुर्गुरुर्वा भवितुमर्हतीति षड्विधस्य यगणीयविषमपादस्य द्विगुणीकरणात् साकल्येन द्वादश भेदा भवन्ति।

श्लोकपद्याह्वय वृत्त छन्दोविद्भि सुसज्ञितम्।
एतद्द्वादशभेदेषु सुतरां परिदृश्यते।।
अतोऽन्ये विषमा पादा **अपवाद** स्वरूपिण.।

[छन्द शास्त्रग्रन्थेषु श्लोकपद्यान्यतराभिधस्य अनुष्टुप्छन्दसो यत् "पञ्चम लघु सर्वत्र, सप्तम द्विचतुर्थयो । षष्ठ गुरु विजानीयात्" इत्यादि लक्षण दृश्यते, तस्योदाहरणस्वरूपा इमे यगणीयविषमपादस्य द्वादश भेदा सन्ति। अन्ये (उक्ता वक्ष्यमाणाश्च) भगणीयादि-विषमपादभेदास्तु निर्दिष्टलक्षण नानुसरन्तीति तदपवादस्वरूपिणो ज्ञेया ।]

(३) रगणीयविषमपादभेदा:

पञ्चषट्सप्तवर्णेषु रगणे सति दृश्यते।
'ज स या र त मा' ना तु एक आद्याक्षरत्रयी।
सदा गुरुस्तूर्यवर्ण, भेदास्तस्मात् स्मृता. षट्।।

[रगणीयविषमपादे भगणीयविषमपादवत् आद्याक्षरत्रय्यां जगणादिगणषट्कवैकल्प्येन षड्भेदा भवन्ति। चतुर्थवर्णस्तु सर्वदा गुरुर्भवति।]

(४) मगणीयविषमपादभेदाः

पञ्चषट्सप्तवर्णेषु मगणे सति दृश्यते।
एक एव गणो नून द्वित्रितूर्याक्षरेषु 'र'.॥
आद्यस्य लत्वे गत्वे वा द्वौ भेदौ परिकीर्तितौ।

[मगणीयविषमपादे द्वितीयतृतीयचतुर्थाक्षरसमूहे एक एव गण रगण (ऽ।ऽ) सर्वदा दृश्यते। प्रथमाक्षरस्तु लघुगुर्वा भवितुमर्हतीति भगणीयविषमपादस्य द्वौ भेदौ भवत ।]

(५) नगणीयविषमपादभेदाः

पञ्चषट्सप्तवर्णेषु नगणे सति दृश्यते।
'ज स या र त मा' ना तु एक आद्याक्षरत्रयी
सदा गुरुस्तूर्यवर्ण, भेदास्तस्मात्स्मता. षट्।

[नगणीयविषमपादेऽपि भगणीयविषमपादवत् आद्याक्षरत्रय्या जगणादिगणषट्क-वैकल्प्येन षड्भेदा भवन्ति। चतुर्थवर्णस्तु गुरुरेव भवति।]

उपसहार:

एव विंशतिभेदा वै, **अपवादस्वरूपिण** ।
विषमस्य हि पादस्य दृश्यन्ते सुविचारत ।

[एव सूक्ष्मविचारे कृते अपवादरूपाणा मगणीय-रगणीय-मगणीय-नगणीयविषमपादाना साकल्येन (षट्+षट्+द्वौ+षट्) विंशतिर्भेदा दृश्यन्ते।]

भेदा दश **समे** पादे द्वात्रिंशद् **विषमे** मता ।
ज्ञायता भेदसख्यैव प्रकाराणामनुष्टुभ·॥

[एव रीत्या अनुष्टुप्छन्दस. समे पादे दश भेदा विषमे पादे द्वात्रिंशत् (१२ लक्षणानुसारम्+२० अपवादरूपा.) भेदाः दृश्यन्ते।] ●

नागपुर यूनिवर्सिटी जर्नल (१९४०) में प्रकाशित
प्रत्येक प्रकार के उदाहरण अंग्रेजी निबन्ध में पृ.
194—96 **देखिये**

८. वैदिकसूक्तमुक्तावल्याः भूमिका

इह हि धर्मप्राणे भारतवर्षे परब्रह्मणो नि.श्वसितत्वेन परा ख्याति गताना वेदाना माहात्म्य सकलभूतल-ग्रन्थानतिशय्य वर्तते। अन्यधर्मावलम्बिना धर्मग्रन्था तत्तद्धर्माद्यपुरुषै प्रवर्तिता. विशिष्टकालादारभ्य प्रचार गताश्च, वेदास्तु अनादिकालादव्यवच्छिन्नपरम्परया प्रवर्तमाना: 'अपौरुषेया' इति धर्मग्रन्थान्तराप्राप्तपदवी वहन्ति। सकलज्ञानबीजनिधयो वेदा। 'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्' इति स्मृत्यनुसारमनन्यजुष्टा धर्ममूलत्वेन प्रसिद्धि लभन्ते। अतएव 'प्रामाण्य-बुद्धिर्वेदेषु' इति हिन्दुधर्मावलम्बिना वेदविषये श्रद्धातिशयप्रतिपादिनी सूक्ति सङगच्छते। ते च वेदाश्चत्वार·—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद:, अथर्ववेद इति। पद्यमयानामृचा, गद्यमयाना यजुषा गायनोपयुक्ताना साम्ना सङग्रहेण प्रथमवेदत्रय्या यथार्थनामत्वम्। अथर्वाङ्गिरोदृष्टत्वेन चतुर्थस्यापि अन्वर्थत्वमेव। चतुर्ष्वपि वेदेषु ऋग्वेदस्योपजीव्यत्व प्राधान्य च वेदभाष्यकारै. सायणाचार्यैरित्थ प्रतिपादितम्—'ऋग्वेदस्य प्राथम्येन सर्वत्राम्नातत्वमभ्यर्हितत्व च .. मन्त्रकाण्डेष्वपि यजुर्वेदगतेषु तत्र तत्र प्रयोज्या ऋचो बहव आम्नाता.। (सामवेदस्य) साम्ना तु सर्वेषामृगाश्रितत्वं प्रसिद्धम्। आथर्वणिकैरपि स्वकीयसहितायामृच एव बाहुल्येनाधीयन्ते। अतोऽन्यै सर्वैर्वेदैरादृतत्वादभ्यर्हितत्वम्।' तत्तद्वेदाना मन्त्रसङख्यापर्यालोचनेनापि सायणोक्त समर्थ्यते। तथाहि—यजुर्वेदस्य चतुर्थांशादधिको भाग, अथर्ववेदस्य षष्ठांशादधिको भागश्च ऋग्वेदेऽप्युपलभ्यते। सामवेदे तु पञ्चसप्ततिसङख्याका ऋच परित्यज्य सर्वमपरमृग्वेदान्तर्गतमेव। तदेवमृग्वेदस्य मूलवेदत्वेन प्रसिद्धिर्नाभूतार्थवादिनीति ज्ञेयम्।

न केवल भारतवर्षेऽपि तु जगद्वाङमयेऽपि ऋग्वेदस्य परमगौरव प्राचीनतमत्व च सर्वैरपि पारस्त्यविद्यानिष्णातैर्जनैर्नि सङकोच स्वीक्रियते। प्राचीनतमत्वमभिलक्ष्य अ (ज्ञात) पुरुष-कर्तृकत्वेनास्य अपौरुषेयत्वव्यवहार: सुतरा समुपपद्यते। एष च वेदो न केवल ज्ञानबीजनिधिरेव अपि तु प्राचीनभारतसस्कृते· परिचायकोऽपि। कि बहुना, जागतिक्या मानवीयसस्कृते· क्रमिकविकासस्य परिज्ञानायास्य ग्रन्थरत्नस्य महाननन्यसाध्य उपयोग। वैदेशिकविद्वद्भिरस्य प्रगाढमध्ययन कृत्वा प्राचीनकाले मनुष्यजाते. सस्कृतिस्वरूपविषये सोहापोहो विमर्श. कृतोऽस्ति। प्रोक्तं च भट्टमोक्षमूलरेण 'यावत्तिष्ठन्ति गिरय, सरितश्च महीतले। तावदृग्वेदमहिमा भूतले प्रचरिष्यते।' 'दाशतयी सहिता' इतिनाम्ना निर्देश ऋग्वेदस्य दशमण्डलात्मकत्व सूचयति। तत्र द्वितीयादिसप्तमान्तमण्डलानि क्रमशो गृत्समद-विश्वामित्र-गौतम-अत्रि-भरद्वाज-वसिष्ठैस्तद्गोत्रजर्षिभिर्वा दृष्टानीति एकर्षिवशसम्बद्धानि। अन्यमण्डलेषु कण्वाद्यनेकर्षिवशदृष्टा ऋचो दृश्यन्ते।

धिकसहस्रं सूक्तानि, ऋक्समूह: सूक्तमिति कृत्वा उपषट्शताधिकदशसहस्राणि ऋचो वर्तन्ते। तदेवमृग्वेदीयमन्त्रनिर्देशे क्रमशो मण्डलसूक्तर्चा सख्या लिख्यन्ते। ऋग्वेदस्यापरोऽपि परम्परागतो विभागक्रमोऽस्ति। तत्र प्रथममृग्वेदस्य अष्टकाख्येषु समानाष्टभागेषु विभाग, प्रत्येकाष्टके अष्टावध्याया:, प्रत्येकाध्याये वर्गा, वर्गेषु च ऋच इत्येवक्रमोऽनुस्रियते। एव चापरक्रमे अष्टकाध्यायवर्गर्चा क्रमशो निर्देशक सङ्ख्याचतुष्टय भवतीति ज्ञेयम्।

ऋग्वेदस्थमन्त्राणा पाठभ्रशदोषसम्भावना निराकर्तुमर्थबोधोपयोगिपदच्छेद प्रदर्शयितु च शाकल्याचार्येण पदपाठो विरचितोऽस्ति। तत्र न केवल सन्धिव्यवच्छेदपूर्वक पदाना पार्थक्येनोपन्यास, अपि तु समस्तपदाना व्यास, (विशेषस्थलेषु) प्रकृतिप्रत्ययविभागश्च अवग्रहचिह्न (ऽ) प्रदर्शनेन क्रियते। सहितापदपाठयो सम्बन्धपरिज्ञानाय एकतराच्चान्यतरस्य निर्माणाय 'ऋक्प्रातिशाख्य' स्याध्ययन कार्यम्। कात्यायनप्रणीत 'सर्वानुक्रमण्या' सर्वमन्त्राणा सख्याच्छन्दोदेवताप्रकरणादीना निर्देश कृतोऽस्ति, यस्य तत्तत्स्थले सूक्तभाष्यादौ सायणाचार्यैरुद्धरण क्रियते। ऋक्षु पदपाठे च प्रतिपदमुदात्तादिस्वरबोधकचिह्नाना व्यवहारो भवतीति तत्परिज्ञानायेमे स्थूलनियमा अवधेया। (१) अचिह्नितमक्षरम् उदात्तम् (२) अधश्चियितम् अनुदात्तम्, (३) उपरिचिह्नित स्वरितम्। यथा **नृम्णस्ये** इत्यत्र 'नृ' अनुदात्त, 'म्ण' उदात्त, 'स्य' स्वरितोऽस्ति। स्वरितादनन्तरम् अचिह्नितमक्षरमक्षराणि वा 'प्रचय' सज्ञया व्यवह्रियन्ते इत्यधिको विशेष, यथा **'मनास्वान'** इत्यत्र' स्वान्' इति 'प्रचय'। स्वरविशेषज्ञानाय सिद्धान्तकौमुदीस्था स्वरप्रक्रियाऽवलोकनीया। 'ऋषि छन्दो दैवतानि ब्राह्मणार्थ स्वराद्यपि। अविदित्वा प्रयुञ्जानो मन्त्रकण्टक उच्यते' इतिवचनात्प्रतिमन्त्र छन्दोदेवतादिज्ञानमावश्यकम्। एवमेव 'स्थाणुरय भारहार किलाभूदधीत्य वेदान्न विजानाति योऽर्थम्' इति कलङ्कपरिहारार्थम् वेदार्थज्ञानेऽपि प्रयतितव्यम्।

वर्तमाने सस्कृतवाङ्मयाध्ययनक्रमे शास्त्रि—वैदिकभेदेन विद्वास उपलभ्यन्ते। तत्र शास्त्राध्येतारो व्याकरणसाहित्यादिविषयानधीत्यापि वेदान्न जानन्ति, वैदिकाश्च केवल वेदानेव रटन्तस्तदर्थ ज्ञातु न प्रयतन्ते। एवविधस्यावाञ्छनीयस्यैकाङ्गपाण्डित्यस्य निराकरणाय नागपुरविश्वविद्यालयीयविशारदपरीक्षायामृग्वेदस्य कानिचित्सूक्तानि निर्धारितानि सन्ति, येन शास्त्राध्येतारोऽपि वेदाध्ययने प्रवर्तेरन्। एकस्मिन्स्थलेऽनुपलब्धानि तानि सूक्तानि निर्धन-विद्यार्थिभिर्दुरवापानि स्युरित्याशङ्काभीतेन, तेषामेकस्मिल्लघुपुस्तके समुद्रण चिकीर्षता च मया तत्कर्तु प्रार्थिता जाबालिपुरस्थगायत्रीसस्कृतब्रह्मचर्याश्रमस्य शिक्षका. श्रीविश्वनाथत्रिपाठिन: शीघ्रमेवास्य प्रकाशनोद्योगे दत्तचित्ता अभूवन्। झटित्येव जाबालिपुरवास्तव्याद्वैश्यवशावतसात् श्रीरामकुमारश्रेष्ठिमहोदयात् प्रकाशनार्थमावश्यकद्रव्यमपि तैं समासादितमित्यहो अभिनन्दनीय तेषामङगीकृतकार्यसम्पादनपाटवम्। विशारदपरीक्षायामुपविविक्षुभ्यश्छात्रेभ्यो नि शुल्क सभाष्या वैदिकसूक्तावलि वितरीतुकामै श्रीरामकुमारश्रेष्ठिमहोदयै—धर्मकर्मारुचिप्रदर्शकजनसकुलेऽस्मिन् कलौ—स्वकीयौदार्य प्रकाश्य वेदविद्याभिमानिन अतीवोपकृता इति नात्र स्तोकोऽपि सन्देह। एवमेव 'सुबोधसिन्धु' मुद्रणालयाध्यक्षै श्रीयुतप्रयागीमहोदयैरेतद्ग्रन्थस्य

[८२ पृष्ठे द्रष्टव्यम्]

९. सरस्वती श्रुतिमहती महीयताम्

यस्या संस्कृतभाषाया संरक्षणार्थम् उन्नयनार्थं च धृतव्रता भवन्त सर्वेऽत्र समवेता तस्या गौरव वैशिष्ट्य च जगत सर्वैरपि विद्यारसिकैरद्यतने काले नि संशयमनुमन्यते स्वीक्रियते च यूरोपदेशे यदा संस्कृतग्रन्थाना परिचयो जात. तदा तत्रत्यैर्विद्वज्जनै साश्चर्य सामोद च तेषा स्वागत कृतम्। भारतीय-दर्शनशास्त्रस्य आधारभूताना दशोपनिषदा परम्पराक्रम-प्राप्तमपि अनुवाद पठित्वा प्रसिद्ध-जर्मनदार्शनिक शापनहार स्वजीवनस्य धन्यता मेने। प्रथितयशा गेटेमहाकवि 'शाकुन्तल' नाटकस्य फ्रेञ्चभाषायाम् अनुवाद दृष्ट्वा प्रशसोद्गार प्रकटयामास। तस्य संस्कृतभाषायामय श्लोकानुवाद केनचिद्विदुषा कृतोऽस्ति—

वासन्त कुसुमं फल च युगपद् ग्रीष्मस्य सर्व च यत्
यच्चान्यन्मनसो विकासकमथो सन्तर्पणं मोहनम्।
एकीभूतमभूतपूर्वमथवा स्वर्लोकभूलोकयो-
रैश्वर्य यदि वाञ्छसि प्रिय सखे शाकुन्तल सेव्यताम्।

ससायण-भाष्यस्य ऋग्वेदस्य सम्पादक प्रख्यातो जर्मन-संस्कृतज्ञ मैक्समूलर पुनर्जन्मसिद्धान्ते ख्रिस्तधर्मावलम्बित्वेन अधृतविश्वासोऽपि आत्मनो भाविजन्म वाराणस्या वैदिक-कुले समकाक्षत।

किं बहुना संस्कृतभाषाया ग्रन्थरत्नेषु यद्यच्छब्दगतमर्थगत वा माधुर्य तद्रसास्वादेन प्रल्हादितचेतस सर्वेऽपि विश्वस्य विद्वज्जना अस्या भाषाया. भूरि भूरि प्रशसा कुर्वन्ति। संस्कृतभाषाया. परिचय लब्ध्वा ग्रीकलैटिनादि-पुरातनभाषाभि सह सादृश्य निरीक्ष्य पाश्चात्य विद्वास फाइलालॉजी (भाषाशास्त्रम्) इति नूतनस्य शास्त्रस्यावतारम् अकुर्वन्। एवमेव वेदेषु इन्द्रादिदेवविषयकाणि सूक्तानि, तथा पुराणेषु प्रतिपादितदेवकथा. सम्यगाकलय्य यूरोपदेशीयैर्मनीषिभि 'माइथालॉजी' (देवताशास्त्रम्) इति अपरस्य नवीन-शास्त्रस्य प्रादुर्भाव कर्तुमपारि। तदेवंप्रकारेण संस्कृतभाषा प्रति विदेशीया अपि स्वाधमर्णताप्रकाशने परम प्रमोदमावहन्ति। तत किं वक्तव्यमस्मद्देशविषये। भारतवर्षे तु अतिप्राचीनकालादारभ्य अद्यपर्यन्तम् अस्या अध्ययनाध्यापनपरम्परा अक्षुण्णरीत्या प्रवहमाना दृश्यते। संस्कृतभाषा भारतीय-संस्कृतेरात्मैव। अस्या एव संरक्षणेन भारतीयत्वस्य रक्षणमिति निसन्दिग्ध वच। अतएव स्वातन्त्र्यसूर्योदये जाते सर्वासु दिक्षु देशस्य सर्वाङ्गीण-विकास कामयमानाना देश हितैषिणा प्रचलितेषु बहुविधेषु प्रयत्नेषु संस्कृतभाषाप्रचार इत्येकोऽस्ति अभिनन्दनीय. प्रयत्नः।

किं कारणमिति जिज्ञासावा समुपन्यस्यन्तेऽत्र केचन हेतव·। वर्तमानकाले भारतवर्षे प्रचलिता सर्वा अपि भाषा तज्जन्यत्वरूपेण तत्प्रभावितत्वरूपेण वा सस्कृतभाषोपजीव्यतामाश्रयन्ते। सस्कृतभाषायामसञ्जातप्रवेशो भारतीयभाषासु प्रागल्भ्य प्राप्तु न शक्नोति। भाषाया कालक्रमेण परिवर्तनमनिवार्यम्। अतएव भारतवर्षेऽपि पाली—प्राकृतापभ्रशभाषादयो जन्म लेभिरे। "दैवी वाग्व्यवकीर्णेयमशक्तैरभिधातृभि " इति भर्तृहरि स्वकीये वाक्यपदीयनामके ग्रन्थे कथयति। शुद्धोच्चारणेऽशक्ता अभिधातार अर्थात् वक्तार इमा दैवी वाच (सस्कृतभाषा) व्यवकीर्णामर्थात् विविधरूपेषु परिवर्तितामकुर्वन्। अतएव ता परिवर्तितभाषा प्राकृतापभ्रशादिनामभि निर्दिश्यन्ते। सस्कृतभाषाया 'सस्कृत' इति नामकरणमेवास्या सस्कारयुक्तत्वमुद्घोषयति। सर्वापि भाषा द्विविधा। सस्कृता असस्कृता च। तत्र सस्कारो नाम व्याकरणानुसारेण शिक्षाप्रतिशाख्योक्त–तत्तत्स्थानप्रयत्नादिनोच्चारणरूप प्रयत्न, उपनयनादिसस्कारवत्। या भाषा व्याकरणनियमानुलङ्घ्य यथेच्छ जनैर्व्यवह्रियते सा असस्कृता अर्थात् प्रकृति (जन) प्रचलितत्वेन प्रकृति-सिद्धत्वेन वा प्राकृतेति नाम्नाभिधीयते। तदेव 'दैवी' वाक् इति नाम्नाभिहिताया सस्कृत-भाषाया सकाशादेव इमा मानुष्य प्राकृतादिभाषा विकास लेभु। सस्कृत-भाषाया पाणिन्यादिव्याकरणेन नियमनमस्या कालत्रयेऽपि एकरूपता स्थापयति, येन कारणेन अनेकसहस्रवर्षेभ्य पूर्वमपि प्रयुक्ता सस्कृता वाक् तस्या लिखिताश्च ग्रन्था अधुनापि सौकर्येण बोद्धु शक्यन्ते। इदमेवास्या भाषाया सस्कृतत्वम्। अन्यास्तु देशकालभेदेन परिवर्तन लभमाना स्वस्वरूप परित्यज्य नव नव रूप धारयन्त्य प्राकृतभाषा दुर्बोधा जायन्ते। वस्तुतस्तु सस्कृतभाषा अस्ति बुधभाषा, शिष्टभाषा, शास्त्रभाषा च। अन्यास्तु परिवर्तनप्रियत्वेन जनभाषेति सज्ञामर्हन्ति। अतएव भारतदेशे स्वग्रथस्य स्थायिता कामयमाना ग्रन्थकर्तार स्वग्रन्थान् सस्कृत-भाषायामेव निर्मिमते। तदैव च शक्यते तेषा ग्रन्थानामखिलदेशप्रचार। तत्तत्प्रान्तीयभाषासु विरचिता ग्रन्था अन्यदृष्ट्योपादेया अपि सकुचित-क्षेत्रेषु एव प्रचार लभन्ते। न तेषा कदापि सकलदेशप्रचार सुशक, अखिलभारतीयकीर्तिश्च सुलभा। अनेनैव कारणेन भारतीयवाङ्मयस्येतिहासे इद पुन पुन समवलोक्यते यत् परिवर्तमाना अपि इमा प्राकृतादिभाषा पुन पुन सस्कृतभाषासविधे तत्समशब्दग्रहणार्थ नीयन्ते। तदैव च ता सस्कृतशब्दसामर्थ्येन परिपुष्टा कालान्तरेऽपि जीवनशक्ति धारयन्ति। हिन्दी-साहित्यस्य आधुनिक-काव्यग्रन्थेषु, विशेषत माननीय-मिश्र महोदय-विरचिते 'कृष्णायन' महाकाव्ये तत्सम-सस्कृत-शब्दाना बहुलप्रयोग अनयैव बुद्धया कृतोऽस्ति इति सर्वथा समीचीनम्।

अय च अपरो हेतु, सस्कृतभाषाया अधिकाधिकप्रचारस्याभीष्टत्वसम्बन्धे। भारतीय सस्कृति-पर्यालोचनेन विदितमेव स्यात्सर्वेषा यद् भारतीयसस्कृतेरैक्यसस्थापने सस्कृतभाषा प्रधानतम साधनम्। अस्मद्धर्मकृत्यानि सस्कृतमन्त्रोच्चारणपूर्वक क्रियन्ते। समस्तदेशे ऋग्वेदकालादारभ्य अद्य यावत् 'गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तम्—' इति मन्त्रपाठ. भारतीय—विवाहस्य अच्छेद्यत्व प्रतिष्ठापयति। अधुनापि स्नानोत्तर सर्वेऽपि आस्तिकभारतीया तमेवैक गायत्री-मन्त्रं जपित्वा स्वबुद्धेर्विकासाय भगवन्त सवितार प्रार्थयन्ते। कि बहुना, स्नानात्पूर्व यदा स 'गगे च यमुने चैव गोदावरि सरस्वति। नर्मदे सिधु कावेरि जलेऽस्मिन् संनिधिं कुरु।' इति मंत्रेण

जलाभिमत्रण करोति तदा स समस्तराष्ट्रस्यैकत्वमखण्डत्व च परोक्ष-रूपेण दृढीकरोति। अतः सर्वथा सशयातीतमिद वच यत् सस्कृत-भाषा देशस्यैक्यस्य भारतीय-सस्कृतेरभिन्नतायाश्च प्रतीकरूपा।* अत एवास्या भाषाया परिपोषण सवर्धन, राष्ट्रसस्कृत्योरेकत्व-भावनाया परिपोषण सवर्धन चेति सर्वसम्मतम्।

सत्यप्येवविधेऽकाट्यसाक्ष्ये केचन नवीनतापक्षपातान्धितधिय सस्कृत-भाषा मृतेत्युद्घोष्य अस्या प्रचारमवाञ्छनीय मन्यन्ते इति भृश विषीदति चेत । तेषा मनसि 'मृते' ति शब्दस्वार्थोऽतिसङ्कुचित इति मन्ये। सर्वत प्रसरति सर्वोदयमतवादे कि महात्मा गाधी मृत इति वक्तु शक्यते। कालधर्मेण नष्ट-शरीरा अपि पूर्वजा जीवत्सु पुत्रपौत्रादिषु जीवन्त्येव। "आत्मा वं पुत्र नामाऽसि" इति श्रुत्या पुत्र पितुरभिन्न । "प्रज.तन्तु मा व्यवच्छेत्सी " इति उपनिषद्वाक्य स्पष्टतया सूचयति यद् अव्यवच्छिन्नतन्तु-सन्ताने पूर्वगता तन्तवो न सर्वथा विलुप्ता । तथात्वे तु तन्तुसन्तान एव व्यवच्छियेत। एव च यावत्कालपर्यन्त सस्कृतोद्भूता सस्कृतप्रभाविता वा विभिन्ना भारतीय-भाषा लोके प्रयुज्यन्ते, यावच्चास्माक धार्मिककृत्यानि सस्कृत-मन्त्रै सम्पाद्यन्ते, यावच्च भारतीय-सस्कृतिरात्मनोऽस्तित्व जगति धारयति, तावत्-काल-पर्यन्त सस्कृत-भाषा 'मृतेति' कथन वदतो व्याघात एव। यथा सम्पादितशुभ-कृत्या जना विनष्टेऽपि भौतिके देहे स्वयश-कायेन चिर जीवन्ति, एवमेव उच्चविचारप्रकाशनक्षमा अखिल-भारतीयप्रसिद्धि-कामाना ग्रन्थकाराणामिमेकमात्रसाधनरूपा सस्कृत-भाषापि जीवत्येव। जनभाषा म्रियते, न बुधभाषा। उदात्त-भाव-प्रकाशनसामर्थ्य वहन्ती, शास्त्रीय-विषयचर्चा-पटीयसी नवनवार्थजात बोधयितु स्वाक्षय्य-भाण्डारात् नवशब्द-निर्माणशक्ति धारयन्ती सस्कृत-भाषा न कदापि मृतेति शब्दप्रयोगमर्हति। यावत्तिष्ठन्ति गिरय सरितश्च महीतले। तावत् सस्कृतभाषेय भारते प्रचरिष्यति।

उक्तमस्ति केनचित् विदुषा यत् शिक्षिताशिक्षितयो को भेद इति ज्ञातु समीहा चेत् तर्हि सस्कृतभाषाभिज्ञाभिज्ञत्व नियामकत्वेन स्वीकर्तुं शक्यते। असस्कृतज्ञ खलु वर्तमान क्षणिकमेव वाङ्मय जानाति, गतकालस्य शाश्वतमूल्यभाजा वाङ्मयेन अपरिचय तस्य दृष्टि-कोणम्अव्यापकम् अनभिजात च विदधाति। सस्कृतज्ञस्य न तथा। तस्य दृष्टिकोणे परिणत-प्रज्ञाना पुरातनग्रन्थकाराणा विचाररत्नानि अपूर्वां मूल्याङ्कन-शक्ति प्रवर्धयन्ति। विज्ञानक्षेत्रे उत्तरकालविज्ञान पूर्वकालविज्ञानमतिशयीत, न तथा साहित्यिकक्षेत्रे। विज्ञानक्षेत्रे साहित्यक्षेत्रे च स्पष्टोऽय मौलिको भेदः। वाल्मीकि-काव्यगौरव कालिदास-काव्येन, कालिदास-काव्य वा बाणकाव्येन नातिशेतु शक्यते। प्राचीनकवीना प्रतिभा तेषामनन्यजुष्टा सम्पत्तय.। नात्रान्य कवि भागभाग्भवितुमर्हति। वर्तते तेषा काव्यप्रतिभाया किमप्यपूर्वं वैशिष्टयम्, येन कारणेन प्राचीन-कवीना महत्त्वमनन्यहार्यम्। प्रत्युत सततानुशीलते कृते प्राचीनग्रन्था नवनवोन्मेष प्रदर्शयन्ति। मेघदूताभिज्ञानशाकुन्तलोत्तररामचरितकादम्बरीत्यादि ग्रन्थरत्नानि पुन पुन सूक्ष्ममनुशीलितानि प्रतिवारमदृष्टपूर्व काव्यसौष्ठव प्रदर्शयन्ति। किंच राष्ट्रभाषात्वेन स्वीकृतायाः हिन्दी-भाषाया तत्पदे निवेशनाय सस्कृत-भाषा अत्यन्तमुपयोगिनीति सर्वैरपि स्वीकार्यम्। यत. यथा यथा हिन्दीभाषा सस्कृतनिष्ठा, सस्कृत-गर्भा वा भविष्यति, तथा तथा वर्धेतास्या राष्ट्र-

भाषापदवहनसामर्थ्यम्। संस्कृत-भाषाया तत्समा शब्दा हिन्दीभाषाया बाहुल्येन प्रयुक्ताश्चेत्, सा काश्मीरप्रदेशात् कन्याकुमारीपर्यन्त, कच्छप्रदेशात् कामरूप यावत् समस्ते देशे सुबोधा सुशक-प्रचारा च स्यात्। तदेवमनेकायुक्तयो वर्तन्ते यत्कारणेन सस्कृतभाषाया अधिकाधिक-प्रचार: सर्वैरपि अभिलाषणीयाऽस्ति। तस्यैवाभिलाषस्य इद मूर्त्त प्रमाण यत् सस्कृतभाषाध्यापका अत्र स्वोद्देश्य सफलायेतु बद्धपरिकरा अवलोक्यन्ते। दृश्यते च अध्यापकेतराणामपि उत्साहोल्लास-परिप्लुताना सस्कृतभाषानुरागिणा स्फूर्तिप्रदायक समुदायोऽत्र समास्थले।

परतु एवप्रकारेणासन्दिग्धमाहात्म्याया अपि सस्कृत-भाषाया विरल-विरल एव प्रचारो-ऽधुनातने काले। वर्षानुवर्ष सस्कृत-पाठशालासु आग्ल-विद्यालयेषु च सस्कृताध्येतृणा सख्या ह्रास गच्छन्ती अवलोक्यते। पञ्चविशतिवर्षेभ्य पूर्व नागपुर-विश्वविद्यालये सस्कृतविषय गृहीत्वा इटर-बी० ए०-परीक्षयो प्रवेष्टुकामाना सख्या यावती आसीत् ततोऽपि न्यूना सजातास्ति, यद्यपि विश्वविद्यालय-परीक्षार्थिना सख्या साकल्येन चतुर्गुण-वृद्धि प्राप्तास्ति। चतुर्दश-वर्षेभ्य पूर्व कतिपयेषा सुहृदा सक्रियसहयोगेन प्रवर्तितासु विश्वविद्यालयीय-प्राच्यविद्या-परीक्षासु प्रवेशार्थिना सख्या सम्प्रति वर्षानुवर्ष न्यूनतरा सजायते। न केवल परिमाणकृतमेव, गुणकृतमपि वैषम्य चेतसि महान्त खेदमावहति। अद्यतनेषु सस्कृतज्ञेषु प्रौढि, विषयप्रवेश वाक्पाटव च अपवादेष्वेव लभ्यन्ते। तथैव साम्प्रतिके काले मध्यप्रदेशस्य विभिन्नस्थानेषु सस्कृत-पाठशाला आवश्यक-सहायताया अभावे कथकथमपि प्राणान् धारयन्ति। पुरा अन्नवस्त्र-पुस्तकादीना नि शुल्कप्रदानेनोत्साहिता छात्रा पर्याप्तसख्याया सस्कृतभाषामधीयते स्म। विद्याभ्यासेन च अन्नप्रदातु वदान्यस्य 'दश पूर्वान्' 'दशापरान्' पुण्यभाज कुर्वते स्म। इदानी तु अन्नवस्त्रमहर्घतया वदान्यता प्रतिदिन सकुचिततरा भवन्ती अवलोक्यते। सस्कृतभाषाध्ययने श्रद्धादराभाव इदानी तथा वर्धमानो विलोक्यते, यथा सस्कृत-विदुषामपि अपत्यानि सत्यर्थ-सामर्थ्ये आग्लभाषामेवाधीयते, सस्कृत-भाषा तु अनन्यगतिकैरेव निर्धनैश्छात्रै पठ्यते। न चेद-मस्ति अहेतुकम्, यत सस्कृतभाषाध्ययते आजन्म दत्त-मनोऽवधाना अपि सस्कृतज्ञा विद्वास. पूर्वकालीनप्रतिष्ठासमादरौ तु दूरे नाम, जीवनयात्रामपि स्वातन्त्र्येण वोढुमक्षमा भवन्ति। तदे-वविधे वर्तमाने महत्यनर्थप्रत्यूहादिसमुदायेऽत्रोपस्थिताना समेषा सस्कृत-भाषानुरागिणामिद कर्तव्यपथमवतीर्ण वर्तते यद् इय दुरवस्था शीघ्रातिशीघ्र खपुष्पायिता विधेया, सस्कृत-भाषा च पुन आत्मीया भुक्तपूर्वां प्रतिष्ठा समलकुर्यात्।

अस्या दिशायामपेक्ष्यमाणा: प्रयत्ना: द्विविधा सन्ति। स्वावलम्बनाधिष्ठिता पराव-लम्बनाधिष्ठिताश्च। तत्र पूर्वमाद्याना विचार: प्रस्तूयते। सस्कृताध्यापकैरिदानी तथा प्रयत-नीय यथा छात्रा अध्ययने गाम्भीर्य सम्पादयेयु, तेषा ज्ञान परिपुष्ट सन्देहातीत प्रकर्षाधायक च स्यात्। पल्लवग्राहिपाण्डित्य न कदापि शोभाधायक पाश्चात्यप्रणाल्या कृताध्ययनेषु छात्रेषु, प्राचीनपरिपाट्या सम्पादितविद्येषु वा। अत्रेदमपि अवधेयम्, यत् प्राचीनकाले सस्कृतज्ञा विद्वासोऽल्पसख्यकानेव ग्रन्थान् पठन्ति स्म, अल्पक्षेत्र-परिमितमेव ज्ञानमुपार्जयन्ति स्म। परन्तु यदेव ते जानन्ति स्म, तत्साधु जानन्ति स्म। ज्ञात अज्ञात: वा इत्येवविध एव शास्त्रीयविषय: आसीत्। अर्ध-ज्ञात अथवा अपूर्ण-ज्ञातो विषयो नासीदेव। केवल सिद्धान्तकौमुदी न्यायमुक्तावली

साहित्यदर्पण च एतद्ग्रन्थत्रय सम्यगभ्यस्य यन्मौलिकं पाण्डित्य यञ्च विषये गहन-प्रवेश, यावन्तञ्ज ज्ञानातिशय ते सम्पादितवन्त, तत्सर्वमिदानी दुर्लभ-जातमस्ति। महाकवि माघेन उचितमेवोक्तमस्ति—

स्पृशन्ति शरवत्तीक्ष्णाः स्तोकमन्तर्विशन्ति च।
बहुस्पृशापि स्थूलेन स्थीयते बहिरश्मवत्॥

शर खलु अल्पमेव स्पृशति, परन्तु अन्त प्रविशति। पाषाणो बहुप्रदेश व्याप्नोति, किन्तु बहिरेव तिष्ठति अन्त प्रवेश तेन दु.शक एव। किन्तु नेदमेव पर्याप्तम्। अर्जितज्ञान यथा असन्दिग्घ पूर्ण च अपेक्षित, तथैव व्यापक साकल्ययुक्तमपि अपेक्ष्यते। ज्ञानक्षेत्रे जलराशौ इव मर्यादाकरण सीमाविभाजन वा दु शकम्। एकाङ्गिज्ञान नैव कदापि प्रशसामर्हति। कूपमण्डूकता सर्वथा परिहेया। अत ज्ञानस्य असन्दिग्धतया सह साकल्यमपि मनोनिवेशेन सम्पादनीयमिति सस्कृतज्ञान् प्रति मे विनम्रा प्रार्थना।

कतिभ्यश्चित वर्षेभ्य पूर्वं सस्कृतज्ञसमाजे दृश्यमानम् अत्यावश्यक परम्पराद्वयम् इदानी विलीनमपि जातमस्ति। तत्र प्रथमा शिक्षणपरम्परा, 'चिन्ताना' इति शब्देनाभिधीयते। उच्च-कक्षास्था छात्रा निम्नकक्षास्थ-छात्रान् गुरूपदेशमनुकृत्य पाठयन्ति स्म। एवरीत्या अध्ययनेन सह अध्यापनकलापि समर्ज्यते स्म। अस्या परम्पराया 'शिक्षणशास्त्रस्य' ट्रेनिग इत्यस्य पार्थक्येन आवश्यकता नासीत्। अधीयमानश्छात्र अध्ययनकाले एव अध्यापनानुभमवपि सम्पादयति स्म। एतस्या प्रथाया प्रसार प्रवर्धनीय.। अपरा परम्परा 'शास्त्रार्थं' शब्देनाभिधीयते स्म। यद्येषा परम्परा सविधि नियमेन च परिपाल्यते, र्तांह छात्राणा शास्त्रार्थ-विचारे बुद्धितैक्ष्ण्य-सम्पादने, वाक्पाटवार्जने च महत्सौकर्यं स्यात्। विषयप्रतिपादनकलाया नवनवोन्मेषशालि-प्रतिभा-सवर्धने च 'शास्त्रार्थ'—परम्पराया अतीव वैशिष्ट्यम्। नागपचमी-दिवसे यथा ग्रामस्य तरुणा मल्लविद्यायाम् आत्मन नैपुण्यप्रदर्शनेऽहमहमिका प्रदर्शयन्ति, तथैव तस्मिन् दिने वाराणस्या प्रतिमन्दिर शास्त्रार्थकलाभ्यास-नैपुण्य प्रदर्शयन्त छात्रा सस्कृतभाषा सप्राणा सबला च कुर्वन्ति स्म। अधुनातने काले परम्परेयम् 'अशिष्टे' त्युद्घोष्य तिरस्क्रियते इति महाननर्थ। शिक्षासस्थासु वादविवादो यथा नानिष्टो मन्यते, भिन्नावसरेषु सस्कृताध्येतार. सनियम 'शास्त्रार्थं' करणार्थमुत्तेजनीया इति मे मति। प्राचीनपरम्परासु अस्ति किमप्यपूर्वं वैशिष्ट्यमिति न विस्मरणीयम्।

सस्कृतविद्याप्रवर्धनार्थं सस्कृतज्ञै स्वय क्रियमाणेषु प्रयत्नेषु शुद्धोच्चारण-विषयक प्रयत्नोप्यतीव आवश्यक इत्यह मन्ये। अस्मिन् विषये माहाराष्ट्रा विद्वास सर्वथा अभिनन्दनीया। तै. बाल्यकालादेव वर्णाना शुद्धोच्चारणे मनोयोगो दीयते। अत एव तत्र वकारबकारयो सकार-शकारयोश्च भेद सम्यग्ज्ञात. स्पष्टश्च दृश्यते। वेदा न कदापि बेदा, चतुर्वेदी चतुर्वेदी एव अभिधीयते न चतुर्बेदी, शरवाचको महाकविवाचकश्च वाण-बाणशब्दौ न कदापि एकरूपौ भवत। एवमेव 'शान्ताकारो भुजगशयन.' 'सान्ताकारो भुजगसयन.' न श्रूयते। मूर्धन्यषकारोच्चारणेऽपि तथैव कण्ठ्यखकाराद् भेद स्पष्टीकरणीय। अन्यथा "ष्टुना ष्टु." इति पाणिनीयसूत्र 'खटुना खटु.' इति विकृतरूप स्यात्। याज्ञवल्क्यशिक्षाया यकारषकारयोरुच्चारणविषये प्रदत्ता नियमा

यजुर्वेदमन्त्राध्ययनकाले एव परिपालनीया, न लौकिकसस्कृतभाषाशब्दोच्चारणे। उत्तर-भारतीया सस्कृतविद्वासो विशेषत सावधाना भूत्वा यदि वर्णानुच्चारयेयु, तर्हि व्याकरणाध्ययनस्य तेषु अधिकप्रचारेण तैरुच्चारणशुद्धि सौकर्येण सम्पादयितु शक्यते इति मे साक्षादनुभव ।

इदानी परावलम्बनाधिष्ठिताना प्रयत्नाना निर्देश क्रियते। अतिखेदावहेय वस्तुस्थितिः यद् अस्माक मध्यप्रदेशे राजकीयसाहाय्य प्राचीनपरिपाट्या सस्कृतभाषाध्यापनविषये सर्वथा अभावात्मकत्वमेव । प्रतिवेशिप्रान्तेषु यथा उत्तरप्रदेशे, विहारप्रान्ते, वङ्गप्रान्ते कि बहुना उत्कलासमप्रान्तयोरपि, प्रशासनेन महत्साहाय्य क्रियते। तत्तत्प्रान्तानामायव्ययपत्रके प्रतिवर्षम् अनेकलक्षमुद्राणा समावेशो दृश्यते। गते मासे पठित स्याद् भवद्भि यद् उत्तरप्रदेशे एकविंशतिलक्षाणि, विहारप्रदेशे उपदशलक्षाणि, मद्रासप्रान्ते आसन्नपञ्चलक्षाणि सस्कृतभाषासवर्धनार्थमागामिनि सवत्सरे व्ययीकरिष्यन्ते इति। उत्तरप्रदेशेऽधिगताखिलभारतीयकीर्ति सस्कृतमहाविद्यालय साकल्येन राजकीय. सन्नेव वेदेषु शास्त्रेषु च अध्यापनप्रबन्ध कर्तु क्षम । उत्तरप्रदेशप्रशासनमेकशताधिका सस्कृतपाठशाला. आर्थिकसाहाय्येनोपकृता करोति। सस्कृतपाठशालीय-कार्याणा निरीक्षणाय तत्र 'इस्पेक्टारेट' (निरीक्षणविभाग) सस्थापितो वर्तते। एवमेव अन्य-प्रान्तेष्वपि विभिन्न-मात्रासु राजकीयसहायता प्रदीयते। गतवर्षे मईमासे उत्तरप्रदेशस्य शिक्षामन्त्रिणा भारतवर्षस्य विभिन्नप्रान्तेभ्यो विश्वविद्यालयेभ्यश्च सस्कृतविद्याया प्रतिनिधय समाहूता आसन्। तत्र मध्यप्रदेशप्रशासनस्य नागपुर विश्वविद्यालयस्य च द्वौ प्रतिनिधी समुपस्थितौ । तस्मिन् सम्मेलने ऐकमत्येन सस्कृतपरीक्षाणा प्रामाणिकीकरणविषयक समीकरणविषयकश्च प्रस्ताव स्वीकृतो जात· । बम्बईप्रशासन तत्प्रस्तावानुरोधेन सस्कृतभाषासरक्षणप्रवर्धनार्थम् उपसमितिमेका निर्ममे, यस्या उपदेशेन-इत्थ श्रूयते यत्, शीघ्रमेव बम्बईप्रान्ते चतुर्णा राजकीयसस्कृतविद्यालयाना सस्थापनसम्बन्धे, प्रचलितसस्कृतपाठशालाभ्य आर्थिकसाहाय्यप्रदानसम्बन्धे च सक्रियविमर्श प्रवर्तते। मध्यप्रदेशस्य प्रशासनेनास्मिन् सम्बन्धे किं विधेयमिति सस्कृताध्यापकसङ्घेन विचार्यमाणविषयेषु अन्तर्भावयिष्यत इत्यह मन्ये। परीक्षाणा पाठ्यक्रमे किं परिवर्तनमपेक्ष्यते, कथ च सस्कृताध्ययनस्य आधुनिकीकरण सम्पादनीयमित्यपि विचारार्हम्। एतत्कृते राजकीयवर्गस्य नेतृत्व कियदपेक्ष्यते, शिक्षाक्रमे सस्कृतभाषाया किं स्थान स्यात्, शिक्षासस्थासु राजकीयसेवासु च सस्कृतविदुषा क उपयोग इत्यादीना बहुविधाना प्रश्नाना समाधाने जाते एव सस्कृत-शिक्षापद्धति. निर्धारयितु शक्यते। आग्लभाषाध्ययनस्य वैकल्पिकत्वे जाते सस्कृतभाषाया अधिकाधिकाध्ययन प्रवर्तेत इति सर्वथा स्वाभाविकम्। किन्तु तदर्थ सस्कृताध्यापनस्य प्रकार· कथ कियद्वा परिवर्तनीय इति विमर्शार्हम्। आवश्यकतानुसारम् आविष्कारा जायन्ते इति सर्वथा अबाधित सिद्धान्त । एवमेव, प्रचलिताना सस्कृतपाठशालाना दयनीया स्थितिः शीघ्रातिशीघ्र दूरीकरणीया। पारतन्त्र्यकाले प्रशासनस्य सस्कृतशिक्षा प्रत्यौदासीन्य कथचित् क्षम्यमामीत्। साप्रत तु राष्ट्रियप्रशासनस्येदमाद्य कर्तव्य यत् सस्कृतविद्याप्रचारः समुन्नेय:, प्राचीनपाण्डित्यस्य सरक्षण विधेयम्। हर्षावहमिद यद् अस्माक शिक्षामन्त्रिणो नास्मिन् विषये उदासीना । प्रान्तीयव्यवस्थापकसभाया गतमासे एव तै सस्कृतविद्या-प्रोत्तेजनार्थमाश्वासन

प्रदत्तम्। लघुराज्याना विलयने जाते, जमीदारी-प्रथायाश्च उन्मूलने कृते, प्रान्तीयप्रशासनस्य गले पतितोऽय भार सर्वथा प्राथम्यमर्हति। सस्कृत-पाठशालानामार्थिकस्थितौ सम्पन्नाया, शिक्षाक्रमे च कालानुरूप परिवर्तिते सति, पाठशालीयाश्छात्रा अपि सस्कृतविद्या सम्यगभ्यस्य देशहितकार्येषु आत्मान प्रवर्तयेरन्। विगलिताया पारतन्त्र्यशृखलाया प्रवर्तमाने च स्वायत्त-शासने, सस्कृतविद्वासो नेदानीमकर्मण्या उदासीनाश्च भवितुमर्हन्ति। राष्ट्रकल्याणाय तै किं कर्तव्यमिति निश्चित्य सस्कृतभाषाया उन्नयनार्थ प्रयत्नो विधेय। तदर्थ तेषा कीदृश योग्यतावर्धनमपेक्ष्यते, कथ च तेषामधिकोपयोगित्व सम्पाद्येतेति अनेकेषामावश्य कविषयाणा विमर्शे भवता साफल्य समीहमान पुनरप्यन्तेऽध्यक्षीयभाषणावसरप्रदानेन मयि यमनुग्रह प्रदर्शितवन्तस्तदर्थ कृतज्ञताभाव प्रकाशयन् विरमामि।

[१५५१ मिते ईशवीय वर्षे मध्यप्रदेशीय-सस्कृताध्यापक सघस्य पञ्चमेऽधिवेशने अध्यक्षीयभाषणम्]

[पृष्ठ २१ तः]

कृते विशिष्टानि सस्वरमुद्रणाक्षराणि क्रीत्वा अल्पव्ययेनैव कृच्छ्रसाध्य सस्कृतग्रन्थमुद्रणमङ्गी-कृतमिति प्रशसनीय तेषा सस्कृतविद्याप्रेम। तदिय सभाष्यवैदिकसूक्तमुक्तावली भगवतो वेदस्य कृपया वेदाध्ययनाध्यापनप्रचारे साहाय्य विदधती विद्यार्थिजनानामावश्यकता पूरयेत् इत्याशास्ते।

(१९९८ वैक्रमसंवतसरे वैदिकसूक्तावलीनामकस्य नागपुरे प्रकाशितस्य पुस्तकस्य भूमिकारूपमिदं लिखितम्।)

१०. संस्कृतभाषायाः राष्ट्रभाषात्वम्

अमृतपानाद् नितरा उद्विग्न शङ्कर यथा विषपान कृत्वा आनन्द प्राप, तथैव नानाविधमनोरञ्जककार्यक्रमानन्तर संस्कृतभाषाया व्याख्यान कारयत धर्मपेठ सार्वजनिकगणेशमडलस्य स्वादपरिवर्तनेन आनन्दप्राप्तौ प्रयत्न इति मन्ये। प्रथमत तावद् संस्कृतभाषाया व्याख्यान कर्तु विद्यते मे भयम्। अधुना सर्वेभ्योऽपि यथापूर्व संस्कृतभाषा न रोचते। पाठशालासु संस्कृत-भाषाछात्रा न्यूनसख्या ऽसंस्कृतभाषाया नामैव श्रुत्वा ते गृहीतभया इव तस्या दूर पलायन्ते। द्वितीयतश्च को नाम व्याख्याता। महाविद्यालये 'टिड्ढाणञ्' इत्यादिकटुशब्दै कुठितमति वेदाभ्यासजड कोऽपि। न मयि रसालवाणीकत्व सभवति। तथापि व्याख्यातुम् आज्ञप्त एक वक्तुम् उत्सहे। तृतीयतश्च को नाम विषय। संस्कृतभाषाया राष्ट्रभाषात्वम्। "इय भाषा न अखिलस्य राष्ट्रस्य। किन्तु केषाचन पडितानाम्। राष्ट्रन्तर्गता वय न ता बोद्धु शक्नुम। अत कथ सा राष्ट्रभाषा भवेत्" इति कश्चिद् वदेत्।

एतस्मात् दोषत्रयकारणात् भीत अहम्। अत. तस्याएमेव भाषाया ब्रवीमि या अत्रोपस्थितताना सज्जनाना मध्ये सर्वैरपि बोध्या भवेत्, यथा च सा समासबहुला क्लिष्टा च न भवेत्। अन्यथा यस्या भाषाया व्याख्यानस्य अवबोध अपि न भवेत् सा कथ राष्ट्रभाषा भवति।

'राष्ट्रभाषा' पदस्य अर्थ.

"संस्कृतभाषाया राष्ट्रभाषात्वम्" इति विषये प्रथम तावद् "राष्ट्रभाषा" इति पदस्य पूर्व विचार कर्तव्य। तत्रापि प्रथम "राष्ट्र" पदस्य विचार। इद एक राष्ट्र इति प्रथम विचार। यदि इद एक राष्ट्र न, तर्हि न सभवति राष्ट्रभाषाया प्रश्न। 'राष्ट्रभाषा' पदस्य राष्ट्रस्य भाषा राष्ट्रभाषा इति विग्रह। न राष्ट्राणा राष्ट्रयो वा भाषा इति। अत इद स्वीकर्तव्य यद् इद एक राष्ट्र इति। पूर्वकाले आसीत् खलु इद एक राष्ट्रम्। किन्तु अधुना तु तद् अर्धराष्ट्र जातम्। 'आसिन्धु सिन्धुपर्यन्त' एतद् राष्ट्रम्। किन्तु द्वितीय सिन्धो नाम अपि न विद्यते अस्मिन् राष्ट्रे। कस्यचन अपि मगलकार्यस्य प्रारभे 'जम्बूद्वीपे भरतखण्डे' इति मन्त्र उच्यते। न खलु भरतखण्ड खण्डे। उत्तरस्या दिशि काश्मीर, दक्षिणस्या दिशि कन्याकुमारी, पूर्वस्या दिशि कामरूप, पश्चिमस्या दिशि कच्छ इति चतुर्भि ककारै आवेष्टित इद एक राष्ट्रम्। तत्र वर्तमाना सर्वे वय एकराष्ट्रनिवासिन. इति कल्पना न कदापि विस्मर्तव्या। तत एव राष्ट्रस्य भाषा इति समास साधु भवति।

भारतस्य भाषाणाम्-उद्गमस्थानम्

अथ एक राष्ट्र इदम्। तस्य का भाषा इति विचारणीयम्। इद अपि विचारणीय यत्

किमेतद् नितरा आवश्यक यद् राष्ट्रस्य एका एव भाषा स्यात्। न द्वे, तिस्रो वा। अस्य सुयोग्य उत्तर तु एतदेव भवति यद् राष्ट्रस्य एका एव भाषा स्यात्। अस्माक नेतृभि॰ हिन्दी-हिन्दुस्थानी इति द्वे भाषे राष्ट्रभाषारूपेण निश्चिते। उर्दूभाषाया राष्ट्रभाषात्वे न कोऽपि सम्मति ददाति दातु अर्हति वा। अस्मिन् अवसरे अस्माक राष्ट्रस्य भौगोलिक परिचय आवश्यक। त्रिधा विभक्त अय देश। उत्तरापथ, दक्षिणापथ, मध्यदेशश्च इति। उत्तरभारते अनेका प्रान्तीय-भाषा। समृद्ध च तासा साहित्यम्। अस्माक पूर्वस्या दिशि बगाली भाषा। तस्या साहित्य तथा भूत यत् तस्या गौरव कर्तु ते अर्हन्ति। रवीन्द्रसदृशा कवय, शरच्चन्द्रादय उपन्यासकारा तस्या भाषाया वाङ्गये जाता। एवमेव पश्चिमस्या दिशि गुजराती, महाराष्ट्रे मराठी, उत्तरे भारते हिन्दी। उत्तरस्या दिशि एकस्या हिन्दीभाषाया अपि स्वरूप न एकविधम्। तस्या यादृश स्वरूप बिहारप्रान्ते न तादृश युक्तप्राते।

सर्वा अपि एता भाषा आर्यवशोद्भवा। सर्वासा आसा उद्गम सस्कृतभाषाया एव। यदि एताभ्य भाषाभ्य सस्कृतभाषाया॰ शब्दा बहिष्क्रियन्ते तर्हि तासा विलोप स्यात्। इयत् परिमाण विद्यते सस्कृतभाषाया शब्दाना आसु भाषासु।

दक्षिणभारते अन्या एव स्थिति दृश्यते। ता. न आर्यवशोद्भवा किन्तु द्राविडवशोद्भवा। तथापि सस्कृतभाषाया प्रमुत्व सस्कृतशद्वाना बाहुल्य च तासु अपि दृश्यते। तथा हि तेलगुभाषाया ०% संस्कृतभाषाया शद्वा, कन्नडभाषाया ७५% मल्यालम्भाषाया ८०% सस्कृतशदा। केवल तामिल भाषाया अस्या प्रभाव अल्पतम॰। तस्या केवल १०% सस्कृत-भाषाया शब्दा विद्यन्ते।

एता या भाषा विद्यन्ते तासु विद्यमानानां शब्दाना त्रयो भेदा। केचन शब्दा॰ तत्समा, केचन तद्भवा, केचन च देशीया। सस्कृतभाषाया यथास्थित तथा आगता शब्दा तत्समा., यथा सार्वजनिक, मण्डल, उत्सव इत्यादय। सस्कृतशब्देभ्य उद्भूता तद्भवा यथा 'आज' इति शब्द 'अद्य' इति शब्दत् उद्भूत.। देशीयशब्दास्तु कुत आगत इति न ज्ञायते। इदानी एतासु सर्वासु भाषासु यथा तत्समशब्दाना तद्भवशब्दाना च आधिक्य न तथा देशीयशब्दानाम्।

राष्ट्रभाषात्वे सामर्थ्यम्

इदानी तु इद विचारणीय यत् कि वर्तते सस्कृतभाषाया तादृश सामर्थ्य राष्ट्रभाषा भवितुम्। वैज्ञानिक इद युगम्। अस्मिन् युगे शास्त्राणा ज्ञान प्रतिदिन परिवर्धमान दृश्यते दिने दिने नूतना. आविष्कारा आविर्भवन्ति। तेषा कृते के शब्दा ग्राह्या कि आग्लभाषाया शब्दा साक्षात् प्रयोक्तव्या। यदि ते तथैव प्रयोक्तव्या तर्हि महती अनवस्था स्यात्। प्रान्तीय-भाषासु तेषा अर्थे न समीचीना, शब्दा.। लोकभाषासु आग्लशब्दा एव तेषा *रूपपरिवर्तनेन (यथा Ticket इति स्थाने टिकिट) वर्तन्ते। किन्तु न शास्त्रीयग्रन्थेषु तेषा प्रयोग योग्य। आंग्लभाषाया Law bylaw, order, ordinance, rugulation इत्येतेषु शब्देषु भिन्ना भिन्ना भावच्छटा वर्तन्ते। न एकेनैव शब्देन तादृशाना छटाना अनुवाद भवति। न च प्राकृतभाषासु अनुवादस्य सामर्थ्यम्। तर्हि कस्या भाषाया. समाश्रयणेन एतेषा अनुवाद.

कर्तव्य । अत्र सस्कृतभाषा एव अस्मभ्य साहाय्य ददाति। तथाहि Saw=न्याय, bylaw= उपनियम, order=आज्ञा, ordlnanee=सद्य शासनम्, rule=नियम, regulation नियमनम् एव प्रकारेण दीयन्ते तेषा पर्यायशब्दा । सस्कृतभाषाया उपसर्गयोगात् धातूना अर्थ मिन्न भवति। उपसर्गाणा सद्भावात् अस्या भाषाया, यावन्त जगति अर्था विद्यन्ते ते सर्वे शब्दै प्रकटीक्रियन्ते। यथा 'हृ' धातो भिन्नाना उपसर्गाणा प्रयोगेण भिन्ना अर्था भवन्ति। यथा हार, आहार, सहार, परिहार, इत्यादय । तथैव भिन्नाना उपसर्गाणा प्रत्ययानाच प्रयोगे भिन्ना, अर्था भवन्ति, चिन्ता पदे चिन्त् धातु तस्य धातो अर्थ (Thtnk) किन्तु 'चिन्ता' शब्दस्य अर्थ (omyiety) न विचार (thinking)। तस्मिन् अर्थे चिन्तन इति शब्दस्य प्रयोग. कर्तव्य । एतादृश सामर्थ्यं अस्माक गीवार्णभाषाया । ससारे अस्मिन्स अर्थ एव न अस्ति यस्मिन्न शब्द अस्या भाषाया न लभ्यते। या भाषा जीवमाना तस्या भाषाया नूतना शब्दा आगच्छन्ति नूतनाना भावाना कृते नूतना शब्द निर्णेया । सर्वा प्रान्तीयभाषा अधमर्णा वा स्वय अपरेभ्य ऋण गृह्णन्ति। कथ ता अन्यस्मै प्रयच्छन्ति। एतस्माद् विवेचनाद् इद सुनिश्चित यद् इय भाषा नूतनशब्दनिर्माणे क्षमा। अत तस्या राष्ट्रभाषात्वे भवति योग्यता।

अस्माकं धर्मभाषा

द्वितीय कारण यद् इय अस्माक धर्मभाषा। एतद्देशनिवासिना ये सस्कारा क्रियन्ते तेषु अस्या एव प्रयोग क्रियते। काश्मीरकेरल-कामरूपकाठियावाडादिषु सुदूरदेशेषु अपि यदि विवाह क्रियते तर्हि 'हस्त गृभ्णामि ते सौभगत्वाय' इत्येष एव मन्त्र प्रयुज्यते। एवभूतेन विधिना कृता विवाहा वधा । प्रतिदिन प्रात सन्ध्यादौ सस्कृतभाषा एव प्रयुज्यते। न मराठी, न वा आग्लभाषा । इमा एव आश्रित्य सर्वाणि धर्मकर्माणि क्रियन्ते। अत इय अस्माक धर्मभाषा।

आयुष अन्तकाले कीदृश आदर्श नर स्वस्य पुर स्थापयति। स. चतुर्धामयात्रा कृत्वैव आत्मनो जीवित सार्थक मन्यते। कि कारणमस्य। अस्य कारण तु यत् इद एक अस्माक राष्ट्रम्। इय अस्माक पुण्यभूमि । अस्या पुण्यभूमे ऐक्य तदैव प्रतिष्ठित भवति यदा तस्या एका एव भाषा स्यात्। युरोपमहादेशे सर्वे देशा क्रिश्चनधर्मावलम्बिन । तत्र सस्कृतेरपि ऐक्य विद्यते। तत्र धर्मस्य ऐक्येऽपि, सस्कृते ऐक्येऽपि कथ तत्र विरोध., कथ वा अल्पकाले द्विवार युद्धप्रसङ्ग:। एकमात्र तस्य कारणम् भाषाभेद इति। भाषाभेदेन भिन्न. तेषा दृष्टिकोण:। यदि तादृशी व्यवस्था अत्र आनेतव्या तर्हि भवन्तु नाम प्रान्तीयभाषा: राष्ट्रभाषा । तथा सति हि बगाल-प्रान्तस्य सेना अत्र आगमष्यति। अत्रत्या च दिल्ली आक्रस्यति। अत भाषाया ऐक्य नितरां आव श्यकम्। तदैव सपूर्णस्य राष्ट्रस्य ऐक्य सस्थापयितु शक्यते। इद ऐतिहासिक सत्यम्।

किमेतत् प्रतिगमनम्

अत्र प्रश्न एक समुद्भवति। कथ एते मराठीगुजरातीहिन्दीबगालीत्यादय भेदा. जाता । तथा हि सस्कृतात्-पाली प्राकृतम्, प्राकृतात् अपभ्रश, तस्मात् अद्यतना भाषा । यदि प्रकृते।

एव एतद् परिवर्तन जात, तर्हि प्रकृतिविरुद्ध गमन स्यात् एक भाषाग्रहे। अत अनुचित एतत् प्रतिगमनम्।

न दुष्कर अस्य उत्तरम्। यदि भारतीयेति हासस्य सम्यक् निरीक्षण क्रियते तर्हि इद दृष्टिगोचर भविष्यति यद् यद्यपि भाषाया प्रवाहे वहव भेदा समभवन् तथापि अन्ते ते एतामेव भाषा समाश्रयन्ते स्म। तथा हि पालीभाषाया गौतमबुद्धेन स्वधर्मप्रचार कृत। यतः तस्मिन् काले सा एव भाषा जनै बोध्दु शक्या आसीत्। किन्तु गुप्तकाले ते एव बौद्धा पाली परित्यज्य स्वधर्मग्रन्थान् अस्यामेव भाषाया निर्मितवन्त.। मागधीप्राकृतभाषाया जैनधर्मग्रन्था पूर्व लिखिता। किन्तु तदनन्तर अस्या एव भाषाया ते स्वग्रन्थान् लिखितवन्त। मुस्लिमशासनकाले अपि ये ग्रन्थकारा जाता ते अस्या एव भाषाया स्वरचना रचितवन्त। अपि च प्रान्तीव-भाषालेखकाना कीर्ति. तेषा प्रान्ते एव परिमिता विद्यते। ज्ञानेश्वर. ज्ञानेश्वरी मराठीभाषाया रचितवान्। तुलसीदास रामचरितमानस हिन्दीभाषाया रचयाभास। अत न महाराष्ट्राद् बहि ज्ञानेश्वर्या, उत्तरभारतात् बहि रामचरितमानसस्य प्रचार। भवद्भि श्रुत स्यात् कस्यचन सुब्रह्मण्यकवे सम्बन्धे अस्माक गव्हर्नरजनरलमहोदय राजाजीमहाभागै दत्त व्याख्यानम् ऽपर एतस्मात् व्याख्यानात् पूर्वतस्य नामापि न अस्मामि. ज्ञातम्। तस्मिन्नेव प्रदेशे शकराचार्य रामानुजाचार्यश्च जातौ। तयो ग्रन्थाना निखिलेऽपि भारते प्रचार अवलोक्यते। केन कारणेन एतद् जातम्। ते ग्रन्था गीर्वाणभाषाया लिखिता इत्येव तेषा प्रचारस्य कारणम्। यद् ज्ञान तत्प्रान्तनिवासिना कृते भवति, भवतु नाम तस्य प्रकाशन तस्य प्रान्तस्य भाषायाम्। किन्तु यद् यद् अपूर्व अमूल्य ज्ञान, यद् अन्येभ्योऽपि देय, तस्य महार्हस्य ज्ञानस्य प्रचारार्थ सस्कृतभाषाया. एव आश्रय. कर्तव्य.।

भाषाकाठिन्यम्

अस्त्यत्र अपर विरोधकारणम्। अतिकठिना दुर्बोधा च इय भाषा। कथ सा राष्ट्रभाषा भवति। निपुण विचार्यमाणे तथाकथित काठिन्य अपि नष्ट भवति। नितरा विकासक्षमा इय भाषा। काले काले अस्या रूप भिन्न आसीत्। वेदकालीनभाषाया पाणिने. भाषा भिन्ना। पाणिनीयभाषात कालिदासकालीना भाषा भिन्ना। तस्या. भिन्ना इय भाषा, या मया अद्य प्रयुज्यते। किन्तु भिन्नरूपा अपि एका एव सा भाषा। इय भाषा सस्कृता। सस्कृता नाम कृतसस्कारा। यस्या भाषाया कृतसस्काराणा शब्दाना प्रयोग क्रियते सा सस्कृतभाषा। सस्कार विनानकोऽपि शब्द अत्र प्रयोक्तव्य। एते सस्कारा. व्याकरणेन क्रियन्ते। यदि स्वस्वभाषाया प्रावीण्य सपाद्यते तर्हि दूरत एव पलायेत सस्कृतभाषाया. काठिन्यम्। यत. प्रान्तीयभाषासु ये शब्दा बाहुल्येन भवन्ति, तेषामेव शब्दाना कृते ससस्कारे प्रयोगे सस्कृतभाषा भवति। सस्कारे कृते सति ते शब्दा सस्कृतभाषाया प्रयोग अर्हन्ति। एव प्रान्तीयभाषा एव राष्ट्रभाषाया परिवर्तयितु शक्यन्ते, सस्कारयोगात्। एव कृतसस्कारा सस्कृतभाषा राष्ट्रभाषा भवितु अर्हति ॥इति॥

[नागपुरे धर्मपीठ-सार्वजनिक गणेशोत्सवे (२००५ वैक्रमसंवत्सरे) कृतं भाषणम्। प्रकाशितं "युगधर्म"–साप्ताहिके आश्विन-कृष्णाष्टम्याम्]

११. हिन्दुत्वं संस्कृतिश्च

अद्य अस्मिन् अवसरे भाषणकर्तुमाहूत अहम्। परमत्र भवतामाशा कियत् पूरीक्रियते इत्यस्मिन् विषये सन्देह मे मनसि। मदीया भाषा न अलङ्कृता न वा मधुरा यथा आलङ्कृता राजवधू मनोरमा, तथा न मदीया भाषा। नारङ्गफलानि विक्रीणाना मार्गात् मार्ग संचरन्ती सामान्य स्त्री इव मे भाषा। सा इव मे भाषा अपि कार्यक्षमा, जनोपयोगिनी च।

'हिन्दु शब्दस्य' मूलम्

हिन्दुत्व सस्कृतिश्च इति विषय. मया गृहीत । हिन्दुत्व नाम किमिति विचारावसरे हिन्दुशब्दो विचारणीय । अय हिन्दुशब्द न स्वदेशीयै किन्तु परदेशीयै अस्मत्कृते रचित । सिन्धोः अस्मिन् तीरे वर्तमाना वय सिन्धो परस्मिन् पारे वर्तमानाना दृष्ट्या सिन्धुपारीणा जाता'। तदनन्तरमेकदेशग्रहणात् सिन्धुपारीणा इति शब्दस्य स्थाने सिन्धव' इत्येव शब्दरूपमवशिष्टम्। तेषा विदेशीयाना भाषाया सकारस्य स्थाने हकार भवति। तत सिन्धव. वय हिन्दव जाता एव च हिन्दुशब्दस्य प्रयोग रूढ ।

श्रीसावरकरमहोदयै कृताया हिन्दुशब्दस्य व्याख्याया 'पितृभू पुण्यभूश्च' इति शब्दौ स्त । विशिष्टस्य धर्मस्य अवलम्बिभि एव इय भूमि पितृभू पुण्यभूश्च मन्येत। तथापि मौलिकार्थेन सिन्धो एतस्मिन् भागे वर्तमाना सर्वे हिन्दव इति ग्राह्यम्।

एतद्देशवैशिष्ट्यम्

धन्या खलु ये भरतभूमिभागे जाता'। अस्यैव देशस्य महती प्रतिष्ठा यद् अत्रैव देवा अपि बसतिमिच्छन्ति। हिमालय अस्य शिरोरत्नम्। दिक्त्रये सागर अस्य पादप्रक्षालन करोति। नेदृशो रमणीयो भवति अन्य देश। विविध वातावरणमत्र प्राप्यते। यस्य यादृशं शीतमुष्ण वा इष्ट तत्सर्वमत्र सुलभम्। अत्रैव कृषिप्रसार सुलभः। कारणान्तरै अद्य निर्धनोऽय देशः। तथापि सदैव सुफल' सस्यश्यामलश्च प्रकृतित । अहो सम्यगाह भगवान् मनु.—

"एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मन । स्व स्व चरित्र शिक्षेरन् पृथिव्या सर्वमानवाः ॥"

अत्र 'शिक्षेरन्' इति पदे अवधान देयम्। तैरिद शिक्षणीयम्। न तु अस्माभि अध्यापनीयम्। अत इद स्पष्टीभवति यद् आक्रमण नास्य देशस्य स्वभाव । अन्येषा देशाना ये निवासिन' तैः अत्र आगत्य अत्रत्याना व्यवहारात् शिक्षा लब्धव्या। तथा च ख्रिस्तादिभि. अत्र आगत्य शिक्षा प्राप्ता इति भवति ऐतिह्यम्।

"सेक्यूलर स्टेट"

अद्य सर्वत्र 'सेक्यूलर स्टेट' इति शब्द' श्रूयते। किं तस्य तात्पर्यम्। धर्मविहीन धर्मातीत वा इति तु न स्यात् तस्य सम्यग् अर्थ । केषाचन विशिष्टाना लोकानामेव धर्म. राज्यधर्म माभूत् इत्येव अस्य् तात्पर्यम्। अस्य देशस्य धर्म मानवधर्म । धर्मो धारयते प्रजा । अतएव मानवधर्म' एव अत्रस्थाना जनाना धर्म । सच हिन्दुधर्म'। रामराज्यमितिशब्दे वर्तमान: राम-शब्द न सकुचितार्थ-प्रतिपादक । रामशब्द न विशिष्ट धर्म सूचयति। अखिलस्य एव विश्वस्य स आदर्शपुरुष । अत' रामराज्यमिति शब्द अत्युदार कचन आदर्शमेव राज्यस्य सूचयति। एव मानवधर्मत्वमेव हिन्दुधर्मस्य सत्यस्वरूपम्।

संस्कृतिशब्दविचारः

भूयान् काल. हिन्दुत्वविचारणे मया यापित:। अधुना सस्कृतिशब्द विचारणीय.। संस्कृतिशब्द सस्कारशब्दापरपर्याय । उभयो एका एव प्रकृति । मानसिक. सस्कार' नाम संस्कृति । सभ्यता सस्कृतिश्च इति द्वौ शब्दौ। सभ्यता बाह्या। सस्कृति अन्तरगनिष्ठा। अत्र विचारणीयम्—का हिन्दुसस्कृतिरिति।

हिंदुसंस्कृतेः वैशिष्ट्यानि—भिन्नेषु अभेदः

भिन्नेषु अभेद इति अस्या. प्रथम वैशिष्टचम्। काश्मीरमारभ्य कन्याकुमारीपर्यन्त भाषाकृतिवेषभोजनादिषु भूयान् भेद । तथापि अत्र सत्सु अपि भेदेषु यद् एकत्वरूप त देव अखडस्य एकराष्ट्रस्य सूचकम्। चतुर्धामसु यात्रा कार्या इति अस्ति आदेश:। स: खलु अखण्डराष्ट्रस्य निदर्शक:।

परमतसहिष्णुता

अनेनैव वैशिष्ट्येन आगतमिद द्वितीय वैशिष्ट्यम् भेदेषु सत्सु अपि अभेद पश्यता अत्रत्याना स्वमतभिन्ने परमते सति न कश्चन कोलाहल, आक्रोश तदभिभव वा। पाश्चात्येषु यथा विद्यते एकरूपता (Standasrdızatıon) न तथा अत्र। भिन्नाहारव्यवहारा सर्वैरत्र सह्यन्ते। न तेन सघर्ष उपजायते।

कर्मवादः

भारतवर्षे एव कर्मवाद' प्रसृत:। जीवात्मन' ससारस्य पूर्व परतश्च अवस्थान भारत-वासिन: मन्यन्ते। यत्कर्म मया अस्मिन् जन्मनि लब्ध तन् मम पूर्वकर्मण. फलमिति विचारेण सतोष. सजायते सर्वेषाम्। स्व कर्म उत्कृष्टतया यद्यह करोमि तर्हि अन्यस्मिन् जन्मनि अधिक तर सुख प्राप्स्यामि इति अस्ति अत्रत्यानां भावना। अत एव स्वे स्वे कर्मणि अभिरता. ते ससिद्धि लभन्ते। स्वकर्तव्यनिष्ठत्वात् तेषु वैमनस्याभाव, विषमताभाव., शान्ति च आसन् सर्वदा अत्र। अत एव सघर्ष: नासीत् वर्गेषु जातिषु वा। सप्रति तु स्वकर्मत्यागात् सर्वत्र सतोषहानि.

(Slow work) इत्यादिरूपिणी। स्वकर्तव्य फलमनपेक्ष्य एव कार्यमिति आसीद् अत्र उपदेशः। फलमेव अपेक्ष्य यदि कार्य क्रियते, तर्हि तत्फललाभाय सदुपायानामिव असदुपायानामपि उपयोगः क्रियेत। तत्तु न साधु। फलमनपेक्ष्य स्वकर्तव्यकरणे एव तस्य उभयरूप· उत्कर्ष· इति तत्त्वमेव वर्णव्यवस्थाया. मूलम्। प्राचीनतम अय देश। प्रयोगकरणान्तर सिद्धा. सिद्धान्ता अत्र शास्त्रेषु सनिहिता। देशान्तरेषु प्रयोगा स्यु नाम। नात्र तेषामावश्यकता।

सामाजिकी व्यवस्था

चतुर्थं वैशिष्ट्यम। परलोककल्पना अत्र वर्तते। अतएव अस्मज्जीवनस्य द्वे अङगे प्रवृत्ति-मूल निवृत्तिमूल च इति। प्रथमे जीवनार्धे, प्रवृत्ति द्वितीये अर्धे निवृत्ति·। ब्रह्मचर्यं गार्हस्थ्य च प्रवृत्तिमूलस्य जीवनस्य अगे। प्रथमे सति एव द्वितीय साफल्य भजते। वानप्रस्थ सन्यासश्च निवृत्ति-रूपे। वानप्रस्थाश्रम एव सन्यासाश्रमयोग्यतादायक। एव प्रवृत्तिनिवृत्तिभ्या द्विधा जीवनम्।

जीवनस्य विशिष्टः दृष्टिकोणः

व्यष्टे जीवन समाजस्य कृते इत्यपि व्यवस्था अभूत्। 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृध कस्यचिद् धनम्' इति आदेश कस्य तत्वस्य सूचक। अन्येषा आवश्यकता-पूरणानन्तरमेव अह गृह्णामि इति अस्ति तत् तत्वम्। अवशिष्ट मया भुज्यते इति आसीत् सर्वेषा भावना। न केवल मनुष्या. पर काककुक्कुरादय तिर्यञ्च अपि भुञ्जतामिति। अत एव 'क्यू सिस्टिम्', ब्लेक मार्केट इत्यनयो नामापि नासीत्। तयैव व्यवस्थया खलु राष्ट्रे शान्तिप्रतिष्ठापना शक्या भवतीति।" ●

[प्रकाशितं 'युगधर्म'-साप्ताहिके, आश्विन—
कृष्णैकादशी २००६ वि० सं०]

१२. मीमांसकः मुरारिमिश्रः

मुरारेस्तृतीय पन्था' इति सस्कृतपण्डित—समाजे प्रसिद्धा जनश्रुति । विरुद्धमतद्वयस्य विचारे कस्य अन्यतरस्य मतस्य स्वीकार तर्कं युक्त इति यदा कश्चित् विद्वान् पृच्छ्यते, स च मतद्वयमपि तिरस्कृत्य भिन्नमेव स्वकीय स्वतन्त्र मतमुपस्थापयति तदा मीमासकशिरोमणे मुरारे स्मरण भवति। यत स परम्परागत–प्रसिद्धमीमासकयो प्रभाकरकुमारिलयो मत परित्यज्य विशिष्टविषयेषु स्वकीय तृतीयमेव मत स्वीकरोति । अतएव उच्छृङ्खलेन वादिना परिहासविजल्पने मुरारि मिश्र उपमीयते, य मम कुक्कुटस्य त्रय पादा' इति सामिनिवेश-मुद्घोषयति। परमिद तुलनाकरण सर्वथा असमीचीनम्। मुरारे मत श्रद्धेय तर्कसमन्वित च। अतएव विद्वद्भि स सप्रश्रय विमृश्यते। तन्मत मीमासाशास्त्रीयचिन्तने विशिष्ट स्थान अलकरोति।

मिथिलाभिजन मुरारिमिश्र ईसवीय द्वादशशतके तत किञ्चिन्पूर्वं वा जन्म लेभे इति वाङमयेतिहासविद्भि स्वीक्रियते। यत मीमासका श्रीकर-वाचस्पति-शङकर-पक्षधर-मिश्रप्रभृतय मुरारिमतोल्लेख सनामनिर्देश स्वग्रन्थेषु कुर्वन्ति। त्रयोदशशतकोत्पन्नस्य नव्य-न्यायप्रवर्तकस्य गङगेशोपाध्यायस्य सूनुर्वर्धमान स्वकीये न्यायकुसुमाञ्जलि-व्याख्याने मनसैव ज्ञानप्रामाण्यग्रहण-विषयक मत स्पष्टतया मुरारिमिश्रोपजीव्यमिति निर्दिशति। स्वय मुरारि-मिश्रा दशमशतकोत्पन्नस्य 'नयविवेक-ग्रन्थ-रचयितुर्भवनाथस्य मतमुल्लिख्य तेन स्वविरोध सूचयति। अत दशमत्रयोदशशतकयोर्मध्यकाले उपद्वादशशतकमस्य प्रादुर्भाव इति प्रमाण सिद्धम्।

मुरारिमिश्रकृतग्रन्थविचारप्रसङग इद सखेद सूचनीयमस्तियत् तथा विश्रुतस्य स्वातन्त्र्येण मतोल्लेखार्हस्य मुरारि मिश्रस्य कोऽपि सम्पूर्णो ग्रन्थो नाद्य दृष्टिगोचरो भवति। केवल त्रिपादी-नीतिनयनम् एकादशाध्यायाधिकरण च इत्येतावेव—द्वौ अल्पकायौ लघुग्रन्थौ सम्प्रत्युपलभ्येते। परन्तु मुरारिमिश्रस्य उत्तरकालीन— मीमासाविषयकग्रन्थेषु बहुशो निर्देशनेन भूरिशश्च तन्मतपर्यालोचनेन इद सम्यगनुमातु शक्यते यत् तेन जैमिनिसूत्राणा द्वादश लक्षण्या समीक्षात्मिका व्याख्यान-टीका रचिता भवेत्। तेनैव कारणेन अस्य मीमासादर्शने प्रख्यातग्रन्थकारेषु गणना क्रियते इति विदुषा मतम्।

मुरारिमिश्रस्य तृतीयमतप्रख्यापकत्व एतन्मतस्यासामान्यत्वम् अभिव्यनक्ति। प्रथमद्वितीयमत-योरुपस्थापयितारौ प्रभाकर-कुमारिलौ इति विद्वत्समाजे सुपरिचितम्। मीमासा-शास्त्र खलु विमर्शशास्त्रमिति हेतो तत्रानेकमताना खण्डनमण्डने स्वाभाविके एव। अतएव अस्मिन शास्त्रे पदे पदे मतवैविध्य दृष्टिगोचरीभवति। विशेषत: प्रभाकर-कुमारिलयोः मत-

भेदः। तत्रापि विशिष्टस्थलेषु मुरारिसमर्थितं भिन्नमेव स्वतन्त्रं मतं प्रतिपादितं दृश्यते। तादृश-स्थलेभ्यः कानिचिदुदाहरणानि विषय-स्पष्टीकरणदृष्ट्या निर्दिश्यन्ते।

प्रामाण्यवादो मीमासाशास्त्रे मूर्धन्यस्थान लभते। अतएव शङ्करदिग्विजये प्रसिद्ध-मीमासकस्य मण्डनमिश्रस्य 'धाम कुत्र इति पृष्टवते शङ्कराचार्याय 'स्वत. प्रमाण परत प्रमाण कीराङ्गना यत्र गिरो वदन्ति, इति गृहसङ्केतो वर्णितो दृश्यते। अत स्पष्टमिद यत् मीमासा-शास्त्रे ज्ञानप्रामाण्य-विषये महान् मतभेद.। प्रभाकर· ज्ञानस्य स्वत· प्रामाण्य मन्यते। ज्ञान प्रकाशसदृशम्। यथा दीपप्रकाश दृश्यमान घटपटादिकम्, आत्मानम् अर्थात् प्रकाश, तथा प्रकाशाश्रयभूता ज्वलन्ती दीपवर्तिका चेति वस्तुत्रय प्रकाशयति, तथैव इन्द्रियार्थ-सन्निकर्षजन्य ज्ञानमपि ज्ञेय (पदार्थम्) आत्मानमर्थात् ज्ञान तथा ज्ञानाश्रयभूतमात्माभिधेय आत्मान चेति ज्ञेयम, ज्ञान ज्ञातारमिति वस्तुत्रय समकालमेव प्रत्यक्ष करोति। इदमेव त्रिपुटी-प्रत्यक्षम् इत्यभिधीयते।

कुमारिलमते तु ज्ञानमतीन्द्रियम्। घटज्ञाने जाते ज्ञातो घट इत्यनुभूयते। अर्थात् प्रत्यक्ष-विषये घटे ज्ञातता नामको धर्म उदेति॥ स एव च प्रत्यक्ष-विषयो भवति। किन्तु ज्ञातता धर्मस्योत्पत्ति· अन्यथा नोपपद्येत, अत अन्यथानुपपत्तिरूपया अर्थापत्त्या ज्ञान तत्प्रामाण्य च सिध्यति। अत. अर्थापत्तिमूलकत्वेन ज्ञानस्य परत प्रामाण्य सिद्ध भवति। एतद्विषये मुरारि मिश्रस्य भिन्नमेव मत दृश्यते। तथा हि विषयेन्द्रिय-सन्निकर्षेण जायमानज्ञान व्यवसायात्मक भवति। तदनन्तर घटमह जानामीति अनुव्यवसायात्मक ज्ञान उत्पद्यते। अनुव्यवसायात्मक ज्ञानमेव ज्ञानप्रामाण्यस्य जनकम्। एतन्मतत्रयस्य सम्यक् समीक्षणे कृते परस्परभेद इत्थमूत प्रतीयते। 'स्वत' प्रमाणम् इति पदे स्व प्रमाप्रमात्वम्—एतत् प्रभाकरमते। 'परत· प्रमाणमिति' पदे परत अर्थात् प्रमाया भिन्नाया सामग्रीत प्रमाणमित्यर्थ। सा अन्यसामग्री ज्ञातताधर्म अथवा अनुव्यवसायात्मक ज्ञानम्। प्रथम-विकल्पः कुमारिलमते, द्वितीय-विकल्पः मुरारि मिश्रमते। अत शुद्ध स्वत प्रामाण्य प्रभाकरमते परत प्रामाण्य कुमारिल-मुरारि मिश्रयो. मते इति विवेक·।

मुरारिमतस्य अन्यो मतभेदः भ्रमात्मक-ज्ञानविषयप्रतिपादने दृश्यते—रज्जौ सर्पभ्रमे इयरज्जु. इति इदविषयक ज्ञान प्रत्यक्षविषयतया प्रामाणिकती किन्तु तत्रैव अय सर्प इति सर्पप्रतीति पूर्वदृष्टसर्पस्य स्मृतिरूपा। तत्र प्रत्यक्षस्मृत्यो परस्परभेदाग्रहणात् भ्रम उत्पद्यते। रज्जोः प्रत्यक्ष भवति। सर्पस्य स्मृति इति रज्जुसर्पयो. नैक ज्ञान, किन्तु द्वे विज्ञाने-प्रत्यक्ष स्मृति श्चेति। तयोर्मध्ये अविवेक एव भ्रममूलम्। स एव अख्यातिः इति उच्यते। मुरारिमिश्रमत तु अत्र भिन्नमेवास्ति। रज्जुविषयक ज्ञान रज्जुत्व-प्रकारक, सर्पविषयक ज्ञान सर्पत्वप्रकारक भवति। किन्तु यदा रज्जुविषयक ज्ञान सर्पत्वप्रकारक भवति तदा विषय-प्रकारयो. भेदेन तथाविध ज्ञान अन्यथाख्याति विपरीतख्यातिः इति वा अभिधीयते।

एवमेव पदार्थसंख्या-तत्त्वरूपविषयेऽपि मुरारिमत अन्येभ्यो भिद्यते। द्रव्य, गुण-कर्म-व्यक्ति-परतन्त्रता-शक्ति-सादृश्य-सख्या इत्यष्टौ पदार्था. प्रभाकरमते। कुमारिलमते पूर्वं भावा-भावरूपौ द्वौ पदार्थौ तत. अभावचतुष्टयस्य (प्रागभाव-प्रध्वसाभाव-अन्योन्याभाव-अत्यन्ता-

[४० पृष्ठे द्रष्टव्यम्]

१३. अद्यतनं भारतवर्षम्

अद्यतनभारतवर्षस्य वर्णनावसरे पुरातनभारतवर्षस्य स्मृतिपथागमन स्वाभाविकम्। तत्रापि इदमवधेयम् यत् भारतवर्षविषये पुरातनाद्यतनयोर्मध्ये न तादृश कश्चन मौलिको भेदो वर्तते। अत्र सर्व वस्तु तदेव तदाकार तद्रूप च लक्ष्यते। क्वचिद् विषये लक्ष्यमाणोऽपि भेद केवल छायाश्रित एव, न वस्त्वाश्रित। मानवजीवनस्य विविधरूपाणाम् अपरिवर्तनस्य यथा भारतवर्षे निदर्शनम्, न तथा अन्येषु देशेषु। अस्य प्रधानकारण देशस्य भौगोलिकी स्थिति.। अत्र ऋतूनां क्रम पुष्पफलसमृद्धि तथैव जनयति, यथा पुरातनकाले। कृषीवला' द्वयो वलीवर्दयो साहाय्येन तथैव हलसञ्चालन वीजवपनञ्च कुर्वन्ति, तथैव सस्य-परिपाके जाते छेदन-मर्दनमार्जनादिकर्मभि अन्नराशि सम्पाद्य स्वभाण्डार पूरयन्ति, यथा पुरातनसमये। धर्मप्रवणो-जन मूर्तिपूजा-तीर्थयात्रा-दानदक्षिणादिकर्मसु तथैव दत्तावधानो यथा पूर्वम्। भोजनाच्छादन-विधि सामाजिकोत्सवा च पुरातनकालीनरूपमेव धारयन्ति। अतएवोक्त केनापि विदुषा यद् भारतदेशे कालस्य गतिवेग अतीवमन्दोऽस्ति। ससारस्यान्यभागेषु स्वल्पेनैव कालेन अर्थात् कतिभिरेव' दशकै शतकैर्वा आमूलपरिवर्तन जात जायते च। शासनाधिकारिण. उत्पाटयन्ते वैचारिकक्रान्त्या निवासिना विचारक्रम परिवर्तितो भवति। वेशभूषादिषु अप्रत्यभिज्ञेयम् अन्यविधत्व नेत्रगोचरीभवति। भीषणभूकम्पादिप्रकृत्युत्पातै देशस्य स्वरूपे परिवर्तन जायते। 'पुरा यत्र स्त्रोत पुलिनमधुना तत्र सरिताम्'। क्षितिरुहा च घनविरलभावो विपर्यास गच्छति। परिवर्तिनि ससारे को हि नाम ध्रुवो भवेत्। यत् सत् तत् क्षणिकम् इति बौद्धदर्शनानुसार सर्व दृश्यमान वस्तु अध्रुवमेव। ससारशब्दार्थः 'ससरति यः स ससारः' इति व्युत्पत्त्या जगतः परिवर्तनशीलत्व दर्शयति। कि बहुना जगत्पदमपि 'गच्छतीति' जगत् इति व्युत्पत्या तमेवार्थं पुष्टीकरोति। परन्तु शाश्वतसत्यमिद परमतत्त्व भारतवर्षस्य विषये तन्नियमस्य किञ्चित् शैथिल्यमनुमन्यते। अस्य कि कारणम् इति इदानी मीमास्यते।

सृष्टिप्रपञ्चे दृश्यमानेषु अन्येषु देशेषु सर्वेभ्य पुरातनतमोऽय देश। काम बभूवु सुमिरियन-बैबिलोनियनादिसभ्यता, परन्तु ता इदानी स्मृतिमात्रावशेषा. ध्वसावशेषरूपावा स्मर्यन्ते। तासा जन्मदेशा. इदानी महाकाललीलया परोक्षता नीता.। किन्तु भारतवर्षस्य स्थितिः अन्यत्रादृष्टपूर्वा। अविच्छिन्नप्रवाहेण सृष्टेरादितोऽद्यावधि प्रवर्तमाना एतद्देशसस्कृतिः सर्वेषा-माश्चर्यस्थानम्।

उत्तरस्यां हिमालयेन पूर्व-दक्षिण-पश्चिमोत्तर-दिग्भागेषु सागरेणावृताया भारतभूमौ जन्म लब्धु देवा अपि सकामा भवन्ति। इतिहासस्य विभिन्नकालेषु विदेशीयैराक्रान्तापि इय भारतभूमिः सर्वेषा महत्त्वगुणानात्मसात्कृत्य आत्मनः सस्कृति समर्घयति। विदेशीयाः अपि अत्र निवसन्तः

स्वदेशीयाः जायन्ते। भूम्याक्रमणदृष्ट्या जेतारोऽपि सास्कृतिकदृष्ट्या पराजिताः भवन्ति। विभिन्नसस्कृतिषु सामञ्जस्यस्थापनेन समन्वयविधानेन च भारतीयसस्कृति. विभिन्नरूपा प्रतीयते। रूप रूप प्रतिरूपा दरीदृश्यते। विभिन्नै विभिन्नैर्धर्माचार्यै परिपोषिता परमतसहिष्णुतागुणेन स्वीयभावम् अर्थात् अस्मिताम् अपरित्यजन्ती भारतीयसस्कृति विश्वसस्कृतिरूपैव भवति। अत्रत्या व्यक्तिसमाजोभयोन्नतिनिमित्तिका आचारव्यवस्था समस्तविश्वस्य योगक्षेमाय कल्पते।

परन्तु कालमहिम्ना इदानी कापि परिवर्तिता विचित्रा स्थिति' भारतदेशे समवलोक्यते। दृष्टिपथमागच्छन्त्या. अस्या स्थिते अक्षिनिकोचनेन नापलाप समुचित.। अप्रियमपि सत्य वक्तव्यमेव।

इदानीतनेषु दिवसेषु चतुर्दिक्षु आचारनिष्ठाया', सिद्धान्तवादस्य, कर्तव्यपरायणताया च अभाव प्रत्यह परिदृश्यते। एतद्गुणाना महत्त्वस्य स्थान कदाचारेण निष्ठाशून्यतया च गृहीतमिवास्ति। स्वराज्यप्राप्तेरनन्तर घोष्यमाणस्य धर्मनिरपेक्षवादस्य अधार्मिकवादे पर्यवसान सञ्जातमस्ति। आचार परमो धर्मः इतीदानी सर्वथा विस्मर्यते। मानवजीवनस्य वर्तमानदर्शनम् अध्यात्मवाद परित्यज्य भौतिकवाद समाश्रयते। भौतिकवादस्य सर्वप्रधान तत्त्व धनमस्ति। तदेव मानवमहत्त्वस्य निकषत्वेन अङ्गीक्रियते। तदभावे विद्वत्ताया अन्यविधयोगताया वा मूल्य शून्यमेव। अत सर्वान् गुणान् परित्यज्य सर्वेऽपि जनाः यदि धनोन्मुखा एव भूत्वा लौकिकोन्नतिमेव परमपुरुषार्थत्वेन मन्येरन तदा किमाश्चर्यम्।

परन्तु नेय वाञ्छनीया परिस्थिति । यत लोकतन्त्रस्य समाजवादस्य च व्यवस्था आचारनीतिविरहितवातावरणे साङ्कुरैव न भविष्यति पल्लवपुष्पफलादीना तु कैव कथा। उक्तमस्ति—'धर्मो विश्वस्य जगत प्रतिष्ठा'। धर्मो धारयते प्रजा । अत्र सुभाषिते धर्मपद न साम्प्रदायिकधर्मं नापि बाह्याडम्बरालङ्कृत धर्म स्वार्थेऽन्तर्भावयति। धारणाद्धर्म इत्याहुः इति हि तथ्य वच.।

आधुनिककाले प्रकृतिविज्ञानस्य समाजविज्ञानस्य च योऽखिलव्यापी प्रभावः दृश्यते तेन दर्शनस्य क्षेत्र धर्मस्य क्षेत्र च परस्परनिरपेक्षमिव सजातमस्ति। भौतिकजगति सामाजिकजगति च धर्मदर्शनयो. इदानी स्वातन्त्रिकी स्थिति. स्वीक्रियते।

अद्यतनकाले धर्मक्षेत्रम् अध्यात्मक्षेत्रम् च सीमित मत्वा जनै. तस्य मानवजीवनव्यापी प्रभावः तिरस्क्रियते। किन्तु नेदमकारणम्। विश्वेतिहासस्य मध्ययुगे धर्मगुरवो राजाश्रिता भूत्वा सदैव शोषितवर्गम् अनात्मीयमिव अमन्यन्त। जन्मना जातिवादस्यातिरेकपूर्णं महत्त्व कर्मफलवादस्य तर्केण समाधाप न्याय्य च प्रतिपाद्य निम्नवर्गीयाणा आत्मोन्नत्युद्योगः समाजनेतृभि. नैराश्यगर्ते पातितः। नवीनोपलब्धेन विज्ञानचमत्कारेण मान्यताप्राप्त-पूर्वविचाराणामश्रद्धेयत्वदशा स्वाभाविकी।

अस्मिन् विषये इद न विस्मरणीय यत् भारतवर्षस्य संस्कृतौ तत्परम्परायां च विचारस्वातन्त्र्यम् आचारे च साङ्कुशत्व सर्वदैव समाद्रियते स्म। मनुप्रतिपादितस्य धृति. क्षमा दमोऽस्तेयमिन्द्रियनिग्रहादि दशविधधर्मस्य सर्वकालीनत्व च समस्तमानवोपयोगित्व च निर्विवाद

स्वीक्रियते। पुराणोक्तपरम्परानुसारं वर्तमाना दुस्थिति दुरवस्था च न चिरस्थायिनी, किन्तु विद्युल्लतेव अचिरप्रभा।

भगवद्गीताया 'यदा यदा हि धर्मस्येत्यादि (भगवतोक्ते) आश्वासनवाक्ये आस्था श्रद्धा च धारयन्तो वयम् आत्मनो देशे भारतवर्षे शुभोदर्कमेव सर्वं भविष्यति इति विश्वास कुर्मः । तथास्तु। ●

[**दिनांके (३-५-१९७०) आकाशवाणी-वार्तावसरे लिखितम्**]

[**पृष्ठ ३७ तः आगतः**]

भावानाम्) भावेन सह गणनाया पञ्चपदार्था स्वीक्रियन्ते। मुरारिमिश्रस्तु वेदान्तमतवत् ब्रह्मेव एकमात्र पदार्थं स्वीकरोति। व्यवहारे तु धर्मिविशेष (द्रव्यरूप.), धर्मविशेष (गुणरूप) आधारविशेष (इदानी तदानीमिति कालकृत.), प्रदेशविशेष (गृहे भूतले इति प्रदेशकृत.) इति धर्मि-धर्म-आधार-प्रदेशभेदोपाधिभि. सह निरूपाधिब्रह्मण सत्ता स्वीकरोति। इति सक्षेपेण मुरारिमिश्रस्य परिचय । ●

[**दिनांके (२८-१-१९७०) आकाशवाणी-वार्तावसरे लिखितम्**]

१४. स्वाधीनता—तस्या उपलब्धयश्च

पारतन्त्र्य महादु खम्' इति सुप्रसिद्ध सुभाषितम्। विगतानेकशतकेषु दासतापाशबद्ध. भारतदेश अनेकविधा आर्थिक-राजनैतिकदुर्दशा अनुभवन् विश्वराष्ट्रेषु निम्नस्थान पतित आसीत्। दासताकालस्य दैर्घ्येण सातत्येन च तस्य दीनहीनदशा अतीव दयनीया जाता इत्यहो महती कालविडम्बना। नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण इति कालिदासोक्त्यनुसार चक्रारपक्तिरिव भारतभाग्यपक्ति पुनरुन्नत्यभिमुखी जातेति स्वागतार्ह दशापरिवर्तनम्। देशस्य कर्णधार-नेतृभि. सुदीर्घकाल घोरकष्टमनुभूय महता परिश्रमेण विदेशीयशासनात् द्वाविशतिवर्षेभ्य पूर्व भारतवर्षे स्वतत्रता अधिगता। तदनन्तर देशोन्नतिसूचिका या नवोपलब्धय: तासा चर्चा अद्यतन-सस्कृतवार्ताया लक्ष्यमिति सैवेदानी प्रारभ्यते।

युगपरिवर्तनमिव शासनपरिवर्तनमपि क्रान्तिकारि भवति। अतएव 'राजा कालस्य कारणम् इति विदग्धोक्ति सगच्छते। शासनक्रमपरिवर्तने न केवल जनमनासि पिञ्जरोन्मुक्तविहगा इव स्वच्छन्दतामनुभवन्ति, अपि तु जीवनस्य विविधक्षेत्रेषु भौतिकसमृद्धिसूचकानि परिवर्तनानि परिलक्ष्यन्ते। तथाहि। कृषिप्रधानो भारत देश। अत्रत्य प्रजाजन प्रधानतया कृषिमाध्यमेन स्वजीविका' सम्पादयति। कृषिफल मेघवृष्ट्यायत्तमिति हेतो प्रतिवत्सर वर्षर्तुकाले जनपद निवासिन कृषीवला निर्निमेषलोचनै. मेघागमन प्रतीक्षन्ते। ग्रीष्मर्तौ निदाघतापतप्ता भूमि वर्षाग्रबिन्दून् प्राप्य हर्षरोमाञ्चितेव अङ्कुरिता जायते, कतिपयैरेव मासै भास्कररश्मि-सकाशात् उष्णतां लब्ध्वा भूयसी सस्यसम्पद प्रसूते। परन्तु एष सृष्टिनियमो व सर्वदा वाञ्छित-क्रममनुसरति। दैवकोपात् अनावृष्टौ सत्या सैव क्षेत्रभूमि. असञ्जातप्रसवा वन्ध्येव निष्फला सजायते। तदा न केवल प्रजाजन. खाद्यान्नानुत्पादेन विपन्नता गच्छति, अपि तु देशस्य गोवली-वर्दादिक पशुधनमपि क्षुत्तृड्भ्या व्याकुल भवत् मृत्युमुख प्रविशति। एतेनैव कारणेन अनेक प्रदेशा 'देवमातृका': इत्युच्यन्ते। यतस्तत्र वृष्टिकारको देव. एव प्राणधारणसामर्थ्यजनिका माता भवति। इदानी तेषु स्थलेषु नदी-प्रणालिका, जलाशया. पातालभेदिनो नलकूपाश्च सस्याभि-वृद्धयै जीवनदायक जल सुलभ कुर्वन्ति। अधिकक्रृष्यु पयुक्तत्वविधानाय कर्षणयन्त्राणि भूमि-हृदय विदार्य बीजाङ्कुरणशक्ति प्रवर्धयन्ति। वपनीयाना बीजाना सवीर्यत्वसम्पादनाय 'खाद' रूपेण ऊर्वरकचूर्णप्रयोग. सस्योत्पादनपरिमाणे आश्चर्यावहा वृद्धि जनयति। एवप्रकारेण कृषिविषये प्रादुर्भाविता हरितक्रान्ति. स्वातन्त्र्योत्तरकालीनोपलब्धिषु प्राथम्य भजते।

जलविद्युतो वाष्पविद्युतो वा उत्पादनाय विद्युत्सयन्त्राणा व्यवस्थया विद्युत्स्तम्भानां ग्रामीणक्षेत्रस्य सुदूरस्थलेषु प्रापणेन ग्रामा ग्रामटिकाश्च ।विद्युत्प्रकाशप्रकाशिता. कृता: सन्ति

येन न केवल तिमिराच्छन्नानि कृषकगेहानि प्रकाशवन्ति जातानि, अपि तु कृषकमनास्यपि हर्षोत्फुल्लानि परिलक्ष्यन्ते। यतो विद्युद्विस्तारेण लघुकुटीरोद्योगस्य सवर्धने सुकरे जाते जीवनसुखोपयोगीनि अनेकानेकव्यवहारप्रयुक्तानि वस्तूनि सूपलब्धानि भवन्ति। इदानी 'रेल' मार्गेण कष्टकर्यो दीर्घयात्रा सौविध्यपूर्णा सजाता सन्ति, रात्रौ सुखशायिकार्थ शयनकक्षव्यवस्था, यानगतौ वृद्धि, (यथा एकरात्र्येव दिल्लीत. कलिकाताप्राप्ति, आकाशयात्राया कतिपयहोराभि एव सुदूरस्थल-यात्रासमाप्ति. इत्यादयोऽनेके नवीनोपक्रमा जनजीवने जीवनसौकर्यमानीय जीवन जीवनीय कुर्वन्ति।

आयुर्वेदक्षेत्रे विज्ञानशास्त्रप्रगति अनेकदृष्टिभि कौतुकावहत्व भजते। भयकररोगोपशमोपाया, सङ्कामकव्याधीना नियमन, चिकित्सापद्धतिसुधार इत्यादीनि जनस्वास्थ्य-सवर्धनसाधनानि उपलब्धानि सन्ति, येन जनाना दीर्घायुष्ट्व स्वस्थजीवन च सुलभ सजातमास्ति। 'स्थिरैरङ्गै तुष्टुवास तनूभि व्यशेम देवहितयदायु 'इतिवैदिकप्रार्थनाया.फलमिदानीहस्तगतमन्यामहे।

देशस्य सर्वेषा निवासिना समकालमेव समुन्नति अभीष्टा इति हेतो तत्र भेद व्यवहार. अनर्थकरो मन्यते। सवर्णै सह गिरिजनानामरण्यनिवासिना च समुन्नयन, शिक्षाक्षेत्रे, सेवा क्षेत्रे च कर्तव्यकोटावानयन च न सामान्योपलब्धि.। पण्डिता. समदर्शिन इति न्यायेन सर्वेषा जनाना व्यवहारे समीकरण-न वर्गभेद जनयेत्' इति आधुनिकसिद्धान्त प्रवर्तयति। धर्म-सम्प्रदाय-जातिलिङ्गमूलकभेदा उपेक्षणीया मन्यन्ते। 'स्वे स्वे कर्मण्यभिरत ससिद्धि लभते नर' इति सिद्धान्तपालने परमतासहिष्णुत्व सर्वथा हेयत्वेन तिरस्क्रियते। सर्वजनहितायैव व्यवहारे सर्वे प्रयत्ना. सञ्चाल्यन्ते। एवविधः सामाजिक-सुधारविषयको दृष्टिकोण. अन्यतरोपलब्धित्वेन परिगणयितु शक्यते।

विद्याक्षेत्रेऽपि अभूतपूर्वपरिवर्तन प्रमोद जनयति। साक्षरताप्रसार विभिन्न शास्त्राणामुच्चतमस्तरावधि पाठनव्यवस्था, नवीनविद्यापीठसस्थापन, छात्रवृत्यादि-विविधसौकर्यप्रदान, ज्ञानप्रसारे ज्ञानसवर्धने च वाञ्छनीय समुत्कर्ष सूचयन्ति। महिलाशिक्षाविषये इव सस्कृतशिक्षाविषयेऽपि इदानीमनन्यसामान्योऽभिनिवेश.। विद्यालयाय-सर्वस्तरेषु सस्कृताध्ययनोत्साह-प्रवर्धन, आकाशवाणीमाध्यमेन सस्कृतशिक्षण-मनोरजककार्यक्रम-योजनादि विविधकार्यजातै जनताया सस्कृतविषयिणी रुचि. सवर्ध्यते।

कि बहुना। सर्वविधक्षेत्रेषु इदानी कल्याणकारियोजना. देशस्य शुभोदर्क व्यञ्जन्ति। 'सर्व परवश दुख सर्व आत्मवश सुखम्' इति न्यायेन स्वाधीनताकाले सर्वोऽपि सम्पाद्यमान. कार्यक्रमः आत्मन सुखावहो भवति। पराधीनताकाले प्रच्छन्नप्राया भारतीय-प्रतिभा इदानी स्फुटतरा प्रकाशमागच्छति। अन्तरराष्ट्रीय सम्बन्धेषु भारतवर्षस्यापूर्व योगदान सर्वै स्वीक्रियते। पञ्चशीलस्य अवतारणा भारतवर्षेणैव प्रारब्धा। परमतासहिष्णुत्व परित्यज्य विश्वबन्धुत्व प्रोत्साहनीयम्। विवादविषया. परस्परपरामर्शेण समाधेया। तत्र हिंसावाद. सर्वथा अननुमन्तव्य इत्यादय आदर्शसिद्धान्ता. विश्वराष्ट्रसमाजे भारतवर्ष गौरवपूर्णस्थाने स्थापयन्ति। अतएव प्राचीनकाले इव अद्यापि-एतद्देशप्रसूतस्य सिद्धान्तस्यानुपालनात्। स्व स्व चरित्र शिक्षेरन् पृथिव्या सर्वमानवा' इत्युपदेश सार्वकालीन. शाश्वतादर्शो भवितुमर्हति।

दि (१५-८-१९७१) आकाशवाणीवार्तावसरे लिखितम।

१५. सत्त्वाधीना हि सिद्धयः

'सत्वाधीना हि सिद्धय' इति सुभाषित स्पष्टमपि दुर्बोधमिव प्रतीयते। सत्त्वाधीना इतिपदम् अभिलषितार्थ न सहजतया व्यनक्ति। तत्र सत्त्व पदस्यार्थ पूर्व निर्धारणीय । सतो भाव सत्त्वम् इति अस्य व्युत्पत्ति । तत्र कि नाम सत् इति निश्चेयम्। भगवद्गीतास्थ "सद्भावे साधुभावे च सदित्येवाभिधीयते। प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्द पार्थ युज्यते" इति श्लोक स्मृतिमुपयाति। सद्भावे, साधुभावे, प्रशस्ते कर्मणि चेति अर्थत्रयेऽस्य पदस्य प्रयोगो गीतानुमतो दृश्यते। तथाहि—अस्तीतिव्युत्पत्या शतृप्रत्ययान्त नपुसकलिगे इद पद यत् अस्ति, वर्तते, अस्तित्व भजते, तस्य वाचकम्। साख्यशास्त्रोक्त-सत्कार्यवादपदे अयमेवार्थ । कारणे कार्यं सत् वर्तमान भवतीति तस्य तात्पर्यम्। यदेव अस्तितत् सत् इत्यभिधीयते। इति प्रथमार्थ । पुलिङगीयस्य सन् इत्यस्य साधु इत्यर्थ । "सन्त" इति हिन्दी भाषायाम् अयमेवार्थो दृश्यते। 'सज्जन' शब्दे स एवार्थ । अस्तित्व भजमाना न सर्वे सन्त, अर्थात् सज्जना भवन्ति किन्तु साधुस्वभावा शिष्टव्यवहारशालिन सज्जना एव सत्पदेनाभिधीयन्ते। सत्पदस्य तृतीयार्थ क इति विचारे प्रशस्त कर्म सत्पदेनाभिधीयते। सत्कर्म'-'असत्कर्म' पदयो अयमेवार्थ परिलक्ष्यते। न सर्व कर्म सत्कर्म भवति, किन्तु प्रशस्त कर्मैव सत्कर्म-पदेन प्रतिपाद्यते। सन्ताश्रय सर्वोऽपि सन् इति प्रथमार्थ, साधुस्वभाव सज्जन इत्यपरशब्द पर्याय द्वितीयोऽर्थ । प्रशस्त निर्दोषम् कर्मेति तृतीयोऽर्थ । एव प्रकारेण सत्पदेन त्रयोऽर्था. अभिधीयन्ते॥ किन्तु "सत्वाधीना हि सिद्धय " इति सुभाषिते" सत्वपदान्तर्गत-सच्छन्द. कमपि विशिष्टमर्थान्तर बोधपति। सतो भाव. सत्वम्" इति व्युत्पत्तिलब्धस्य सत्वपदस्य कोऽपि विशिष्टोऽसामान्य अर्थ । सत्व नाम कोऽपि व्यक्ते विशेषगुण, व्यक्ति-प्रतिभा व्यक्तित्वमिति यावत्। आग्लभाषाया 'पर्सनालिटी' पदवाच्य व्यक्तिविशेष इत्यर्थ अत्राभिप्रेतो भवति। स च विशेषगुण न सर्वत्र सुलभ । सर्वेऽपि जना न तादृशव्यक्तित्वशालिन । विशिष्ट एव कश्चन नर सत्वगुणान्वितो दृश्यते। सामान्यजनापेक्षया स सुतराम् असामान्य दुर्लभ इति यावत्। तस्य व्यक्तित्व विशिष्ट भवति। जगति प्रमुखा नरा नेतार इत्यभिधीयन्ते, तेषु य नेतृत्वगुणो भवति स सदित्यभिधात शक्यते। तदेवम् सत्त्वाधीना हि सिद्धय इति सुभाषितेन अयमेवार्थविशेष प्रतिपाद्यते यत् सिद्धि, अर्थात् सफलता, व्यक्तिविशेषे एव दृश्यते न सर्वत्र। सिद्धय. सत्वाधीना सन्ति।

क्रियासम्पादने कर्ता करण चेति द्वयमपेक्ष्यते। कर्ता करणसाहाय्येन क्रिया साधपति। यथा देवदत्त खडगसाहाय्येन शत्रु हन्ति। शत्रुहननरूप-क्रियाया देवदत्त-कर्तृरूप प्रधानः, देवदत्तस्य खडग कर भृशमुपकारकम्। किन्तु केवलम् करणेन खडगेनैव क्रियासिद्धिर्न सम्भ-

वति। करणान्तरेण वाणेनापि शत्रुहननस्य सुशकत्वात्। क्रियासिद्धिः कर्तुरधीना न करणाधीनेति स्पष्टमेव। स एवार्थं सत्त्वाऽधीना हि सिद्धि इति सुभाषितेन प्रतिपाद्यते।

क्रिया-सिद्धि सत्वे भवति महता नोपकरणे इति सुभाषिते स एवार्थं स्पष्टतर लक्ष्यते। महत क्रियासिद्धि तेषा सत्त्यम् आश्रित्य जायते। नोपकरणानि कार्यसिद्धि-जनकानि। सत्स्वपि उपकरणेषु सिद्धि अर्थात् साफल्य न निश्चितम्। यत उपकरणानि साधनानि-न ऐकान्तिक रूपेण आत्यन्तिक-रूपेण वा सिद्धि साफल्य न जनयन्ति। सिद्धिप्राप्तये सत्त्वम् अर्थात् नेतृगुणा अपेक्षिता भवन्ति। उदाहरणरूपेण अनेके श्लोका "क्रियासिद्धि सत्त्वे भवति महता नोयकरणे' इति चतुर्थ-पाद-समस्यापूर्तिरूपेण सस्कृतसाहित्ये सुप्रसिद्धा सन्ति। तेष्वेक श्लोक अत्रोद्ध्रियते—"रथस्यैक चक्र भुजग-यमिता सप्त तुरगा। निरालम्बो मार्गश्चरणविकल सारथिरपि। रविर्यात्येवान्तम् प्रतिदिनमपारस्य नभस। क्रियासिद्धि सत्त्वे भवति महता नोपकरणे।"

अयम्भाव। प्रतापशाली भगवान् भास्कर स्वतेजसा सकल जगदभिभवति, अनन्य जुष्ट महत्व च लभते। कविकालिदास "भानु सकृद्युक्ततुरग एव" इत्युक्त्वा भगवत सूर्यस्य ऐश्वर्य प्रशसति। एतन्महामहिमशालित्वम् सूर्यस्य स्वनिष्ठगुणविशेष-माहात्म्येन प्राप्यते। सहायकाना करणादीना तत्रोपयोगो न प्रामुख्येन भवति। एष एव भाव उपर्युक्तश्लोके विशदरूपेण निरूप्यते। तथाहि—सूर्यो येन रथेन समस्त सौरमण्डलम् प्रकाशयति-तस्मिन् एकमेव चक्रम्। रथवाहका अश्वा सप्त अर्थात् विषमसख्याका सन्ति। अत्र सप्तेति सख्याया समभावाभाव वैषम्य-अर्थात् विषमत्व साहित्यिकवर्णनदृष्ट्या वैगुण्य सूचकम् इतिकविना ध्वन्यते। तेप्यश्वा न स्वतत्रा किन्तु भुजगयमिता, सिर्पवेष्टिता. इति निगडवद्धत्वेन स्वक्रियाकरणे असमर्था। नेदमेव, सूर्यस्य अरुणनाभा सारथि अनूरु उरू रहित चरणविकल इतिहेतो तस्यापि स्वक्रियाकारिकौशलम् व्याहृतमिति महान् अनर्थं। नेदमेव, सूर्यस्य रथमार्गोऽपि न सुगम, न सौकर्य धारयति। यत आकाशस्थो मार्ग निरालम्ब आधाररहित इति हेतो रथस्य गति, नितान्तमसभूता। एव सत्यामपि अनर्थं-परम्परा सकुलाया स्थितौ भगवान् भास्कर प्रत्यह मपारस्य नभस पार निश्चप्रच गच्छति इत्यत्र को हेतु ? सूर्यस्य सत्त्वम् अर्थात् विशिष्टव्यक्तित्व हेतु सूर्यस्य उपकरणानि, रथ,—अश्व-सारथि-मार्गादीनि सर्वाणि अनुपयुक्तोपकरणानि क्रियासाधकता न भजन्ते। अत सूर्यस्य स्वीये वैशिष्ट्ये अर्थात् सत्वे क्रियासिद्धि तिष्ठति, न तूपकरणेषु इति साधूक्त क्रियासिद्धि सत्त्वे भवति महता नोपकरणे।

अन्येष्वपि क्षेत्रेषु एतादृशी स्थिति द्रष्टुं शक्यते। भारतवर्षस्य इतिहास एवात्र निदर्शन भवितुमर्हति। स्वातन्त्र्यान्दोलनसमये काग्रेससस्थया विदेशीयै शासकै सह सघर्ष कृत्वा स्वराज्य लब्धमिति सर्वविदितमेव। तस्मिन् सघर्षे अहिसाव्रतधारिण काग्रेसीया निरस्त्रा आसन्। विदेशीयशासकास्तु अस्त्रशस्त्रै समवेता हिसामत्यजन्त विजयायोपयुक्तै सर्वोपकरणै सहिता अपि राष्ट्रपितु गान्धीमहात्मन वैयक्तिकमहिम्ना समाक्रान्ता पराजयमलभन्त। तत्र काग्रेसीयाना सत्त्वमेव विजयहेतुता गतम् इति सर्वविश्रुतम्। अत तत्रापि उपकरणापेक्षया सत्त्वस्यव प्रतिष्ठा दरीदृश्यते।

सत्वशाली पुरुष एकाक्यपि विजयश्रिय स्वाभिमुख समाकर्षति। असत्यशालिनो जनसमर्दा अपि पराभव ब्रजन्ति। तत्र सख्याया तादृशम् महत्व न यादृग गुणस्य। अय गुणपरिमाणयो परस्पर-भेदो विजयपराजययोनिर्णायको भवति। एकश्चन्द्र तमोहन्ति न च तारागणोऽपिच। सख्यैकत्व बहुत्व वा अकिञ्चित्करम् सिद्धिप्रदायकम् चन्द्रस्थ सत्त्वम् प्रकाश-प्रसारण क्षम भवति। खद्योतवत् अल्पप्रकाश तारागण बहुलसख्येऽपि तमोनिवारणेऽसमर्थो भवति। विभिन्नपशुसकुले वने यत् मृगेन्द्रस्य मृगेन्द्रता न सख्यामूलिका। विक्रमार्जितराज्यस्य स्वयमेव मृगेन्द्रता। खलु वने कश्चन मृगराजस्य राज्याभिषेक करोति, स्वविक्रमेण सर्वान् पराभूय स्वकीयराजपदार्हता साधयति। तस्य सर्वातिशापि शौर्य तत्र निमित्तम्।

ससारेऽस्मिन् सर्वत्र उच्चनीचभाव परिदृश्यते। कश्चन स्वसत्त्वकारणेन उन्नतपद भूषयति, सर्वमान्यश्च भूत्वा सर्वैरपि श्रेष्ठत्वेन स्वीक्रियते। अन्ये तथाविध विशेषगणहीना: सन्त सामान्यपदलाभेनैव आत्मान धन्य मन्यन्ते। कृतार्थता चानुभवन्ति। अत्र भेद किनिमित्त: विशिष्टव्यक्तित्वरूपसत्वस्य भावाभावौ एव तत्र निमित्तम्। तत्सत्त्वे सर्वमपि क्रियाजात सफलता गच्छति। तदभावे तु फलोन्मुखमपि कार्य विफल सजायते। तदा क्रियासाधकान्यपि उपकरणानि अनुपकरकानि सम्पद्यन्ते। अनुकूलान्यपि निमित्तानि विपरीतानि जायन्ते। वैपरीत्येतु अकिचित्करवत् प्रतीयमानानि उपकरणानि सर्वेष्टसम्पादकानि भवन्ति। दृश्यताम् क्रोध प्रभो सहर सहरेति देवप्रार्थनामुपेक्षमानस्य रुद्रस्य कोपेन भस्मावशेषता नीतो मदन सर्व जगत् वशीकरोति। दग्धशरीरत्वेन सर्वथा निरालम्ब. सामर्थ्यहीनश्च कामदेव। तस्य धनु कोमल-पुष्पनिर्मितम्। ज्या चलन्मधुकरश्रेणीमयत्वेन शिथिलबन्धा। शर. अपि चचलाक्षीनाम-विश्वसनीयनेत्रैककोणत्वेन सूक्ष्मरूप। सुहृच्च जडात्मा हिमकर.। सत्यामप्येव विपरीतस्थितौ चन्द्र स्वसत्त्वस्य महिम्ना त्रिभुवन व्याकुलयति इत्यहो विस्मयावह कामदेव शौर्यम्। सर्वातिशायिवीर्यशालिषु महाजनेषु अप्रतिम कामदेवस्य उदाहरणम्। एतदेव सर्व भावजात मनसि निधाय उपसहरन् कवि शिखरिणी-छन्दसा स्वाभिप्राय व्याजहार—

"धनु पौष्प मौर्वी मधुकरमयी चञ्चलदृशाम्। दृशा कोणो वाण सुहृदपि जडात्मा हिमकर। तथाप्येकोऽनङ्गस्त्रिभुवनमपि व्याकुलयति। क्रियासिद्धि सत्त्वे भवति महता नोपकरणे।'

सत्त्वे क्रियासिद्धिर्भवतीति समानार्थमेवेद सुभाषितम्—'सत्त्वाधीना हि सिद्धय। इत्यल पल्लवितेन।



[दिनाके (२२-७-१९७२) आकाशवाणी वार्तावसरे लिखितम्—]

१६. कः परः प्रियवादिनाम्

गीताया निर्दिष्टा इष्टानिष्टोपपत्तिषु समचित्ता स्थितप्रज्ञा विरला एव जना जगति भवन्ति। सर्वोऽपि जन इष्ट लब्ध्वा सुखमनुभवति। इष्ट प्राप्तये सदेव यतमाना नरा इष्ट श्रोतुं द्रष्टुवा नितरा समुत्सुका भवन्ति। अनिष्टाच्च परावर्तन्ते। "भद्र कर्णेभि शृणुयाम देवा भद्र पश्येमाक्षभि र्यजन्त्रा" इति महनीये वैदिकमत्रे प्रार्थना क्रियते यत् हे देवा वय स्वनेत्राभ्या भद्रमेव पश्येम, कर्णाभ्या च भद्रमेव शृणुयाम। प्रियसमाचारश्रवण प्रियवस्तुदर्शन च सर्वेषा प्रिय आनन्दावह् च भवति। अतिएवोक्त बाणकविना यत् को-हि-नाम प्रिय नाभिलषति इति।

एव प्रियस्य अभीष्टत्वे सिद्धे जाते प्रियवचनस्याभीष्टत्व सुतरा सिद्धमेव। प्रियवचनस्याभीष्टत्वे स्वीकृते प्रियवादिनो जनस्यापि अभीष्टत्वम् उपपन्न भवति। अतएव प्रियवादिन सर्वत्र समीह्यन्ते अभिनन्द्यन्ते च। सर्वे जना प्रियवादिन जन मित्रवत् मन्यन्ते। तेन सहमित्रवत् व्यवहरन्ति। प्रियवादिन जनस्य सर्व जगत सुहृत्समित भवति। एतदेव आदर्शाचरणमत्वा यजुर्वेदे पठयते मित्रस्याह चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे' इति। सकलमपि जगत आत्मनोऽनुकूल कर्तुम् इद रामबाणौषधि यत तथा व्यवहृतव्य यथा अस्माक आचरणेन सर्वे प्रीता. भवेयु। प्रीतो हि जन न वैरमनुबघ्नाति। किन्तु सौहार्ददृष्टि धारयति। सौहार्द- वातावरणे सर्वथा निवास कुर्वन् नर न जगतो विरज्यति, नापि कञ्चन द्वेष्टि। अजातशत्रुर्हि स जने मन्यते। तदेव प्रियवादिना न कोऽपि विरुद्धमाचरति, शत्रुर्वा भवति। तस्मात् कारणात् एतत्सुभाषित प्रथित यत् 'क पर प्रियवादिनाम्।'

इदानीमिद विचार्यते। जना प्रिय वदेयु इति स्वीकृतम्। पर सर्वदा प्रिय, सत्य व भवति। बहुश प्रियमनृतमपि भवति। तत् कि प्रियभाषणाग्रहे प्रसगे असत्य वक्तव्यम्, अथवा असत्यप्रिय परिहरणीय। अपरिहारे प्रियवादिनाम् असत्यभाषणपसङ्ग रामापतेत। सत्यभाषणाग्रहे तु अप्रियभाषणस्य सकट अनिवार्य। एव महति विरोधे समागते किमस्भाभि कर्तव्यम्? सत्य परिहरणीयम् कटु वा भाषणीयम। यदि तूर्ण भावानुसारणे कार्यनिर्वाह स्यात्, तर्हि इष्ट न समीहित। न कोऽपि तत्र विसवाद। धर्मशास्त्रकारा अपि कथयन्ति सत्य ब्रूयात् प्रिय ब्रूयात् न ब्रूयात्सत्यमप्रियम् प्रियं नानृत ब्रूयात् एष धर्म सनातन। तत्कालोचितधर्मस्य प्रतिपादन कार्य निर्वाहक सौविध्यावह भवेन्नामने किन्तु सर्वकालीनधर्मप्रतिपादनमेव धर्मशास्त्रस्य कर्तव्यम् अस्ति। शाश्वतधर्म सनातनधर्म य सना अर्थात् सर्वदा त्रिकालाबाधितरूपेण उपयुज्यमान. धर्म सनातनो धर्म। प्रियसत्ययोर्मध्ये विरोध सक्टेसम गते क अनुसरणीयो धर्म इति अस्मिन् श्लोके निर्दिश्यते। सत्य ब्रूयात् प्रिय बूयात् इति प्रथम कल्प। यदि वक्तव्य वस्तु, सत्य परन्तु अप्रिय स्यात्, तदा कि कर्तव्यम्। तत्र अनेन श्लोकेन समाधीयते यत् किमपि न ब्रूयात्। परिहृत्तरेत्र

भाषणम्। मौनमेवावलम्बेत। किन्तु कदापि अप्रिय न वदेत्। एवमेव यदि कदाचित वक्तव्य प्रिय, परन्तु असत्य स्यात् तदा कि कर्तव्यम। पूर्वप्रश्नेसत्यस्थ प्रियेण विरोध आसीत अस्मिन् प्रश्ने तु प्रियस्य सत्येन विरोध । तथाहि, यद् वक्तव्य अस्ति, तत् प्रिय, किन्तु असत्यमस्ति। तदा कि कर्तव्यम्? सनातनधर्म उपदिशिति प्रिय च नानृत ब्रूयात्। किमपि न ब्रूयात् इति भाव। अर्थात् तथाविधस्थलेऽपि भाषण परिहरेत्, मौनमेवावलम्बेत। किन्तु यदि ब्रूयादेव तर्हि यद् ब्रुयात तत् सत्य प्रिय च उभयमपि स्यात्। अतएव उक्त 'सत्य' ब्रूयात्—प्रिय ब्रूयात् प्रियसत्ययो परस्परविरोधे अन्यतरविषये आग्रह न कुर्यात्। एककालावच्छेदेन उभयमपि सहैव आश्रयणीयम्। एकान्तवादानेकान्तवादर्मध्ये अनेकान्तपक्ष श्रेयान् उक्त हि योह्येकसक्त स नरो जघन्य अर्थात् केवल सत्य केवल प्रिय वा भाषमाणो नर जनै तिरस्क्रियते। जनताया समानस्य आदरस्य च प्राप्तये इद परमावश्यक यत्सत्य भाषण प्रियभाषणात्मकमेव साकमेव स्यात्। तथा सत्येव एव जनप्रियता लोकसम्मान च लभ्यते। 'न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्, तथा प्रिय च नानृत ब्रूयात् इति श्लोकस्थे वाक्यद्वये इदमेव श्रेयस्करम् उपादेय च तत्त्व प्रतिपादितमस्ति।

एवप्रकारेण सत्यप्रिययो परस्पर-सम्बन्धे अन्यतरस्य अपरित्याज्यत्व च प्रतिष्ठाप्येदेदानी हितप्रिययो सम्बन्धो निरूप्यते। तथाहि, प्रियमपिद्विविध सम्भवति। हितमहित च। तत्र हितात्मक प्रिय वक्तव्यम्, अत्र न कस्यचिद् विचिकित्सा। विचिकित्सा उदेति तदा, यदा प्रियस्य हितेन यौगपद्य नास्ति। भवति तत्र सन्देह अहित प्रिय ब्रूयात् न वा एतादृशे स्थले। अहित ब्रूयात् इति न कश्चित् उपदेक्ष्यति। प्रिय ब्रूयात् इत्युपदेशे सम्मतेऽपि अहित ब्रूयात् इति न कोऽपि अनुमन्यते। अत अहित यदि प्रिय तर्हि न ब्रूयात् इन्येव निश्चेतव्य स्यात्। हित प्रियम् इति उभयमपि यौगपद्येन मनसि विचार्य वदेत् इति सर्वसम्मत पन्था। परन्तु नेद सुकरम्। तथाविध प्रियहितयो योगपद्य क्वचिदेव लभ्यते। अतएव सुभाषितमिद महाकवि-भारविन्ध साग्र हमुपन्यस्तम् "हित मनोहारि च दुर्लभ वच। मनोहारि अर्थात् प्रियम्।तदेव सत्यप्रिययो र्युग्मवत् हितप्रिययोरपि युग्मम् उपादेय कोटौ गण्यते। अभेदमपि अवधेयम्। यौगपद्यन प्रियहितयो परस्परसम्बन्धस्य स्पृहणीयत्वेऽपि यथा प्रिय हित च वचो दुर्लभ, तथैव अप्रियहितस्य श्रवणमपि जन्नानामनभिलषित भवति। न कोऽपि अप्रियहित श्रोतु वद्धारो दृश्यते। तदेव अप्रियहितस्य यथा वक्तारो दुर्लभा., तथा श्रोतारोऽपि। अतएवोच्यते नीतिकारै—अप्रियस्य च पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभ। पथ्यमर्थात् हितम्। रोगिणाम आतुराणामुप चारे औषधसेवनेन सह किंचिदन्यदपि नियम्यते, कि भोक्तव्यम् रोगिणा हृति। यदेव भोज्यत्वेन विधीयते तदेव पथ्यमिति कथ्यते। तस्य पथ्यस्य खलु विशिष्टो महिमा। एव निर्दिष्टमायुर्वेदशास्त्रे, पथ्ये सति गदार्तस्य किमौषधनिषेवणै.। पथ्योऽसति गदार्तस्य किमौषधनिषेवणै इति। पथ्यसेवनाभावे औषधसेवन व्यर्थप्रायम्। पथ्यसेवने कृते तु औषध सेवनस्य आवश्यकतेव क्षीयते। एवप्रकारेण. पथ्यस्य हितावहत्व सूपपन्नम्। अथदानी प्रियभाषणस्य विवेचने इदमपि विचारपथमवतरति—यत् प्रिय कीदृश स्यात्—क्षणिकप्रिय, सर्वकालीनप्रिय वा? नेद तिरोहित बुद्धिमता, यत् किंचित् वस्तु प्रिय भवति किन्तु आपातप्रियमेव तत् अस्ति। परिणामे तस्य प्रियत्व लुप्यते। अपर वस्तु तु वर्तमानकाले प्रिय अस्त्येव परन्तु भविष्यत्कालेऽपि तत प्रिय

स्थास्यति। कालभेदेन तत्र भेदो न भवति। एवविधस्थ द्विविधप्रियस्य उपादेयत्वानुपादेयत्वं विचारे द्विवीयविध प्रियमेव स्वीकार्यम्, आपाते प्रिय पर्यन्तेऽप्रिय कथमपि प्रियत्वेन न ग्राह्यम्। तस्य वैरस्ये पर्यवसानात्। सप्राप्ताया विरसताया प्रियभाषणजन्य सौहार्दमपि वैरे परिणमते। अर्थात् तथाविधप्रियवदिनो जनस्य शत्रवो न असम्भूता। ततश्च क पर. प्रियवादिनाम्' इति मूलवाक्यमेव विप्रतिपन्न स्यात्। तदेव मुपपन्नयत् सर्वकालीनप्रियवादिनो जनस्य शत्रवो न भवन्ति। क पर ? अर्थात् न कोऽपि पर इति निषेधे तात्पर्यम्। प्रश्नमुखेन निषेधस्येद सुभाषित-मुदाहरणम्। इत्यदो विचित्र सस्कृतसाहित्ये सुभाषितस्य वक्रोक्तिप्रकार इति शम्। ●

[दिनांके (९-१२-१९७२) आकाशवाणी वार्तावसरे लिखितम]

हिन्दी-निबन्धावली

⊙

वेद

⊙

व्याकरण

⊙

साहित्य



दर्शन



विज्ञान



इतिहास तथा शोध



विविध

१. वेद : इतिहास या साहित्य ?

भाषाशास्त्रियो का यह सर्वमान्य मत है कि विश्व मे आज जितना भी लिखित साहित्य हमे मिलता है, उसमे ऋग्वेद सबसे प्राचीन है। प्राचीनता, विषय-व्यापकता और काव्य-सौन्दर्य सभी दृष्टियो से समस्त सभ्य साहित्य मे ऋग्वेद अग्रगण्य है।

ऋग्वेद किसी एक काल-विशेष, स्थान-विशेष, व्यक्ति-विशेष, कुल-विशेष की रचना नही है। बल्कि सकलन-समय के पूर्व के अति विस्तृत कालखण्ड मे, विभिन्न स्थानो मे, विभिन्न कुलो मे, भिन्न-भिन्न व्यक्तियो के द्वारा, समय-समय पर स्वय स्फूर्ति से नानाविध विषयो पर जो रचनाएँ की गई थी, उनमे से कुछ का—ध्यान रहे कुछ ही का—जो सकलनकर्ता की दृष्टि से अत्यन्त उपादेय और अविस्मरणीय थी, सकलन आज के ऋग्वेद मे पाया जाता है।

यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि प्रत्येक ग्रन्थ अपने युग का प्रतिबिम्ब होता है। ऋग्वेद इस नियम का अपवाद नही है। इसकी ऋचाओ मे भी तत्कालीन समाज और उसके इतिहास की विश्वसनीय सामग्री निहित है। उसके आधार पर ऋग्वेदकालीन समाज और इतिहास का चित्र खीचा जा सकता है। ऋग्वेद मे हम आर्यों को दस्यु, दास, असुर आदि अनार्य जातियो के विजेता के रूप मे देखते है। वे अभी तक समस्त भारत मे नही फैल पाये थे। उनके सप्तसिधु प्रदेश मे गगा नदी पूर्वी छोर पर थी। वशिष्ठ, विश्वामित्र आदि कुलगुरुओ की अध्यक्षता मे आर्यो के अनेक वश इस प्रदेश मे प्रतिष्ठापित हो चुके थे। यह सब कार्य बिना युद्ध या रक्तपात के हुआ हो यह बात नही। इसके लिए दीर्घकालीन सघर्ष हुए थे। दिवोदास के पुत्र सुदास के 'दाशराज्ञ युद्ध' का हृदयग्राही वर्णन ऋग्वेद मे आया है। पाँच आर्यवशी और पाँच अनार्यवशी राजाओ के एक सम्मिलित सघ ने सुदास पर आक्रमण किया था किन्तु वशिष्ठ के प्रभाव से सुदास विजयी हुआ। साठ हजार दुह्यु और ६ सौ अनु इस युद्ध मे खेत रहे। इसी प्रकार वेदो की सहायता से सामाजिक स्थिति का भी चित्रण किया जा सकता है। आर्य लोग रथों पर चढते थे। गोपालन और कृषि उनके मुख्य व्यवसाय थे। सोम और सुरा का पान, एक धार्मिक विधि के रूप मे अनुमत था। पश्चिमीय देशो से समुद्र द्वारा उनका व्यापारिक सम्बन्ध था। ऋग्वेद मे समुद्र शब्द अनेक बार आया है। आर्यो का सप्तसिधु प्रदेश एक उपजाऊ भूमि मे था। इसी से लोग सुखी और समृद्ध थे। सत्य और व्यवस्था का आदर किया जाता था। व्यभिचार, चोरी और डाका, बुरे व्यसन माने जाते थे। ऋग्वेद काल मे स्त्रियाँ, उत्तर काल की अपेक्षा, अधिक आदरपात्र और स्वतत्र मानी जाती थी। वे न केवल यज्ञ कर्म मे भाग लेती थी, बल्कि वैदिक मत्रो की रचना भी करती थी। मत्रपाठ या अग्नि मे आहुति के द्वारा देवताओ

की आराधना की जाती थी। आर्य लोग वेदो से वीर पुत्र, पशु और सुवर्ण का आशीर्वाद चाहते थे। जीवन मे आनन्द का अनुभव और रुचि होने के कारण वे पलायनवाद या वैराग्य मार्ग को नही मानते थे। उनके मनोरजनो मे रथ दौडाना, द्यूत, नृत्य, सगीत आदि को प्रमुख स्थान था।

अब वेदो के साहित्यिक पक्ष को देखना चाहिए। सृष्टि के आदिम युग के समान, ऋग्वेद की काव्यकला सीधी-सादी और अकृत्रिम है। उसमे शब्दो की बनावट नही। अर्थ का छल नही। ऋग्वेद का कवि सीधे-सादे शब्दो मे अपने हृदय को सामने रखता है। ऋग्वेद के प्रथम सूक्त मे कवि अग्निदेव से प्रार्थना करता है

स नः पितेव सूनवे ऽग्ने सूपायनो भव। सचस्वा नः स्वस्तये ॥१।१।९
यदिन्द्राऽहं यथा त्वमीशीय वस्व एकइत्। स्तोता मे गोषखा स्यात् ॥ ८।१४।१
यदग्ने मर्त्यस्त्वं स्यामहं मित्रमहो अमर्त्यः। सहसः सूनवाहुत ॥ ८।१९।२५
न त्वा रासीयाभिशस्तये वसो न पा पत्वाय सन्त्य।
न मे स्तोतामतीवा न दुर्हितः स्यादग्ने न पापया ॥ ८।१९।२६

"हे अग्नि, तुम मेरे पिता के समान हो, इसलिए मै जब चाहूँ तुम्हारे पास एक पुत्र की तरह सीधे आ सकू, ऐसी कृपा करो। मेरे कल्याण के लिए तुम सदैव तैयार रहो।" ऋग्वेद का कवि देवता को अपने निकट की वस्तु समझता है, ऊँच-नीच या सेव्य-सेवक का भाव नही मानता। तभी तो वह कहता है—"हे इन्द्र, यदि मैं तुम्हारे समान धनी होता, तो अपने भक्तो को पशुओ की कमी न होने देता।" (ऋ० ८.१४ १) "यदि मै अमर होता और तुम मर्त्य होते, तो हे अग्निदेव, तुम देखते कि तुम और अन्य भक्तगण शाप, गरीबी, अभाव, बीमारी के कष्ट को कभी न झेलने पाते।" (८ १९.२५) उषाकाल के प्राकृतिक सौन्दर्य का वर्णन कितना सजीव और कवित्वमय है, देखिए :

एषा शुभ्रा न तन्वो विदानोर्ध्वेव स्नाती दृशये नो अस्थात्।
अप द्वेषो बाधमाना तमांस्युषा दिवो दुहिता ज्योतिषागात् ॥५।८०।५
एषा प्रतीची दुहिता दिवो नॄन्योषेव भद्रानि रिणीते अप्सः।
व्यूर्ण्वती दाशुषे वार्याणि पुनर्ज्योतिर्युवतिः पूर्वथाकः ॥५।८०।६

"स्वर्ग की कन्या, उषा रात्रि के अधकार को दूर करती हुई हमारे सामने आ खडी है। सद्यस्नाता वधू के समान अपने अग-प्रत्यगो के सौदर्य को वह समझती है। इसी से तो वह सीधे तनकर खड़ी है, ताकि हम उसका पूर्ण दर्शन कर सके।" दूसरी ऋचा मे कवि कहता है: "शुभ्रशीला वधू के समान, स्वर्गकन्या उषा, लोगो के सामने सर झुकाये अपना सौन्दर्य दिखा रही है। अपने भक्तो को वरदान देती हुई, उषा आज भी हमेशा की तरह प्रकाश लेकर आई है।" वास्तव मे उषा के वर्णन मे काव्यकल्प का मनोरम चित्रण मिलता है। ओजस्वी तथा ज़ोरदार वर्णन के लिए इन्द्र अपूर्व है। सोमपायी, वज्रबाहु और वज्रधारी इन्द्र को कौन नही

जानता ? वरुण देव के सूक्तो मे एक दूसरा ही वातावरण है। वहाँ नैतिक आधार के प्रति निष्ठा है। ऋत और सत्य के प्रतिष्ठापक वरुण देव के सम्मुख कवि का हृदय भयभीत और पश्चात्तापपूर्ण है। मानवसुलभ कमजोरियो का हृदयग्राही वर्णन है। कवि कहता है :

अर्यम्यं वरुण मित्र्यं वा सखायं वा सदमिद्भ्रातरं वा।
वेशं वा नित्यं वरुणारणं वा यत्सीमागश्चकृमा शिश्रयस्तत् ।।५।८५।७
न स स्वो दक्षो वरुण ध्रुतिः सा सुरा मन्युर्विभीदको अचित्तिः।
अस्ति ज्यायान्कनीयस उपारे स्वप्नश्चनेदनृतस्य प्रयोता ।।७।८६।६

"हे वरुण ! यदि अपने किसी भाई, मित्र, साथी, पडोसी या परदेशी के प्रति हमने पाप कार्य किया हो तो हे वरुण देव ! क्षमा कीजिये तथा अपने दण्ड से बचाइये। मैं अपने मन ही मन विचारता हूँ कि देव वरुण, कब मुझे अपने हृदय मे स्थान देगे ? वह दिन कब आयेगा जब मैं वरुण देव की क्षमा प्राप्त कर अपने को प्रसन्न मन पाऊँगा। हे देव ! यह अपराध मैंने जानबूझ कर नही किया है। इसके पीछे धोखे बाजी, मदिरा प्रभाव, क्रोध, जुआ खेलने की लत या असावधानी भी हो सकती है। शायद बडो के प्रभाव मे पड कर मैने यह दुष्कृत्य किया है। यह भी हो सकता है कि इसकी प्रेरणा मुझे स्वप्नावस्था मे मिली हो।"

यहाँ यह भी जान लेना चाहिए कि ऋग्वेद मे देवतास्तुति के अतिरिक्त अन्य अनेक मनोरजक विषयों पर भी सूक्त मिलते है। इनमे यम-यमी-सवाद और उर्वशी-पुरूरवस् सवाद विशेष रूप से आकर्षक है। भाषा-सौन्दर्य के साथ-साथ कल्पना माधुर्य भी इनमे दृष्टिगोचर होता है। यम के तिरस्कार से निराश होकर यमी कहती है

बतो बतासि यम नैव ते मनो हृदयंचाविदाम।
अन्या किल त्वां कक्ष्येव युक्तं परि ष्वजाते लिबुजेव वृक्षम् ।।१०।१०।१३

"यम तुम दुर्बल हृदय हो, तुममे सहृदयता और दाक्षिण्य का पूर्ण अभाव है। तुम सदा ऐसे ही न रहोगे। कभी न कभी तो कोई दूसरी आकर लता के समान तुम्हे अपने बाहुपाश में बाँधेगी।" अब पुरूरवस् को समझाती हुई उर्वशी के सान्त्वनापूर्ण शब्द सुनिये :

पुरूरवो मा मृथा मा प्र पप्तो मा त्वा वृकासो अशिवास उ क्षन्।
न वै स्त्रैणानि सख्यानि सन्ति सालावृकाणां हृदयान्येता ।।१०।९५।१५

"हे पुरूरवस् ! दुखी न हो तथा आत्मघात की न सोचो। क्या तुम यह नही जानते कि स्त्रियो से मैत्री स्थायी नही हो सकती ? स्त्रियो का हृदय भेडिये के हृदय के समान कठोर और निर्दय होता है।" एक सूक्त मे एक जुआरी कहता है :

द्वेष्टि श्वश्रूरप जाया रुणद्धि न नाथितो विन्दत मर्डितारम्।
अश्वस्येव जरतो वस्न्यस्य नाहं विन्दामि कितवस्य भोगम् ।।१०।३४।३

"जुआरी का जीवन सचमुच दुखी जीवन है। उसकी सास उससे घिनाती है। पत्नी दूर भागती है। कोई भी उसे आश्रय देने को तैयार नही होता। जैसे बूढे घोडे को कोई नही पूछता, उसी प्रकार जुआरी का जीवन भी दूभर हो जाता है।" आध्यात्मिक दर्शन की दृष्टि से नारदीय सूक्त का महत्व आज भी महत्वपूर्ण है। सृष्टि के आरम्भ के विषय मे जिज्ञासा करता हुआ कवि कहता है

इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन् सो अंग वेद यदि वा न वेद॥१०।१२९।७

"यह सृष्टि कहाँ से आई? जिससे यह उत्पन्न हुई, क्या उसने जान-बूझ कर सृष्टि बनाई थी? सर्वोच्च आकाश मे जो इसका सदैव निरीक्षण किया करता है, वह भी इस प्रश्न का उत्तर जानता है या नही—इसमे सन्देह है।" दार्शनिक क्षेत्र मे स्वतन्त्र विचारप्रगल्भता और विशुद्ध तर्कानुराग का ऐसा उदाहरण शायद ही कही मिले।

हम ऊपर वेदो के आध्यात्मिक पक्ष का निर्देश कर चुके है। क्षण भर के लिए रहस्यपूर्ण आध्यात्मिक पक्ष को छोड भी दिया जाय तो भी यह कहना कठिन है कि वेद साहित्य की वस्तु है या इतिहास की। भारतीय वाङमय परम्परा मे इतिहास का अर्थ केवल राजनीतिक घटनाओ का निर्देश नही है। इतिहास जीवन के सभी अगो को छूता है। वेदो मे जीवन के विविध अनुभवो और रूपो का निर्देश है और इस अर्थ मे वेद इतिहास-ग्रन्थ है। साथ ही कविता कला के अनुपम उदाहरणो से वेदो का साहित्य पक्ष भी सर्वथा पुष्ट है। अत यदि यह प्रश्न पूछा जाय कि "वेद साहित्य है या इतिहास?" तो इस प्रश्न का समुचित उत्तर होगा कि वेद, साहित्य और इतिहास, दोनो है, एव साथ ही कुछ और भी।

[आकाशवाणी नागपुर से प्रसारित वार्ता, २५-४-१९५३,
एवं आकाशवाणी विविधा वर्ष १, अंक १ मे प्रकाशित]

●

२. वेदों की अपौरुषेयत्व-कल्पना का कारण

भारतीय ज्ञान बीजरूप से वेदो मे निहित है। इसीलिये उन्हे भारतीय ज्ञान-निधि कहा जाता है। इतना ही नही, प्राचीनत्व और ज्ञानगरिमा के कारण, आस्तिक-भारतीय की दृष्टि मे, वे अपौरुषेय, तथा ईश्वर-कृत भी है। प्राचीन परम्परा मे पले भारतीय-विद्वान् के लिए, किसी भी मत, या सिद्धान्त का स्वीकार, या तिरस्कार उसके वेदानुमोदित, या वेद विरुद्ध होने पर है। वेदो को यह अपूर्व गौरव आज से नही, हजारो वर्ष से प्राप्त है। भारतीय सस्कृति की भित्ति-शिला वेदो की इस अनन्य-जुष्ट महिमा पर ही अवलबित है। वेदो की अपौरुषेयत्व कल्पना एक स्वत सिद्ध सिद्धान्त के रूप मे मानी जाती है। किन्तु इस अपौरुषेयत्व कल्पना के विकास का भी एक इतिहास है। यह कल्पना एक दिन, या एक मन की उपज नही है। इसके विकास मे भारतीय वाङमय और विचार परम्परा का विकास अनुस्यूत है। ऐतिहासिक दृष्टिकोण, और वैज्ञानिक विचार-पद्धति से विमर्श करने पर, इस अपौरुषेयत्व कल्पना के इतिहास का एक चलता चित्र खीचा जा सकता है।

सर्व प्रथम हमे यह जानना चाहिये कि, वेद स्वय अपने विषय मे क्या कहते है। ऋग्वेद के ऋषि अपने मत्रो मे निम्न प्रकार के उल्लेख करते है, जैसे (१) "हे देव, तुम्हारी उपासना प्राचीन और नवीन ऋषियो ने की है।" (२) "इन मत्रो की रचना बडे परिश्रम से (शब्दो को काट-छॉट कर) की गई है।" (३) "ये मत्र, हे देव, तुम्हारी स्तुति मे मैने बनाये है, आशा है कि तुम्हे ये पसन्द होगे।" आदि। ऋग्वेद मे अधिकाश मत्र स्तुति-परक है। उन मे एवविध उल्लेखो से स्पष्ट है कि उनके रचयिताओ के मन मे इन मंत्रो के अलौकिक या अपौरुषेय होने की कल्पना न थी, और न वे दावा ही करते है कि उनके मत्रो मे कोई खास विचित्रता है। हाँ, कभी-कभी वे अपनी प्रतिभा या सामर्थ्य (सबाध. विप्र) का उल्लेख कर देते है, किन्तु इसमे कवित्व-प्रतिभा या आत्मगौरव ज्ञान ही अभिप्रेत है। वैदिक-युग के उत्तरकाल मे, अथर्ववेद और ब्राह्मण ग्रन्थो के समय मे, इस प्रकार के विधान अनेक बार किये गये हैं कि वेदो की उत्पत्ति अग्नि, वायु और सूर्य आदि देवो से हुई है। किन्तु ब्राह्मण-ग्रथ स्वय अपने विषय मे देवोत्पन्न होने का दावा नही करते है। उनमे वेद मत्रो की सरसरी व्याख्या और यागकर्म की विस्तृत विवेचना है। ब्राह्मण रचनाकाल के बाद के युग मे, ब्राह्मण-ग्रन्थ भी मत्र भाग की तरह "श्रुति" समझे जाने लगे। तर्क यह था कि ब्राह्मण ग्रन्थो मे स्वर्ग प्राप्ति या अन्य अलौकिक चमत्कार-पूर्ण बातो का विवेचन होने के कारण वे पुरुषकृत कैसे हो सकते है। यजुर्वेद-प्रतिपादित याग-सस्था का इस युग मे प्राधान्य था। याग-कर्म मे उपयुक्त यजुर्वेद के गद्य मत्रो के रचयिताओ के नाम की परम्परा, उनमे कोई विशेषता न होने के कारण—ज्ञात न थी अर्थात् वे 'अज्ञात कर्तृक' थे। उनके साथ-साथ यागकर्म मे प्रयुक्त ऋग्वेद के मत्र भी,—

यद्यपि परम्परा से उनके रचयिताओ के नाम भलीभाति ज्ञात है,—'अज्ञातकर्तृक' माने जाकर अपौरुषेय समझे जाने लगे। उनके रचयिता लेखक-ऋषि न रहकर, द्रष्टा-ऋषि (ऋषयो मत्र द्रष्टार , ऋषिर्दर्शनात्) माने जाने लगे। अर्थात् उन ऋषियो ने वेद-मत्रो की रचना नही की, उन्होने मत्रो को देखा (दैवी स्फूर्ति के कारण मत्र उनके मुख से निकल पडे)। जिन मत्रो के ऋषियो के नाम अज्ञात थे, उनके परमेष्ठिन् प्रजापति-ऋषि माने गये। साथ ही ब्राह्मण ग्रन्थ भी सहिता मत्रो के समान, अपौरुषेय माने गये और उन्हे श्रुति सज्ञा दी गई।

दर्शन युग मे मीमासा-दर्शन ने वेदो की अपौरुषेयता पर अत्यधिक जोर दिया। मीमासको का एक प्रबल-तर्क यह था कि, यदि वेद मत्रो का कोई रचयिता होता, तो उसके नाम का ज्ञान अवश्य होता, जैसे कालिदास भवभूति आदि का नाम आज तक लोगो को ज्ञात है। मीमासको के मत से कठ-कलाप आदि ऋषि अपनी-अपनी शाखा के वेदो के सकलनकर्त्ता थे, रचयिता नही। इस प्रकार 'काठक' 'कालापक' आदि शाखा प्रवर्तक ऋषियो के नाम की उपपत्ति कर दी गई, तो भी वैदिक परम्परा द्वारा ज्ञात, और वेदानुक्रमणी मे उल्लिखित मधुच्छन्दस, वैश्वामित्र, और जेतृ, माधुच्छन्दस आदि ऋषि तो सकलक नही माने जा सकते, क्योकि वे शाखा प्रवर्तक नही है। अपिच, कई ऋषियो के नाम तो मत्रो मे ही साक्षात् उल्लिखित है। उनके विषय मे सकलक की कल्पना नितान्त असम्भव है। उपर्युक्त कर्तृनुपलम्भ तर्क (कर्ता का न पाया जाना) के आधार पर मीमासको ने वेदो की अपौरुषेयता सिद्ध की, साथ ही वेदो को नित्य भी माना। इसीलिये उन्हे 'शब्द नित्यत्व' और 'शब्द पूर्वत्व' मानना पडा,—जो मीमासा दर्शन की विशेषता है। किन्तु शब्द नित्यत्व से वेदो की नित्यता सिद्ध करने मे विशेष सहायता नही मिल सकती, क्योकि कालिदास कृत रघुवश के सम्बन्ध मे भी 'शब्द नित्यत्व' का तर्क उपस्थित किया जा सकता है। आश्चर्य तो यह है उत्तरकालीन मीमासको ने, वृथा ही शब्द नित्यत्व को वेदो की नित्यता सिद्ध करने के लिये महत्व दिया। हाँ, दूसरा सिद्धान्त 'शब्द पूर्वत्व' अवश्य मीमासा शास्त्र की एक देन है। 'शब्द पूर्वत्व' का मतलब यह है कि शब्द पहिले आये, अर्थ बाद मे। शब्दोच्चारण से अर्थ-सृष्टि होती है। महाकवि भवभूति ने इसी बात को बड़े अच्छे ढग से कहा है "ऋषीणा पुनराद्याना वाचमर्थोऽनुधावति"—प्राचीन ऋषियो की वाणी के पीछे-पीछे अर्थ चलता है। वेदों मे और पौरुषेयग्रन्थो मे यही भेद है कि वैदिक मत्र स्वप्रतिपाद्य अर्थ की सृष्टि कर सकते है, पौरुषेय ग्रन्थ नही। इस अलौकिक शक्ति के कारण वेदो की अपौरुषेयता और नित्यता सिद्ध करने का मीमासको ने प्रयत्न किया है। किन्तु उनके विरुद्ध एक प्रबल आक्षेप यह था कि वेदो मे मानवो और तत्सम्बन्धी इतिहास के सम्बन्ध मे अनेक उल्लेख पाये जाते है, जैसे प्रवहण पुत्र बबर, दिवोदास, वशिष्ठ आदि, जिनके कारण वेदो को अपौरुषेय मानना सम्भव ही नही है। इस आक्षेप का उत्तर जैमिनि ने यह कह कर टाल दिया कि वेदो मे एवविध उल्लेख शब्द मात्र से है, (परतु श्रुति सामान्य मात्रम्) और उनमे किसी मर्त्य की ओर निर्देश नही किया गया है। बाद मे यह भी कहा गया कि इन उल्लेखो का सकेत सृष्टि की नित्य वस्तुओ की ओर है, जैसे प्रवहण-पुत्र बबर का अर्थ बर्-बर् ध्वनि के साथ बहने वाला वायु। किन्तु एवविध लचर व्याख्याओ से व्याकरण और कोश

की खीचातानी करने पर भी वेदो मे, तादृश समस्त उल्लेखो की उपपत्ति नही की जा सकती। सच पूछा जाय तो वेदो के ऐतिहासिक सूक्तो की एकमेव यथार्थ-व्याख्या उनको ऐतिहासिक मानने मे ही है। रूपक द्वारा आध्यात्मिक, या आधियाज्ञिक अर्थ निकालना केवल बुद्धि-प्रयास का द्योतक है। वेदानुक्रमणी मे सुरक्षित परम्परा भी ऐतिहासिक व्याख्या का समर्थन करती है। मत्रो मे जिन ऋषियो के नाम दिये गये है, उन्ही ऋषियो के नाम से उन मत्रो को वेदानुक्रमणी ने उल्लिखित किया है। ऋग्वेद और ब्राह्मण ग्रन्थो मे पायी गयी ऐतिहासिक घटनाओ का कभी-कभी पुराणो मे अंशत या पूर्णत विवरण मिलता है। पुराणोल्लिखित घटनाओ की ऐतिहासिकता तो सभी को मान्य है। फलत 'शकुन्तला नालपित्यप्सरा भरत दधे' इस वैदिक मत्र मे उसी शकुन्तला-भरताख्यान की ओर सकेत है, जिसका विस्तृत वर्णन महाभारत के शकुन्तलोपाख्यान मे पाया जाता है। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि वेदो के अपौरुषेयत्व-स्थापन मे, उपर्युक्त आक्षेप का खण्डन करते हुए सायण तथा अन्य भाष्यकारो ने तर्क के आधार पर, या शब्दच्छल से जो कुछ भी कहा हो, किन्तु वेदभाष्य मे उन्ही मत्रो की व्याख्या करते हुए उन्होने ऐतिहासिक व्याख्या की है। आश्चर्य है कि इस स्वमत-विरोध की ओर उनका ध्यान क्यो नही गया। ऐतिहासिक सन्दर्भ वाले मत्रो के अर्थ विवरण मे, मीमासको के उपर्युक्त मत का रहस्य समझने के लिये, हमे यह जान लेना चाहिये कि इस याग-प्रधान युग मे ऋग्वेद का महत्व उतना नही रह गया था, और यज्ञप्रतिपादक-यजुर्वेद, और ब्राह्मण ग्रन्थ ही जिनमे एतादृश ऐतिहासिक उल्लेख वाले मत्र, अपेक्षाकृत बहुत कम है—मीमासको के मस्तिष्क मे प्रधानतया उपस्थित थे। साराश यह कि इस युग मे वेद के दोनो भाग—मत्र और ब्राह्मण, नित्य और अपौरुषेय माने जाते थे। उसके भिन्न-भिन्न भागो का भिन्न-भिन्न समय मे वशिष्ठ आदि ऋषियो या परमेष्ठिन् प्रजापति को दर्शन हुआ और उन भागो के वे 'ऋषि' माने गये। पूर्व मीमासा-दर्शन मे ईश्वरास्तित्व को साक्षात् स्थान नही है, अत. उनके मत मे वेदो का ईश्वरकृत होना सम्भव ही नही था।

हाँ, वेदान्ती अवश्य वेदो को ईश्वर कृत मानते है, (यस्य नि श्वसित वेदा·) सारी सृष्टि का स्रष्टा ईश्वर वेदो का भी कारण है। वेदान्तियो के मत से भी वेद नित्य है, किन्तु यह नित्यता, आकाश, वायु आदि तत्वो की नित्यता के सदृश आपेक्षिक-नित्यता है। प्रथम सृष्टि के आरम्भ मे आकाश आदि की तरह ईश्वर द्वारा वेदो की उत्पत्ति हुई, बाद मे अवान्तर सृष्टि के समय धाता ने पूर्व-सृष्टि की तरह उनकी फिर रचना कर दी। (धाता यथा पूर्वमकल्पयत्)। ईश्वर कर्तृक होने से वेदो का प्रामाण्य है, क्योकि ईश्वर मानव-सुलभ सारे दोषो से मुक्त है। वेद ईश्वरीय होने के कारण फलत अपौरुषेय है। इसी अर्थ मे आज वेदो को अपौरुषेय कहा जाता है। इस प्रकार हम देखते है कि परम प्राचीनता के कारण अज्ञात कर्तृक-वेद, अन्त मे ईश्वर-कर्तृक माने जाने लगे। अपौरुषेय पद मे 'पुरुष' का अर्थ पहिले ज्ञात-पुरुष किया गया, बाद मे अनीश्वर (ईश्वर भिन्न) अर्थ माना गया। सरसरी दृष्टि से वेदो की अपौरुषेय कल्पना के विकास पर ध्यान देने से उपरिनिर्दिष्ट चलता-चित्र सामने आता है।

['विक्रम' (उज्जैन) के जुलाई १९४३ के अंक में प्रकाशित]

३. संसार का प्राचीनतम ग्रन्थ : ऋग्वेद

आज के वैज्ञानिक युग की एक मुख्य विशेषता यह भी है कि प्राचीनता के प्रति लोगो की श्रद्धा घटती जा रही है। उनके मन मे यह धारणा बद्धमूल हो रही है कि प्राचीन युग की परम्परा और ज्ञानराशि की उपयोगिता की चर्चा करना व्यर्थ है। वर्तमान युग के प्रगतिशील मानव को 'पीछे की ओर' देखने की न फुरसत है, न आवश्यकता ही है। किसी अश तक यह मत उन राष्ट्रो के विषय मे सत्य हो सकता है, जो विश्व के इतिहास मे नये है, एव जिनकी सभ्यता और सस्कृति का प्रारभ कुछ शताब्दी पूर्व हुआ है। भारतवर्ष की ऐतिहासिक परम्परा और सास्कृतिक जीवन पर ध्यान देने से यह स्पष्ट है कि यह देश एक बडा बूढा देश है। अन्य राष्ट्र इसकी तुलना मे अनुभवरहित बालको के समान है। जीवन की सभी समस्याओ पर इतना विचार और इतने प्रयोग इस देश मे किये गये है कि उस स्तर पर पहुँचने के लिये नवीन राष्ट्रो को कई शताब्दियाँ नही, सहस्राब्दियाँ लगेगी। उन विविध प्रयोगो के फलस्वरूप जो निष्कर्ष निकाले गये है, और जिन सिद्धातो पर यहाँ की समाज-व्यवस्था आधारित की गई है, उसका मूल्याकन आज का ससार पूर्णतया अब तक नही कर सका है। अत प्राचीनता के प्रति उपेक्षा-बुद्धि को त्याग कर हमे प्राचीन ज्ञानराशि से परिचय प्राप्त करना चाहिये। निम्न पक्तियो मे विश्व-वाङमय के प्राचीनतम ग्रन्थ 'ऋग्वेद' की चर्चा की जा रही है।

आज भाषा-शास्त्रियो का यह सर्वमान्य मत है कि आज जितना लिखित वाङमय विश्व मे उपलब्ध है, उसमे 'ऋग्वेद' सबसे प्राचीन है। प्राचीनता, विषय-व्यापकता, काव्य सौन्दर्य—सभी दृष्टियो से समस्त सभ्य साहित्य मे ऋग्वेद का स्थान अग्रगण्य है। अति पुरातन काल से भारतीय आर्य सिन्धु-सरस्वती के तट पर प्रकृति की विभूतियो की स्तुति मे वैदिक ऋचाओ का पाठ और सरस सामो का गायन करते थे। वेद भारतीय सस्कृति और इतिहास की आधार शिलाये तो है ही, विश्व के इतिहास को जानने मे भी वे उपयोगी सामग्री प्रस्तुत करते है। मानववश के इतिहास को जानने के लिए जब तक हममे उत्कठा और रुचि विद्यमान है और जब तक प्राचीन युगो के चिह्नो को हम अजायबघर मे सुरक्षित रखना आवश्यक समझते है, तबतक आर्यजाति का इतिहास जानने के लिये ऋग्वेद की महिमा गायी जायेगी।

महर्षि वाल्मीकि ने कहा है कि जबतक पृथ्वीतल पर पर्वत खडे है और नदियाँ बहती है, तबतक भारतीय लोक-मानस पर राम-कथा अटल बनी रहेगी। यही बात ऋग्वेद के सम्बन्ध

मे भी उसी प्रामाणिकता के साथ कही जा सकती है। क्योकि भारत की धार्मिकता का मूलस्रोत वेदो मे है। वर्तमान हिन्दू-धर्म—जिसे भारतीय धर्म कहा जा सकता है—श्रुति (वेद), स्मृति और पुराण पर आधारित है। इसी से प्रत्येक आस्तिक हिन्दू किसी भी धर्मकार्य के आरम्भ मे अपने को "श्रुतिस्मृति-पुराणोक्त-फलप्राप्तिकाम" उद्घोषित करता है। श्रुति, स्मृति, पुराण-इन तीनो मे स्मृति और पुराण, उसी हद तक, प्रमाण माने जाते है, जहाँतक उनका वेद (श्रुति) से विरोध नही होता। वेदो पर आधारित होने के कारण ही हिन्दू-धर्म 'वैदिक धर्म' कहाता है। वेद, पुरुष-विशेष या समाज-विशेष की नही, बल्कि समस्त मानव-समाज की वस्तु है। वेद मे प्रतिपादित तत्वो की व्यापकता और सार्वजनीनता का इसी ओर सकेत है। वैदिक मन्त्रो के साथ जिन सैकडो ऋषियो के नाम जोडे जाते है, वे इन मन्त्रो के कर्ता (रचयिता) नही, बल्कि 'द्रष्टा' है। इन ऋषियो को सत्यदर्शन के अमूल्य क्षणो मे जिन शाश्वत तत्वो का भान हुआ, वे मन्त्र के रूप मे वेदो मे मिलते है। मीमासादर्शन के अनुसार वेद के शब्द भी नित्य है, वे सृष्टि के अनादिकाल से अविच्छिन्न रूप मे चले आ रहे है। महर्षि अरविन्द के सुविचारित-मतानुसार वेद के प्रत्यक्ष और परोक्ष—ये दो अर्थ है। दूसरा रहस्यपूर्ण 'परोक्ष' अर्थ उच्च स्तर के जिज्ञासुओ के लिए है, जिसका आभास कभी-कभी 'प्रत्यक्ष' अर्थ मे मिलता है। जिसकी जहाँ तक पहुच है, वहाँ तक 'परोक्ष' अर्थ की झलक उसे मिलती है। इसी से प्राचीन परम्परा के अनुसार 'वेद' को अपौरुषेय माना गया है।

अपौरुषेय-कल्पना की उपपत्ति, आज के बुद्धि-प्रधान वैज्ञानिक युग मे भी, लगाई जा सकती है। 'अपौरुषेय' का शाब्दिक अर्थ है कि वह कृति जिसे किसी (ज्ञात) पुरुष ने न रचा हो। अन्य ग्रन्थो के साथ उनके रचयिता (कर्ता) का नाम लगा रहता है, किन्तु वेदो के साथ यह बात नही है। वर्तमान उपलब्ध ऋग्वेद मे ऋचाओ का सकलन है। किन्तु यह सकलन किसी एक काल-विशेष, स्थान-विशेष, व्यक्ति-विशेष या कुल-विशेष की रचनाओ का सकलन नही है। सकलन-समय के पूर्व के अति विस्तृत कालखड मे विभिन्न स्थानो मे, विभिन्न कुलो मे, भिन्न-भिन्न व्यक्तियो के द्वारा समय-समय पर स्वयस्फूर्ति से नानाविध विषयो पर जो रचनाये की गई थी, उनमे से 'कुछ' का सकलन आज के ऋग्वेद मे पाया जाता है। किन्तु ध्यान रहे उस विशाल ऋचा-राशि मे 'कुछ ही' का—जो सकलनकर्ता की दृष्टि से लोक-प्रिय, उपादेय, और अविस्मरणीय थी—सकलन पाया जाता है। जैसे आज के किसी कविता-सग्रह मे 'कुछ ही' कविताओ का सग्रह पाया जाता है, वैसे ही ऋग्वेद के ऋचा-सकलन मे भी हुआ। इसमें सकलनकर्ता की रुचि और मनोवृत्ति का अच्छा प्रभाव पडा होगा, यह कहने की आवश्यकता नही। यह सकलन-कार्य कितना पुराना है, इस विषय मे विद्वानो का ऐकमत्य नही है। विभिन्न मतो के एकागतामूलक अतिरेक को बचा कर मध्यम मार्ग का आश्रय ले, तो भी लगभग ५००० वर्ष पूर्व ऋग्वेद की ऋचाओ का सकलन—ध्यान रहे रचना नही—किया गया होगा, यह कहना वस्तुस्थिति से बहुत दूर की बात न होगी।

ऋग्वेद के महत्व और काल की सक्षेप से चर्चा कर अब हमे यह देखना है कि उसकी ऋचाओं मे क्या कहा गया है। ऋग्वेद मे विभिन्न देवताओं की स्तुतियाँ है। इन वैदिक देवताओ

को महर्षि यास्क के मतानुसार हम ३ श्रेणियो मे बॉट सकते है—पृथ्वीस्थान, अन्तरिक्षस्थान और द्युस्थान। पृथ्वीस्थान के देवताओ मे अग्नि मुख्य है। अन्तरिक्ष-स्थान मे इन्द्र, मरुत, रुद्र आदि मुख्य है। द्यु-स्थान देवताओ मे सूर्य, उषा आदि है। वैदिक देवताओ का एक दूसरा भी श्रेणीकरण है। प्रत्यक्ष, प्रतिबिम्बित और गूढ—ये तीन श्रेणियाँ है। 'प्रत्यक्ष' श्रेणी मे वे देवता आते है जिनका मूल रूप स्पष्ट है, जैसे अग्नि, सूर्य, वायु आदि। 'प्रतिबिम्बित' श्रेणी के देवताओ का मूल रूप अज्ञात तो नही है, किन्तु उन पर काल्पनिक आवरण चढा दिया गया है—जैसे इन्द्र, रुद्र आदि। इनके वर्णन मे कविहृदय ने इनके मूलरूप—वृष्टि या प्रबल आँधी को—कल्पित वर्णन के द्वारा 'प्रत्यक्ष' नही रहने दिया है। जैसे अग्नि सूर्य 'प्रत्यक्ष' है वैसे इन्द्र और रुद्र नही है। इनके वर्णनो मे मानवीकरण की मात्रा पर्याप्त है। तीसरी 'गूढ' श्रेणी के देवताओ का मानवीकरण इतना अधिक हो गया है कि उनका मूलरूप ही ध्यान मे नही आता है। 'अश्विनी कुमार' इसी तृतीय श्रेणी के देवता है। कल्पना-प्रसूत वर्णनो की इतनी भरमार 'अश्विनी कुमार' की ऋचाओ मे है कि उनका मूल रूप ही छिप गया है और यह पता नही चलता कि उनका क्या मूल रूप था। विभिन्न मतो के अनुसार उनका मूल रूप तारका-द्वय, सन्ध्या-द्वय, सूर्य-चन्द्र, दिन-रात, नृप-द्वय आदि कहा जाता है, तो भी पूर्ण समाधान नही होता है। सक्षेप मे प्राकृतिक दृश्यो को या किसी आश्चर्यजनक वस्तु को देखकर भारतीय आर्यो के हृदय मे जो भावाद्रेक हुआ और कल्पनातरग उठी, वही देवता के रूप मे वर्णित की गई है। इस आधिदैविक व्याख्या पक्ष के अनुसार ऋग्वेद के देवता प्राकृतिक दृश्यो के मानवीकरण है। किन्तु ध्यान रहे कि देवताओ के विविध वर्णनो मे भी, जगत मे सर्वत्र व्याप्त 'एक सत्ता' की भावना भुलाई नही गई है। "एक सद्विप्रा बहुधा वदन्ति"—अर्थात् उसी एक सत्ता के ये देवता विविध रूप और नाम है। सब देवता उसी सर्वव्यापी सत्ता—परमात्मा—के भिन्न-भिन्न प्रतीक है। यह वेदों का आध्यात्मिक व्याख्या पक्ष है।

ऋग्वेद को 'दाशतयी सहिता' कहते हैं, क्योकि उसमे दश मडल (खड) है। द्वितीय से लेकर सप्तम तक प्रत्येक मण्डल मे किसी एक विशिष्ट ऋषि के वशजो की ही ऋचाये सगृहीत है। जैसे तृतीय मडल मे विश्वामित्र ऋषि के वशजो की और सप्तम मडल मे वशिष्ठ ऋषि के वशजो की ऋचाये है। यह बात उल्लेखनीय है कि २-७ मडलो मे एक ही ऋषि-वश की ऋचाये है, दूसरे ऋषिवश की ऋचाये नही है। इसी से इन मडलो को 'एक वशमडल' कह सकते है। प्रथम और अष्टम मडल मे अनेक ऋषिवशो की ऋचाये है। स्पष्टत ये इतनी अधिक नही थी कि उनके नाम से एक मण्डल बन सकता। अत हम प्रथम और अष्टम मण्डल को अनेक वश-मण्डल कह सकते हैं। इन १-८ मडलो मे भिन्न-भिन्न ऋषिवशो की विभिन्न देवताओ पर ऋचाये एक विशिष्ट क्रम से रक्खी गई हैं। सर्वप्रथम अग्नि देवता के मत्र, फिर इन्द्र के मत्र, बाद मे अन्य देवो के मत्र हैं। अग्नि, इन्द्र आदि देवताओ की ऋचाओ मे भी अधिक ऋचाओ वाले सूक्त पहिले रक्खे गये है, न्यूनतर सख्या वाले सूक्त बाद मे। इन आठ मडलो मे सोम-विषयक ऋचाये नही है। उन्हे निकाल कर अलग नवम मण्डल मे रक्खा गया है। दशम मण्डल मे जो ऋचाये सगृहीत है, उनका विषय मुख्यतया देव-स्तुति नही, बल्कि

अन्य मनोरंजक विषय है, जैसे पुरूरवस्-उर्वशी सवाद, यम-यमी सवाद, मण्डूक सूक्त, द्यूतकर-विलाप, अन्त्येष्टि सूक्त, नासदीय सूक्त, सपत्नीनाशन-सूक्त, श्रद्धा सूक्त, सृष्टि-प्रारभ सूक्त, सौमनस्य सूक्त मे विविध कल्पनाये और वर्णन पाये जाते है। ऋग्वेद के सकलन-कार ने इन दश मडलो मे सूक्तो को यथाक्रम रखते समय इस बात पर विशेष ध्यान दिया है कि प्रथम और अन्तिम मडल मे सूक्तो की सख्या बराबर रहे। जितने सूक्त प्रथम मडल मे है उतने ही (अर्थात् १९१) दशम मडल मे भी है। अत आद्य और अन्तिम मडल-शिखरो की समान ऊँचाई के कारण ऋग्वेद-मन्दिर मे एक आकर्षक सतुलन और तारतम्य दृष्टिगोचर होता है। लगभग ५००० वर्ष पूर्व सकलित यह ऋचा-सग्रह—जो हमे ऋग्वेद के रूप मे उपलब्ध है, समस्त विश्ववाङमय का प्राचीनतम ग्रन्थ है। इजिप्ट, बैबिलोनिया और सिन्धु-घाटी की खुदाई मे उपलब्ध पत्थरो, ईटो और पत्तो पर उत्कीर्ण फुटकर लेख—जिनमे से अनेक का अभीतक अर्थ नही लगाया जा सका है—वाङमय या साहित्य की कोटि मे नही गिने जा सकते। अत ऋग्वेद का ससार की सर्व प्रथम पुस्तक होने का दावा सर्वमान्य है। साथ ही हमे यह भी ध्यान मे रखना चाहिये कि भारतवर्ष मे ऋग्वेद का पठन-पाठन अक्षुण्ण रूप से निरतर होता आया है। वैदिक सम्प्रदाय के विद्वानो मे सारा 'ऋग्वेद' 'पुस्तकस्थ' न हो कर 'कण्ठस्थ' रहा करता था। बल्कि पुस्तक देख कर वेद पढनेवाले 'लिखित-पाठक' को पाठकाधम माना जाता था। यही कारण है कि ऋग्वेद के प्रथम मुद्रण के समय हस्तलिखित प्रतियो की शुद्धता की परीक्षा के लिये श्रोत्रियो की—जिन्हे सारा ऋग्वेद कण्ठस्थ रहा करता था—शरण ली गई थी। वाङमय-जगत् मे यह एक आश्चर्य का विषय है कि उत्तरकालीन व्यास, वाल्मीकि, कालिदास, शकरा-चार्य आदि के ग्रन्थो मे पाठभेद पाया जाता है, किन्तु सुदूर भूतकाल के प्राचीनतम ग्रन्थ 'ऋग्वेद' मे पाठभेद या अशुद्ध पाठ का नाम-निशान नही। भारतवर्ष मे ऋग्वेद की रक्षार्थ प्रचलित पठन-प्रणाली भी एक अद्‌भुत वस्तु है। ऋग्वेद की अनुक्रमणियो मे न केवल देवताओ, छन्दो, द्रष्टा ऋषियो की गिनती तथा सूक्तो और ऋचाओ की सख्या दी गई है, बल्कि सारे पद, समास, अव्यय, सन्धि, यहाँ तक कि प्रत्येक वर्ण की सख्या दी गई है। तदनुसार ऋग्वेद मे १०२८ सूक्त, १०५५२ ऋचाये और ३९७२६५ अक्षर है। ऋग्वेद का पाठ करते समय मत्रो का पाठ १० प्रकार से करते है। पदपाठ मे प्रत्येक पद अलग-अलग सन्धि तोड कर पढा जाता है। क्रमपाठ मे प्रत्येक पद दो बार दुहराया जाता है। जैसे क, ख, ग, घ, ङ—यदि किसी मत्र के पदो के प्रतीक मान लिये जाये तो उस मत्र का क्रमपाठ यो होगा, कख, खग, गघ, घङ, ङच आदि। शिखापाठ मे कख, खग, कखग, खग, गख, खगघ, गघ, घग, गघङ। घनपाठ मे कख, खक, कखग, गखक, कखग, खग, गख, खगघ, घगख, खगघ, गघ, घग, गघङ, ङघग, गघङ आदि। इन्ही विभिन्न पाठ-प्रकारो के कारण ऋग्वेद मे शब्दो के रूप और क्रम को स्थिरता मिली, जिससे पाठभेद या अशुद्धि की गुजायश ही न रही। भारतीय इतिहास मे अनेक क्रातिकारी उथल-पुथल हुये। विदेशियो द्वारा यातनाये दी गईं, ग्रन्थ जला दिये गये। तो भी वेदो का पठन-पाठन पितृ-पुत्रपरपरा द्वारा मौखिक रूप मे अक्षुण्ण बना रहा। आज के मुद्रण-युग मे हम कल्पना भी नही कर सकते कि मुख-परम्परा द्वारा कैसे वेदो की रक्षा की गई

होगी। प्रत्येक वस्तु के लिए हम आजकल पुस्तक का सहारा लेते है और स्मृतिशक्ति पर अधिक जोर नही देते है। ऐसी अवस्था मे यदि मुद्रित साहित्य नष्ट हो जाय, तो उसका पुन-रुद्धार आज के युग मे असम्भव है। किन्तु यही आज का 'असम्भव' प्राचीन भारत मे 'सम्भव' किया गया और हमारी प्राचीनतम वाङमयीन निधि अक्षुण्ण रूप से हम तक पहुँचाई गई है। हमारा कर्तव्य है कि हम भी इस वैदिक निधि की रक्षा करे, उसका अध्ययन-मनन करे और अपने उत्तराधिकारियो तक आगे बढाये। 'सरस्वती श्रुति-महती न हीयताम्'।

['विक्रम' (उज्जैन) के अगस्त १९५३ के अंक मे प्रकाशित]

●

४. माण्डूक्योपनिषद् : परिचय और निरूपण-शैली

उपनिषद्-वार्तामाला मे आज माण्डूक्योपनिषद् की चर्चा करनी है। अन्य उपनिषदो के समान माण्डूक्योपनिषद् का भी चारो वेदो मे एक विशिष्ट वेद से सबध है। परम्परा के अनुसार माण्डूक्योपनिषद् को अथर्ववेद के ब्राह्मण भाग के अन्तर्गत माना जाता है। इसी से इसके आदि और अन्त मे अथर्ववेद-सम्बन्ध सूचक ये मत्र पढे जाते है

भद्र कर्णेभि श्रृणुयाम देवा भद्र पश्येमाक्षभिर्यजत्रा । स्थिरैरगै स्तुष्टुवासस्तनूभिर्व्यशेम देवहित यदायु ।

स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवा स्वस्तिन पूषा विश्ववेदा । स्वस्ति न स्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमि स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ।

अर्थात् देवताओ से हम प्रार्थना करते है कि हम अपने कानो से हमेशा अच्छी ही अच्छी बाते सुने, एव आँखो से सर्वदा सुन्दर वस्तुये देखे। हमारे शरीर का प्रत्येक अग दृढ और मजबूत हो और इस प्रकार हम देवताओ द्वारा दी गई आयु मर्यादा को स्वस्थ एव सुखी जीवन के रूप मे बिताये।

प्रसिद्ध कीर्तिशाली इन्द्र, सर्वज्ञ पूषा, आपत्तियो के विनाशक गरुड तथा ज्ञान के भडार बृहस्पति जो हमारा सदैव कल्याण करे। इन प्रार्थनामत्रो मे शारीरिक सुख की कामना पर जोर दिया है। स्वास्थ्यशास्त्र का प्रतिपादक आयुर्वेद अथर्ववेद का उपवेद है। अत इन प्रार्थना मत्रो के कारण माण्डूक्योपनिषद् को अथर्ववेद-वाङमय का अग मानना सर्वथा युक्तिसगत है।

माण्डूक्योपनिषद् मे कुल बारह मत्र है। अत परिमाण की दृष्टि से प्रसिद्ध दश उपनिषदो मे यह सबसे छोटा है। किन्तु महत्व मे किसी से कम नही है। शकराचार्य के गुरु श्री गोविन्द पादाचार्य है, उनके गुरु श्री गौडपादाचार्य है। इन्ही गौडपादाचार्य ने माण्डूक्योपनिषद् पर २१५ कारिकाएँ लिखी है, सब उपनिषदो मे से चुनकर केवल एक माण्डूक्योपनिषद् पर गौडपादाचार्य द्वारा कारिकाओ का रचा जाना इस उपनिषद् के सर्वकष महत्व को सूचित करता है। इन कारिकाओ पर शकराचार्य ने अपना सुप्रसिद्ध भाष्य लिखकर इसके महत्व पर चार चाँद लगाये है। यही कारण है कि कारिका और शाकरभाष्य से विभूषित माण्डूक्योपनिषद् अद्वैत वेदान्तशास्त्र का एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है।

जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है गौडपादाचार्य गौड देश (अर्थात् उत्तर भारत) के एव शकराचार्य द्राविडदेश (अर्थात् दक्षिण भारत) के निवासी थे। अत उत्तर भारत और दक्षिण भारत के दो दिग्गज विद्वानो के आश्रय मे भारतीय अद्वैतवाद फूला-फला और इसे अखिल भारतीय प्रतिष्ठा मिली। अद्वैतवाद के प्रतिष्ठापन और प्रतिपादन मे हमे उत्तर और दक्षिण—अर्थात् अखिल भारत की प्रज्ञा और प्रतिभा का योगदान मिलता है। पञ्चगौड और

पञ्च-द्राविड—इन दो शाखाओ मे विभक्त आज का ब्राह्मणवर्ग उसी प्राचीन सयुक्त गौड-द्राविड विचारधारा की याद दिलाता है। अस्तु।

माण्डूक्योपनिषद पर गौडपाद की कारिकाये बडी सुन्दर और भावपूर्ण रचनाये है। वास्तव मे अद्वैत सिद्धात की ये आधार-शिला है। इनमे सिद्धात, परमतखण्डन, स्वमतमण्डन—सभी विषयो का तर्कपूर्ण प्रतिपादन किया गया है। विषयभेद से इसमे चार प्रकरण है। पहिले आगमप्रकरण मे ससार की उत्पत्ति के प्रयोजनो के विषय मे ईश्वरेच्छा-वाद, काण्डवाद और कर्मभोगवाद, लोकवाद आदि विभिन्न मतो का खण्डन कर यह दिखाया गया है कि "देवस्यैव त्वामवोऽदम्—अर्थात् पूर्णकाम ईश्वर को सृष्टि का कोई प्रयोजन नही है, यह तो उनका स्वभाव ही है। यह जो प्रपच है, बिना हुआ ही भास रहा है। परमतत्व जानने वालो के लिये इसके प्रति आदर या ममता नही होनी चाहिये। दूसरे प्रकरण मे—जिसका नाम वैनश्व प्रकरण है, पहिले स्वप्नदृष्ट वस्तुओ का मिथ्यात्व दिखाया गया है और फिर उन्ही युक्तियो से जागृत अवस्था की वस्तुओ को भी चित्तपरिकल्पित सिद्ध कर रहा है कि प्रपञ्च की प्रतीति माया के ही कारण है। परमात्मा माया की महिमा से अव्यक्त वासना रूप मे स्थित भेद समूह को व्यक्त करता है। अव्यक्त प्रकरण नामक तीसरे प्रकरण मे अद्वैत तत्व को युक्तियो द्वारा सिद्ध किया है। मैं और मेरा का यह अनुभूयमान सारा द्वैत मनोदृश्यमात्र है। मन जब आत्म-सत्य का बोध होने पर अमनोभाव को प्राप्त होता है तो द्वैत एकदम गायब हो जाता है। चौथे प्रकरण का नाम अलात शान्ति है। मसाल को घुमाने पर आग की तरह-तरह की आकृतियाँ दिखाई देती है और घुमाना बन्द करने पर उनका दिखाई देना बन्द हो जाता है। वस्तुत न वे मसाल से निकलती है, न उसमे लीन होती है और न कही बाहर से ही उनका आना-जाना होता है। यह सब मसाल के घुमाने की करामात है, वस्तुत. उनकी सत्ता नही है। इसी प्रकार यह दृश्यमान प्रपञ्च मन के स्पन्दन के कारण प्रतीत होता है, किन्तु मन के अमनोभाव को प्राप्त होते ही न जाने कहाँ काफूर हो जाता है। किन्तु ये प्रपञ्च की प्रतीति और अप्रतीति दोनो ही भ्रान्तिजनित है। परमार्थ दृष्टि से न उसकी उत्पत्ति होती है, औंर न कर्म। इस भ्रान्ति का आधार ब्रह्म है, क्योकि कोई भी भ्रान्ति निराधार नही हो सकती। इसलिए जैसे रस्सी मे साँप की प्रतीति का आधार रस्सी है वैसे ही परब्रह्म इस प्रपञ्च प्रतीति के भ्रम का आधार है। इस प्रकरण मे सद्वाद, असद्वाद, बीजाकुर जन्मतिवाद, विज्ञानवाद एव शून्यवाद—सभी विपक्षी मतो का खण्डन कर अजन्मवाद की स्थापना की है।

इस प्रकार श्री गौडपादाचार्य की कारिकाओ मे माण्डूक्योपनिषद् के गूढार्थ का सुन्दर विशदीकरण हुआ है। इस उपनिषद् के मूल मत्रो मे परब्रह्म परमात्मा के चार पादो की कल्पना की गई है। उसके नाम (ओऽम्) मे अ, उ, म्—इन तीन मात्राओ के साथ और चतुर्थ मात्रारहित उसके अव्यक्त रूप के साथ परमात्मा के एक-एक पाद की समता दिखाई गई है। नाम और नामी का अभेद होने से ओऽम्—यह अक्षर ही पूर्णब्रह्म है। भूत, वर्तमान और भविष्य—यह सब का सब ओकार है तथा जो त्रिकालातीत इससे भिन्न है, वह भी ओकार ही है। अभिव्यक्त और अनभिव्यक्त अश—सभी मिलकर ही परब्रह्म परमात्मा का समग्र

रूप होते है। अर्थात् वह साकार भी है, निराकार भी है और साथ ही साकार-निराकार दोनो से रहित भी है। एवविध परब्रह्म के चार पादो मे पहले पाद का नाम वैश्वानर है। जिस प्रकार जागृत अवस्था मे इस स्थूल शरीर का अभिमानी जीवात्मा विषयो का उपभोग करता है, उसी प्रकार स्थूल जगत् रूप शरीर का आत्मा—वैश्वानर—इस स्थूल जगत् का ज्ञाता और भोक्ता है। स्वप्न अवस्था मे सूक्ष्म शरीर का अभिमानी जीवात्मा के समान जडचेतनात्मक सूक्ष्म जगत् का भोक्ता और ज्ञाता—परब्रह्म के दूसरे पाद का नाम तैजस है। वह समस्त ज्योतियो की ज्योति परम प्रकाशमय हिरण्यगर्भरूप है। तीसरे पाद का नाम प्राज्ञ है। वह एक रूप, घनीभूत विज्ञान स्वरूप एव आनन्द स्वरूप है। उसका स्वरूप जगत् की प्रलयावस्था या कारणावस्था है, जिसे सुषुप्ति-अवस्था कहते है और जिसमे सोया हुआ मनुष्य न किसी भोग की कामना करता है, और न कोई स्वप्न देखता है। जगत् की इस अव्यक्तावस्था का अधिष्ठाता ही प्राज्ञ कहलाता है। परब्रह्म का चौथा पाद उसका निर्गुण निराकार और निर्विशेष स्वरूप है। इसका ज्ञान न बाहर की ओर है, न भीतर की ओर, तथा न दोनो ही ओर है। वह न ज्ञान स्वरूप है, न जाननेवाला है, और न जाननेवाला ही है। वह न देखने मे आ सकता है, न व्यवहार मे लाया जा सकता है। वह न ग्रहण करने मे, न चिन्तन करने मे और न बतलाने मे आ सकता है। वह लक्षण-रहित है। उसमे समस्त प्रपञ्च का अभाव है। एकमात्र परमात्मसत्ता की प्रतीति ही उसका प्रमाण है। सर्वथा शान्त कल्याणमय अद्वितीय तत्व ही पूर्णब्रह्म का चतुर्थ पाद है।

ऊपर कहे गये परब्रह्म के चारो पादो को ओकार की अकार, उकार, मकार मात्राओ से और मात्रारहित ओकार से एकता का प्रतिपादन करना माण्डूक्योपनिषद् का मुख्य मन्तव्य है। जिस प्रकार ओकार की तीन मात्राओ की पूर्ववर्णित ब्रह्म के तीन पादो से समता है, उसी प्रकार ओकार के निराकार स्वरूप की परब्रह्म की निर्गुण-निराकार-निर्विशेषरूप चौथे पाद से समता है। परब्रह्म के चारो पादो की कल्पना, उनके स्थूल, सूक्ष्म और कारण इन तीनो सगुण रूपो और निर्गुण-निराकार स्वरूप की एकता एवं नाम और नामी का सब प्रकार से तादात्म्य बनाने तथा परब्रह्म की सब कुछ बनने की जो अचिन्त्य शक्ति है और वह परब्रह्म से सर्वथा अभिन्न है—यह प्रतिपादन करने के लिये की गई है। कुछ व्याख्याकारों ने जागृतावस्था के अभिमानी, स्वप्नावस्था के अभिमानी और सुषुप्ति अवस्था के अभिमानी जीवात्मा को क्रमश परब्रह्म के तीन पाद—वैश्वानर, तैजस और प्राज्ञ—माना है। किन्तु यह ठीक नही है। वास्तव मे यह सब परब्रह्म परमात्मा का ही वर्णन है। उसके चार पादो की कल्पना केवल उसका तत्त्व समझाने के लिए ही की गई है। वस्तुत अवयवरहित परमात्मा के कोई भाग या पाद नही है। जो पूर्णब्रह्म परमात्मा स्थूल जगत् मे परिपूर्ण है, वे ही सूक्ष्म जगत् और कारण-जगत् के अन्तर्यामी और अधिष्ठाता भी है तथा वे ही इन सबसे अलग निर्विशेष परमात्मा है। वे सगुण भी है, निर्गुण भी, साकार भी है निराकार भी। इसी से माण्डूक्योपनिषद् के सप्तम मंत्र मे उन्हे अचिन्मय और अव्यपदेश्य कहकर उसे हमारी बुद्धि और तर्क से सर्वथा अतीत घोषित किया गया है : "नेति नेति कहि वेदि पुकारी।"

[१९५३ में आकाशवाणी से प्रसारित वार्ता]

५. पाणिनीय व्याकरण की वर्णमाला

सस्कृत-वाङमय के इतिहास के अवलोकन से विदित होता है कि प्राचीन काल से ही शब्दविज्ञान तथा अक्षरविज्ञान के सम्बन्ध मे विमर्श का प्रारम्भ हो चला था। वैदिककाल के सहिता तथा ब्राह्मणग्रन्थो मे प्राप्त मूलभूत कतिपय बीज-रूपात्मक निर्देशो का उल्लेख छोड दिया जाय तो भी यह नि सन्देह पूर्वक कहा जा सकता है कि वर्णमाला और सन्धि के मूल सिद्धान्त उस समय अज्ञात नही थे। ऐतरेय आरण्यक मे व्यञ्जन, ऊष्मन् तथा स्वर आदि पारिभाषिक शब्दो का स्पष्ट उल्लेख है। तैत्तिरीय आरण्यक मे अक्षर, उच्चारणकाल, प्रयत्न, स्वर तथा सहिता पर प्रकाश डाला गया है। आगे चलकर तो इन्ही विषयो पर स्वतत्र ग्रन्थ लिखे गये। आज वैदिक-वाङमय मे भिन्न-भिन्न प्रातिशाख्य तथा शिक्षा ग्रन्थ उपलब्ध है, जिनमे अक्षर विज्ञान तथा सहिताविज्ञान पर ऐसी परामर्शपूर्ण विवेचना की गई है कि आधुनिक युग के पाश्चात्य विद्वान् भी हमारे पूर्वजो की कुशाग्रबुद्धि तथा वैज्ञानिक प्रतिभा की मुक्तकण्ठ से प्रशसा करते है। प्राचीन प्रातिशाख्यकाल से ही अविच्छिन्न रूप से प्रचलित देवनागरी वर्णमाला के सम्बन्ध मे मैक्डानेल ने कहा है कि 'सस्कृत वर्णमाला शुद्ध वैज्ञानिक सिद्धान्तो पर बनाई गई है। इस प्रगति और सशोधन के वैज्ञानिक युग मे भी आज यूरोप मे अपूर्ण, वर्णसकरी और भद्दी वर्णमाला काम मे लाई जाती है' इस पर आश्चर्य प्रकट किया है।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है आजकल की प्रचलित वर्णमाला की रूपरेखा प्रातिशाख्य तथा शिक्षाकाल मे निश्चित की गई थी। भिन्न-भिन्न प्रातिशाख्यो और शिक्षा-ग्रन्थो के तुलनात्मक अध्ययन से पता चलता है कि लगभग सभी ग्रन्थो मे स्थूल रूप से यही वर्णमाला देखी जाती है। जैसे, पहिले स्वर-समानाक्षर (ह्रस्वदीर्घ के क्रम से) तब सन्ध्यक्षर-अनन्तर ५ वर्ग (कवर्गादि)-मुखविवर के भीतरी भाग की ओर से बाहरी भाग की ओर के क्रम से—, अनन्तर अन्त स्थ (य र ल व), बाद मे ऊष्मन्। इस तरह से स्थूल रूप मे प्राय वर्णमाला का रूप वही बना हुआ है। कुछ थोडे से भेद—जो महत्वपूर्ण नही है—निम्नलिखित है। अनुस्वार और विसर्ग, जिह्वामूलीय और उपध्मानीय को—जिन्हे अयोगवाह सज्ञा दी गई है[1]—वर्णमाला के अन्त से हटाकर स्वरो के अन्त मे स्थान दिया गया है जैसे ए ऐ ओ औ अ अ (जिह्वामूलीय ᳵक और उपध्मानीय ᳵप निकाल दिये गये है)। दूसरा मुख्य भेद यह है कि स्वरो की श्रेणी से प्लुत निकाल दिये गये है और ऌ भी धीरे-धीरे वर्णमाला से पदच्युत हो रही है। ए, ओ ऐ औ के स्थान

१. अयोगवाहा विज्ञेया आश्रय स्थान भागिनः।

मे ए ऐ ओ औ का उच्चारण होता है। इस तरह से थोडे से आवश्यक हेर फेर कर लगभग ६५ वर्णों की[1] वर्णमाला के स्थान मे ४६ वर्णों की वर्णमाला आजकल प्रयोग मे आती है।

सक्षेप मे भूमिका रूप से भारत की राष्ट्रीय वर्णमाला की चर्चा कर अब हम प्रकृत विषय का विवेचन करेगे। कई प्रातिशाख्यो के कुछ उत्तरकालीन अशो को छोडकर—जो सम्भवत बाद मे जोड दिये गये हो—यह तो निर्विवाद सिद्ध है कि प्रातिशाख्य ग्रन्थो का अधिकाश या कम से कम उनका प्रतिपाद्य विषय पाणिनि पूर्वकालीन है, क्योकि प्रातिशाख्यो के विषय का सम्बन्ध साक्षात् वैदिक वाङमय से है और शिक्षा ग्रन्थो की तरह वे वेदाङ्ग माने जा सकते है। भाषा, विषय प्रतिपादन शैली और पारिभाषिक शब्दो के रूप तथा प्रयोग के आधार पर भी यही निष्कर्ष निकलता है। फिर भी पाणिनीय व्याकरण मे एक स्वतन्त्र वर्णमाला—प्रत्याहार सूत्रो के रूप मे—पाई जाती है। इस प्रत्याहारीय वर्णमाला का क्या वैशिष्ट्य है, किन कारणो से इसमे परिवर्तन किये गये है, कहाँ तक इस वर्णमाला से पाणिनीय शास्त्र की व्यवस्था अक्षुण्ण बनी रहती है और पाश्चात्य विद्वान Hannes Sköld की क्षोद-क्षेमकल्पना तथा विश्लेषणात्मक विचार प्रवृत्ति से १४ प्रत्याहार सूत्रो मे भिन्नकालीनत्व दिखाना कहाँ तक अनुचित है—इसका विचार हम आगे करेगे।

पहिले तो इन प्रत्याहार सूत्रो के रचयिता के सम्बन्ध मे Dr Paul Thieme (Gottıuyen) के मत की आलोचना करनी चाहिये। इसमे सन्देह नही कि पाणिनि निर्मित अष्टाध्यायी से इन प्रत्याहार सूत्रो का परम घनिष्ठ सम्बन्ध है—उपजीव्य-उपजीवक भाव। पाणिनीय शास्त्र मे प्रवेश के लिए उनका जानना नितान्त आवश्यक है। अत प्रतीत होता है कि वे पाणिनि निर्मित अष्टाध्यायी के मुख्य मूलभूत अङ्ग है। यदि अष्टाध्यायी के लिए तदङ्ग स्वरूप उनकी रचना न की गई हो तो प्राचीन काल से प्रचलित प्रातिशाख्य तथा शिक्षा मे प्रतिपादित वर्णमाला के स्थान मे उसकी क्या आवश्यकता थी ? वर्गों का क्रम क्यो तोड़ा गया ? हकार को दो बार क्यो स्थान दिया गया ? इन्ही बातो का विचार कर Dr. Paul Thıeme का कहना है कि पाणिनि[2] इन प्रत्याहार सूत्रो के रचयिता है। और ऐसा न मानना बिलकुल अनर्गल है। 'अष्टाध्यायी और प्रत्याहार सूत्रो के मौलिक सम्बन्ध और परस्पराश्रयभाव का उदाहरण अन्यत्र कहाँ मिलेगा—जहाँ अवयव का अवयवी के साथ इस तरह से अयुतसिद्ध का सम्बन्ध पाया जाता हो।'

किन्तु इस मत के मानने मे कई आक्षेप है। व्याकरण शास्त्र के परम्परागत अध्ययन के अनुयायी विद्वानो के मतानुसार यह मत सम्प्रदाय विरुद्ध है। प्रत्याहार सूत्रो को माहेश्वर कहा गया है पाणिनीय नही। माहेश्वराणि सूत्राणि के अर्थ का विवेचन हम आगे करेगे। यहाँ सक्षेप से इतना ही प्रतिपाद्य है कि व्याकरण-शास्त्र के अध्ययन की साम्प्रदायिक परम्परा भारत मे

---

१. वाजसनेयि प्रातिशाख्य में लिखित।

२. Pānını & The Veda—Studies in the early hıstory of lınguıstıc scıence ın Indıa by Dr. Paul Thıeme. देखिए पृष्ठ १०९।

अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित रही है—वहाँ इस बात की कल्पना नही की जा सकती कि पाणिनि-निर्मित प्रत्याहार सूत्रो को माहेश्वर भ्रमवश कहा गया हो। जिस सम्प्रदाय परम्परा के अनुसार पाणिनि मुनि को जाम्बवती विजय काव्य तक का—सम्भवत नाम सादृश्य भ्रमवश—रचयिता कह डाला गया है, जिसमे 'आगोपालाङ्गन प्रसिद्ध पाणिनेर्यश' कह कर पाणिनि के सम्बन्ध मे सबकी जानकारी सूचित कर पाणिनि की कीर्तिपताका को ऊँचा उठाने का प्रयत्न किया गया है, उसी परम्परा मे 'येनाक्षर समाम्नायमधिगम्य महेश्वरात्। कृत्स्न व्याकरण प्रोक्त तस्मै पाणिनये नम' कहकर पाणिनि की कुशाग्रबुद्धि और प्रतिभा को प्रत्याहार रचना मे असमर्थ कहना आश्चर्यावह नही तो क्या है?

दूसरा आक्षेप यह है कि पतजलि के समय मे भी—बाद की परम्परा को छोड दीजिये—प्रत्याहार सूत्रो को पाणिनिनिर्मित अष्टाध्यायी का अङ्ग नही माना गया है। अष्टाध्यायी के प्रथम सूत्र 'वृद्धिरादैच्' की व्याख्या करते हुये महर्षि पतजलि कहते हैं कि उद्देश्य विधेय क्रमानुसार 'आदैच्' पद को न रख कर पाणिनि ने प्रारम्भ मे मगलार्थ वृद्धि शब्द रक्खा गया है। दूसरी बात यह भी है कि यदि प्रत्याहार सूत्र भी पाणिनिकृत होते तो उनके भी प्रारम्भ मे कोई मङ्गल दिया जाता।

तीसरा आक्षेप यह है कि पाणिनि-प्रणीत ग्रन्थो की सूची मे समस्त व्याकरण-शास्त्र के मूलभूत तथा महत्त्वपूर्ण प्रत्याहार सूत्रो का उल्लेख नही है।[1]

किन्तु इन आक्षेपो पर समुचित ध्यान देते हुए भी Dr Paul Thieme के मत का सम्पूर्ण निराकरण नही होता है। अष्टाध्यायी की प्रतिपादन पद्धति ही मे प्रत्याहार सूत्रो का स्वारस्य है, इसमे सन्देह नही। किन्तु उत्तरकालीन परम्परागत कथा मे इन्हे माहेश्वर क्यो कहा गया? पाणिनीय व्याकरणतन्त्र मे इन प्रत्याहार सूत्रों की महत्ता पहले ही से विदित थी। महाभाष्य मे इन्हे 'वाक्समाम्नाय' तथा 'ब्रह्म राशि'[2] शब्दो से सम्बोधित किया गया है। पाणिनीय शिक्षा के परकालीन सस्करण के ऊपर उद्धृत श्लोक मे इन्हें महेश्वर प्रोक्त अक्षर-समाम्नाय शब्द से स्मरण किया गया है। क्या इससे यह ध्वनित नही होता है कि ये प्रत्याहार सूत्र पाणिनि पूर्वकाल मे प्रचलित थे। भर्तृहरि[3] ने तो यहाँ तक कहा है कि 'इस अक्षर-समाम्नाय का कोई निर्माता नही है, वेद मे अनादि परम्परा से उनका स्मरण होता आया है।' आगे चलकर इन प्रत्याहार सूत्रो की महत्ता और पवित्रता इतनी बढी कि माहेश्वर का अर्थ शम्भुदत्त (शिव

---

१. अष्टकं गणपाठश्च धातुपाठस्तथैव च। लिङ्गानुशासन शिक्षा पाणिनीया अमी क्रमात्।...यहाँ क्रमात् पद ध्यान देने योग्य है। आजकल की उपलब्ध शिक्षा के भी—जो सम्पूर्ण रूप से पाणिनिकृत नहीं हो सकती, क्योंकि आदि अन्त में पाणिनि पद का अन्य पुरुष के रूप में प्रयोग हुआ है—२ संस्करण है (२१ श्लोक वाली और ५९ श्लोक वाली) प्रथम सम्भवतः पाणिनिकृत है। —ह० प्र० शास्त्री

२. द्वितीय आह्निक के अन्त में। ब्रह्मप्रतिपादक वर्णराशि।

३. देखिए, उद्योत टीका—महाभाष्य के द्वितीय आह्निक के अन्त में।

प्रसाद लब्ध) किया जाने लगा—यहाँ तक कि प्रत्याहार सूत्रो को शिवसूत्र कहा जाने लगा। नन्दिकेश्वर कृत कारिका मे तो यह स्पष्ट कहा गया है[1] कि नटराज शम्भु-महेश्वर के १४ बार डमरुनाद से इन १४ प्रत्याहार सूत्रो की उत्पत्ति हुई। पाणिनि ने इनका विमर्श कर व्याकरण शास्त्र रचा और सनकादि सिद्धो ने इनका आध्यात्मिक अर्थ निकाल कर मोक्षलाभ किया। फलत आध्यात्मिक अर्थ दिखाने के लिये २६ कारिकायें नन्दिकेश्वर ने लिखी—जो उममन्युकृत तत्त्वविमर्शिनी नामक टीका के साथ निर्णयसागर प्रेस मे छपे महाभाष्य के सस्करण (भाग १) मे टिप्पणीरूप से छपी है।

किन्तु इस कल्पित उपाख्यान के आवरण मे भी सत्य का तत्त्व तिरोहित नही हुआ है। भारतीय कथावाङमय मे इसी प्रकार सत्य का तत्त्व सुवर्णपात्र से ढका हुआ है। ऐसे उपाख्यानो मे केवल कल्पना ही नही है, बल्कि एक उद्देश्य का प्रतिपादन किया जाता है। पाणिनि, कात्यायन को समकालीन कहने वाली[2] कथा मे उन दोनो आचार्यो की कृतियो का विशिष्ट सम्बन्ध दिखाया गया है अर्थात् सूत्र और वार्तिक परस्पर पूरक है, भिन्न नही। अजले. पतित पतजलि ऐसा अर्थ कर पाणिनि और पतजलि को समकालीन समझने वाली कहानी का भी यही उद्देश्य है और उससे महाभाष्य की अपूर्णता पर प्रकाश पडता है।[3] अविदितगतयामा रात्रिरेव व्यरसीत् मे अनुस्वार निकालने के लिए कालिदास की सम्मति दिखाने वाली कथा मे क्या यह विशिष्ट उद्देश्य नही है कि कालिदास की कवित्व प्रतिभा भवभूति से चढी-बढी थी? इसी तरह नैषधचरित महाकाव्य के सम्बन्ध मे मम्मट की यह उक्ति से कि यदि कुछ दिन पहिले यह ग्रन्थ देखने को मिलता तो कविता मे सभावित दोषो के उदाहरण देने के लिए मुझे कष्ट न उठाना पडता—क्या नैषध चरित की मीठी चुटकी नही ली गई है? साराश यह कि प्रत्याहार सूत्रो के सम्बन्ध मे महेश्वरप्रोक्त का महेश्वर प्रसाद लब्ध अर्थ करने वाली इस कथा मे भी परोक्ष रूप से यह ऐतिहासिक तत्त्व निहित है कि पाणिनि पूर्वकाल मे महेश्वर नामक किसी प्रसिद्ध वैयाकरण के द्वारा व्याकरणतन्त्र मे व्यवहृत करने के लिये रचित वर्णमाला का आश्रय लेकर पाणिनि ने अपना ग्रन्थ रचा है। पाणिनि व्याकरण शास्त्र के सर्व प्रथम प्रवर्तक नही है, यह परम्परा से भी सिद्ध है।[4] स्वरचित अष्टाध्यायी मे स्वय पाणिनि ने १० पूर्वाचार्यों के मत का नाम लेकर निर्देश किया है, इससे भी यही प्रतीत होता है। आधुनिक सशोधक

---

१. वृत्रावसाने नटराज राजो ननाद ढका नव पञ्चवारम्। उद्धर्तुं कामः सनकादि सिद्धाने तद्विमर्शे शिव सूत्र जालम्। १ कारिका।

२: देखिए, हरचरितचिन्तामणि (२७ अ०)।

३: पाणिनिः—कोर्भवान्, पतंजलिः सप्योऽहम् रेकः क गतः १। तव मुखे।
यन्मयोक्तं तत्त्वया न वक्तव्यं, यच्च मयात्तोक्तं तत्त्वया वक्तव्यम्।
—ल० श० शेखर on अचोन्त्यादिटि for विग्रह only।

४. इन्द्रश्चन्द्रः काशकृत्स्नाविशली शाकटायनः। पाणिन्य मर जैनेन्द्रा जयन्त्यष्टौ च शान्दिकाः।

विद्वानो ने व्याकरण-शास्त्र के अन्तरङ्ग की साङ्गोपाङ्ग परीक्षा कर यह दिखा दिया है[1] कि व्याकरण-शास्त्र की प्रक्रिया मे—जैसे प्रत्याहार निर्माण, अनुबन्ध निर्देश, कृत्रिम सज्ञा विधान आदि मे—आचार्य पाणिनि की अपूर्व मौलिकता नही है। तत्काल प्रचलित शास्त्र रचना-पद्धति के अनुसार सूत्र शैली का अनुसरण कर पाणिनि ने अपना ग्रन्थ बनाया और उसमे उन्होने महेश्वरकृत प्रत्याहारोपयोगिनी वर्णमाला को आधार मान कर अपने शास्त्र की प्रतिष्ठा की। इसमे सन्देह नही उन्होंने सुविधा तथा आवश्यकता के अनुसार परिमार्जन तथा सुधार भी किये होगे। किन्तु उस महेश्वरकृत वर्णमाला मे पाणिनि ने अपनी ओर से कुछ परिवर्तन किये या नही ? यदि किये तो क्या परिवर्तन थे ? इसका सोपपत्तिक उत्तर देना—वर्त्तमान उपलब्ध सामग्री के बल पर—असम्भव है। अपनी अलौकिक प्रतिभा के बल पर व्याकरणतन्त्र को जो साङ्गोपाङ्ग तथा वैज्ञानिक रूप पाणिनि ने दिया, उससे न केवल परकालीन आचार्य किन्तु पूर्वाचार्य भी विस्मृतिगर्भ मे विलीन हो गये है।

पाणिनीय व्याकरण की वर्णमाला के रचयिता के सम्बन्ध मे अपने विचार प्रकट कर अब हम वर्णमाला की ओर प्रवृत्त होते है। यह बात प्रत्यक्ष सिद्ध है कि यह प्रत्याहारस्थ वर्ण-माला व्याकरण पढने वालो के लिये है। प्रारम्भिक श्रेणी के बालको के लिए नही है। क्योकि इसमे अ, इ, उ के दीर्घ रूपो का निर्देश नही है, प्रसिद्ध पाँचो वर्गों को तोडकर प्रथम द्वितीय आदि अक्षर–प्रत्येक वर्ग के–एक साथ रक्खे गये, किन्तु उस अक्षर विन्यास मे एक क्रम नही है, ह् वर्ण को दुहराया गया है तथा प्रत्येक सूत्र के अन्त मे इत्सज्ञक-अनुपयोगी-अनुबन्धो का प्रयोग किया गया है। हम पहिले ही कह आये है कि पाणिनि के काल मे तथा उसके पूर्व और उत्तर काल मे एक दूसरी सरल वर्णमाला प्रचलित थी। तो भी लाघव और वैज्ञानिक विषय प्रतिपादन का ध्यान रखकर इस नवीन वर्णमाला का आश्रय किया गया है। जहाँ तक सम्भव हो सक्षिप्तातिसक्षिप्त रूप मे—गागर मे सागर भरने का स्तुत्य प्रयत्न किया गया है,[2] क्योकि 'अर्धमात्रा-लाघवेन पुत्रोत्सव मन्यन्ते वैयाकरणा ।' वर्णो के विन्यास क्रम मे मनमानी घरजानी नही है, यदृच्छा का प्रयोग नही है, किन्तु कार्यकारण विवेचनपूर्वक सोपपत्तिक वर्णविन्यास किया गया है। अन्तस्थ (यरलव) वर्णों को स्वर और व्यञ्जन के बीच मे रख कर उनकी अन्तःस्थता कायम रक्खी गई है। अस्तु,

प्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान Hannes Skold ने[3] आशका प्रकट की है कि अन्तिम सूत्र 'हल' बाद मे जोडा गया है। यदि Skold का यह अभिप्राय है कि पाणिनि के बाद यह सूत्र जोडा गया है, तो उनका यह मत अत्यन्त भ्रमपूर्ण है। क्योकि पाणिनीयतन्त्र मे आदि और अन्त मे हकार लिखने की आवश्यकता सिद्ध है—ताकि अट् तथा शल् दोनो प्रत्याहारो मे हकार की गणना

---

१. चतुर्थ ओरियंटल कांफ्रेंस के निबन्ध संग्रह में डा० शास्त्री का निबन्ध देखिए।

२. जैसे अच् कहने से सब स्वरों का बोध होता है।

३. 'Papers on Pānini and Indian Grammar in General' नामक पुस्तक देखिए, पृष्ठ १७-२२।

हो सके। ह् को शषस के साथ 'शषसहर्' पढ सकते थे यह भी Skold साहेब कहते हैं। किन्तु वे यह भूल जाते है कि शर् प्रत्याहार मे हकार का समावेश होने से अनिष्ट स्थिति उत्पन्न हो जायगी।'[1]

प्रत्याहार सूत्रो मे ण का दो बार इत्सञ्ज्ञक अनुबन्ध के रूप मे प्रयोग किया गया है। इससे यह सन्देह हो सकता है कि कहाँ किस णकार से प्रत्याहार का ग्रहण किया जाय—किन्तु भाष्यकार पतजलि ने सब सभव आक्षेपो का समाधान कर निर्णय दे दिया है[2] कि कहाँ पर किस णकार से प्रत्याहार माना जाय। प्रचलित प्रणाली मे पाणिनि कम से कम हेर-फेर करना चाहते थे, इसी से उन्होने दूसरे ण के स्थान मे अन्य कोई वर्ण अनुबन्ध रूप से नही रक्खा है। किन्तु Skold महोदय का यह कहना—कि भारतीय वर्णमाला मे पहिले 'ल' ध्वनि नही थी, अत: छठा प्रत्याहार सूत्र 'लण्' बाद मे जोड़ा गया है—भ्रममूलक प्रतीत होता है। ऋग्वेद के प्रारम्भिक काल की वर्णमाला मे (Phonological system) ल रहा हो या न रहा हो इससे हमे यहाँ सम्बन्ध नही है। हमारा केवल यह कहना है कि पाणिनि ने जब प्रत्याहार सूत्रो को अपने शास्त्र मे स्थान दिया तो ल ध्वनि अवश्य प्रचलित थी और 'लण्' सूत्र बाद मे नही जोडा गया है। ल को अन्य अन्त स्थो के साथ पढने से—हयवरलट्—काम नही चलेगा, क्योकि अट् प्रत्याहार मे ल का समावेश अवाञ्छनीय है।[3]

इसी तरह आगे चलकर Skold महोदय प्रत्याहारीय वर्णमाला मे सुधार कर सूत्रो की सख्या मे कमी करना चाहते हैं। उनका कहना है 'झभञ्' सूत्र का ञ् केवल एक 'यञ्' प्रत्याहार बनाने के लिये है और उस यञ् प्रत्याहार का केवल एक ही बार प्रयोग आया है—अतो दीर्घो यञि (७।३।१०१) से पचामि पचाव: पचाम: मे दीर्घ करने के लिए। किन्तु उस सूत्र मे यम् प्रत्याहार पढने से भी काम चल सकता था, क्योकि प्रत्याहार वहाँ केवल मिवस् और मस् प्रत्यय के समावेश के लिये है। इस युक्ति को सामने रखकर Skold महोदय कहते है कि 'झभञ्।' 'घढधष्।' इन दो सूत्रों को मिलाकर 'झभघढधष्' पढना चाहिये—इस क्रम मे वर्गीय चतुर्थ अक्षर सब एक सूत्र में आ जायेंगे—जैसे जबगडदश प्रत्याहार सूत्र मे वर्गीय तृतीय अक्षर और 'ञमङणनम्' मे पञ्चम अक्षर एक साथ आ गये हैं। स्थूल दृष्टि से देखने पर Skold साहेब का मन्तव्य उचित प्रतीत होता है और पाणिनि की सूक्ष्मदृष्टि और दूरदर्शिता मे सन्देह उत्पन्न होता है। किन्तु वास्तव में वस्तुस्थिति बिलकुल विपरीत है। 'अतोदीर्घो यञि'[4] सूत्र का यञि पद अनुवृत्ति से 'सुपि च'[5] सूत्र मे जाता है—यमि पाठ करने से रामाभ्याम् में दीर्घ असम्भव हो जायगा, क्योकि भ्याम् का भकार यम् प्रत्याहार के अन्तर्गत नही है। अत. यञ् प्रत्याहार मानना पड़ेगा और 'झभञ्' सूत्र अलग रखना ही होगा।

---

१. अर्हणा में ह (यर्) को अचोरहाभ्यां द्वे सूत्र से द्वित्व हो जायगा।
वाशरि—रामो हसति। ङणोः कुक्टुक शरि (प्राङ्हालिकः)।

२. देखिए, महाभाष्य 'लण्' सूत्र पर।

३. 'सरलेन' में 'अट्कुप्वाङ्नुम् व्यवायेऽपि' सूत्र से णत्व हो जायगा।

४. ७।३।१०१। ५. ७।३।१०२।

प्रत्याहारस्थ वर्णमाला का व्याकरण-शास्त्र मे समावेश उसकी उपयोगिता को लक्ष्य में रख कर किया गया है। वर्णो के विन्यास मे पौर्वापर्य के क्रम को महत्त्व नही दिया गया है। ञमङणनम्। झभञ्। घढधष। जबगडदश्। इन सूत्रो मे वर्गीय अक्षरो का जो क्रम दृष्टि-गोचर होता है वह आगे के सूत्रो मे खफछठथचटतव्। मे नही है। न यही प्रयत्न किया गया है कि एक कोटि के वर्गीय अक्षर एक सूत्र मे एक साथ रक्खे जायँ—क्योकि हम देखते हैं कि चतुर्थाक्षर दो सूत्रो मे बाँट दिये गये है और वर्गीय द्वितीयाक्षर कुछ प्रथमाक्षरो के साथ-रक्खे गये है। यह सब अक्षरक्रम सोपपत्तिक प्रयोजनवश तथा कारणमूलक है। इनमे थोडा सा भी अदलबदल करने से अनिष्टापत्ति आ पडती है और असमाधेय शकाये उठ खडी होती है। हमारे आचार्यों ने ऐसी व्यवस्था के अनुसार वर्णों का विन्यास किया है कि उसमे विश्लेषण की—क्षोदक्षेम की—बिलकुल गुजाइश नही है। इस वर्णमाला को touch-me-not (छुई मुई—लाजवन्ती) की लता समझना चाहिये। क्या ही अच्छा हो यदि पाश्चात्य विद्वानो को भी यह प्रतीत होने लगे। Skold महोदय का यह कहना है कि पञ्चम, चतुर्थ तथा तृतीय अक्षरो की तरह द्वितीयाक्षर समूह मे—खफछठथचटतव् मे—ख और छ के बीच लिपि मे लेखन साम्य के कारण स्थान परिवर्तन हुआ है—कितना उपहासास्पद है। पहिले तो लिपि मे ख और छ का लेखन साम्य की कल्पना ही प्रमादपूर्ण है, क्योकि खरोष्ठी तथा ब्राह्मी—भारत की दोनो प्राचीनतम लिपियो मे यह सादृश्य नही है। व्याकरण सम्बन्धी अन्य कठि-नाइयो का ठिकाना ही नही रहेगा यदि खफछ के स्थान मे छखफ पढ़ा जाय।[१]

फिर भी शास्त्रीय प्रक्रिया को निभाते हुए जहाँ तक सम्भव हो सका है, प्रत्याहारीय वर्णमाला मे एक क्रम, पद्धति या पौर्वापर्य दृष्टिगोचर होता है। स्वर और अन्तस्थो के अनन्तर वर्गीय स्पर्श वर्णों का एक क्रम से विन्यास किया गया है—पहिले मुखनासिकोद्भव पञ्चमवर्ण—फिर मुखोद्भव। उनमे भी पहिले सघोष महाप्राण-चतुर्थ अक्षर फिर सघोष अल्पप्राण–तृतीय अक्षर। तदनतर अघोष महाप्राण–द्वितीय अक्षर। फिर अघोष अल्पप्राण अक्षर। अन्त मे उस्मन् वर्णों का–शषसह–विन्यास कर वर्णमाला समाप्त की गई है।

अ, इ, उ, ऋ के दीर्घरूप के सम्बन्ध मे Skold महोदय की विचित्र और भ्रमपूर्ण युक्ति का निर्देश कर हम इस निबन्ध को समाप्त करेंगे। जैसे वर्गस्थ वर्णों के ज्ञान के रहते भी प्रयोजनवश वर्गों का और वर्गीय वर्णों का क्रमपरिवर्तन करना पडा, वैसे ही लाघव से शास्त्र प्रवृत्ति कराने के लिये तत्तद्दीर्घ रूपो का निर्देश न कर तत्प्रतिनिधिभूत ह्रस्व वर्णों का प्रयोग किया गया है। और 'अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्यय.' सूत्र के बल पर ह्रस्व अ से ही अकार के अट्ठा-रह रूपो का बोध कराया गया है।

अपनी विश्लेषणात्मक प्रवृत्ति के वशीभूत हो Skold महोदय कहते हैं कि 'पूर्वकालीन

---

१. खरोष्ठी ख 4 छ J ब्राह्मी ख 33 छ ർ ർ
नश्छव्यप्रशान्—भवांश्छादयति, भवांश्चिनोति भवाष्टीकते, भवांस्तरति। किन्तु भवान् करोति, पठति, खनति-फलति। ये प्रयोग अभीष्ट है।

शिलालेखो मे दीर्घस्वर के चिह्न नही पाये जाते है। भारत मे बूलर के मतानुसार लेखनकला सेमेटिक लोगो से सीखी गई थी। सेमेटिक लिपि मे दीर्घ निर्देशक चिह्न नही थे। फलत भारत की प्राचीन वर्णमाला मे दीर्घस्वर न होने के कारण प्रत्याहार सूत्रो मे भी दीर्घस्वर नही दिये गये है।[१]

इस मत के विरोधी उत्तर मे यह कहा जा सकता है कि

(१) भारतीय लिपि—उत्तर भारत की वर्तमान सब लिपियो की जन्मदात्री ब्राह्मी लिपि—विदेशीय नही है। आधुनिक संशोधन विशारदो की दृष्टि मे बूलर के मत का कोई महत्त्व नही है। आशुतोष जुबिली Volume मे डी० आर० भाडारकर तथा चतुर्थ ओरियटल कांफ्रेस के निबन्ध सग्रह मे डा० तारापुरवाला के लेख प्रमाण स्वरूप देखे जा सकते है। हरप्पा और माहेजोदडो मे प्राप्त सलि की खोज के बाद तो इस विषय मे सन्देह ही नही रह गया है।[२]

(२) प्राचीनतम काल से स्वर के दीर्घ रूपो का भारत मे प्रचार है—वेद मे दीर्घस्वर ह्रस्वस्वरों से सर्वथा विभिन्न देखे जाते हैं।

(३) अष्टाध्यायी मे दीर्घ प्लुत आदि सज्ञाओ की परिभाषा दी गई है।[३] और तपरस्तत्कालस्य सूत्र के बल पर सतपरनिर्देश से दीर्घप्लुत रूपो का प्रत्याक्षेप किया गया है।

(४) अशोककालीन ब्राह्मी लिपि के शिलालेखो मे दीर्घ चिह्न पाये जाते है। खरोष्ठी लिपि के शिलालेखो मे ह्रस्वदीर्घ का भेद नही है यह सत्य है, किन्तु यह लिपि सुदूर पश्चिमोत्तर प्रान्त मे प्रचलित थी और सेमेटिक लिपि से प्रादुर्भूत होने के कारण विदेशीय लिपि है और इसका भारतीय वाङमय से साक्षात् सम्बन्ध नही है। सोहगौरा ताम्रपत्र और पिपराँवा पात्र के लेख मे दीर्घ चिह्नों के अभाव का कारण अक्षर उत्कीर्ण करने वाले की अज्ञता है, क्योकि उनमे दीर्घचिह्नो की तरह सयुक्ताक्षरो का भी प्रयोग नही किया गया है।

निष्कर्ष यह है कि प्रत्याहारस्थ वर्णमाला को देखकर तत्कालीन वर्णमाला के सम्बन्ध मे अनुमान करना तर्कपूर्ण नही है। प्रत्याहारसूत्रो का उद्देश्य प्रचलित वर्णों का निर्देश नही है, उनका एक विशिष्ट उद्देश्य है—वह यह कि सक्षिप्तातिसक्षिप्त रूप मे व्याकरण-शास्त्र व्यवहारोपयोगी वर्णों का एक क्रमविशेष के साथ उपन्यास। प्रत्याहारसूत्रों की वर्णमाला मे विश्लेषणात्मक क्षोदक्षेम करना तथा भिन्नकालीन स्तरो की उपहासास्पद कल्पना करना अवाञ्छनीय और अनधिकार चञ्चुप्रवेश है।

[मध्यप्रान्त संशोधन मण्डल के द्वितीय वार्षिकोत्सव के अवसर पर पठित]

---

१. 'In the inscriptions of Sakiya Tope find' **यह स्कोल्ड साहब की शब्दावली है।**

२. संभलपुर विस्तृत शिलालेख की लिपि के० पी० जायसवाल के मतानुसार—सिन्धु उपत्यका संस्कृति की लिपि तथा अशोककालीन ब्राह्मी लिपि के मध्य की है।

३. ऊकालोऽज्झ्रस्व दीर्घप्लुतः।

६. पाणिनि का शब्द-भाण्डार

पातजल महाभाष्य के प्रथम आह्निक मे कहा गया है कि "जैसे, यदि किसी मनुष्य को घडे की जरूरत है तो वह कुम्हार के पास जाता है और कहता है कि 'हे कुम्हार ! मेरे लिये घडे बना दो।' उसी तरह अपने भावो के प्रकाशन के लिये आवश्यकता का अनुभव कर कोई भी व्यक्ति वैयाकरण के पास जाकर यह नही कहता है कि 'मेरे लिये शब्द गढ दो'।" इस सरल, मनोरजक किन्तु अर्थ-गर्भित अवतरण मे पतजलि ने भाषाविज्ञान के एक महत्त्वपूर्ण सिद्धात का प्रतिपादन किया है। उसका तात्पर्य यह है कि वैयाकरण का काम शब्दो का गढना नही है। शब्द समाज मे स्वतन्त्र रूप से प्रचलित होते है। व्याकरण निर्मित कृत्रिम भाषा का प्रचार असमव है। व्याकरण का कार्य शब्दानुशासन है, शब्द शासन नही। भाषा का प्रवाह स्वाभाविक है, वह स्वय विकसित होती है, फूलती है, फलती है। वैयाकरण और भाषाशास्त्र विशारद अपनी कल्पना से एक बिलकुल नई भाषा का निर्माण नही कर सकते है। डा० जैमेन्-ह्राफ (१८५९-१९१७) द्वारा प्रचारित एस्पेरेंटो (Esparanto) भाषा का प्रारम्भ ही मे मुरझा जाना इसी सिद्धान्त का समर्थन करता है।

इस स्वत-सिद्ध सिद्धान्त को दृष्टि मे रखकर हम पाणिनिकालीन वाङ्मय के सम्बन्ध मे कुछ विचार करेगे। अष्टाध्यायी सदृश लघुग्रन्थ मे आचार्य पाणिनि ने स्वकाल प्रचलित वाङ्मय के व्याकरण की रचना कर वास्तव मे गागर मे सागर भर दिया है। इस विषय मे पाश्चात्य विद्वानो ने भी पाणिनि की मुक्त कठ से प्रशसा की है। साथ ही साथ कुछ सशोधको का यह भी कहना है कि पाणिनि ने एक कृत्रिम भाषा—जो तत्काल प्रचलित नही थी—गढकर उसका व्याकरण अष्टाध्यायी मे दिया है, किन्तु आधुनिक सशोधन के आधार पर यह नि सन्देह कहा जा सकता है कि इस मत मे तथ्य नही हैं। सशोधन युग के प्रारभ काल मे यह भले ही कहा जाता[1] रहा हो कि रामायण और महाभारत प्राकृत भाषा ग्रन्थो के सस्कृत रूपान्तर है, तथा सस्कृत भाषा कभी भी बोलचाल की भाषा नहीं थी आदि, किन्तु अब इन मतो की नि·सारता सभी मानने लगे हैं।[2] अतः अष्टाध्यायी के सूक्ष्मावलोकन तथा गभीर अध्ययन से जिस तत्कालीन वाङ्मय के स्वरूप का आभास मिलता है, उसका शब्द-भाण्डार तथा रूपरेखा जानने की इच्छा स्वाभाविक है।

---

१. A. Barth & Grierson (9 A. XXIII)

२. R. S. Bhandarkar (JBRAS. 16. 1885)

आचार्य पाणिनि लौकिक सस्कृत के मुख्यतम वयाकरण माने जाते है। उनके व्याकरण मे विशेष रूप से लौकिक सस्कृत का ही निरूपण किया गया है। वैदिक सस्कृत के व्याकरण का उल्लेख तो अपवाद रूप मे ही पाया जाता है, यह 'बहुल छन्दसि' सूत्र की १२ बार आवृत्ति से ही स्पष्ट है। तब, लौकिक सस्कृत की ग्रन्थराशि मे पाणिनि व्याकरण प्रतिपादित पदो की उपलब्धि होनी चाहिए, ऐसी आशा करना अनुचित नही है। किन्तु इस विषय मे अधिक अन्त-स्तल मे प्रवेश करने पर दूसरी ही बात दिखाई देती है।

पाणिनीय व्याकरण के धातु-पाठ मे—जिसे साधारणतया पाणिनिकृत माना जाता है—लगभग २००० धातुओ का निर्देश है। इन धातुओ से निर्मित पदो के रूप हमे सस्कृत वाङमय मे मिलने चाहिये। किन्तु उपलब्ध सस्कृत वाङमय का आलोडन कर विद्वानों[१] का कहना है कि इन २००० धातुओ मे से केवल लगभग ८५० धातुओ के रूप प्रयुक्त पाये जाते है। उनमे भी केवल लगभग ४५० धातुओ के रूप सस्कृत-वाङमय के वैदिक तथा लौकिक—दोनो युगो मे मिलते है। अवशिष्ट मे से लगभग १५० धातुओ के रूप केवल वैदिक सस्कृत मे तथा लगभग उतनी ही धातुओ के रूप केवल लौकिक सस्कृत वाङमय मे पाये जाते है। इसी प्रकार अति-विस्तार से प्रतिपादित तद्धितान्त तथा कृदन्त पदो के भी अनेक रूप सस्कृत वाङमय मे उपलब्ध नही है। पाणिनीय व्याकरण के उत्तरकालीन टीकाकारो ने अपनी क्षोदच्छेद शीला तीक्ष्ण-बुद्धि के अनुसार पाणिनि सूत्रो के प्रयोग के बल पर कुछ शब्दो के बहुसख्य रूपो की भरमार कर दिखाई है, जैसे[२] (सम् + कर्ता) = सस्कर्ता के सन्धियुत प्रयोग के १०८ रूप, तथा[३] 'गामञ्चति' इस व्युत्पत्ति से निष्पन्न 'गोअञ्च' प्रातिपदिक के—सातो विभक्तियो मे सब जोड कर—५२७ रूप सिद्ध किये गये है। इन रूपो का विचार हम यहाँ नही कर रहे है, तो भी इसमे सन्देह नही कि पाणिनि साधित बहुसख्य कृदन्त और तद्धितान्त पद तथा धातुपाठ की धातुओ के विविध लकारो और प्रक्रियाओ के प्रयोग दृष्टिगोचर नही होते है। किन्तु इससे यह निष्कर्ष नही निकालना चाहिए कि वे पद पाणिनि काल मे भी प्रचलित नही थे। स्वय पतजलि ने 'अस्त्य प्रयुक्त'—इस वार्तिक पर विचार करते हुये कई तिङन्त पदो के विषय मे यह कहा है कि यद्यपि वे प्रचलित प्रसिद्ध वाङमय मे उपलब्ध नही है, तो भी कही न कही उनका प्रयोग अवश्य हुआ होगा। चार वेद, उनकी भिन्न-भिन्न ११३० शाखायें, छह वेदाङ्ग, वाकोवाक्य, इतिहास, पुराण, वैद्यक आदि विस्तृत वाङमय महोदधि मे—तीन लोक और सात द्वीप मे कही न कही—इन पदो की उपलब्धि सम्भव है। इससे यह निश्चित है कि वर्तमान काल की तरह कात्यायन तथा पतजलि के समय मे भी पाणिनि साधित सकल पदो के रूप प्रचलित नही थे। तो भी, इन आचार्यों ने उन पदो के अस्तित्व के विषय मे शका न कर केवल तत्कालीन वाङमय की अपूर्णता की ओर इशारा किया है।

---

१. Whitney · Sanskrit Grammar (Para 102)।

२. भट्टोजी दीक्षित : सिद्धान्तकौमुदी (हल् सन्धि)।

३. वही, (हलन्त नपुंसक लिंग)।

प्रसिद्ध सशोधक Gold Stucker, Winternitz और भाडारकर के मतानुसार, इस विषय का ऊहापोहपूर्वक विचार करने से यही निष्कर्ष निकलता है कि पाणिनिकालीन वाङमय—जिसके आधार पर अष्टाध्यायी बनी है और जो सम्प्रति उपलब्ध नही है—महाभारत से पूर्वकाल का है और वैदिक युग के ब्राह्मण ग्रन्थ—बहुत अशो तक–पाणिनिकालीन भाषा मे लिखे गये है। ऐतरेय, शतपथ आदि ब्राह्मण ग्रन्थो मे पाणिनि साधित रूपो की अच्छी भरमार है। केवल ब्राह्मण ग्रन्थो मे ही यदि उन प्राचीन तिङन्त रूपो का प्रयोग किया जाता होता तो पाणिनि अवश्य उन पदो को 'वैदिक' कह कर सिद्ध किये होते। जैसे 'देवास' की सिद्धि केवल वैदिक सस्कृत के लिए[1] पाणिनि ने की है, लौकिक सस्कृत के लिये तो 'देवा' पद शुद्ध माना है। साराश यह है कि पाणिनि के समकालीन वाङमय मे–जो अभाग्यवश नष्ट हो जाने के कारण आज उपलब्ध नही है–उन प्राचीन पदो का प्रयोग होता था, इसी से पाणिनि ने उन पदो की सिद्धि के लिये नियम बनाये है। कुछ विद्वानो की यह धारणा है कि सस्कृत भाषा का 'सस्कृत' नाम ही यह सूचित करता है कि वह बोलचाल की साधारण 'प्राकृत' भाषा नही बल्कि 'सस्कृत' (सुधारी गई) एक कृत्रिम भाषा है। किन्तु यह युक्ति सप्रमाण नही है, क्योकि स्वकालीन भाषा के लिए 'भाषा' (भाष्यते या सा—जो बोली जाती है) शब्द का प्रयोग पाणिनि ने किया है, तथा वैदिक सस्कृत के लिये 'छन्दस्', 'निगम' या 'मन्त्र' इन शब्दो का प्रयोग किया है। अष्टाध्यायी मे 'सस्कृत' शब्द भाषा के लिये कही भी प्रयुक्त नही हुआ है। बल्कि सस्कृत भक्षा[2] सूत्र मे बनाये गये या पकाये गये भोजन-वाची शब्द के विशेषण रूप मे आया है। भाषा के अर्थ मे 'सस्कृत' शब्द का प्रयोग पाणिनि के अनन्तर उस काल मे हुआ होगा जब बोलचाल की भाषा तथाकथित 'प्राकृत' बन गई थी। दूसरी बात यह है कि अष्टाध्यायी मे उपलब्ध निर्देशो से पता चलता है कि पाणिनि ने–काशी, विदेह, कुरुक्षेत्र और मद्रकेकय–इन सस्कृतभाषी आर्यावर्त के तीन मुख्य केन्द्रो मे से कुरुक्षेत्र की प्रान्तीय भाषा को प्रधान मानकर अन्य दो प्रान्तीय भाषा-केन्द्रो के लिये प्राचाम् और उदीचाम् कह कर सस्कृत भाषा के प्रान्तीय रूप भेदों का निर्देश किया है। यह सस्कृत भाषा के तत्काल प्रचलित होने पर ही सभव हो सकता है। इसके अतिरिक्त बोलचाल की भाषा मे ही प्रचलित होने वाले शब्दो और रूपो की सिद्धि के लिये निर्मित अष्टाध्यायी सूत्र भी (जैसे 'दूराद्धूते च' 'हैहे प्रयोगे हैहयो' 'प्रत्यभिवादे चा शूद्रे' आदि) यही सिद्ध करते है कि पाणिनि की सस्कृत भाषा लोक प्रचलित भाषा थी। कल्पित पदो को मन से गढकर पाणिनि ने अष्टाध्यायी की रचना की, यह मत किसी भी विचारशील विद्वान् को मान्य नही हो सकता है। अस्तु।

उपर्युक्त प्रकार से पाणिनिकालीन–किन्तु अब अनुपलब्ध–एक विस्तृत लौकिक वाङमय का अस्तित्व स्वीकार कर लेने पर एक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक कालनिर्णय का प्रश्न सामने आता है। पाश्चात्य विद्वान् पहिले पाणिनि का काल लगभग ३०० ई० पू० मानते थे

---

१. आज्जसेर सुक (पा० सू० ७।१।५०)।
२. पा० सू० (४।२।१६)।

(जैसे Max Müller, Bohthlink आदि), परतु ज्यो-ज्यो पाणिनि के ग्रन्थो का विशेष अध्ययन किया गया, त्यो-त्यो पाणिनिकाल पीछे ही हटाया गया है। Macdonell ने अपने ग्रन्थ History of Sanskrit Literature मे पाणिनिकाल ३०० ई० पू० मान कर भी अपने बाद के ग्रन्थ–India's Past मे दबी जबान से कहते है कि पाणिनि ५०० ई० पू० से बहुत बाद के नही हैं। Gold Stückar ने अनेक युक्तियो का ऊहापोह पूर्वक विवेचन कर पाणिनि को बुद्धपूर्वकालीन माना था[1] और उसी मत को डा० वेल्वेलकर, सी० वी० वैद्य आदि भारतीय सशोधक विद्वान् भी मानते है। कात्यायन-पतजलिकाल मे पाणिनिकालीन वाङ्मय के अनेक रूप अप्रचलित हो गये थे, यह हम ऊपर कह आये है। पतजलिकालीन सस्कृत आजकल की सस्कृत से भिन्न नही है, यह स्पष्ट है। विषय प्रतिपादन शैली सम्बन्धी थोडा-बहुत भेद उत्तर-कालीन सस्कृत वाङ्मय मे अवश्य हुआ है, किन्तु जहाँ तक शब्द और अर्थ का सम्बन्ध है, यह निःसन्देह कहा जा सकता है कि पतजलिकालीन सस्कृत वर्तमान काल मे सस्कृतवेत्ताओ के लिये दुर्बोध नही है। इससे कात्यायन-पतजलि तथा पाणिनि के काल मे कितना अन्तर रहा होगा, इसका अनुमान किया जा सकता है। वैदिककाल से लेकर लौकिककाल तक सस्कृत भाषा मे कितना धीरे-धीरे परिवर्तन हुआ है, यह भाषा के इतिहासवेत्ताओ से छिपा नही है। यह मानते हुये भी कि साहित्यिक भाषा की अपेक्षा बोलचाल की भाषा मे परिवर्तन अधिक शीघ्रता से होता है, तो भी अष्टाध्यायी के शब्दो की दुर्बोधता को–जिसके उदाहरण हम आगे देगे–ध्यान मे रख कर और पाणिनिकालीन तथा पतजलिकालीन सस्कृत भाषा के प्रयोग मे पौर्वापर्य तथा तारतम्य का विचार करते हुए यह कहा जा सकता है कि पाणिनि और पतजलि के काल मे विशाल अन्तर है, केवल ४-५ शताब्दियो का अन्तर पर्याप्त नही है। यदि पाणिनिकालीन भाषा महाभारत की भाषा से भी–कई अशो मे–प्राचीन है–जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है–तो हमे डा० वेल्वेलकर द्वारा निश्चित ई० पू० सप्तम शताब्दी तथा सी० वी० वैद्य द्वारा निर्णीत अष्टम शताब्दी से भी पहिले पाणिनिकाल को ले जाना पडेगा। अस्तु।

इस विषय का विशेष विवेचन न कर हम यहाँ केवल अष्टाध्यायी के कुछ शब्दो का उदाहरण देकर यह सिद्ध करना चाहेगे कि पाणिनिकालीन भाषा अपेक्षाकृत अधिक प्राचीन है और उसके अनेक शब्दो का अर्थ अति दुर्बोध हो गया है।

परन्तु इसके पूर्व एक आक्षेप का निराकरण आवश्यक प्रतीत होता है। प्रश्न यह है कि यदि पाणिनिकालीन भाषा महाभारत-पूर्वकालीन है तो महाभारत मे इतने अधिक अपाणिनीय प्रयोग क्यो पाये जाते है। इसके उत्तर मे यह कहा जा सकता है कि महाभारत का निर्माण किसी एक काल मे नही हुआ है। उसमे भिन्न-भिन्न युगो के भाषा की छाप है। साथ ही साथ यह भी नही भूलना चाहिए कि महाभारत की भाषा पर वैदिककाल की प्रचलित भाषा की गहरी छाया पडी है। महाभारत का उद्भव सामान्य जनता मे प्रचलित दन्तकथाओ और परम्परा-गत गीतो मे होने के कारण भी उस पर पाणिनीय व्याकरण का नियन्त्रण उतना सफल नही

१ Pāṇini : His place on Sanskrit Literature (1860).

हो सका है, जितना उत्तरकालीन वाङमय मे पाया जाता है। पाणिनि के काल मे या उसके अव्यवहितोत्तरकाल मे पाणिनि व्याकरण के सर्वतोगामी बन्धन की कल्पना सर्वथा उचित नही है। 'अपाणिनीय तु भवति' की पुकार पतजलि काल के लगभग अस्तित्व मे आई होगी, जब सस्कृत भाषा का व्यवहार सामान्य जनता मे लुप्त हो चला था। इसी से पतजलि अपने भाष्य मे हमेशा शिष्ट प्रयोग की दुहाई देते है। पतजलि के बाद भी हम देखते है कि वाङमय मे अपाणिनीय पदो के प्रयोग का सर्वथा अभाव नही था, जैसे अश्वघोष के काव्यो मे तथा कालिदासादि कवियो के उन स्थलो मे जहाँ हम 'निरकुशा कवय' कहकर पीछा छुडाते है। हाँ, यह बात जरूर है कि ज्यो-ज्यो समय बीतता गया, त्यो-त्यो पाणिनीय व्याकरण का प्रभुत्व भी बढता गया है। महाभारतादि प्राचीन ग्रन्थो मे भी पाणिनीय व्याकरण के उसी प्रभुत्व को देखने की इच्छा भाषाविकास के सिद्धान्त की दृष्टि से वाञ्छनीय नही है। अस्तु,

पाणिनि की अष्टाध्यायी मे दो प्रकार के शब्द पाये जाते है (१) व्याकरण के वैज्ञानिक या पारिभाषिक शब्द और (२) लोक प्रयुक्त सामान्य शब्द। अष्टाध्यायी के पारिभाषिक शब्दो का अध्ययन व्याकरण-शास्त्र के विकास तथा इतिहास को जानने के लिए अत्यावश्यक है। अष्टाध्यायी मे ऐसे भी कई पारिभाषिक शब्द मिलते है, जिनकी परिभाषा पाणिनि ने स्वय दी है, किन्तु साथ ही साथ उस पारिभाषिक शब्द का प्रयोग लोक प्रचलित अर्थ मे भी किया है (जैसे कर्म, अङ्ग आदि)। कौन पारिभाषिक शब्द पाणिनि पूर्वकालीन है और कौन पाणिनि द्वारा प्रचलित किये गये है तथा किन पारिभाषिक शब्दो के अर्थ प्रातिशाख्य और परकालीन व्याकरण के पारिभाषिक शब्दो के अर्थ से भिन्न है, इत्यादि प्रश्नो का विवेचन प्रकृत निबन्ध का विषय नही है। हम यहाँ केवल लोक प्रचलित साधारण शब्दो का विचार करेगे। इन लौकिक शब्दो मे भी कुछ शब्द ऐसे है जिनका प्रयोग आज तक पाणिनि सम्मत अर्थ मे होता है, कुछ ऐसे शब्द है जिनका अर्थ आजकल बिलकुल बदल गया है (जैसे व्यक्ति, विशिष्ट वचन आदि), तथा अन्य ऐसे भी शब्द है जो उत्तरकालीन सस्कृत वाङमय मे दुर्बोध हो गये है। स्वर्गीय डा० भाण्डारकर Wilson Philological lectures मे निम्नलिखित ७ शब्दो के उदाहरण दिये है, जिनका अर्थ अब सर्वथा दुर्बोध है

१ अन्ववसर्ग=मनचाही करने की आज्ञा देना
२ निरवसित=अछूत
३. प्रत्यवसान=भोजन
४ अभिविधि=शामिल करना
५ स्वकरण =विवाह करना
६. उत्सञ्जन=ऊपर फेकना
७. अभ्रेष =उपयुक्तता

इसी प्रकार श्रीयुत चि० वि० वैद्य ने History of Sauskrit literature (Vol I) मे ऐतिहासिक और भौगोलिक महत्त्व के अष्टाध्यायीगत अनेक शब्दो पर प्रकाश

डाला है। उन शब्दो का उल्लेख यहाँ अनावश्यक है। अत निम्नलिखित सूची मे अन्य दुर्बोध शब्दो का निर्देश किया जाता है। इनके अतिरिक्त अष्टाध्यायी मे सैकडो ऐसे व्यक्ति-वाचक–नगर, ग्राम, लतावृक्ष, ओषधि, गोत्र, कुल, वश, पुरुष विशेष वाचक–शब्द हैं, जो इस सुदीर्घ काल के बाद आज अर्थविरहित केवल ध्वनिमात्र रह गये है, (जैसे जघल, तिक, चिहूण, छगल, चानराट आदि)

क्षेत्रिय (५-२-९०)—असाध्य व्याधि या परदारिक
कुल्माष (५-२-८३)—भोज्यविशेष
उपोत्तम (४-१-७८)—उपान्त्य
कुलिज (५-१-५५)—गन्ध विशेष
सजुष् (८-२-६६)—समान सेवी या समानप्रीत
निपान (३-३-७४)—उदकाधार
स्थालीविल (५-१-७०)—पाकयोग्य तण्डुल
उल्लाघ (८-२-५५)—बीमारी से उठा हुआ
उपसमाधान (३-३-४१)—राशीकरण
ऐकागारिक (५-१-११३)—चोर
आश्वयुजी (४-३-४५)—आश्विन पौर्णमासी
उपसवाद (३-४-८)—बाजी लगाना
समासमीना ५-२-१२ प्रतिवर्ष प्रसव करनेवाली गाय
अणक (२-१-५४)—तुच्छ, छोटा
विचाल (५-३-४३) अनेक को एक, एक को अनेक करना
उपताप (५-२-१२८)—रोग
अधीष्ट (३-१-१६६)—सत्कार पूर्वक प्रार्थना
परुत् (५-३-२२)—गत वर्ष
अपस्कर (६-१-१४९)—रथ का अङ्ग
अनुपाख्य (६-३-८०)—अनुमेय
आप्रपद (५-२-८)—पैर तक लटकने वाला
पात्रसमित (२-१-४८)—पेटू
निष्प्रवाणि (५-४-१६०)—नया बुना कम्बल
सामि (५-४-५)—अर्धआदि आदि।

यहाँ पर यह कह देना आवश्यक है कि पाणिनीय गण पाठ के शब्दो को हमने जानबूझ कर समाविष्ट नही किया है, क्योकि कुछ विद्वानो के मत मे—और वस्तुत कुछ अश तक यह सत्य भी है कि—गणपाठ मे अनेक शब्द बाद मे जोड दिये गये है। अत यहाँ केवल उन्ही शब्दो का—जो अष्टाध्यायी मे साक्षात्पठित है, विचार किया गया है। अष्टाध्यायी के विशाल शब्द-भाण्डार के सूक्ष्म निरीक्षण से पता चलता है कि उसमे तत्कालीन वाङ्मय के सभी तरह के शब्दो का उल्लेख आया है। जैसे वैदिक शाखाये, भिन्न-भिन्न वैदिक याग, प्रचलित अन्य शास्त्र तथा उनके विशिष्ट शब्द, गार्हस्थ्य जीवन सम्बन्धी शब्द, सम्बन्धवाचक शब्द, नगर-नदी-ग्राम देश वाचक भौगोलिक महत्त्व के शब्द, नगर तथा देशनाम के प्रकार भेद, वृक्ष-पुष्प-औषधि आदि वनस्पति वाचक शब्द, भिन्न-भिन्न जातियाँ, व्यवसाय, प्रशसात्मक तथा निन्दात्मक शब्द, भिन्न पशुओ के नाम (अवस्थाभेद से गोवाचक अनेक शब्द), देवतानाम, राजकुल, वैदिक ऋषि तथा उनके गोत्र, कालवाचक, सख्यावाचक आदि लोकप्रचलित मुहाविरे आदि सभी प्रकार के शब्द प्रयुक्त हुये हैं। ये सब शब्द पाणिनि-कल्पना-प्रसूत नही हैं। इसी से आचार्य पाणिनि की गभीर गवेषणा, सर्वतोव्यापी निरीक्षण तथा पाणिनिकालीन अथाह शब्द-भाण्डार की कल्पना की जा सकती है।

नमः पाणिनये तस्मै येन शब्दानुशासनम्।
कृतमालोड्य शब्दाब्धिं विदुषां विस्मयावहम्॥

७. पाणिनि-कालीन भारत

भारत के प्राचीन इतिहास, सस्कृति तथा समाज-स्थिति का ज्ञान प्राप्त करने के लिए भारतीय और पाश्चात्य विद्वानो ने बडी लगन के साथ वैदिक वाङमय, पुराण, इतिहास, काव्य, नाटक आदि ग्रन्थो के अतिरिक्त प्राचीन शिलालेख, ताम्रपत्र आदि विविध अन्य सामग्रियो का उपयोग किया है। फलस्वरूप प्राचीन भारत-सम्बन्धी हमारा ज्ञान अधिक विस्तृत और सुसम्बद्ध हो गया है। किन्तु पाणिनि की अष्टाध्यायी के समान नीरस और 'शुद्ध' व्याकरण-ग्रन्थ से भी तत्कालीन समाज-सम्बन्धी अनेक मनोरजक और बोधप्रद बाते जानी जा सकती है, यह सुनकर आश्चर्य होगा। अन्वेषण और सशोधन के इस वर्त्तमान युग मे विद्वानो की तीक्ष्ण दृष्टि इस ओर भी गई है, और श्री सी० वी० वैद्य तथा श्री राधाकुमुद मुकर्जी आदि भारतीय सशोधको ने इस दिशा मे स्तुत्य प्रयत्न किया है।[1] किन्तु अष्टाध्यायी मे जितना गहरा प्रवेश किया जाय, उतनी अधिक ज्ञानराशि तत्कालीन भारत के सम्बन्ध मे सचित की जा सकती है।

यहाँ पाणिनि-काल के सम्बन्ध मे भी कुछ कहना अप्रासगिक न होगा। यद्यपि पाश्चात्य विद्वानो के मत का झुकाव पाणिनिकाल के सम्बन्ध मे धीरे-धीरे बदल रहा है और उसे अधिक प्राचीन मानने की ओर है, फिर भी अभी तक वे पाणिनि को ५०० ई० सन् से पूर्व का मानने को तैयार नही है।[2] अष्टाध्यायी ग्रन्थ की अन्तरग परीक्षा से गोल्डस्टकर, भाडारकर, बेल्वेल-कर, वैद्य आदि विद्वानो ने सिद्ध किया है कि पाणिनि बुद्ध-प्राक्कालीन है। अष्टाध्यायी मे पाये गये अनेक क्लिष्ट और वर्त्तमान सस्कृत मे अप्रयुक्त और दुरवबोध शब्दो का विमर्श करते हुए हमने 'बुल्नर कमेमोरेशन वाल्यूम' (पृ० ४६) मे यह दिखाने का प्रयत्न किया गया है कि पाणिनि-काल न्यूनातिन्यून नवम शताब्दी (ई० पू०) से पहले का होना चाहिए। दूसरी ज्ञातव्य बात यह है कि निम्नलिखित चित्रण मे अष्टाध्यायी मे साक्षात् पठित शब्दो का ही प्राय आधार लिया गया है। अष्टाध्यायी-सूत्रो के गणपाठ मे पठित अनेक शब्दो के सम्बन्ध मे अप्रामाणिकता का सन्देह हो सकता है कि वे शब्द बाद मे गणपाठ मे प्रविष्ट कर दिए गए है,

---

१. सी० वी० वैद्य : 'हिस्ट्री आफ़ संस्कृत लिटरेचर', जिल्द १, भाग ३, पृ० १३८।
श्री राधाकुमुद मुकर्जी : 'हिन्दू सिविलिजेशन', पृ० १२१।

२. मैक्समूलर : ३०० वर्ष ईस्वी पूर्व। कीथ : ३५० वर्ष ई० पू०। मैक्डानेल : 'इंडियाज पास्ट' में ४५० वर्ष ई० पू०।

किन्तु अष्टाध्यायी मे साक्षात् पठित या निश्चयात्मक रूप से तत्साधित शब्दो की पाणिनिकालीनता के सम्बन्ध मे शका करने की गुजाइश ही नही है।

पाणिनि के समय मे स्टैण्डर्ड सस्कृत का प्रचार उत्तर-भारत मे ही सीमित था। दक्षिण-भारत मे सस्कृत या तो 'विशुद्ध भाषा' के रूप मे प्रचलित नही थी या पाणिनि को दक्षिण-भारत से परिचय ही नही था। भारतीय आर्य बाहर से भारतवर्ष मे आए या भरत-भूमि ही उनकी आदिभूमि है, इस प्रश्न के हल पर पाणिनि की दक्षिण-भारत-सम्बन्धी अनभिज्ञता की मीमासा की जा सकती है। किन्तु यह तो निश्चय है कि अष्टाध्यायी मे दक्षिण-भारत के स्थानो का हवाला नही है। पाणिनि के भारत की सीमा पूर्व मे कलिंग (उत्तर-सरकार), पश्चिम मे सिन्ध और कच्छ, उत्तर-पश्चिम मे तक्षशिला और सुवास्तु (स्वात) की घाटी और दक्षिण मे दण्डकारण्य थी। पाणिनि ने पूर्व-देश (प्राच्य) और उत्तर-देश (उदीच्य) मे प्रचलित अनेक शब्द-रूपो की विशिष्टता का निर्देश किया है। काशिका (१-१-७५, पाणिनि-सूत्र) के अनुसार प्राच्य और उदीच्य देशो को सरस्वती (शरावती) नदी (कुरुक्षेत्र के निकट) विभाजित करती थी। किन्तु ६-२-८९ मे[१] अनुदीचाम् (उदीच्यभिन्न) पद के प्रयोग से प्रतीत होता है कि पूर्व और उत्तर के बीच के मध्य-देश मे (जिसमे वाहीक आदि जनपद थे) प्रचलित शब्द-रूपो के वैशिष्ट्य से पाणिनि भलीभाँति परिचित थे। बल्कि अधिक सगत तो यह है कि पाणिनि ने मध्य-देश की 'सस्कृत' भाषा को स्टैण्डर्ड मानकर अपवाद-रूप मे पूर्व और उत्तर देशो की भाषा के रूपान्तरो का जिक्र किया है। पाणिनि का जन्म सिन्धु नदी के तट पर अटक के निकट शलातुर (वर्त्तमान लहाउर गॉव, प्रसिद्ध लाहौर नगर नही) ग्राम मे हुआ था, इसी से उन्हे शालातुरीय कहा जाता है। प्रसिद्ध चीनी यात्री हुएनत्साँग (सप्तम ईस्वीय शताब्दी) ने वैयाकरण पाणिनि के पाषाणमय स्मृति-चिह्न को लहाउर गॉव मे देखा था। अत यह बहुत सम्भव है कि पाणिनि ने पजाब और पश्चिम-युक्तप्रान्त के आसपास की भाषा को मुख्य सस्कृत माना हो तथा काश्मीर और उसके आसपास की भाषा को उत्तर की और पूर्वीय प्रान्तो की भाषा को पूर्व की भाषा मानकर उनके विशिष्ट रूपो का अपवादरूप से निर्देश किया हो। अस्तु।

जैसा कि हम पहले कह चुके है, दक्षिण-भारत के स्थानो का निर्देश अष्टाध्यायी मे नही है, किन्तु पूर्व, मध्य और उत्तर-भारत के अनेक ग्रामो और नगरो के नाम पाए जाते है। मध्य-भारत के वाहीक जनपद का तो बहुत बारीक ज्ञान पाणिनि को था। विपाशा नदी (व्यास) के उत्तर मे पाये जाने वाले कूपो के नामो के उच्चारण-वैशिष्ट्य तक का पाणिनि ने (४-२-७४) निर्देश किया है। पाणिनि-काल मे नगरो के नाम के अत में प्रस्थ (जैसे इन्द्रप्रस्थ), विध (भौरिकिविध) या भक्त (ऐषुकारिभक्त) रूप पाया जाता था। एवमेव ग्रामो के नाम के अन्त मे कूल (जैसे दाक्षिकूल), सूद (देवसूद), स्थल (माहकिस्थल) या कर्ष (दाक्षिकर्ष) रहता था। नगरो और गाँवो को नाम देने मे भिन्न-भिन्न प्रकार थे। जैसे (१) सस्थापक के नाम से (कुशाम्ब द्वारा स्थापित होने के कारण कौशाम्बी); (२) समीपस्थ प्रसिद्ध स्थान के

१. **पाणिनि सूत्रो के निर्देश की संख्याएँ क्रम से अध्याय, पाद और सूत्र-संख्या सूचित करती हैं।**

नाम से (जैसे विदिशा के समीप होने से वैदिश), (३) निवासियो के नाम से (जैसे शिबियो के निवास-स्थान होने से शैब), (४) वहाँ पाई जाने वाली प्रसिद्ध वस्तु के नाम से (जैसे उदुम्बर—गूलर—के बहुतायत से पाए जाने के कारण औदुम्बर)। जैसे आजकल दिल्ली मे नगर-विशेष को जानेवाली सडको पर स्थित होने के कारण फाटको के नाम लाहौरी-गेट, अजमेरी-गेट, काश्मीरी-गेट आदि है, वैसे ही पाणिनि-काल मे भी फाटको को ऐसे ही नाम दिए जाते थे (जैसे स्रुघ्न की ओर जानेवाले मार्ग पर स्थित कान्यकुब्ज नगर के फाटक का 'स्रौघ्न कान्यकुब्ज-द्वार' नाम था)। कम्बोज, गान्धार, कोशल आदि बीसो भिन्न-भिन्न प्रान्तो—जनपदो—के नाम अष्टाध्यायी मे आए है। प्रत्येक जनपद की सीमा निश्चित रहती थी और उसमे अनेक विष्टप, नगर और ग्राम होते थे। जनपदो के क्षत्रिय शासको को जानपदिन् और एक ही जनपद के निवासियो को सजनपद कहते थे। शासक यदि क्षत्रिय माता-पिता का पुत्र हुआ, तो उसे राजन्य कहते थे, अन्यथा (वार्तिककार के अनुसार) राजन नाम दिया जाता था। गण-राज्य या सघ-राज्य का निर्देश अष्टाध्यायी मे आया है। एक सघ-राज्य की भिन्न पार्टी या दल को 'वर्ग' कहते थे। वर्गों का नामकरण बहुधा वर्ग के नेता के नाम से होता था, जैसे अर्जुन-वर्ग्य का अर्थ अर्जुन-दल का सदस्य। दो दलो की आपस की लाग-डाँट और परस्पर असहयोग का भी जिक्र (व्युत्क्रमण) आया है। अनेक सघो का 'फेडरेशन' भी मिलता है, जैसे त्रिगर्त्तषष्ठ-सघ मे ६ सघ-राज्य सम्मिलित थे। जिन सघ-राज्यो के पास प्रबल सेना रहती थी और वह सेना लडने के लिए अन्य राष्ट्रो को द्रव्य लेकर दी जाती थी, उन सघों को आयुधजीवि-सघ कहते थे। कई संघ तो आपस मे मिलकर संयुक्त सेना रखते थे, जैसे क्षौद्रकमालवी सेना (खण्डिकादि गणपाठके अनुसार) क्षुद्रको और मालवो की सयुक्त सेना थी। सघो की शासन-व्यवस्था मे स्वेच्छा से मत देने के अधिकार का अनुमान किया जा सकता है, क्योकि 'छन्दस्य' का अर्थ स्वेच्छा से दिया 'मत' है। इसी से पालि वाङमय मे मत (वोट) के लिए छन्द-पद प्रयुक्त होने की उपपत्ति भी मिलती है। शासन-सभा को 'परिषत्' और उसके सदस्यो को 'पारिषध' कहते थे। परिषत् की अनुमति बिना शासक कुछ नही कर सकता था, इसी से उसको 'परिषद्वल' (सम्भवत परिषद्बल का रूपान्तर) कहते थे। साधारण सरकारी कर्मचारी के लिए 'युक्त', मुख्य कर्मचारी के लिए 'अध्यक्ष', शान्ति और दण्ड विभागो के अध्यक्ष के लिए 'वैनयिक', कानून-मन्त्री के लिए 'व्यावहारिक' तथा अर्थ मन्त्री के लिए 'औपायिक' पद का प्रयोग होता था (व्यवहार और उपाय शब्द गणपाठ से लिए गए है)। ग्रामो के सघ को 'पूग' कहते थे और गाँव के मुखिया के लिए 'ग्रामणी' शब्द प्रयुक्त होता था। ग्रामणी का महत्त्व इसी से सिद्ध होता है कि कई ग्राम ग्रामणी के नाम से जाने जाते थे।

पाणिनि के समय मे लोगो की आर्थिक स्थिति पर्याप्त रूप से उन्नत हो चुकी थी। कृषि और वाणिज्य के अतिरिक्त अन्य जीविकाओ का भी जिक्र आता है। सरकारी नौकरो को, जिन्हे नियमित रूप से वेतन मिलता था, 'वैतनिक' कहते थे। साधारण मजदूरो को 'कर्मकर', निश्चित शर्तों पर नियत समय तक काम करनेवालो के लिए 'नियोजित', सम्मानित पेशेवालों के लिए 'अभीष्ट' और मामूली पेशेवालो के लिए 'भृत' का प्रयोग होता था। नौकरो

को वेतन द्रव्य-रूप मे न देकर भोजन के रूप मे भी दिया जाता था। सवारी (जैसे घोडा, ऊँट आदि) रखकर जीविका चलानेवाले 'वाहिक' कहलाते थे। तलवार, धनुष आदि रखकर जीविका चलानेवाले 'आयुधीय' या 'आयुधिक' कहलाते थे। गोद मे बच्चो को लेकर खेलानेवालो के लिए 'औत्सगिक' शब्द व्यवहृत होता था। ब्याज पर रुपया देने वालो को 'कुसीदिक' कहते थे। ग्यारह रुपए प्राप्त करने के लिए दस रुपए देनेवाले के लिए 'दशैकादशिक' शब्द आया है, इससे दस प्रतिशत ब्याज लेने की चाल का अनुमान किया जा सकता है। कर्ज चुकाने को 'विगणन' कहते थे। 'उत्तमर्ण' और 'अधमर्ण' पद का प्रयोग कर्ज देनेवाले और कर्ज लेनेवाले के लिए होता था। कर्ज़ नकद या वस्तु के रूप मे चुकाया जा सकता था। मासिक, वार्षिक या खास ऋतु मे (फस्ल के समय) कर्ज चुकाने का नियम था। कभी-कभी ऋण चुकाने की अवधि तक ब्याज के स्थान मे दूध देनेवाली गाय दी जाती थी और मूलधन चुका देने पर गाय वापस ले ली जाती थी। इस गाय को 'धेनुष्या' कहते थे। खरीद और बेचकर जीविका चलानेवाले के लिए 'क्रयविक्रयिक' शब्द आया है। गोणी (अन्न रखने का बोरा) और प्रवाणी (करघा) शब्द से बुनने की कला का पता चलता है। नवीन बुने हुए वस्त्र को 'निष्प्रवाणि' कहते थे। ऊनी (ऊर्णा) वस्त्रो का भी उल्लेख आया है। रोचना और लाक्षा से वस्त्रो के रँगे जाने का निर्देश है। कुलाल, चर्मकार, चित्रकार, लिपिकार, श्लोककार, सूत्रकार आदि पेशेवालो का भी हवाला मिलता है। चमडे से जूतो के अतिरिक्त रस्सी आदि अन्य वस्तुएँ भी बनती थी। चिडियो का शिकार करनेवाले को 'शाकुनिक' कहते थे। मृग, मछली आदि मारनेवालो का भी जिक्र आया है। एवमेव इत्रफरोश (सौगन्धिक) और लोहार, कलार, माली तथा पत्थर काटनेवालो का भी निर्देश है। सगीत-कला मे भी लोग प्रवीण थे। वीणा, मृदग, मड्डुक, झर्झर आदि विशिष्ट वाद्ययन्त्रो को बजानेवालो के लिए भिन्न-भिन्न शब्द मिलते है। चार बाजो के एक साथ बजने को 'तूर्यांग' (कसर्ट) कहा जाता था। गायक और नर्त्तक के अतिरिक्त रगभूमि के पीछे के पर्दे (अवस्तार) का भी उल्लेख मिलता है। गाँव मे रहने वाले बढई को 'ग्रामतक्ष' और स्वतन्त्र रूप से अपनी जीविका चलाने वाले को 'कौटतक्ष' कहते थे।

कृषि और गौ के सम्बन्ध मे पाणिनि का ज्ञान अति विस्तृत था और उन्होने बारीक-से-बारीक बातो का भी निर्देश किया है। गृष्टि (एक बार जनी हुई), धेनु (नई जनी हुई), वश्या (बाँझ), वेहत् (गर्भघातिनी), वष्कयणी (छोटे बछडेवाली), समासमीना (हर साल जननेवाली) आदि विविध अवस्थाओ की गायो के लिए भिन्न-भिन्न नाम आए है। ऐसे ही बछडा, साँड, गाड़ी का बैल, रथ का बैल, खेती का बैल आदि विविध बैलो के लिए भिन्न-भिन्न नाम दिए गए है। बैलो और गायों की पहचान के लिए विशेष चिह्न या सख्या के अक दाग दिए जाते थे।[1] इसी प्रकार खेती के सम्बन्ध मे भी विस्तारपूर्वक निर्देश पाए जाते है। खेत दो या तीन बार

---

१. अष्टाध्यायी में लिपि शब्द के प्रयोग और संख्या-चिह्नों के निर्देश से भी स्पष्ट है कि पाणिनि-काल में लेखन-कला प्रचलित थी। इस सम्बन्ध में बूलर आदि पाश्चात्य विद्वानों का मत मान्य नहीं है।—लेखक

जोते जाते थे, सीधा जोतकर आडा जोतने और जोतते समय बीज बोने का निदश आया है। फस्ल जिस ऋतु मे बोई जाती थी या तैयार होती थी, उसी के नाम से वह पुकारी जाती थी। जैसे—हैमन्त-यव, शारद-शालि। उत्पन्न होनेवाले धान्य के नाम से खेतो के नाम पडते थे। ६० दिन मे (बोने के बाद) तैयार हो जाने वाले धान्य को 'षष्टिक' कहते थे। फस्ल काटने के बाद खेत मे पडे हुए अन्न-कण (उञ्छ) तपस्वियो के लिए छोड दिये जाते थे। भिन्न-भिन्न वृक्षो, पशुओ, आयुधो आदि के नाम भी अष्टाध्यायी मे मिलते है। अष्टाध्यायी मे तत्कालीन जनपद, ग्राम, वश तथा कुल के नामो की भरमार देख कर पाणिनि के सर्वतोमुखी ज्ञान का परिचय मिलता है। न्याय-विधान के शब्दो का—जैसे साक्षी, प्रतिभू (जामिन), अशक और दायाद (सम्पत्ति के हिस्सेदार) आदि का—भी निर्देश है। घोर अपराध करने पर जहर देना (विष्य) या सिर काटने की व्यवस्था का पता चलता है। जहाँ राज-कर वसूल किया जाता था, उस स्थान को 'आय-स्थान' कहते थे। शुल्क, उपदा (भेट), अवक्रय (कष्ट देकर धन लेना) का भी उल्लेख मिलता है। खारी, विस्त, शतमान, आढक, पुरुष आदि नाप और तोल के शब्द भी पाए जाते है। पण, पाद, माष, शाण, कार्षापण, निष्क—ये उस काल मे प्रचलित सिक्को के नाम थे। सिक्के पीटकर या ढालकर बनाए जाते थे। खाद्य-पदार्थो मे अपूप (मालपुवा), यवागू (लपसी), मूलक, दधि, क्षीर, उदश्वित् (मट्ठा), मक्खन (हैयगवीन) आदि विविध शब्द मिलते है। पकाई गई तरकारी के लिए 'भाजी' तथा कच्ची तरकारी के लिए 'भाजा' शब्द व्यवहृत होते थे। भोजन बनाने के सम्बन्ध मे मिश्रीकरण (मिलाना), ससृष्ट (मिलाकर एक-कर देना) और सस्कार (छौकना, बघारना) आदि का भी हवाला मिलता है।

पाणिनि-काल में प्रचलित विद्या और शास्त्रो के उल्लेखो का बाहुल्य भी अष्टाध्यायी मे दृष्टिगोचर होता है। चारो वेद, ३० और ४० अध्याय वाले ब्राह्मण-ग्रन्थ और पुराने सूत्र-ग्रन्थो का निर्देश किया गया है। वैदिक वाङमय के भिन्न-भिन्न अगो का उल्लेख पाणिनि ने भिन्न शब्दो से (मन्त्र, छन्दस्, वेद, निगम आदि) किया है। भिक्षुसूत्र और नटसूत्र तथा श्लोक, गाथा, कथा और महाभारत का भी उल्लेख आया है। शिशुक्रन्द (बच्चो का रोना) पर भी स्वतन्त्र ग्रन्थ का निर्देश मिलता है। आध्वरिक और आर्चिक आदि याज्ञिक ग्रन्थो का उल्लेख भी मिलता है। पाणिनि के अनुसार ग्रन्थो का श्रेणी-विभाग इस प्रकार था—दृष्ट (अपौरुषेय), प्रोक्त (सगृहीत), उपज्ञात (मूलग्रन्थ), कृत (सामान्य रचना), व्याख्यात (टीका) आदि। शिक्षा-प्रारभ के सस्कार का नाम 'आचार्यकरण' था। एक ही गुरु से पढने वाले छात्रो को 'सतीर्थ्य' या 'सब्रह्मचारिन्' कहते थे। विद्यार्थीगण अपने गुरु के नाम से या अध्येय विषय के नाम से पुकारे जाते थे, जैसे पाणिनि के छात्र 'पाणिनीय' और व्याकरण पढने वाले 'वैयाकरण'। वेद-शास्त्र के विद्यार्थी को श्रोत्रिय और वेदो के व्याख्याता को प्रवक्ता कहते थे। गुरु के मुख से सुन कर विद्यार्थी दुहराकर पाठ याद किया करते थे। परीक्षा के समय अशुद्धियो की सख्या से विद्यार्थियों का श्रेणी-विभाजन होता था। एक अशुद्धि करनेवाले को 'ऐकान्यिक', दो अशुद्धियाँ करनेवाले को 'द्वैयन्यिक' और तीन अशुद्धियाँ करनेवाले को 'त्रैयन्यिक' कहते थे। पठन-पाठन मे शुद्ध स्थान और समुचित काल का विचार किया जाता था। अत कुछ स्थान

और काल वर्ज्य माने जाते थे। विद्या और जन्म दोनो से वश का सम्बन्ध माना जाता था। इसी से यह समझा जा सकता है कि आचार्य का पद पिता के पद के समान था। एक समान मूलपुरुष से जन्म-सम्बन्ध वाले सगोत्रीय कहलाते थे। जैसे गर्ग मूल-पुरुष का पुत्र 'गार्गि' तथा पौत्र और आगे की सन्तान 'गार्ग्य' कहलाती थी। गर्ग के जीवन-काल मे ही प्रपौत्र पैदा हुआ, तो उसे गार्ग्यायण कहते थे। सन्तान के लिए सामान्य शब्द 'अपत्य' था, किन्तु पौत्र और आगे की सन्तान 'गोत्रापत्य' कहलाती थी। छ पीढियो तक के वशज 'सपिण्ड' कहे जाते थे। अष्टाध्यायी मे अनेक गोत्र और गोत्रकारो के नाम आए है। प्राचीन गोत्र नाम अज्ञात हो जाने पर फिर नए गोत्र चलाए जाते थे। कुछ गोत्र माता के नाम से भी प्रचलित होते थे, किन्तु यह कुत्सित माना जाता था।

शूद्रो के दो भेद पाए जाते थे—एक निरवसित और दूसरा अनिरवसित (अर्थात् जिनके स्पर्श से भोजन-पात्र पुन शुद्धकर काम मे लाये जा सकते थे या नही)। 'समाज' शब्द मनुष्यो के समूह के लिए प्रयुक्त होता था। पशुओ के समूह को 'समाज' कहते थे। ऊँच-नीच-भेद-रहित एकधर्मीय लोगो के समूह को 'निकाय' कहते थे। अष्टाध्यायी मे प्राय सभी सम्बन्धवाचक (माता, पिता, ससुर, मामा आदि, सिवाय साले के) शब्द आए है। भाई-बहन के लिए 'भ्रातरौ' और लडका-लडकी के लिए 'पुत्रौ' का प्रयोग पुरुष-सन्तान के विशेष महत्व का सूचक है। विवाह के लिए प्रयुक्त 'स्वकरण' शब्द पत्नी के ऊपर पति के पूर्ण अधिकार को सूचित करता है। प्रथम विवाह के वर-वधूको 'कौमार' और 'कौमारी' कहते थे, अत प्रतीत होता है कि उस काल मे स्त्री-पुरुषो का पुनर्विवाह भी होता था। 'सपत्नी' शब्द पुरुष के एक काल मे बहुविवाह की प्रथा का द्योतक है। सन्तानहीन स्त्री के लिए 'अशिश्वी' और 'पतिघ्नी' शब्द निन्दा-सूचक माने जाते थे। हस्तरेखा या अन्य लक्षणो से वर-वधू के भविष्य का अनुमान किया जाना भी प्रचलित था। मानव-स्वभाव के दोषो का भी उल्लेख मिलता है। जैसे—परोक्ष मे निन्दा करना (कर्णेजपन), शपथ खाना (शपन), फुसलाना (उपमन्त्रण), पोल खोलना (गन्धन), चापलूसी करना (चाटुकरण) आदि। अपना ही उदर-पोषण करनेवाले कुटुम्बी को 'आत्मम्भरि' और अकर्मण्य तथा पेटू मनुष्य को 'पात्रे-समित' कहते थे। आयुध-विशेष का उपयोग कर मार-पीट का खेल, शराब पीकर मस्त होना, (इरम्मद), नाली पीटना (पाणिन्धम), मुख से विचित्र ध्वनि निकालना, भाँति-भाँति की द्यूतक्रीडा आदि अनेक मनोरजक बातो का जिक्र पाणिनि ने किया है। शृगार की सामग्री, केशो का सजाना (कैश्य), कघी करना, इत्र (सुगन्धि-द्रव्य), हार (ग्रैवेयक), अँगूठी (अँगु-लीयक) आदि का भी निर्देश मिलता है। सवारियो मे रथ का विशेष सम्मान था। उसके सजाने मे हस्तिचर्म, व्याघ्रचर्म, पाण्डुकम्बल आदि का उपयोग किया जाता था। उशीनर (कन्धार) देश का गलीचा और काबुल-प्रदेश की अगूरी शराब (कापिशायनी) की विशेष ख्याति थी। इस प्रकार तत्कालीन भारत के सम्बन्ध मे जानकारी प्राप्त करने के लिए पर्याप्त मसाला अष्टाध्यायी मे पाया जाता है।

['विशाल भारत' के फरवरी १९४३ के अंक में प्रकाशित]

८. ईत्सिंग के भारतयात्रा-विवरण में उल्लिखित एक संस्कृत-व्याकरण ग्रन्थ की पहचान

सप्तम शताब्दी के उत्तरार्ध मे भारतवर्ष मे आए हुए चीन देश के प्रसिद्ध यात्री ईत्सिग ने अपने यात्रा-विवरण (Records of Buddhist Practices : English translation by Takakusu 1896) मे तत्कालीन सस्कृत व्याकरण के अध्ययन-अध्यापन सप्रदाय के सबध मे कई महत्त्वपूर्ण बाते लिखी है। उनका कहना है कि ६ से लेकर २० वर्ष तक की अवस्था मे भारतीय विद्यार्थी निम्नलिखित पाँच सस्कृत व्याकरण-ग्रन्थो का अध्ययन करते थे

(१) सिद्ध-ग्रथ (सि-तन्-चाग)—इसे ६ वर्ष के बालक ६ महीने तक पढते थे।

(२) पाणिनिसूत्र—इसे ८ वर्ष की अवस्था मे प्रारभ कर ८ महीने मे विद्यार्थी मुखाग्र कर लेते थे।

(३) धातुसग्रह।

(४) खिलत्रय—(अ) अष्टधातु, जिसमे कारक और लकारो का निरूपण है, (आ) धातुसाधित शब्दो के रूप, (इ) उणादि प्रकरण। इन तीनो खिल-ग्रथो को १० वर्ष के विद्यार्थी पढते थे और ३ वर्ष के सपरिश्रम अध्ययन से अच्छी तरह समझ लेते थे।

(५) वृत्तिसूत्र (जयादित्यकृत)—पाणिनि के सूत्रो पर इस टीकात्मक ग्रथ का अध्ययन १५ वर्ष के विद्यार्थी ५ वर्ष की अवधि मे कर लेते थे।

इन पाँचो ग्रन्थो मे से दूसरा ग्रथ निसदेह पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' है। तीसरा ग्रथ भी पाणिनीय धातुपाठ है, जो क्षीरस्वामिन् की क्षीरतरगिणी टीका के समान किसी तत्कालीन टीका के साथ पढा जाता था। चतुर्थ ग्रथ मे कारक और लकार, कृदतीय और तद्धितीय रूप और उणादि प्रत्यय—ऐसे ३ भाग थे। ईत्सिग के मतानुसार इस ग्रथ को 'खिलग्रथ' कहने का कारण यह था कि खिल का अर्थ 'बे जोती जमीन' है, जैसे बे जोती जमीन को सपरिश्रम जोतकर किसान उसे उर्वर बना लेता है, वैसे ही विद्यार्थी इन खिल ग्रथो मे परिश्रम कर व्याकरण-ज्ञान के लिये अपने को तैयार कर सकता है। धातुपाठ और खिलग्रथ यद्यपि आज उसी रूप मे उपलब्ध नही है, तथापि प्रतिपादनीय विषय की समीक्षा से उनके रूप का अनुमान किया जा सकता है। अतिम ग्रथ 'वृत्तिसूत्र' के सबध मे लगभग सभी विद्वानो का यही मत है कि वह 'काशिका वृत्ति' है। किंतु प्रथम ग्रथ के सबध मे घोर मतभेद रहा है। हमे यहाँ इसी प्रथम ग्रथ का विचार करना है।

उल्लेख किया है। वर्तमान उपलब्ध 'कातत्रव्याकरण' मे १८ प्रकरण नही, बल्कि २५ (दे० Bibliothica Indica edition) या २८ (दे० Systems of Sanskrit Grammar by Belvelkar · पृष्ठ ८३) प्रकरण है। इस वैषम्य का निराकरण करने के लिये वेकटसुबैयाजी का कहना है कि सरल रीति से व्याकरण पढाने के लिये कातत्र व्याकरण की निर्मिति होने के कारण जिन विषयो का (जैसे कृत्, तद्धित आदि) इसके मौलिक रूप मे समावेश नही था, उन्हे परकालीन लेखको ने उसमे जोड दिया है। जर्मन् विद्वान् लीबिख (Liebich) के मतानुसार कातत्र व्याकरण के मौलिक रूप मे केवल १७ प्रकरण थे। अत ईत्सिग द्वारा इस ग्रथ मे १८ प्रकरणो का निर्देश केवल यह सूचित करता है कि उसके काल मे १८ प्रकरण इस ग्रथ मे पाए जाते थे। ३०० श्लोक-सख्या या १०,००० अक्षर-सख्या के सबंध मे वेकटसुबैयाजी का कहना है कि मौलिक १७ प्रकरणो मे ७७५ सूत्र है, तो १८ प्रकरणो मे मामूली तौर पर ८२० सूत्र होने चाहिए। लगभग ४००० सूत्रो की पाणिनीय अष्टाध्यायी की श्लोक-सख्या ईत्सिग और यूएन चाग दोनो के मतानुसार १००० है। इस हिसाब से कातत्र व्याकरण के ८२० सूत्रो के २०५ श्लोक होने चाहिएँ। किंतु कातत्रकार की विषय-प्रतिपादन-शैली विशद और स्पष्टतर होने से ८२० सूत्रो मे ही ३०० श्लोक हो गए होगे। कातत्र व्याकरण का आरभ 'सिद्धो वर्णसमाम्नाय' से हुआ है, इसी कारण ईत्सिग ने इसका नाम 'सि-तन्-चाग' या 'सिद्ध-ग्रथ' दिया है।

परतु वेकटसुबैया के उपर्युक्त मत के मानने मे कई कठिनाइयाँ है। सर्वप्रथम आक्षेप तो यह है कि ६ वर्ष की अवस्था के बालक को कातत्र व्याकरण का ग्रथ पढने के लिए दिया जाना असभव प्रतीत होता है और १८ प्रकरणो के ग्रथ को ६ मास मे समाप्त करना तो नितात असभव है। ५-७ वर्ष के बालक को १-२ वर्ष तो वर्णमाला से सम्यक् परिचय प्राप्त करने मे ही लग जाता है, और तब भी सयुक्ताक्षर के क्लिष्ट सस्कृत शब्द उसकी समझ के बाहर रहते है। इस अवस्था मे यह कैसे विश्वास किया जा सकता है कि ६ वर्ष के अबोध बालक ६ मास के भीतर ही कातत्र व्याकरण ऐसे सूत्र-शैली मे लिखे व्याकरण ग्रथ को समाप्त कर लेते थे। यह हम मानते है कि बालको के लिए नियमो का समझना आवश्यक नही था, केवल शब्दो का रटना ही पर्याप्त था। लेकिन शब्द रटने के लिए भी सस्कृत की सयुक्ताक्षर और असयुक्ताक्षर वाली वर्णमाला से परिचय तो होना चाहिए। वेकटसुबैयाजी का यह भी कहना है कि 'सभी छात्र ऊपर लिखे हुए पाँचो व्याकरण-ग्रथो को नही पढते थे, बल्कि प्रथम ग्रथ पढकर अध्यात्मविद्या, हेतुविद्या, चिकित्साविद्या आदि भिन्न-भिन्न विद्याएँ पढना आरम्भ कर देते थे। अवशिष्ट ४ ग्रथ वही छात्र पढते थे, जिन्हे शब्दविद्या मे विशेष ज्ञान सपादन करना होता था। सस्कृत वाङमय की कठिनता पर ध्यान देते हुए यह असभव प्रतीत होता है कि उस युग मे भी (जब सस्कृत का विशेष प्रचार था) ६ वर्ष के बालक ६ मास मे ही वर्णमाला, व्याकरण आदि पढकर अध्यात्मादि विद्याओ के अध्ययन के लिये योग्य बन जाते थे। फिर हमे यह भी देखना है कि ईत्सिग द्वारा निर्दिष्ट पाठ्यक्रम के अनुसार 'सिद्ध-ग्रथ' का ६ मास तक अभ्यास करने के बाद पाणिनि-सूत्र, धातु-पाठ, शब्दरूपावली, धातुरूपावली और कृदत-तद्धित रूप मुखाग्र किए जाते थे। तदनतर ५ वर्ष मे काशिका वृत्ति पढी जाती

थी। तब कही व्याकरण का पर्याप्त ज्ञान होता था। यही परंपरा प्राचीन परपरा से व्याकरण पढनेवाले कुटुबो मे आज तक पाई जाती है। केवल भेद यह है कि शब्दरूपावली, धातुरूपावली, समासचक्र और अष्टाध्यायी मुखाग्र करने के बाद काशिका वृत्ति के स्थान मे आजकल सिद्धात-कौमुदी पढी जाती हैं। शास्त्र-विशेष का अध्ययन उस समय भी काशिका वृत्ति पढने के बाद ही किया जाता रहा होगा, जैसे आजकल सिद्धातकौमुदी पढने के बाद ही वेदात, न्याय, साहित्य आदि विशिष्ट विषय पढे जाते है। व्याकरण का विशेष अध्ययन करने वाले छात्र आजकल की तरह उस समय भी पातजल महाभाष्य आदि टीका ग्रथो का अध्ययन करते थे। काशिका-वृत्ति तक व्याकरण पढना तो सबके लिये अनिवार्य था। पूर्व परपरा के अनुयायी भारतवर्ष मे आज की प्रचलित व्याकरणाध्ययन-प्रणाली से ईत्सिगकालीन प्रणाली का सहज अनुमान किया जा सकता है। अत यह निश्चय है कि ईत्सिग-निर्दिष्ट प्रथम व्याकरणग्रथ से उसका तात्पर्य 'लिपिमातृका', वर्णमाला ग्रथ या अ-आ-इ-ई-उ-ऊ पुस्तक से है। 'लिपिमातृका' का व्याकरण-ग्रथो मे सर्वप्रथम उल्लेख असगत नही है, जैसा कि वेकटसुबैया जी समझते है, क्योकि सस्कृत व्याकरण के प्रारभिक शिक्षण मे वर्णमाला का निर्देश आवश्यक है। क्या प्राचीन क्या नवीन, सभी छात्रोपयोगी व्याकरण ग्रथो मे सर्वप्रथम वर्णमाला दी जाती है। दूसरी बात यह है कि ईत्सिग ने प्रारभिक शिक्षोपयोगी पाठ्यक्रम का विवरण देते समय इस ग्रथ का नाम लिया है। अत यह निर्देश वर्णमाला ग्रथ के लिये होना चाहिए। अन्यथा ईत्सिग यह लिखते कि वर्ण-माला सीखने के बाद 'सिद्ध-ग्रथ' (अर्थात् 'कातत्र व्याकरण') पढाया जाता था। हमे यह भी समझना चाहिए कि ईत्सिग ने 'व्याकरण' पद का अर्थ भारतवर्ष का साधारण लौकिक शास्त्र किया है और बालको की प्रारभिक शिक्षा का यहाँ उल्लेख किया है। यह तो स्पष्ट ही है कि भारतवर्ष की प्राचीन परिपाटी मे व्याकरण सर्वप्रथम पढाया जाता है।

ईत्सिग ने 'वर्णमातृका' ग्रथ को महेश्वर-प्रचारित क्यो कहा ? इसका कारण यह है कि प्रचलित व्याकरण परपरा मे सर्वप्रथम उपलब्ध शिवसूत्रो मे दी गई वर्णमाला महेश्वर-कृत मानी जाती है। अत ईत्सिग ने स्वकालीन वर्णमालाग्रथ के प्रचारक के रूप मे महेश्वर का उल्लेख किया है। वेकटसुबैया का यह कहना भी कि 'भारतीय वर्णमाला परपरा से ब्रह्मदेव-निर्मित (ब्राह्मी) मानी जाती है, अत उसे महेश्वर-प्रचारित मानना उचित नही है,' युक्तिसगत नही है, क्योकि भारतीय लिपि के ब्रह्मदेव प्रचारक माने जाते हैं, वर्णमाला के नही। लिपि अर्थात् लेखनकला और वर्णमाला का वर्गीकरण, ये दो भिन्न-भिन्न वस्तुएँ है। भारतीय परम्परा मे एक के प्रचारक ब्रह्मदेव और दूसरी के महेश्वर माने गए है। अत वर्णमाला ग्रंथ के प्रचारक के रूप मे ईत्सिग द्वारा महेश्वर का उल्लेख असगत नही है।

अब हम सक्षेप मे इस ग्रथ के ३०० श्लोक या १०,००० अक्षर-सख्या के संबध मे विचार करेंगे। प्रथम ज्ञातव्य तो यह है कि ये सख्याएँ निश्चित परिमाण नही बताती। ईत्सिग ने स्वय लिखा है कि श्लोको का परिमाण एक-सा नही है, कई छोटे कई बडे हैं, अत एकदम निश्चित परिमाण बताना असभव है। ईत्सिग द्वारा प्रयुक्त शब्द 'सि-तन्-चांग' का सशोधको ने अनु-वाद किया है 'सिद्ध रचना'। यून चाग ने 'शी-एर्ह-चाग' शब्द का प्रयोग इसी सबध मे किया

है, जिसका अनुवाद विद्वानो ने 'द्वादश भाग' किया है। सर्वसम्मति से 'द्वादश भाग' का अर्थ द्वादशाक्षरी या बारहखडी (क का कि की कु कू के कै को कौ क क , ख खा खि खी आदि)है, जो यून चाग के अनुसार बालको को सर्वप्रथम सिखाई जाती थी। 'शी-एर्ह-चाग' का दूसरा नाम 'सिद्धिरस्तु' या 'सिद्धवस्तु' ईत्सिग ने दिया है। बील (Beal) ने यून चाग के ग्रथ के अँगरेजी अनुवाद मे शी-एर्ह-चाग को सिद्धवस्तु भी कहा है। इससे स्पष्ट है कि ईत्सिग का सि-तन्-चाग शब्द (जिसका पर्यायवाची शब्द सिद्धिरस्तु या सिद्धवस्तु है) यून चाग के शी-एर्ह-चाग (बारहखडी) से भिन्न नही है। अर्थात् ईत्सिग-निर्दिष्ट प्रथम व्याकरणग्रथ द्वादशाक्षरी के समान कोई ग्रथ होना चाहिए। तकाकुसु (ईत्सिग के अँगरेजी अनुवादक) ने पादटिप्पणी (पृ० १७०) मे लिखा है कि सिद्धिरस्तु नामक वर्णमाला ग्रथ अब चीन देश मे नही मिलता है, किंतु जापान मे अब तक इसका प्रचार है। वाटर्स (Watters) का कहना है कि चीन के वाङमय मे बालको की प्राइमरी पुस्तक के लिये सि-तन्-चाग या 'सिद्ध चाग' शब्द का प्रयोग पाया जाता है, क्योकि उसका प्रारभ 'सिद्ध' शब्द से होता है। आज भी भारतवर्ष मे बालकों को अक्षरारभ कराते समय पहले उनसे 'ओ नम सिद्धम्' (हँसी मे 'ओना मासी धम्) कहलाया जाता है, कही-कही 'श्रीगणेशाय नम' कहलाते है। सन् १५६६ मे लिखित 'सिद्ध के १८ प्रकरण' नामक एक जापानी पुस्तक आक्सफोर्ड पुस्तकालय मे अभी तक सुरक्षित है। इससे भी पहले का (अर्थात् सन् ८८० मे लिखित) एक अन्य जापानी ग्रथ 'सिद्धपिटक' या 'सिद्धकोश' अब भी समुपलब्ध है। इस पुस्तक की आठवी जिल्द मे सिद्ध के १८ खडो का निरूपण है। प्रारभ मे 'ओ नम सर्वज्ञाय', फिर 'सिद्धम्', तदनतर १६ स्वर और ३५ व्यजन, इसके बाद क ख ग , क्य ख्य ग्य .., क्र ख्र ग्र... आदि से लेकर क्ख ख्ख ग्ग घ्घ. तक १८ खडो मे रूप दिखाए गए है। इस पुस्तक के अनुसार इसमे १६५५० और तकाकुसु की गणना के अनुसार ६६१३ अक्षर है। सयुक्त अक्षरो मे से अनुपयुक्तो और अप्रचलितो को निकाल देने से और प्रयुक्तो को सम्मिलित कर देने से अक्षरो की सख्या १०,००० और श्लोको की सख्या ३०० सभव है। अत ईत्सिग के 'सिद्ध चाग' पद मे यदि हम उपरिनिर्दिष्ट जापानी पुस्तक के समास 'वर्णमालापुस्तक' का अर्थ लगाएँ तो कोई असगति नही है। ६ वर्ष के बालक के लिये सस्कृत की क्लिष्ट वर्णमाला सीखने मे ६ मास का समय लगना ठीक ही है। उर्दू की पाठशालाओ मे अब भी अलिफ बे जबर अब, अलिफ बे जेर इब, अलिफ बे पेश उब आदि रटने मे कई मास बीत जाते है। फिर सस्कृत के स्वर, व्यजन तथा सयुक्ताक्षरो के रूप उच्चारण करने, रटने, लिखने और पहिचानने मे ६ मास का समय लगना ही चाहिए।

एक अन्य आक्षेप का उल्लेख कर हम इस विषय को समाप्त करेगे। यह पहले ही कहा जा चुका है कि इसी तरह से प्रथम व्याकरण-ग्रथ के सबध मे यून चाग ने (सन् ६३५ ई०) १२ प्रकरण का उल्लेख किया है, किंतु लगभग ५० वर्ष के अनतर ईत्सिग (सन् ६८५ ई०) उसी ग्रथ के १८ प्रकरण का निर्देश करता है। अर्थात् ५० वर्ष मे ही वेकटसुबैया के मतानुसार ६ प्रकरण और जोड दिए गए थे। वेकटसुबैया कहते है कि इसमे कोई आश्चर्य की बात नही

है, क्योकि दुर्गसिह की वृत्ति नामक (कातंत्र व्याकरण की) टीका की रचना के समय (सन् ८०० ई०) तक कातत्र व्याकरण मे प्रकरणो की सख्या २५ तक पहुँच गई थी। किन्तु प्रश्न तो यह है कि उन्ही के कथनानुसार यदि हम मान भी ले कि यून चाग के समय मे कातत्र व्याकरण मे १२ प्रकरण थे, तो लीबिख (Liebich) द्वारा सपादित कातत्र व्याकरण के मौलिक रूप मे (जिसका रचनाकाल ई० सन् की प्रथम शताब्दी माना जाता है) उपलब्ध १७ प्रकरणो के अस्तित्व को ठीक मानने के लिए उलटी गगा बहानी पडेगी, अर्थात् मौलिक १७ प्रकरणो के १२ प्रकरण हुए और फिर ईत्सिग के समय मे १८ प्रकरण हो गए। सच बात तो यह है कि ईत्सिग द्वारा निर्दिष्ट प्रथम व्याकरणग्रथ का तात्पर्य 'कातत्रव्याकरण' होना सभव ही नही है। वेकटसुबैया जी का इस दिशा मे प्रयत्न विफल है। साराश यह है कि ईत्सिग-निर्दिष्ट प्रथम व्याकरण ग्रथ 'सि-तन्-चाग' तत्कालीन 'वर्णमालापुस्तक' को सूचित करता है।

[नागरी प्रचारिणी पत्रिका के वैशाख संवत् १९९८ के अंक में प्रकाशित]

९. गत द्विसहस्राब्दी में संस्कृत-व्याकरण का विकास

भारतीय वाङमय मे व्याकरण-शास्त्र की महत्ता प्राचीन काल से मानी गई है। प्राचीन काल से लेकर आज तक व्याकरण-शास्त्र की जितनी छानबीन भारतवर्ष मे हुई, उतनी विश्व के किसी देश मे नही। यूरोप मे भाषाविज्ञान एक आधुनिक शास्त्र है और वह भी सस्कृत-भाषा से परिचय प्राप्त करने के फलस्वरूप विकसित हुआ है। किंतु भारत मे भाषाशास्त्र के महत्त्व का परिचय वैदिक काल से ही मिलता है। वेदो के छ॰ अगो मे से ३ अग (शिक्षा, निरुक्त, व्याकरण) भाषाशास्त्र से साक्षात् सबध रखते है और वेदागो मे व्याकरण को प्रधान अग माना गया है। व्याकरण के प्रवर्त्तको मे सर्व प्रथम नाम देवराज इद्र का है। तैत्तिरीय सहिता मे कहा गया है कि इद्र ने सर्व प्रथम भाषा को व्याकृत किया अर्थात् उच्चरित वाणी के समष्टि रूप को व्यष्टि मे परिणत कर व्याकरण-शास्त्र की नीव डाली। पदो के भेद, तीन काल, सात विभक्तियाँ आदि व्याकरण के विभिन्न अगो का, वैदिक मत्रो मे रहस्यपूर्ण ढग से, निर्देश मिलता है। ब्राह्मणग्रथो मे पदे-पदे भाषाशास्त्र के मुख्य अग निर्वचन (एटीमालॉजी) की दिशा मे प्रयत्न किए गए है। विभिन्न वैदिक शाखाओ के प्रातिशाख्य और यास्क-कृत निरुक्त तो भाषाशास्त्र के बहुमूल्य ग्रथ हैं ही, अग्निपुराण और गरुडपुराण तक मे व्याकरण-शास्त्र का निरूपण किया गया है। पाणिनि की अष्टाध्यायी, जिसमे पूर्वकालीन वैयाकरणो के चितनो का अनुशीलन कर सस्कृत वाङमय के शब्दो का व्याकरण सूत्ररूप मे ग्रथित किया गया है, विश्व-वाङमय की एक अपूर्व पुस्तक है। कात्यायन, पतजलि आदि उत्तरकालीन वैयाकरणो ने, अप्रचलित और नवप्रचलित पदो को ध्यान मे रखते हुए, पाणिनि-सूत्रो मे सशोधन, परिवर्द्धन और निराकरण की पद्धति का अनुसरण कर व्याकरण को ऐसी सामर्थ्य प्रदान की कि उसका प्रामाण्य आज तक अक्षुण्ण है। पाणिनि, कात्यायन, पतजलि इस मुनित्रयी से प्रतिपादित मत के आधार पर ही उत्तरकालीन पाणिनीय तथा इतर व्याकरण सप्रदायो का विकास और विस्तार हुआ, जिसका काल स्थूल रूप से विक्रम सवत् के गत २००० वर्ष है। इन २००० वर्षों मे भारतीय मस्तिष्क ने व्याकरण-शास्त्र के क्षेत्र मे जो गभीर ऊहापोह और सशक्त चितन किया है, वह सस्कृत विद्या का मेरुदड कहा जा सकता है। व्याकरण के इस तेजस्वी अध्ययन मे सस्कृत और प्राकृत—दोनों भाषाओ के तत्त्वविदो ने भाग लिया है। इस महायाग मे भर्तृहरि और भोजसदृश विद्वान् नृप, सम्राट् पुष्यमित्र के याजक पतजलि और ततुवायवशोद्भव जुमरनदिन्, राजाश्रित समृद्ध हेमचद्र और तप कृश निर्धन नागेश भट्ट, कास्मीर से केरल

तक सपूर्ण भारत के विद्वान् (कैयट और नारायणभट्ट सदृश) वैयाकरणो का आर्त्विज्य एव सहयोग है।

विक्रम-पूर्व काल मे सस्कृत वाङमय के विभिन्न शास्त्रो का प्रादुर्भाव और विकास हुआ, किन्तु उनका सम्यक् परिशीलन, परीक्षण, परिपुष्ट चिंतन और प्रमार्जन विक्रमयुग की गत द्विसहस्राब्दी की विशेषता है। षड् दर्शन, ज्योतिष और आयुर्वेद की तरह व्याकरण-शास्त्र भी इसी काल मे सँवारा गया। वैयाकरणो ने गभीर चितन और सूक्ष्म परीक्षण के आधार पर व्याकरण-शास्त्र को वह परिष्कृत शास्त्रीय रूप दिया कि व्याकरण-शास्त्र केवल शब्दानुशासन-शास्त्र न रह कर 'शास्त्रो का शास्त्र' बन गया। यही कारण है कि अन्य विचारशास्त्रो के समान व्याकरण-शास्त्र के भी मत (यथा स्फोटवाद, शब्दविवर्तवाद आदि) विचारशास्त्रीय चर्चा मे सम्मिलित किए जाते है। सर्वदर्शनसग्रह मे व्याकरण-शास्त्र को दर्शन मानकर उसके सैद्धातिक मतो के प्रतिपादन को स्वतत्र स्थान दिया गया है। शब्दसाधुत्व प्रतिपादन की परिधि से बाहर निकलकर व्याकरण-शास्त्र के क्षेत्र का बहुविध प्रसार इतना समुन्नत और परिपक्व हुआ कि भारत मे केवल व्याकरण का आजीवन अध्ययन करनेवाले विद्वानो की कमी भी कमी नही रही। 'द्वादशभिर्वर्षैर्व्याकरण स्माधीयते' की परपरा भारतीय मस्तिष्क की ही विशेषता है।

गत द्विसहस्राब्दी मे व्याकरण-चिंतन की परम्परा मे दो धाराएँ स्पष्ट दीखती है। प्रथम धारा के अनुयायियो ने व्याकरण के ध्येय 'शब्दसाधुत्व प्रतिपादन' को मुख्यतया ध्यान मे रखकर परिवर्तनशील भाषा से सबध विच्छेद नही किया। सस्कृत भाषा में—यहाँ भाषा का अर्थ जन भाषा नही, शिष्टभाषा है—जो नवीन शब्द प्रचलित और प्राचीन शब्द अप्रचलित हो जाते थे, उनकी साधुता और असाधुता दिखलाने के लिये व्याकरण के नियमो मे परिवर्तन अपेक्षित था। यह कार्य दो प्रकार से सभव था, और दोनो ही प्रकारो का अवलबन कर भारतीय वैयाकरणो ने व्याकरण-शास्त्र को भाषा-प्रवाह से दूर नही जाने दिया। प्रथम प्रकार मे पाणिनीय सूत्रो को ही आवश्यकतानुसार घटा-बढाकर या व्याख्यातर की शरण लेकर नवप्रचलित रूपो की उपपत्ति कर दी जाती थी। दूसरे प्रकार के अनुयायियो ने तोड-मरोडकर काम निकालने की प्रवृत्ति को नही अपनाया, बल्कि नए नियम रचकर नवीन व्याकरण-सप्रदायो को जन्म दिया। इन सप्रदायो की रचना यद्यपि पाणिनीय आदर्श पर की गई थी और इनमे पाणिनीय व्याकरण की सर्वागपूर्णता और उत्तरकालीन वैयाकरणो के द्वारा किये हुए गभीर परिशीलन न होने के कारण, शास्त्रपद प्राप्त करने की क्षमता न थी, तथापि इसमे सदेह नही कि सरल और सुगम होने के कारण इन विभिन्न व्याकरण-सप्रदायो ने अपना मुख्य काम—शब्दानुशासन—उत्तम प्रकार से निभाया। पाणिनीय सूत्रो मे ही घटा-बढाकर या नए नियम बनाकर, प्रथम धारा के अनुयायी वैयाकरणो ने भाषा और व्याकरण के निकट सबध को कायम रखा। शिष्ट व्यवहार मे प्रचलित पदो (लक्ष्यो) पर ध्यान देने के कारण ये वैयाकरण 'लक्ष्यैकचक्षुष्क' कहे जा सकते है। व्याकरण-शास्त्र चितन-परपरा की यह पहली धारा है। दूसरी धारा के अनुयायियो ने भाषा को गौण मानकर व्याकरण को प्रधानता दी। उनके मत से शब्दो के

साधुत्व-असाधुत्व की कसौटी व्याकरण-सूत्र है, शिष्टव्यवहार नही। व्याकरण-नियमो (लक्षणो) की ओर ध्यान देने के कारण दूसरी धारा के वैयाकरण 'लक्षणैकचक्षुष्क' कहे जा सकते है। लक्ष्यैकचक्षुष्क और लक्षणैकचक्षुष्क—ये दो शब्द भारतीय व्याकरण-शास्त्र चितन की इन दो भिन्न परपराओ के दृष्टिकोण मे मौलिक भेद को भलीभाँति स्पष्ट करते है। 'अपाणिनीय' तु भवति' (यह तो पाणिनि से विरुद्ध जाना होगा) और 'नह्येकमुदाहरण योगारम्भ प्रयोजयति (केवल एक उदाहरण (लक्ष्य) की सिद्धि के लिये सूत्र रखना ठीक नही है) सदृश वाक्य स्पष्ट सूचित करते है कि इन वैयाकरणो का ध्येय भाषा का व्याकरण नही' बल्कि व्याकरण के सूत्रो की मीमासा करना था। भाषा का शुद्धीकरण नही, सूत्रो के अर्थ की छानबीन इनका मुख्य कार्य था। यही कारण है कि उत्तरकालीन वैयाकरणो ने भाषा का स्वतत्र व्याकरण ग्रथ न रचकर टीकाएँ, उपटीकाएँ लिखने मे कौशल दिखाया। सूत्रो के अर्थ की मीमासा, उनके आधार पर सभूत पदो के असख्य रूपो की कल्पना, सूत्रो मे अर्धमात्रा लाघव की असभाव्यता का प्रदर्शन, खडन-मडनात्मक शास्त्र विचार, नव्य नैयायिको की शैली मे सूत्रो के अभिप्रेत अर्थ का सूक्ष्म चितन, प्रकृति, प्रत्यय, पद और वाक्य के अर्थनिरूपण मे न्याय और मीमासा के मतो की साधक-बाधक चर्चा कर व्याकरण को शब्दशास्त्र ही नही, अर्थशास्त्र के उन्नत पद पर आसीन कराना—आदि अनेक बुद्धि नैपुण्य सूचक विमर्शो मे भारतीय मस्तिष्क ने अपनी प्रखर प्रतिभा प्रगट की। विश्व की किसी भाषा या वाङमय के इतिहास मे एवविध प्रकाण्ड और गभीर व्याकरण सबधी अर्थ-चितन नही हुआ। लक्षणैकचक्षुष्क वैयाकरणो की यह उज्ज्वल परपरा आज भी भारत मे जीवित है। सस्कृत-विद्या-केद्र काशी के विद्वत्समाज ने इस परपरा को अक्षुण्ण रखने का स्तुत्य प्रयत्न किया है।

लक्ष्यैकचक्षुष्क वैयाकरणो की परपरा का प्रारभ कात्यायन के समय से ही दृष्टिगोचर होता है। इन वैयाकरणो ने आवश्यकतानुसार पाणिनीय सूत्रो में परिवर्तन करने या अन्य सम्प्रदाय चलाने मे सकोच नही किया। फलतः समानातर रूप से दोनों मार्गों का अनुसरण किया गया। एक ओर तो पाणिनीय सूत्रो पर वार्तिक, इष्टि, ज्ञापक, योग विभाग आदि के द्वारा अष्टाध्यायी को ही सर्वार्थसाधक बनाने का प्रयत्न किया गया, दूसरी ओर कातत्र, चांद्र आदि पाणिनीयेतर सम्प्रदायो ने स्वतत्र ग्रथ रचे। सरल से सरल रीति से सस्कृत व्याकरण सिखाना इन सम्प्रदायो का उद्देश्य था। और उसमे वे बहुत अश तक सफल भी हुए। आज भी बगाल मे और विशिष्टधर्मावलबियो के समाज मे सस्कृत व्याकरण का अध्ययन-अध्यापन पाणिनीयेतर सम्प्रदायो के ग्रथो की सहायता से होता है। पाश्चात्य शिक्षा-प्रणाली के सपर्क के फलस्वरूप रची गई आधुनिक व्याकरण-पुस्तिकाओ को यदि हम भूलना न चाहे तो यह कहा जा सकता है कि लक्ष्यैकचक्षुष्क-वैयाकरण परपरा भी आज भारत मे जीवित है। वाल्मीकि और कालिदास की भाषा को समझने के लिए किसी न किसी रूप मे इस परपरा का प्रचार स्वाभाविक है।

इस प्रस्तावना को समाप्त करने के पूर्व हम यह आवश्यक समझते है कि भाषा और व्याकरण के परस्पर-सबंध को ठीक तौर से समझ लिया जाय। पाणिनि की भाषा वास्तव मे

'भाषा' थी, अर्थात् बोलचाल की जनभाषा थी। पाणिनि ने इसे स्वभावागत विकृतियो से बचाने के लिये स्थिर रूप दिया। 'सस्कृत' हो जाने के कारण वह सस्कृत भाषा कहाई। कात्यायन और पतजलि के समय तक वह सस्कृत भाषा शनै-शनै शिष्टभाषा बन रही थी और जन भाषा का प्राकृतिक विकास प्राकृत भाषाओ के रूप मे हो रहा था। आगे चलकर सस्कृत भाषा शिष्टभाषा भी न रही और धीरे-धीरे पडितभाषा बन गई। भिन्न-भिन्न प्रातो मे विभिन्न भाषाओ के प्रचलन के कारण, अखिल भारतवर्ष की सास्कृतिक और साहित्यिक सपत्ति इसी पडितभाषा मे निहित की गई और भिन्न प्रातीय विद्वानो के विचार-विनिमय की एकमात्र साधन बनी। यही कारण है कि काव्य, अलकार के अतिरिक्त आयुर्वेद, ज्योतिष, स्थापत्य शिल्प, सगीत आदि शास्त्रीय विषयो मे अखिल भारतीय कीर्ति के ग्रथ, समस्त देश मे प्रचार पाने के लिये, इसी पडितभाषा मे रचे गए। साथ ही साथ, जन भाषा और शिष्ट भाषा के रूप मे सस्कृत भाषा की उत्तराधिकारिणी प्राकृत भाषाओ मे भी प्रातीय महत्त्व की कृतियाँ रची गईं। अत उन भाषाओ के व्याकरण का भी अनुशीलन और चिंतन वैयाकरणो ने किया। पाली व्याकरण और प्राकृत व्याकरण पर रचे गए ग्रथ इसी दिशा मे किए गए प्रयत्नो के फल है। वर्तमान भारतीय भाषाओ के वैज्ञानिक अध्ययन मे और भाषाविज्ञान की अनेक गुत्थियाँ सुलझाने के लिए इन ग्रथो का महत्त्व सदेहातीत है।

त्रिमुनि व्याकरणम्

अष्टाध्यायी रचने मे पाणिनि का मुख्य उद्देश्य वैदिक भाषा से भेद दिखाते हुए तत्कालीन भाषा को 'सस्कृत' करना था। अपने पूर्वकालीन वैयाकरणो के उन मतो को, जिनके सबध मे उनका मतभेद था, पाणिनि ने नि सकोच नाम निर्देश सहित उद्धृत किया है, जहाँ मतैक्य था, वहाँ उन्होने नाम निर्देश आवश्यक नही समझा। इससे स्पष्ट है कि पूर्ववर्ती वैयाकरणो की कृतियो को सम्यक् आत्मसात् कर उन्ही के आधार पर पाणिनि ने अष्टाध्यायी की रचना की। पाणिनि के बाद कात्यायन का नाम आता है, यद्यपि कात्यायन के पूर्व भी पाणिनि सूत्रो पर वार्त्तिक रचे गए थे, जिनमे से अनेक महाभाष्य मे पाए जाते है। अपने वार्तिको मे स्वय कात्यायन ने वाज-प्यायन, व्याडि और पौष्करसादि का नामोल्लेख किया है। सत्य तो यह है कि कात्यायन के वार्तिको का स्वतत्र ग्रथ अप्राप्य है और जितने भी वार्तिक आज सिद्धात रूप से कात्यायनकृत माने जाते है, वे सब महाभाष्य के अन्तर्गत है। जिन वार्तिको की उपयोगिता के सबध मे पतजलि का विरोध नही है और जो पाणिनि द्वारा असाधित शब्दो की सिद्धि के लिये या अवाछनीय (किंतु सूत्रप्राप्य) पदो की असाधुता निर्दिष्ट करने के लिए आवश्यक है, वे ही काशिका या सिद्धात-कौमुदी मे उद्धृत किए गए है और साधारणतया आज कात्यायनकृत माने जाते है। परतु हमे यह जानना चाहिए कि कात्यायन के अन्य सैकड़ो वार्तिक पतजलि की कडी जाँच मे खरे नही उतरे, अत- अनावश्यक होने के कारण वे महाभाष्य मे ही रह गए और उत्तरकालीन वैयाकरणो ने उन पर ध्यान नही दिया। पतजलि ने महाभाष्य मे पाणिनि के लगभग १५०० सूत्रो पर रचे गए करीब ४००० वार्तिको पर साधक-बाधक टीका की है,

किन्तु उनमे एक से अधिक वार्तिक कात्यायन से भिन्न वार्तिककारो के है। भारद्वाजीय, सौनाग, कुणि आदि कई वार्तिककारो का पतजलि ने स्पष्ट उल्लेख किया है। 'यथोत्तर मुनीना प्रामाण्यम्' (पाणिनि, कात्यायन, पतजलि मे पूर्व आचार्य की अपेक्षा पर आचार्य का मत अधिक मान्य है) परिभाषा से स्पष्ट है कि मुनित्रयी मे पतजलि का मत अकाट्य है। वैज्ञानिक और ऐतिहासिक दृष्टि से यह उचित भी है, क्योकि कात्यायन के समान पतजलि का भी यही ध्येय था कि पाणिनि-सूत्रो को परिवर्तन-प्राप्त भाषा के समकक्ष रखा जाय। नवीन परिवर्तनो को मान्य करने के लिये सूत्रो और वार्तिको मे सशोधन अपेक्षित थे। पाणिनि के अनतर और पतजलि के पूर्व अनेक आचार्यों ने सशोधनात्मक वार्तिको की रचना की थी। पतजलि ने महाभाष्य मे इन सभी आचार्यो के वार्तिको की, तत्कालीन भाषा के मान्य रूपो की दृष्टि से जॉच पडताल की है। महाभाष्य न तो समस्त पाणिनि-सूत्रो पर और न केवल कात्यायन-रचित वार्तिको पर भाष्य है, वास्तव मे यह विभिन्न आचार्यो द्वारा रचे गए व्याकरण सबधी नियमो पर एक समीक्षात्मक ग्रथ है। पाणिनि के समस्त सूत्रो पर भाष्य उपलब्ध न होने के कारण महाभाष्य पडित-समाज मे अपूर्ण समझा जाता है। किंतु उपलब्ध महाभाष्य अपूर्ण नही कहा जा सकता, प्रसिद्ध टीकाकार कैयट और नागेश ने भी अपने ग्रथो मे मूल ग्रथ की अपूर्णता का उल्लेख नही किया है।

पतजलि ने वार्तिको की समीक्षा मे उनकी उपादेयता या अनुपादेयता पर विचार करते हुए जो ग्रथराज रचा है, वह कई दृष्टियो से महत्त्वपूर्ण है। उसके समान प्रश्नोत्तरात्मक रोचक सवाद-शैली, सरल भाषा, विशद प्रतिपादन-पद्धति, विशाल दृष्टिकोण तथा हास्यरस का पुट अन्य किसी ग्रथ में दृष्टिगोचर नही होते। देश की तत्कालीन धार्मिक, सामाजिक तथा साहित्यिक स्थिति पर भी मनोरजक सूचनाएँ मिलती है। उदाहरण के तौर पर दिए गए अनेक वाक्यो मे ऐतिहासिक सूचनाएँ अंतर्निहित है। समकालीन किंतु अप्रत्यक्षीकृत भूत घटनाओ के वर्णन मे अनद्यतन भूत (लङ्) के प्रयोग के उदाहरण मे उन्होने यवनराज मिलिद के साकेत पर आक्रमण का उल्लेख किया है (अरुणद्यवन साकेत)। इसका अनुकरण चद्रगोमिन् ने 'अजयद्गुप्तो हूणान्,' शाकटायन ने 'अदहदमोघवर्षोऽरातीन्', मलयगिरि ने 'अदहदरातीन् कुमारपाल' उदाहरणो मे स्वकालीन (क्रमश षष्ठ, नवम और त्रयोदश विक्रमशतक की) महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक घटनाओ के निर्देश मे किया है। पतजलि की व्याख्यान-पद्धति उनकी सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता है। यदि किसी अश मे पाणिनीय सूत्र अपूर्ण प्रतीत होता है तो उस पर सशोधनात्मक वार्तिक रचने के पहले पतजलि यह देखना चाहते है कि क्या सूत्र पर वार्तिक का बोझ लादे बिना उपायातर से अभिप्रेत अर्थ सिद्ध नही किया जा सकता। जहाँ तक सभव हुआ सूत्रो मे ही योगविभाग, अनुवृत्ति, ज्ञापक आदि का आश्रय लेकर पतजलि ने जिस व्याख्यान-शैली को जन्म दिया, वह उत्तरकालीन टीकाकार वैयाकरणो के हाथ मे पडकर खूब पनपी और जटिल बनी। मुनित्रय के ग्रथो की रचना जीवित भाषा के आधार पर की गई थी। पतजलि ने स्वय कहा है कि उनके समय मे भाषाज्ञान के लिये व्याकरण पढना आवश्यक नही था। अपने काल के मान्य रूपो की उपपत्ति के लिए कात्यायन आदि वार्तिककार और महाभाष्यकार ने अपने-अपने ढग से प्रयत्न किए। अत. यह कहना कि वार्तिककार का उद्देश्य पाणिनि के

दोषो का उद्घाटन करना था तथा पतंजलि का उद्देश्य पाणिनि का मडन और वार्तिककार का खडन करना था, मुनित्रयी के दृष्टिकोण से अपरिचय सूचित करता है। कात्यायन और पतजलि दोनो का उद्देश्य एक ही था—स्वकालीन शिष्टभाषा का 'पूर्ण' व्याकरण लिखना। भेद केवल इतना ही है कि जहाँ एक ओर कात्यायन सूत्रो पर सशोधनात्मक वार्तिक रचते है, पतजलि सूत्र और वार्तिक दोनो का सूक्ष्म परिशीलन और तर्कशुद्ध व्याख्यान कर आवश्यकता से अधिक सूत्र या वार्तिक नही रखना चाहते। यह भी बात नही है कि पतजलि हमेशा पाणिनि का समर्थन ही करते हो। अपनी दृष्टि से अनावश्यक सूत्रो का उन्होने प्रत्याख्यान भी किया है और दूसरी ओर, कात्यायन के वाछनीय वार्तिको का समर्थन भी किया है। साराश यह कि तत्कालीन भाषा के व्याकरण की दृष्टि से पतजलि का मत अधिक मान्य होना चाहिए और इसीलिये पाणिनीय सप्रदाय मे 'यथोत्तर मुनीना प्रामाण्यम्' कहा गया है। अन्य विचारशास्त्रो मे सूत्रो पर रचे गए भाष्य 'भाष्य' कहाते हैं, किंतु पतजलि का भाष्य महत्त्व के कारण महाभाष्य कहा गया है।

वाक्यपदीय मे कहा है कि वैजि, सौभव और हर्यक्ष नामक वैयाकरणो ने शुष्क तर्क का अनुसरण कर तीक्ष्ण समालोचना द्वारा महाभाष्य की छीछालेदर की थी। फलस्वरूप महाभाष्य की अध्ययन-अध्यापन परपरा विच्छिन्न हो गई। केवल दक्षिण मे महाभाष्य ग्रथ पुस्तक रूप मे रह गया था। इस स्थिति मे चद्राचार्य आदि विद्वानो ने महाभाष्य का सूक्ष्म अध्ययन कर उसका पुनरुद्धार किया। राजतरगिणी मे भी कहा गया है कि काश्मीर-नृप अभिमन्यु ने पतजलि-सप्रदाय के वैयाकरणो को देशातर से बुलाकर अपने राज्य मे महाभाष्य के अध्ययन को पुन प्रचलित किया। इससे विदित होता है कि महाभाष्य के कालक्रमानुगत विकास मे अनेक बार कठिनाइयाँ आई और बीच मे इसकी पठन-पाठन परपरा टूट भी गई थी। पतजलिचरित की कहानी, जिसमे यह कहा गया है कि महाभाष्य की एक मात्र उपलब्ध पल्लव-प्रति के कुछ अश बकरे ने खा लिए थे, सभवत इसी ऐतिहासिक तथ्य की ओर निर्देश करती है। महाभाष्य के टीकाकारो मे भर्तृहरि का नाम सर्व प्रथम आता है। गणरत्नमहोदधि के रचयिता वर्धमान के कथनानुसार भर्तृहरि ने महाभाष्य के ३ पादो पर व्याख्या लिखी थी। किंतु वह टीका आज लुप्तप्राय है। बर्लिन की एक हस्तलिखित प्रति मे तथा उससे फोटो द्वारा नकल की गई मद्रास-लायब्रेरी की प्रति मे केवल १-१-५५ सूत्रो तक ही त्रुटित टीका मिलती है। कुछ वर्ष पूर्व प० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु द्वारा इसके प्रारंभिक भाग का प्रकाशन प्रारंभ हुआ था, किंतु पस्पशाह्निक भी समाप्त नही हुआ। महाभाष्य के गूढार्थ को स्पष्ट करने का मुख्य श्रेय काश्मीरी विद्वान् कैयट (एकादश विक्रम शतक) को है। कैयट ने अपनी भूमिका मे लिखा है कि मैं भर्तृहरि की टीका के सहारे अपनी टीका लिख रहा हूँ। इसमे सदेह नही कि कैयट की प्रदीप व्याख्या के अभाव मे महाभाष्य के रहस्य का समझना असम्भव नही तो कठिन अवश्य था। कैयट ने एक-देशिन् और सिद्धान्तिन् भाष्य की छानबीन कर भिन्न प्रतीयमान मतो का समन्वय दिखाकर महाभाष्य के अध्ययन को सुगम बनाया है। षोडश वि० शतक के पूर्व रची गई निम्नलिखित टीकाओं का उल्लेख मिलता है—धनेश्वर की चिन्तामणि नामक महाभाष्य टीका,

नारायण और ईश्वरानद की प्रदीप पर विवरण नामक टीकाएँ। नागेशभट्ट (१९वाँ वि० शतक-पूर्वपाद) ने प्रदीप पर उद्योत नाम की टीका लिखी। इस टीका मे नागेश के महाभाष्य का प्रकाड पडित होने का प्रमाण पदे-पदे मिलता है। महाभाष्य का गभीर आलोडन कर उन्होने जो मथितार्थपूर्ण टीका लिखी, उससे तत्कालीन वैयाकरणो मे उनका उच्च स्थान निर्विवाद है। उद्योत पर नागेशभट्ट के शिष्य वैद्यनाथ पायगुडे ने छाया नामक टीका लिखी। अभी हाल ही मे काशी के गुरप्रसाद शास्त्री ने राजलक्ष्मी नामक टिप्पण्यात्मक व्याख्या के साथ प्रदीपोद्योत सहित सपूर्ण महाभाष्य को प्रकाशित किया है। पूना से अभ्यकर शास्त्री द्वारा मराठी अनुवाद सहित महाभाष्य के दो अध्याय प्रकाशित हो चुके है।

महाभाष्य पर अद्यावधि रची गई टीकाओ का यह सक्षिप्त विवरण है। अब हम पाणिनीय व्याकरण के अन्य ग्रथो का परिचय निम्नलिखित क्रम से देगे। अष्टाध्यायी-क्रमानुसारी ग्रथ, विषयक्रमानुसारी ग्रथ, अर्थ मीमासापरक ग्रथ, सहायक ग्रथ।

अष्टाध्यायी-क्रमानुसारी ग्रंथ

विक्रमयुग के प्रथम पाँच-छ शतको मे व्याकरण सबधी कार्य, शिष्टभाषा मे अन्य प्राकृत भाषाओ के सपर्क के कारण होनेवाले परिवर्तनो और नव प्रयुक्त शब्दो के उपपादन तक ही सीमित था। पाणिनीयेतर सप्रदायो ने नए नियम रचकर नवीन व्याकरण सप्रदाय (कातत्र, चाद्र आदि) चलाए। किंतु पाणिनीयसप्रदाय मे पतजलि-निर्दिष्ट मार्ग से व्याख्यान-विशेष द्वारा अभीप्सित अर्थ निकाला जाता था। भर्तृहरि के पूर्व चद्राचार्य द्वारा महाभाष्य प्रचार के साथ-साथ पाणिनीय व्याकरण भी पुनः जोर से प्रचलित हुआ। इस पुन प्रचार मे ब्राह्मणधर्मीयेतरो का भी सहयोग था। सृष्टिधराचार्य (१७वाँ वि० शतक) के अनुसार भर्तृहरि ने भागवृत्ति नामक टीका अष्टाध्यायी पर लिखी थी। यद्यपि क्रमदीश्वर (नवम वि० शतक), जुमरनदिन् (एकादश वि० शतक) के व्याकरण ग्रथो मे इस टीका के अवतरण उपलब्ध है, तथापि मूल टीका अप्राप्य है। अत अष्टाध्यायी-क्रमानुसारी ग्रथो मे सर्वप्रथम उल्लेख 'काशिकावृत्ति' का होना चाहिए। काशिका के लेखक जयादित्य और वामन बौद्धधर्मीय थे। प्रसिद्ध चीनी यात्री ईत्सिग के कथनानुसार जयादित्य का देहावसान ७५६ वि० सम्वत् मे हुआ और १६ वर्ष के छात्रो को काशिकावृत्ति ५ वर्ष मे पढाई जाती थी। ५ अध्याय तक काशिकावृत्ति जयादित्य ने लिखी थी, शेष ३ अध्यायो पर वामन ने लिखी। काशिकावृत्ति मे प्रत्येक सूत्र का स्पष्ट अर्थ, अपेक्षित वार्तिक और सुगम उदाहरण दिए गए है। भट्टोजी दीक्षित की सिद्धातकौमुदी के सामने काशिका का प्रचार बद-सा हो गया है। किंतु पूर्वसूत्र से पदो की अनुवृत्ति का ज्ञान कराते हुए सूत्रार्थ के विकास का दिग्दर्शन कराने के कारण काशिका का महत्त्व आज भी अक्षुण्ण है। हर्ष की बात है कि काशी की राजकीय व्याकरणपरीक्षाओ मे काशिका का हाल ही मे अतर्भाव किया गया है। काशिका पर बौद्ध जिनेन्द्रबुद्धि ने (अष्टम वि० शतक) न्यास या विवरणपंजिका नामक विस्तृत टीका लिखी है, जो राजशाही (बगाल) से प्रकाशित हो चुकी है। मैत्रेय रक्षित (द्वादश वि० शतक) द्वारा न्यास पर लिखी 'तत्रप्रदीप' टीका का उल्लेख मिलता

है। पुरुषोत्तमदेव (त्रयोदश वि० शतक) की भाषावृत्ति (राजशाही से प्रकाशित) इसी टीका के आधार पर लिखी गई थी। काशिका पर दूसरी प्रसिद्ध टीका हरदत्त (१२वाँ वि० शतक) की पदमजरी (बनारस से प्रकाशित) है। इसमे कैयट के प्रदीप का प्रभाव यत्रतत्र दीख पडता है। न्यासकार के मतो के खडन की ओर हरदत्त की विशेष प्रवृत्ति है। अन्नभट्ट (१७वाँ वि० शतक) की अष्टाध्यायी पर मिताक्षरा टीका (बनारस से प्रकाशित) सरल और उपादेय है। इसमे महाभाष्य और काशिका के भेद-स्थलो का निर्देश किया गया है। पदमजरी के बाद अष्टाध्यायी-क्रमानुसार टीकाग्रथो की रचना प्राय बद हो जाती है और विषयक्रमानुसार लिखे ग्रथ मिलते है। अपवादस्वरूप दो ग्रथो का निर्देश आवश्यक है। पहिला ग्रथ भट्टोजी दीक्षित (सप्तदश वि० शतक का उत्तरार्ध) का शब्दकौस्तुभ है, जो अष्टाध्यायीस्थ क्रम से सूत्रो की महाभाष्यार्थसवलित गहन व्याख्या है। प्रसिद्ध वैयाकरण भट्टोजी दीक्षित की इस कृति मे महाभाष्य का आलोड़न कर सूत्रव्याख्या-विषयक गभीर विवेचन किया गया है। विशिष्ट शैली के कारण महाभाष्य-टीका न कहकर इसे सूत्रव्याख्या पर एक स्वतत्र ग्रथ कहना चाहिए। पूर्व वैयाकरणो के मतो का खडन-मडन और पाडित्यपूर्ण शैली मे, भाष्यार्थ का अवतरण देकर, विषय प्रतिपादन-इसकी विशेषता है। अभाग्यवश यह ग्रथ अभी अपूर्ण ही (४ अध्याय तक—त्रुटित रूप मे) बनारस से प्रकाशित है। वैद्यनाथ पायगुडे ने इस पर प्रभा नामक टीका लिखी थी। दूसरा ग्रथ स्वामी दयानद का बाल-छात्रोपयोगी अष्टाध्यायी-भाष्य है। यह भी अजमेर से डा० रघुवीर द्वारा अपूर्ण ही प्रकाशित है। इसकी प्रतिपादनशैली मे सरलता है और यत्र-तत्र मौलिकता दिखाने का प्रयत्न किया गया है।

विषयक्रमानुसारी ग्रंथ

हिंदू राज्य-काल की समाप्ति पर सस्कृतभाषा शिष्टभाषा या राजभाषा भी न रही। जनसपर्क से अधिक दूर हो जाने से सस्कृत अब अधिक दुर्बोध हो गई थी। फलत: आवश्यक व्याकरण ज्ञान प्राप्त करने के लिए अष्टाध्यायी सूत्रक्रम की उपादेयता कम हो गई थी। सस्कृत व्याकरण के विद्वान् अष्टाध्यायी-क्रम से भले ही लाभ उठा ले, किंतु नव विद्यार्थी के लिये अष्टाध्यायी-क्रम द्वारा व्याकरण ज्ञान प्राप्त करना सुलभ न था। इस स्थिति मे पाणिनीय वैयाकरणो ने एक नई प्रणाली का अनुसरण किया। इस नवीन प्रणाली के ग्रथो मे विषयानुसार सूत्रो का विन्यास तो किया गया ही, साथ ही प्रकरण मे दिए गए उदाहरणो की सिद्धि के आवश्यक अन्य सूत्र भी उसी स्थल पर विन्यस्त किए गए। फल यह हुआ कि अष्टाध्यायी के सूत्र-क्रम को छोडकर सधि, सुबत, तिङत, कृदत आदि प्रकरण अलग-अलग रखे गए और आवश्यक अन्य सूत्र भी उपयोगिता की दृष्टि से भिन्न-भिन्न स्थलो से निकाल कर उपयुक्त स्थलों मे दिए गए। अष्टाध्यायी मे सक्षिप्तता लाने के लिये सुबोधता पर ध्यान नही दिया गया था। सुधी उपास्य: से सुद्ध्युपास्य सिद्ध करने के लिये अष्टाध्यायी के भिन्न-भिन्न स्थलों से यण्विधायक सूत्र, ध् का द्वित्वविधायक सूत्र, ध् को द् बनाने का सूत्र तथा अन्य आवश्यक परिभाषासूत्र एक ही स्थान मे रखना आवश्यक था। यह काम सुचारु रूप से पाणिनीय वैयाकरणो ने

परिवर्तनवादी बनकर किया। परपरावादी का हठ छोडकर सूत्रक्रम का परिवर्तन करने मे उन्होने आनाकानी नही की। इस दिशा मे प्रथम प्रयत्न विमल सरस्वती (११वॉ वि० श०) की रूपमाला और धर्मकीर्ति (११वॉ वि० श०) का रूपावतार है। रूपावतार, राजेंद्र चोड के आज्ञानुसार पाठशालाओ मे सस्कृत व्याकरण पढाने के लिए लिखा गया था। रामचद्र (१४वाँ० वि० श०) की प्रक्रियाकौमुदी इस दिशा मे अधिक सुव्यवस्थित प्रयत्न है। इसका आधार लेकर भट्टोजी दीक्षित ने सिद्धातकौमुदी की रचना की। प्रक्रियाकौमुदी पर मूलग्रथ-लेखक के पौत्र बिट्ठल ने प्रसाद नामक टीका तथा भट्टोजी दीक्षित के गुरु शेषकृष्ण ने प्रकाश नामक टीका लिखी। रूपमाला, रूपावतार और प्रक्रियाकौमुदी मे अष्टाध्यायी के सब सूत्र नही दिए गए। वैदिक भाग तो अधिक अपूर्ण है। इस दोष का मार्जन करने के लिए भट्टोजी दीक्षित ने सिद्धातकौमुदी की रचना की। यहॉ पर तत्कालीन केरल के प्रसिद्ध वैयाकरण नारायण भट्ट के प्रक्रिया-सर्वस्व का उल्लेख करना आवश्यक है। नारायण भट्ट दक्षिण भारत मे भट्टोजी दीक्षित के प्रतिस्पर्धी माने जाते है। दोनो के सबध मे एक दूसरे से मिलने की इच्छा के (मृत्यु के कारण) अपूर्ण रह जाने की कथा कही जाती है। प्रक्रियासर्वस्व २० खडो मे लिखा गया है। इसके प्रथम ४ खड त्रिवेंद्रम् से तथा ५वॉ खड (तद्धित) और १९वॉ खड (उणादि) मद्रास से हाल मे प्रकाशित हुए है। प्रसिद्ध किंतु अपाणिनीय पदो को मान्यता देकर नारायण भट्ट ने स्वतत्रता दिखाई है। 'विश्रामस्यापशब्दत्व वृत्त्युक्त नाद्रियामहे। मुरारि भवभूत्यादीनप्रमाणीकरोति कः' श्लोक मे उन्होने यही कहा है। किंतु भट्टोजी दीक्षित की सिद्धातकौमुदी के सामने प्रक्रिया-सर्वस्व को भी झुकना पडा। सिद्धातकौमुदी की महत्ता इसी से स्पष्ट है कि इस पर टीकाओ और उपटीकाओ की सख्या अत्यधिक है और आज भी समस्त भारत मे इसका मान और प्रचार है। भट्टोजी दीक्षित ने अपने पूर्ववर्ती पाणिनीय वैयाकरणो का सूक्ष्म अध्ययन किया था। सिद्धातकौमुदी की स्वरचित टीका प्रौढमनोरमा मे पदे-पदे सूत्रार्थ विचार के अवसर पर नामनिर्देश सहित वृत्ति, न्यास, पदमजरी, प्रसाद, प्रकाश का खडन उन्होने किया है। अष्टाध्यायी पर उनके महाभाष्यार्थ-सवलित विस्तृत व्याख्या-ग्रथ शब्दकौस्तुभ का निर्देश ऊपर हो चुका है। भट्टोजी दीक्षित के समय मे सूत्रो के अर्थ-चिंतन पर और उनके प्रयोग से सभूत पदों के रूपो पर लक्षणैक-चक्षुष्क दृष्टि से अत्यधिक और (कभी-कभी) हास्यावह ध्यान दिया जाता था। सम्+कर्ता के समधिक १०८ रूप और गो+अञ्च् (गामञ्चति य स) प्रकृति से सातो विभक्तियो मे निष्पन्न ५२७ रूप इसके उदाहरण है। इष्ट लक्ष्यो से ध्यान हटाकर केवल लक्षणो (सूत्रो) पर ध्यान देने का यह स्वाभाविक परिणाम है। सिद्धातकौमुदी की प्रसिद्ध टीकाओ मे नागेश भट्ट का शब्देदुशेखर, ज्ञानेंद्र सरस्वती की तत्त्वबोधिनी, वासुदेव दीक्षित (१९वाँ बि० श०) की बालमनोरमा (छात्रो के लिये अत्युपयोगिनी), शिवदत्त दाधिमथ की सारदर्शिनी टीका उल्लेखनीय है। स्वरवैदिकी प्रक्रिया पर जयकृष्ण की सुबोधिनी प्रकाशित सिद्धातकौमुदी के सस्करणो मे पाई जाती है। अभी हाल ही मे मद्रास से श्रीनिवास यज्वन् (१८वॉ वि० श०) की स्वरप्रक्रिया पर स्वरसिद्धातचद्रिका नामक टीका प्रकाशित हुई है जो वैदिक उदाहरणो की विविधता के कारण उपादेय है। अन्य न्यूनतम (सिद्धातकौमुदी पर) टिप्पणीकारो का

नामोल्लेख स्थानसकोचवश असभव है। प्रौढमनोरमा और शब्देदुशेखर पर विद्वत्तापूर्ण उप-टीकाओ का आगे निर्देश किया जायगा। पाणिनीय व्याकरण के इतिहास मे यह काल खडन-मडन का युग कहा जा सकता है। सिद्धातकौमुदी के बाद मूल ग्रथ पर टीका लिखने की प्रथा बद-सी हो गई थी। जटिल भाषा मे गहन टीका लिखना चालू हो गया था। विचार-स्वातत्र्य का प्रदर्शन पूर्ववर्ती ग्रथकारो के मत-खडन मे किया जाता था। इन सब उपटीकाओ का विवरण देना असभव होने से केवल नाम का उल्लेख किया जाता है। इनके महत्त्व के विषय मे चर्चा अत मे की जायगी। प्रौढमनोरमा पर पडितराज जगन्नाथ की मनोरमाकुचमर्दिनी (पञ्चसन्ध्यन्त प्रकाशित), चक्रपाणि और कृष्णभट्ट मौनी का मनोरमाखडन (द्वितीयकारकात प्रकाशित) उल्लेखनीय है। मनोरमा पर नागेश भट्ट द्वारा अपने गुरु हरि दीक्षित के नाम से लिखी शब्दरत्न नामक टीका पर भागवत हरिशास्त्री की चित्रप्रभा (कारकात), वैद्यनाथ पायगुडे का भावप्रकाश, भैरव मिश्र की रत्नप्रकाशिका उल्लेखनीय है। सिद्धातकौमुदी की नागेश भट्ट रचित टीका शब्देदुशेखर पर वैद्यनाथ पायगुडे की चिदस्थिमाला, भैरव मिश्र की चद्रकला, सदाशिव भट्ट की भट्टी, राघवेंद्राचार्य की विषमी, दड भट्ट की अभिनव चद्रिका, खुद्दी झा का नागेगोक्ति प्रकाश (नपदान्तसूत्रात) आदि उल्लेखनीय है। इनमे से अधिकाश केवल महत्त्वपूर्ण अशो पर लिखी गई है। प्रौढमनोरमा और लघुशब्देदुशेखर के अनेकटीकोपेत नूतन सस्करणो मे माधव शास्त्री भडारी, सदाशिव शास्त्री एव गुरुप्रसाद शास्त्री आदि आधुनिक विद्वानो ने अपनी टिप्पण्यात्मक टीकाएँ लिखी है। इन विद्वानो की गहन टीकाओ से व्याकरण-ज्ञान की अपेक्षा करना वृथा है, क्योकि ये टीकाये 'बालाना सुखबोधाय' नहीं लिखी गई है। विद्यार्थियो के उपकार के लिए वरदराज (भट्टोजी दीक्षित के शिष्य) ने मध्यसिद्धातकौमुदी, लघुसिद्धात कौमुदी और सारसिद्धातकौमुदी—तीन सक्षिप्त सस्करण बनाए थे। आजकल विद्यार्थीगण द्वितीय पुस्तक से पाणिनीय व्याकरण का अध्ययन प्रारभ करते है।

अर्थमीमांसा पर ग्रंथ

अभी तक पदो की रचना से सबध रखनेवाले पाणिनीय व्याकरण-ग्रथो का विवरण दिया गया है। किंतु पदरचना के साथ आरभ ही से पदार्थ-मीमासा भी पाणिनीय सम्प्रदाय मे पाई जाती है। महर्षि व्याडि ने अपने सग्रह ग्रथ मे, जिसका विस्तार नागेश के कथनानुसार लक्षश्लोकात्मक था, शब्द की नित्यानित्यता, शब्द और अर्थ के सबध का स्वरूप आदि विषयो पर ऊहापोहपूर्वक विस्तार से विचार किया था। दुर्भाग्य से यह ग्रंथराज अभी तक अनुपलब्ध है। भर्तृहरि (७वाँ वि०श० उत्तरार्थ) का वाक्यपदीय, जिसमे स्फोटवाद और शब्द-विवर्तवाद सर्व-प्रथम सविधि प्रतिपादित किया गया है, एक प्रसिद्ध ग्रथ है। इसके प्रथम काड पर वृषभदेव की, द्वितीय पर पुण्यराज की और तृतीय पर हेलाराज की टीकाएँ प्रकाशित है। भट्टोजी दीक्षित की ७४ कारिकाओ पर, जो उन्होंने शब्दकौस्तुभ मे निष्कर्ष के तौर पर निर्णीत की थी, उनके भतीजे कौड भट्ट ने वैयाकरणसिद्धातभूषण नामक टीका लिखी है। इसमे व्याकरण-शास्त्र से सम्बद्ध सभी अर्थ-विषयो पर (जैसे धात्वर्थ, प्रत्ययार्थ, कारकार्थ, समासार्थ आदि) विशद

प्रकाश डाला गया है। इसके सक्षिप्त सस्करण वैयाकरणसिद्धातभूषणसार पर भैरव मिश्र की परीक्षा, कृष्णमित्र का भूषण, खुद्दी झा का तिङर्थवाद, हरिवल्लभ का दर्पण प्रकाशित है। नागेश भट्ट की लघुमजूषा (परमलघुमजूषा इसका उपादेय सक्षिप्त सस्करण है) पदार्थ-चर्चा विषयक महत्त्वपूर्ण सिद्धातग्रथ है और इसमे सभी विषयों पर न्याय, मीमासा आदि शास्त्रातरो के मतो का खडन कर स्वगतस्थापन किया गया है। इसकी टीकाओ मे वैद्यनाथ पायगुडे की कला, कृष्णमित्र की कुचिका (अपूर्ण प्रकाशित) और सभापति उपाध्याय की रत्नप्रभा विशेष उल्लेख के योग्य है। जगदीश की शब्दशक्तिप्रकाशिका और गदाधर के व्युत्पत्तिवाद का, नव्यन्यायशैली से प्रभावित नूतन व्याकरण-सप्रदाय मे, प्रचार है। अन्य एकागी ग्रथो मे स्फोट-वाद पर मडन मिश्र और भरत मिश्र की स्फोटसिद्धि, कृष्णभट्ट मौनी की स्फोट-चद्रिका विशेष उल्लेखनीय है।

सहायक ग्रथ

अष्टकं गणपाठश्च धातुपाठस्तथैव च।
लिङ्गानुशासनं शिक्षा पाणिनीया अमी क्रमात्॥

पाणिनीय व्याकरण के मूल ग्रथो के नाम ऊपर के श्लोक मे दिए गए है। अष्टक (अष्टाध्यायी) का विवरण ऊपर आ चुका है। सक्षिप्तता लाने के लिये पाणिनि ने सूत्रो मे सब शब्दो का निर्देश नही किया था, उन शब्दो को गणपाठ मे अतर्भूत किया गया था। २५८ सूत्रो मे गणों का निर्देश किया गया है। इन गणो मे कुछ तो आकृतिगण है, जिनमे अन्य वाछ-नीय शब्दो का प्रक्षेप किया जा सकता है। किंतु अन्य गणो के सबध मे भी उत्तरकालीन प्रक्षेप का सदेह होता है। भिन्न-भिन्न गणो पर (जैसे निपात, अव्यय, उपसर्ग आदि) अनेक अर्थबोधक टीकाएँ लिखी गई है। किंतु सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रथ, वर्धमान (१२०० वि० श०) का स्वरचित टीका सहित पद्यमय गणरत्न महोदधि है, जो सर्वागपूर्णता की दृष्टि से उपा-देय है। पाणिनीय धातुपाठ मे १९९४ धातुएँ है, जिनमे २० सौत्र धातु शामिल नही है। इस पर क्षीरस्वामिन् (१२०० वि० स०) की क्षीरतरगिणी (जर्मनी से प्रकाशित), मैत्रेय-रक्षित (११५० वि० स०) का धातुप्रदीप तथा सायण-माधव (१४०० वि० स०) की प्रसिद्ध माधवीय धातुवृत्ति (बनारस और मैसूर से प्रकाशित) उल्लेखनीय है। उपयोगी सूत्रो से सिद्धिसहित धातुसाधित विशिष्ट रूप जानने के लिए इन टीकाओ का महत्त्व अमूल्य है। उपलब्ध पाणिनीय लिगानुशासन मे १८७ सूत्र है। यामुनाचार्य के अनुसार व्याडि ने भी लिगा-नुशासन रचा था। सिद्धांतकौमुदी के प्रचलित सस्करणो मे लिगानुशासन भैरव मिश्र की टीका के साथ प्रकाशित है। हाल मे बडौदा से वामनकृत लिगानुशासन, मद्रास से पृथ्वीश्वरकृत-टीका-समेत हर्ष-वर्धनकृत लिंगानुशासन प्रकाशित हुए है। वररुचि, हर्षवर्धन और शाकटायन के लिगानुशासन भी फ्रैंक द्वारा पहिले ही से प्रकाशित है। उपलब्ध पाणिनीय शिक्षा मे ५८ श्लोक मिलते है। २१ श्लोको की लदन मे उपलब्ध शिक्षा सभवत· पाणिनि की मूल शिक्षा है। भारतीय सस्करणो में प्रक्षिप्त सामग्री है, इसमे सदेह नही। गणपाठ, धातुपाठ, लिगानु-

शासन और शिक्षा के अतिरिक्त उणादि सूत्र, फिट् सूत्र और परिभाषाएँ भी पाणिनीय सप्रदाय मे अतर्भूत है। उणादिपाठ साधारणतया शाकटायनकृत माना जाता है। निरुक्त और महाभाष्य मे पाए गए उल्लेखो से ज्ञात होता है कि शाकटायन व्युत्पत्तिपक्षवादी थे और सभव है उन्होने व्युत्पत्तिपक्ष सिद्ध करने के लिये उणादि सूत्र लिखे हो। पाणिनि ने 'उणादयो बहुलम्' कहकर उणादि सूत्र को टाल दिया है। तो भी पाणिनि-सूत्रो मे उणादि प्रत्ययो का निर्देश सूचित करता है कि पाणिनीय सप्रदाय मे उणादिपाठ मान्य होना चाहिए। वररुचि द्वारा भी उणादिपाठ रचे जाने का उल्लेख विमल सरस्वती ने किया है। वर्तमान उपलब्ध उणादिपाठ पर उज्ज्वलदत्त और ज्ञानेद्रसरस्वती की टीकाएँ मिलती है, जिनमे कोशकारो और कवियो की कृतियो के ज्ञातव्य अवतरण दिए गए है। हाल मे मद्रास से कातत्र-सप्रदाय और भोज-सप्रदाय के उणादिपा ठ के साथ-साथ पाणिनीय उणादिपाठ पर श्वेतवनवासिन् (१६०० वि० स०) की वृत्ति और पेरुसूरि (१६४० वि० स० के बाद) की पद्यमय टीका 'औणादिकपदार्णव' प्रकाशित हुई हैं। पाणिनि ने स्वय कई परिभाषाएँ (सूत्रव्याख्या करने के नियम) अष्टाध्यायी मे दी है। इनके अतिरिक्त अन्य लोकसिद्ध परिभाषाएँ पाणिनि को मान्य रही होगी। पतजलि ने महाभाष्य मे अनेक सूत्रज्ञापित परिभाषाओ को मान्य किया है। किंतु परिभाषाओ पर स्वतत्र ग्रथ सर्वप्रथम व्याडि का है, उसकी प्रति कलकत्ता (एशियाटिक सोसायटी, लायब्रेरी) मे उपलब्ध है। अन्य प्रकाशित परिभाषा पाठो मे सीरदेव की परिभाषावृत्ति और नागेश भट्ट का प्रसिद्ध परिभाषेदुशेखर उल्लेखनीय है। इसमे प्रत्येक परिभाषा का अर्थ, विवरण, उदाहरण, प्राचीन मतो की समीक्षा देकर अत मे वाचनिकी, ज्ञापकसिद्धा और लोकन्यायसिद्धा का भेद दिखाया गया है। इस पर भी नूतन वैयाकरणो ने विद्वत्तापूर्ण टीकाएँ लिखी है। वैद्यनाथ पायगुडे की गदा, भैरव मिश्र की भैरवी, राघवेद्राचार्य की त्रिपथगा, रामकृष्ण (तात्या) शास्त्री की भूति, जयदेव मिश्र की विजया प्रसिद्ध है। अतिम टीकाओ मे नव्यनैयायिक शैली का अनुसरण कर 'परिष्कार' के रूप मे विषय प्रतिपादन किया गया है। प्रातिपदिको के मौलिक स्वर का ज्ञान कराने के लिए शातनवाचार्य प्रणीत फिट्सूत्र (४ पादो मे ८७ सूत्र) भी पाणिनीय सप्रदाय मे पढाया जाता है। इस पर जयकृष्ण की सुबोधिनी टीका प्रकाशित है।

इतर व्याकरण-संप्रदाय

> **इन्द्रश्चन्द्रः काशकृत्स्नापिशली शाकटायनः।**
> **पाणिन्यमरजैनेन्द्रा जयन्त्यष्टादिशाब्दिकाः॥**

इस श्लोक मे बोपदेव (१३वॉ वि० श०) ने आठ आदिशाब्दिको का निर्देश किया है। इनमे से इद्र और चद्र का विवरण आगे मिलेगा। काशकृत्स्न और आपिशलि पाणिनि-पूर्वकालीन वैयाकरण थे तथा काशकृत्स्न के ग्रथ मे ३ भाग थे—यह पाणिनीय सूत्र (६-१-९२), काशिका (४-२-६७, ५-१-५८, ७-३-९५) और कैयट (५-१-२१) के उल्लेखो से स्पष्ट है। अमर यद्यपि कोशकार के रूप मे सुपरिचित है, तथापि वे शाब्दिक भी कहे जा सकते है।

उनके ग्रथ की टीकाओ मे सूत्रो से पदसिद्धि की गई है। शाकटायन और जैनेद्र का विवरण आगे दिया जायगा। इस प्रकार हम देखते है कि १३वे वि० श० मे ये आठ सप्रदाय प्राचीन माने जाते थे। इनके अतिरिक्त और भी अनेक पाणिनीयेतर सप्रदायो का प्रादुर्भाव और विकास हुआ। पाणिनीयेतर सप्रदायो के सक्षिप्त विवरण देने के पूर्व यह आवश्यक है कि इन सप्रदायो के प्रादुर्भाव की आवश्यकता समझ ली जाय। पहले कहा जा चुका है कि पाणिनि-सदृश महावैयाकरण द्वारा कडे नियमो से जकडी जाने पर भी सस्कृत भाषा का रूप स्थिर न रहा। नये परिवर्तनो को मान्यता प्रदान करने के लिये कात्यायन आदि वैयाकरणो को नये नियम बनाने पडे या पाणिनीय सूत्रो मे हेरफेर कर उन परिवर्तनो को पाणिनि की चहारदीवारी मे बैठाया गया। किंतु इस प्रयत्न मे कृत्रिमता थी और साथ ही उत्तरकालीन परिवर्तनो को पाणिनि के सिर पर लादने मे ऐतिहासिक सत्य का विपर्यास था। इतना सब करने पर भी ध्येय-सिद्धि पूर्णत असभव थी, क्योकि परिवर्तनो की सख्या कालातिक्रम से बढती ही जाती थी और पाणिनि की चौखट मे इन सभी परिवर्तनो के लिये स्थान अपर्याप्त था। यह बात ठीक है कि सस्कृत भाषा अब केवल साहित्यिक या शिष्टभाषा थी और शनै-शनै पडित भाषा बन रही थी, अत इस समय परिवर्तनो का क्रम बहुत धीमा रहा होगा। लेकिन तो भी परिवर्तन काल पाकर दृष्टिगोचर होते ही थे। 'फलेग्रहि' के समान 'मलग्रहि,' 'स्तनन्धय' के समान 'आस्यन्धय' और 'पुष्पन्धय', 'नाडिन्धम' के समान 'करन्धम' पदो की उपपत्ति आवश्यक थी, जो कातत्र व्याकरण मे की गई है। पाणिनि के अनुसार म् के स्थान मे अनुस्वार व्यजन के पूर्व ही हो सकता है, अत मे नही। कातत्र और सारस्वत सप्रदाय मे अत मे भी अनुस्वार मान्य किया गया है। प्रक्रियासर्वस्वकार नारायण भट्ट के ये श्लोक इस सबध मे मननीय है—

पाणिन्युक्तं प्रमाणं न तु पुनरपरं चन्द्रभोजादिशास्त्रं
केप्याहुस्तल्लघिष्ठं न खलु बहुविदामस्ति निर्मूलवाक्यम्।
बहुङ्गीकारभेदो भवति गुणवशात्पाणिनेः प्राक्कथ वा
पूर्वोक्तं पाणिनिश्चाप्यनुवदति विरोधेऽपि कल्प्यो विकल्पः॥

फलत उत्तरकालीन वैयाकरणो ने नवीन व्याकरण रचने मे ही कल्याण देखा। अपने समय और प्रदेश मे इन सप्रदायो ने उद्देश्यसिद्धि मे सफलता पाई। प्रारभिक छात्रो के लिये ये नवीन ग्रथ अवश्य ही अधिक लाभदायक सिद्ध हुए होगे। लेकिन ये नवीन व्याकरण अपने देशकाल की परिधि मे ही फूले-फले और पाणिनीय सप्रदाय की अखिल भारतीय कीर्ति इन्हे न मिली। इसकी कारणमीमासा आगे की जायगी।

इंद्र संप्रदाय

सर्वप्रथम भाषा का व्याकरण (विश्लेषण) करनेवाले देवराज इद्र के नाम से इस सप्रदाय का नाम चला। महाभाष्य मे लिखा है कि बृहस्पति से सुदीर्घ काल तक भाषा का व्याकरण, प्रतिपदपाठ की पद्धति से, इद्र ने पढा, किन्तु उससे विशेष लाभ नही हुआ।

अत सामान्य और विशेष नियम बनाकर इद्र ने व्याकरण रचा होगा। इद्र का व्याकरण आज अनुपलब्ध है। कथासरित्सागर से ज्ञात होता है कि पाणिनि व्याकरण के कारण इद्र व्याकरण तिरोभूत हुआ। तिब्बती इतिहास-लेखक तारानाथ का कहना है कि इद्र व्याकरण के आधार पर कातत्र व्याकरण की रचना हुई। बर्नेल के कथनानुसार प्राचीन तामिल व्याकरण 'तोल्का-प्पियम्' इद्र व्याकरण से अनेक अशो मे प्रभावित है। जो कुछ हो, वर्तमान समय मे इद्र व्याकरण का अस्तित्व केवल कथाओ मे है।

कातंत्र व्याकरण

दक्षिण भारत के शातवाहन नृप शर्ववर्मन् (द्वितीय वि० श०) को अल्पकाल मे व्याकरण सिखाने के लिये लगभग ८४० सूत्रो मे, पाणिनि-व्याकरण की जटिलताओ को बचाते हुए, यह सरल व्याकरण रचा गया था। मूल ग्रथ मे केवल सधि, शब्दरूप और धातुरूप थे। बाद मे इसे अधिक उपयोगी बनाने के लिये कृत् और तद्धित प्रकरण जोडे गए। प्रत्याहार सूत्रो के स्थान मे प्रचलित वर्णमाला काम मे लाई गई है। गरुड पुराण मे (२०३-४ अध्याय) कातत्र व्याकरण के सूत्र और उदाहरण पद्यमय रूप मे दिये गए है। बगाल मे १६, १७ वि० श० के वैयाकरणो ने ग्रथ रचना कर इसे पाणिनि सप्रदाय के समकक्ष बनाने का प्रयत्न किया। बगाल के कुछ जिलो मे आज भी इसका प्रचार है। अष्टम वि० श० मे दुर्गसिह ने मूलग्रथ पर वृत्ति लिखी थी। उसके पहिले से ही काश्मीर मे कातत्र का प्रचार प्रारभ हो गया था। आज भी काश्मीर मे पढाये जानेवाले व्याकरण ग्रथ कातत्र सप्रदाय के परिवर्तित सस्करण है।

चंद्र संप्रदाय

इसके प्रवर्तक बौद्ध विद्वान् चद्रगोमिन् पचम वि० शतक मे हुए। महाभाष्य के उद्धारक चद्राचार्य से ये भिन्न है या नही, इसमे सदेह है। इनके व्याकरण मे पाणिनि से उल्लेखनीय विशेषता उन ३५ सूत्रो मे है, जिन्हे कैयट ने अपाणिनीय कहा है और जो काशिकावृत्ति मे नामोल्लेख किए बिना सन्निविष्ट किए गए है। चद्रगोमिन् की स्वरचित वृत्ति आज अपूर्ण उपलब्ध है और धर्मदास की वृत्ति मे अतर्भूत है। बुद्धधर्मियो मे इस सप्रदाय का विशेष प्रचार हुआ। सुना जाता है कि तिब्बत और लका मे इसके लघु सस्करणो का आज भी प्रचार है।[1]

जैनेंद्र संप्रदाय

पचम वि० श० मे देवनदिन् ने जैनेद्र व्याकरण लिखा। पाणिनि सप्रदाय के सूत्रो और वार्तिको को मिलाकर इसके सूत्र रचे गए। विभाषा, अन्यतरस्याम् के स्थान पर

---

१. अग्निपुराण ३५६।८ में चान्द्र व्याकरण के अध्ययन का उल्लेख आया है।

एकाक्षर 'वा' शब्द का प्रयोग किया गया है। एवमेव अपु (चतुर्थी), भा (पचमी) आदि एकाक्षर पारिभाषिक शब्द गढकर लाघव किया गया है। इसके लघु सस्करण पर अभयनदिन् (८०० वि० श०) ने और बडे सस्करण पर सोमदेव (१२५० वि० श०) ने टीकाएँ लिखी। दक्षिण भारत के दिगबर जैन सप्रदायो मे कही-कही इसका प्रचार मिलता है।

शाकटायन संप्रदाय

इसके प्रवर्तक व्युत्पत्तिपक्षवादी शाकटायन से भिन्न है या नही, यह सदिग्ध है। उपलब्ध शाकटायन व्याकरण नवम वि० श० मे श्वेताबर जैनियो मे प्रचारार्थ लिखा गया था। चद्र और जैनेद्र व्याकरणो का प्रभाव इसमे स्पष्ट है। ग्रथकार ने स्वय एक वृत्ति अमोघवृत्ति नामक लिखी है।

भोज संप्रदाय

प्रसिद्ध नृप भोज ने ११वे वि० श० मे सरस्वतीकठाभरण नामक व्याकरण ग्रथ लिखा। इसके ६००० सूत्रो मे सभी आवश्यक विषय उणादिसूत्र, फिट्सूत्र आदि सम्मिलित कर लिए गए है। वैदिक व्याकरण का भी निरूपण किया गया है। मद्रास से सपूर्ण मूलग्रथ हाल ही मे प्रकाशित हुआ है। दडनाथ की हृदयहारिणी टीका ४ खड तक त्रिवेद्रम् से प्रकाशित हो चुकी है। ईस व्याकरण मे पाणिनि के उत्तरकालीन परिवर्तनो को मान्य कर तदनुसार नियम दिए गए है।

हेमचंद्र संप्रदाय

प्रसिद्ध जैनविद्वान् हेमचद्र (११वाँ वि० श०) का शब्दानुशासन ८ अध्यायो मे है। अतिम अध्याय मे तत्कालीन प्राकृत भाषाओ का व्याकरण दिया गया है। इसका अपर नाम सिद्ध हेमचद्र है, जिसमे 'सिद्ध' शब्द आश्रयदाता सिद्धराज का स्मारक है। बृहद्वृत्ति और लघुवृत्ति नामक दो टीकाएँ ग्रथकार ने स्वय लिखी है। सूत्रो का उदाहरण देने के लिए हेमचद्र ने अत्युपयोगी द्वयाश्रय महाकाव्य की रचना की है।

सारस्वत संप्रदाय

मुसलमान शासको की सुविधा के लिए ७०० सरल सूत्रो मे सारस्वत व्याकरण की रचना की गई। आदिप्रवर्तक का नाम परपरा के अनुसार अनुभूतिस्वरूपाचार्य है, जिन्होने (१३०० वि० स०) सारस्वत प्रक्रिया नामक टीकाग्रंथ रचा था। सरलता और विद्यार्थियो के लिये उपयोगिता की दृष्टि से सारस्वत व्याकरण अप्रतिम है। उत्तर भारत मे इसका प्रचलन ५० वर्ष पूर्व काफी व्यापक था। अँगरेजो को व्याकरण सिखाने के लिये इसका उपयोग किया गया था।

मुग्धबोध संप्रदाय

१३वें वि० श० मे दक्षिण भारत के बोपदेव ने यह सरल व्याकरण लिखा। पारिभाषिक शब्दो के परिवर्तन और इत्संज्ञक अक्षरो के अभाव के कारण पाणिनि व्याकरण से भेद अधिक हो गया है। उदाहरणो के रूप मे देवताओ के नाम दिए गए है। सिद्धात कौमुदी मे भी ऐसे ही उदाहरण, मुग्धबोध के आधार पर, पाए जाते है। महाभाष्य और काशिका के खट्वाढकम् सदृश शुष्क उदाहरणो के स्थान मे दैत्यारि' श्रीश सदृश धार्मिक भावपूर्ण उदाहरणो से नि सदेह आकर्षण बढ गया है। भट्टो जी दीक्षित ने पाणिनीय व्याकरणरूपी गज के लिये बोपदेव को ग्राह कहा है। इसी से उस समय मुग्धबोध की प्रसिद्धि का अनुमान हो सकता है। अब तो केवल बगाल मे इसका प्रचार पाया जाता है। बोपदेव का कविकल्पद्रुम, जिसमे अन्त्याक्षरो के क्रम से १७५४ धातुओ की सूची दी गई है, और उसकी कामधेनु टीका, जो उदाहरणो के रूप मे बहुत से उद्धरणो के कारण उपादेय है, उल्लेख के योग्य है।

अन्य व्याकरण संप्रदाय

क्रमदीश्वर (९०० वि० श०) का सक्षिप्तसार, जो शैवधर्मियो मे प्रचारार्थ लिखा गया है और जिसके अतिम अष्टम पाद मे प्राकृतभाषा का व्याकरण है, जुमरनदिन् (११०० वि० श०) की रसवती वृत्ति के साथ पश्चिम बगाल के कुछ भागो मे अब भी प्रचलित है। मैथिल पद्मनाभदत्त (१३०० वि० श०) का सुपद्म व्याकरण मुग्धबोध की अपेक्षा पाणिनीय व्याकरण के अधिक सन्निकट है। अत इसके विद्यार्थियो को, काव्यो की टीकाओ मे उद्धृत पाणिनीय सूत्रो के कारण विशेष अडचन नही पडती। मध्य बगाल मे कही-कही इसका प्रचार पाया जाता है। हिंदू-धर्म के विभिन्न सप्रदायो मे व्याकरण ज्ञान अधिक सुगम बनाने के लिए भी अनेक ग्रथ लिखे गए। रूपगोस्वामिन् (१४०० वि० श०) के हरिनामामृत मे उदाहरण ही नही, पारिभाषिक शब्द भी धार्मिक भाव से अनुस्यूत है, जैसे वामन-ह्रस्वाक्षर, पुरुषोत्तम=दीर्घाक्षर आदि। एवमेव बलराम पचानन के प्रबोध प्रकाश मे शैव नामो की भरमार है, जैसे शिव=स्वर, हर=व्यजन आदि। अनेक अप्रसिद्ध व्याकरणग्रथ व्यक्ति विशेष के हितार्थ रचे गए थे। उनका नामोल्लेख भी यहाँ स्थानाभाव-वश असभव है। नरहरि के बालाबोध मे यह दावा किया गया है कि १२ दिनो मे पच महाकाव्य समझने लायक व्याकरण-ज्ञान इस पुस्तक की सहायता से कराया जा सकता है।

व्याकरण-ज्ञान कराने के उद्देश्य से लिखे गये उन काव्यग्रथो का, जिन्हे क्षेमेद्र काव्यशास्त्र की सज्ञा देते है, उल्लेख करना अप्रासगिक न होगा। भट्टि कवि का रावणवध, भीम कवि का रावणार्जुनीय काव्य और हेमचद्र का द्व्याश्रय काव्य प्रसिद्ध हैं। इन्हे व्याकरण का परिशिष्ट कहा जाय तो अनुचित न होगा। इन काव्य-शास्त्रो मे प्रकरण के क्रम से व्याकरण नियमो के उदाहरण दिए गए है, जैसे लुङ् प्रकरण लिट् प्रकरण आदि के क्रम से विभिन्न धातुओ के रूप दिए गए है। हेमचद्र ने स्वरचित सूत्रो के क्रम से अपने समस्त संस्कृत और प्राकृत

व्याकरण के उदाहरण दिए है। सस्कृत और प्राकृत दोनो भाषाओ मे हेमचद्रका प्रकाड पाडित्य था। नारायणकृत सुभद्राहरण (२० सर्ग), वासुदेव का वासुदेवविजय और नारायण का धातु-काव्य काव्यशास्त्रो मे उल्लेखनीय है। अतिम दोनो ग्रथ बबई की काव्यमाला मे प्रकाशित है। कविरहस्य नामक काव्यशास्त्र मे प्रसिद्ध धातुओ के भिन्न-भिन्न गणो मे (लट् लकार, प्रथमपुरुष एकवचन के) रूपो को कवित्वपूर्ण श्लोको मे निवद्ध कर विषय को सरस बनाया गया है। प्रसिद्ध श्लोक 'धूनोति चम्पकवनानि धुनोत्य शोकम! . . . . ' उसी ग्रथ का है।

सस्कृत व्याकरण ग्रथो का उपरिलिखित वर्णन केवल सिहावलोकन है। वास्तव मे सस्कृत का व्याकरण वाङमय अति विशाल है, जिसके केवल मुख्य-मुख्य ग्रथो का नामनिर्देश हो सका है। पाणिनीयेतर सप्रदायो के वर्णन मे तो अतिक्षिप्र विहगावलोकन किया गया है, मुख्य ग्रथो का नाम निर्देश भी पूरी तरह नही किया जा सका है। प्रत्येक सप्रदाय मे टीकाएँ उपटीकाएँ लिखी गई है और पाणिनीय सम्प्रदाय के समकक्ष बनने का प्रयत्न किया गया है। इन सप्रदायो मे चद्र का बौद्धो मे एव जैनेद्र, शाकटायन और हेमचद्र का जैनो मे प्रचार हुआ। मुग्धबोध आदि व्याकरण वैष्णव, शैव आदि सप्रदायो के लिए या व्यक्ति-विशेष के लिए रचे गए थे। इनका मुख्य उद्देश्य सरल व्याकरण-रचना थी और उनका प्रचार बाल-छात्रो तक ही सीमित रहा। वे पाणि-नीय व्याकरण की उच्च प्रतिष्ठा नही प्राप्त कर सके। इसका कारण यह है कि ज्यो-ज्यो सस्कृत भाषा, दिनोदिन प्रचार घटने के कारण, विद्वानो के अधिकाधिक आश्रय मे आई, त्यो-त्यो सुबोधता के स्थान मे विद्वत्ता को अधिक महत्त्व दिया गया। तर्कपूर्ण विचारशैली, गहन शास्त्रावगाहन, उत्कट विद्वानो के द्वारा समादर, विद्वान् टीकाकारो का सहयोग—इन सब कारणो से पाणिनि-सप्रदाय के मुकाबिले ये सप्रदाय विद्वन्मान्य नही हो सके। दूसरी बात यह थी कि पाणिनीय शैली को सुबोध करने ही मे नवीन सप्रदायो ने अपनी शक्ति लगाई, किसी नई आकर्षक शैली या पद्धति का आविष्कार नही किया। 'बालाना सुखबोधाय' ही इनकी आव-श्यकता मानी गई और पाणिनीय व्याकरण का अनुकरण करने के कारण ये सप्रदाय सदैव नीचम्मन्य भावना के शिकार रहे। पाणिनीय सप्रदाय के सामने प्रतिद्वद्वी बनकर ठहरने की इनमे क्षमता न थी। कुछ सम्प्रदायो ने विद्वत्तापूर्ण व्याख्यात्मक टीकोपटीकाएँ लिखकर अपनी प्रतिष्ठा ऊँची भी की, किंतु यह भी अनुकरण ही था। प्राचीन के सामने नवीन अनुकरण कहाँ तक सफल हो सकता था? साथ ही इन प्रयत्नो से इन सप्रदायो की विशिष्टता पर आघात पहुँचता था, क्योकि यदि पाणिनीय सप्रदाय के ग्रथो के समान इन इतर सप्रदायो के भी ग्रथ दुरूह रचे गए, तो सरलता के प्रारभिक -ध्येय से वचित हो जाना स्वाभाविक था। सरल होने मे प्रतिष्ठा-हानि और कठिन होने मे अनावश्यकता—इस दोषचक्र मे पडकर इतर व्याकरण सप्रदाय साप्रदायिक ही रह गए, अखिल भारतीय न बन सके।

इधर पाणिनीय सप्रदाय को कैयट, भट्टोजी दीक्षित और नागेश भट्ट जैसे शास्त्रधुरधर विद्वानो के हाथ मे पडने से विद्वत्समाज मे विशेष प्रतिष्ठा और सम्मान मिला। इन विद्वानो ने अपनी प्रखर प्रतिभा से विचारोत्तेजक ग्रथ रचकर इस सप्रदाय के प्रवाह को एक विशिष्ट

धारा मे प्रवाहित किया, जिसके कारण आज भी इसकी परपरा बनी हुई है और भविष्य मे भी विचारप्रिय व्याकरणप्रेमी, पदसाधुत्वज्ञान के लिये ही नही, बल्कि बुद्धि पर धार रखने के लिए भी, इसका अध्ययन करेगे। इस विशिष्ट धारा का त्रिविध रूप—पदार्थचर्चा, न्यास और परिष्कार की परपरा मे दृष्टिगोचर होता है।

पदार्थ चर्चा—इसके कारण पाणिनीय व्याकरण केवल शब्दशास्त्र या पदविद्या न रहकर पदार्थशास्त्र माना जाने लगा। पदार्थविचार मे अभिधा, लक्षणा और व्यजना वृत्ति, धात्वर्थ, प्रातिपदिकार्थ, कारकार्थ, समासार्थ आदि विषयो का समावेश होता है। इनमे मे प्रत्येक का सम्यक् विचार वैयाकरणसिद्धात भूषण, लघुमजूषा आदि ग्रथो मे किया गया है। इस विचार मे प्रसग-प्रसग पर न्याय और मीमासा शास्त्र से व्याकरण का सघर्ष हुआ है। यथा नैयायिको के मत से फल और व्यापार धात्वर्थ है, तिङ का अर्थ कृति है। मीमासक फल को धात्वर्थ मानते है, और व्यापार को तिङर्थ। इन दोनो के विरुद्ध वैयाकरण फल और व्यापार को धात्वर्थ मानते है और आश्रय (कर्तृ, कर्म) को तिङर्थ। नैयायिको के अनुसार 'देवदत्त ओदन पचति' के शाब्दबोध मे कर्ता विशेष्य है (जैसे वर्तमानकालिक-ओदनकर्मकपचनानुकूलव्यापाराश्रयो देवदत्त)। वैयाकरणो के मत से शाब्दबोध मे व्यापार विशेष्य है, (जैसे देवदत्तकर्तृको वर्तमानकालीन ओदनकर्मक पचनानुकूल व्यापार)। ये दो अति स्पष्ट उदाहरणीय विषय पाठको के सामने रखे गए है। सघर्ष का पूर्ण स्वरूप जानने के लिए ग्रथो का पढना आवश्यक है। प्रवेशेच्छुओ के लिये परमलघुमजूषा लाभदायक है। इन सघर्षो मे वैयाकरणो ने कभी पीठ नही दिखाई। स्फोटवाद के प्रतिपादन मे वैयाकरणो ने अपूर्व प्रतिभा का परिचय दिया। शब्द को अनित्य माननेवाले नैयायिक, शब्द को नित्य माननेवाले मीमासक—इन दोनो की आक्षेपपूर्ण कमजोरियो मे बुद्धिमत्तापूर्वक बचते हुए वैयाकरणो ने स्फोटवाद का नया सिद्धात निकाला, जिसके अनुसार ध्वनिरूप शब्द तो अनित्य है, किंतु स्फोटरूप शब्द नित्य है। अर्थ-प्रकाशन की क्षमता या वाचकता स्फोट मे है, ध्वनि मे नही। भर्तृहरि ने वाक्यपदीय मे इसी स्फोटरूपी शब्द को ब्रह्म मानकर समार को शब्दब्रह्म का विवर्त कहा है। स्फोटवाद के प्रतिपादन मे स्वतत्र ग्रथ लिखे गए है, जिनमे से कुछ का नाम निर्देश पहले आ चुका है। इनके कारण विचारशास्त्र के रूप मे व्याकरण का मस्तक ऊँचा हुआ।

न्यास और परिष्कार—भाषा के परिवर्तनो से प्रभावित न हो पाणिनीय वैयाकरण जब केवल लक्षणैकचक्षुष्क बने, और उन्होने सूत्रार्थव्याख्या तथा सूत्रस्थ पदो की सार्थकता पर ही विचार करना प्रारभ किया, तभी से मतस्वातत्र्य मे उनके बुद्धि-विकास का परिचय मिलने लगा। मूल ग्रथ लिखना छोडकर उत्तरकालीन वैयाकरण टीका-उपटीका लिखने लगे, जिनका ध्येय मूल ग्रथ का तात्पर्य प्रकाशन उतना नही था, जितना मूल ग्रथ मे न दिए गए विषयो का प्रतिपादन और दिए गए मतो का खडन था। प्रत्येक प्रसिद्ध वैयाकरण अपने पूर्ववर्ती वैयाकरण के मतो का खडन करता था, और बाद मे उसके मतो का उत्तरवर्ती वैयाकरण के हाथ से खडन होता था। यह खडन-मडन-परपरा वैयाकरण परपरा मे अद्यावधि चली आती है। इस परम्परा के स्थूल रूप से चार विभाग कर सकते है—प्राचीनतर, प्राचीन, नवीन,

नवीनतर। प्राचीनतर मे वामन-जयादित्य, जिनेंद्रबुद्धि, कैयट, हरदत्त, रामचन्द्र, प्रसादकार और प्रकाशकार। प्राचीन में भट्टोजी दीक्षित प्रधान है। नवीन मे नागेश भट्ट और वैद्यनाथ पायगुडे मुख्य है। नवीनतर मे शब्दरत्न, शब्देंदुशेखर, परिभाषेंदुशेखर पर विभिन्न टीकाकार है। इन चार परम्पराओ में पूर्व परपरा का उत्तर परपरा मे खडन तो हुआ ही, किंतु प्रत्येक परपरा के अतर्गत विद्वानो मे भी पूर्ववर्ती का खडन परवर्ती करते थे, जैसे जिनेंद्रबुद्धि का खडन हरदत्त ने किया। भट्टोजी दीक्षित ने इस खडन-मडन-परपरा को खूब प्रोत्साहन दिया, फल-स्वरूप उनके बाद के टीकाकारो का एकमात्र उद्देश्य खडन-मडन हो गया। नव्य न्याय की जटिल प्रतिपादन-शैली का व्याकरण-क्षेत्र मे अवतीर्ण होने के पूर्व बुद्धि-तैक्ष्ण्य बढाने के लिये न्यास-विचार होता था। पाणिनि के एक सूत्र को लेकर उसमे लाघव के लिये परिवर्तन करने के प्रयत्न को न्यास कहते है। व्याकरण-सप्रदाय मे अब यह पारिभाषिक शब्द हो गया है और काशिका वृत्ति की टीका न्यास से भिन्न है। सूत्र मे परिवर्तन करने मे क्या कठिनाई है, वह कठिनाई किस प्रकारातर से दूर की जा सकती है, उस प्रकारातर के आश्रयण से क्या अन्य कठिनाई उत्पन्न हो जायगी, उसका समाधान कैसे किया जाय इत्यादि काल्पनिक विषयो का ऐसा तर्कपूर्ण विचार, वादी-प्रतिवादी के बीच मे, होता है कि बुद्धि दग रह जाती है। भारतीय मस्तिष्क किस प्रकार अलौकिक क्षेत्र मे बुद्धि के द्वारा आश्चर्यावह उडान कर सकता है, इसका उत्तम निदर्शन न्यास विचार है। वैयाकरणों के कुलो मे ये शास्त्रविचार परपरागत रहते थे, और समय-समय पर नई युक्तियाँ और समाधान जोडे जाते थे। प्रत्येक गुरु-परपरा अपनी-अपनी युक्तियाँ गुप्त रखती थी और शास्त्रार्थ मे अवसर आने पर विरोधी को मूक करने के लिए प्रयोग करती थी। मुद्रण की सुविधा के कारण अब तो अनेक पुस्तके छप गई है, जैसे वादरत्न (न्यास प्रकरण, सूर्यनारायण शुक्ल द्वारा सपादित), पाणिनीय प्रदीप, न्यास-रत्न-माला आदि। इन मुद्रित पुस्तको के कारण 'गुरुमुख' की महत्ता कम हो गई है। वाराणसेय सप्रदाय मे नवीनतम परिपाटी न्यास नही, परिष्कार है। न्यास का प्रचार केवल वैयाकरण छात्रो के लिए है, विद्वन्मडली तो नव्य न्यास की अवच्छेदकावच्छिन्न-शैली मे सूत्रार्थ व्याख्या को—परिष्कार को—महत्त्व देती है। इस शैली का प्रारभ नागेश भट्ट के समय से होता है और ज्यो-ज्यो उत्तरकालीन टीकाएँ (जिनमे से कुछ का ऊपर नाम निर्देश हो चुका है) सामने आती है, त्यो-त्यो व्याख्या का रूप-परिष्कार अधिक जटिल होता जाता है। उदाहरण के तौर पर परिभाषेंदुशेखर पर जयदेव मिश्र की विजया टीका और गुरुप्रसाद शास्त्री द्वारा सपादित लघुशब्देंदुशेखर का अनेकटीकोपेत नवीनतम सस्करण देखने लायक है। नित्यानद पर्वतीय और उनके बाद गुरुप्रसाद शास्त्री ने परपरागत टीकाओ को छापकर काशीस्थ वैया-करण परपरा की 'परिष्कार' सबधिनी प्रखर प्रतिभा को मूर्त स्वरूप दे दिया है। सूर्यनारायण शुक्ल का वादरत्न (परिष्कार प्रकरण), वेणीमाधव शुक्ल की कौमुदीकल्पलतिका और परीक्षोपयोगी और शास्त्रार्थोपयोगी टीका सहित व्युत्पत्तिवाद का सस्करण इस विषय मे उल्लेखनीय है। आधुनिक काशीस्थ वैयाकरण सप्रदाय की चर्चा करने मे अनेक योग्य व्यक्तियो का अनुल्लेख अनादर-सूचक समझा जा सकता है। इसी से हमने सकोचपूर्वक प्रकाशित

ग्रथो के रचयिताओ और सपादको ही का नाम लिया है। इसका तात्पर्य यह नही कि वे विद्वान् जिनका नामोल्लेख नही हुआ है, उल्लेखनीय नही है। वास्तव मे काशी मे 'पुस्तकस्था' विद्या का उतना मान नही है, जितना 'कण्ठस्था' विद्या का। इस दृष्टि से गत विक्रमशतक (१९००-२०००) सवत् मे काशीस्थ वैयाकरणो की परपरा दिग्गजो की परपरा थी और उनमे किसी विशेष विद्वान् का नाम न लेकर सबो के प्रति श्रद्धाजलि अर्पण करना हमारा कर्तव्य है।

पाणिनीय वैयाकरणो की शास्त्रार्थ-चर्चा के महत्त्व का परिचय आज के शिक्षित भारतीयो को नही है, यह खेद की बात है। उससे अधिक खेद की बात यह है कि वर्तमान शिक्षा-प्रणाली और परीक्षा-पद्धति के चकाचौध मे पाणिनीय व्याकरण के नये विद्यार्थियो मे भी शास्त्रार्थ करने की प्रवृत्ति दिनोदिन कम हो रही है। शास्त्रार्थ-चर्चा पूर्ववत् जारी रहे और इसमे भविष्य के वैयाकरण अपनी ओर से कुछ जोड सके, इसके लिये यह आवश्यक है कि शास्त्रार्थ-सस्था को प्रोत्साहन दिया जाय। जैसे कोण के त्रिभागीकरण मे या २ सख्या के वर्गमूल निकालने मे उच्च गणित के विद्वानो का काल-यापन व्यर्थ नही माना जाता, वैसे ही वैयाकरणो की शास्त्रार्थ-कला भी निरर्थक नहीं है। इसमे बुद्धि को वह 'व्यायाम' मिलता है, जिससे किसी भी बुद्धिगम्य विषय के विचार मे सफलता पाना सहज हो जाता है। भारतीय वैयाकरणो की यह अद्यावधि उपार्जित और सवर्धित धरोहर नष्ट नही होनी चाहिए, क्योकि विक्रम सवत् की द्वितीय सहस्राब्दी मे भारतीय मस्तिष्क की उत्तमोत्तम सूझो मे इसका प्रमुख स्थान है।

[नागरी प्रचारिणी पत्रिका, विक्रमाक सवत् २००० मे प्रकाशित]

१०. हिन्दी व्याकरण-संशोधन

स्वतन्त्रता की समस्या के हल हो जाने के बाद देश के सामने भाषा की समस्या आयी थी, किन्तु भारतीय सविधान-सभा द्वारा राष्ट्र-भाषा के रूप मे हिन्दी को मान्यता मिल जाने के बाद यह समस्या बहुत कुछ हल हो गयी है। अब आवश्यकता इस बात की है कि हिन्दी को शीघ्रातिशीघ्र भारतीय हृदय के विविध विचारो को व्यक्त करने मे समर्थ बनाया जाए तथा हिन्दी भाषा के स्वरूप को स्थिरता प्रदान की जाए। यही कारण है कि आज भाषा-शुद्धि के प्रश्न का विशेष महत्त्व है।

राष्ट्रीय आन्दोलन की लहर मे हिन्दी को बहुसख्य लेखको ने अपनाया था, किन्तु ध्यान रहे कि इनमे से अधिकाश लेखक स्वयभू (Self-made) थे। उन्होने गुरु के चरणो मे बैठ कर हिन्दी भाषा नही सीखी थी। उनकी धारणा थी कि हिन्दी सीखने की जरूरत नही है!

'भारतीय राष्ट्र-भाषा का स्वरूप, भारत की विभिन्न भाषाओ का मिश्रण होना चाहिए।' इस मत का अनुसरण करने वाले लोग यह भूल जाते है कि जिस भाषा (हिन्दी) को सविधान मे राष्ट्र-भाषा का पद दिया गया है, उसका एक विशिष्ट स्वरूप और वाक्य-रचना प्रणाली है। यह बात दूसरी है कि हिन्दी को अपने प्रचार-विस्तार मे अन्य प्रान्तीय भाषाओ के सम्पर्क मे आना पडेगा, और हिन्दी की प्रकृति के अनुरूप उसमे परिवर्तन, सशोधन, परिवर्धन होगे, क्योकि जीवित भाषा का यह सर्वमान्य नियम है कि उसमे परिस्थिति के अनुसार परिवर्तन होते रहे। किन्तु इसका यह तात्पर्य नही है कि इसके स्वरूप को विकृत करने का—तथा प्रयोग मे मनमानी करने का—जानबूझ कर, कृत्रिम, प्रयत्न किया जाए।

यहाँ हमे यह स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि हिन्दी के स्वरूप को स्थिर करने का यह अर्थ नही है कि हम उसे इस प्रकार जकड दे कि उसका स्वाभाविक विकास ही रुक जाए। सस्कृत भाषा के सबध मे पाणिनि के अनुयायियो ने यही किया था। इसी से सस्कृत भाषा आगे चल कर शास्त्र-भाषा या शिष्ट भाषा ही रही, जन-भाषा नही। हिन्दी को तो समस्त देश के निवासियो की व्यवहार-भाषा बनना है। अत उसके विकास का मार्ग खुला रहना चाहिए। किन्तु साथ ही हमे हिन्दी को अशुद्ध और प्रकृति-विरुद्ध प्रयोगो से बचाना चाहिए। हमे देखना होगा कि राष्ट्र-भाषा का स्वरूप 'अराष्ट्रीय' न हो। इसकी वाक्य-रचना और भाव-प्रकाशन-पद्धति 'परकीय' न बन जाए। आज हम पर अंग्रेजी भाषा का प्रभाव इतना अधिक फैल गया है कि अनजान मे हमारे हाथ से हिन्दी दिनोदिन कलुषित बनी जा रही है। आजकल सामान्य

विद्यार्थी-वर्ग ही नही, अच्छे मँजे लेखक भी 'सफेद झूठ' (White lie का अनुवाद) और 'नगी प्रकृति' (Naked nature का अनुवाद) सदृश वाक्याशो का प्रयोग करने मे नही सकुचाते। 'आपका पत्र धन्यवाद सहित मिला', इस वाक्य से ऐसा मालूम होता है मानो पत्र के साथ धन्यवाद भी भेजा गया था। 'कम्पनी' और 'स्टोअर्स' ये अँग्रेजी शब्द हिन्दी मे आएँ तो बुरा नही है, किन्तु शुक्ल को शुक्ला और गुप्त को गुप्ता बना कर 'शुक्ला कम्पनी' और 'गुप्ता स्टोअर्स' कहना कहाँ तक ठीक है ? अँग्रेजी भाषा मे जो बाते हिन्दी भाषा की प्रकृति और स्वरूप के अनुरूप है उनको यदि हम आत्मसात् करे तो हमारा शब्द-भण्डार और भाव-व्यजना-शक्ति बढेगी। अन्यथा भाषा के विकृत और कलुषित होने का डर है।

हमारी दूसरी आवश्यकता यह है कि शब्दो के रूप को निश्चित कर दिया जाए। अहिन्दी-भाषियो मे हिन्दी-प्रचार की सुगमता के लिए यह नितान्त आवश्यक है। 'लिये', 'लिए', 'चाहिये' 'चाहिए', 'अँगुली' 'उँगली', 'रेडिओ' रेडियो' आदि शब्दो के रूप निश्चित हो जाने चाहिए। 'वादाविवाद'-'वादविवाद', 'स्थाई'-'स्थायी' आदि शब्दो के शुद्ध रूपो का प्रयोग होना चाहिए। इस सम्बन्ध मे हिन्दी भाषा के लिए मराठी भाषा की प्रवृत्ति का अनुकरण करना श्रेयस्कर नही होगा। मराठी भाषा मे सस्कृत के तत्सम शब्दो मे भी इकार, उकार की मात्रा का परिवर्तन अनुचित नही माना जाता। जैसे 'नागपुर' के स्थान मे 'नागपूर', 'दुग्धमदिर' के स्थान मे 'दुग्धमदीर', 'प्रावीण्य' के लिए 'प्राविण्य' आदि। हमे हिन्दी भाषा की इस विशिष्टता को नही भूलना चाहिए कि इसमे तत्सम शब्दो को यथासम्भव अविकृत रहने दिया जाता है। सस्कृत भाषा से निकटतम सम्पर्क रखने के कारण ही हिन्दी अखिल भारत मे सुगमता से समझी जा सकेगी है। अन्य प्राकृत भाषाओ की अपेक्षा शौरसेनी प्राकृत के अधिक प्रचार का यही कारण था और शौरसेनी का उत्तराधिकार हिन्दी को मिला है, यह एक ऐतिहासिक सत्य है।

भाषा-शुद्धि की दृष्टि से हमे हिन्दी के शब्दो मे 'व' और 'ब', 'श' और 'स', अनुनासिक और अनुस्वार—इन सब ध्वनियो के उच्चारण का भेद स्पष्ट रखना चाहिए। अब राष्ट्र-भाषा बन जाने पर हिन्दी मे अव्यवस्था को अवकाश नही मिलना चाहिए। 'चार वेद' के लिए 'चार बेद', 'समस्त' को 'शमश्त', 'शास्त्र' को 'सास्त्र' कहना शोभा नही देता। इसी भाँति अनुनासिक के लिए अनुस्वार से भिन्न चिह्न देना चाहिए। अन्यथा 'भाँति-भाँति को लोग 'भान्ति-भान्ति' पढेगे। विभक्ति-चिह्नो के सम्बन्ध मे हमे एक निश्चित नियम बना लेना चाहिए कि इन्हे शब्दो के साथ लिखा जाए या अलग। हिन्दी मे कर्ता के साथ 'ने' का चिह्न अहिन्दी-भाषियो के लिए एक बडी विडम्बना है। इसी प्रकार कर्मकारक के चिह्न 'को' का प्रयोग है। 'तुमने ऐसा नही करना चाहिए' या 'मेरे को अग्रेजी नही समझता है', ऐसे वाक्य बहुधा सुनने मे आते है। हिन्दी व्याकरण के नियमो पर ध्यान देने से ये अशुद्धियाँ बचायी जा सकती है।

हिन्दी-भाषा के व्याकरण की सबसे जटिल समस्या लिग-भेद की है। अहिन्दी-भाषी, विशेषत. बगाली और मद्रासी भाई, इससे बहुत घबराते है। प्रो० सुनीतिकुमार चटर्जी का

कहना है कि क्रियाओ और विधेयात्मक विशेषण शब्दो से लिंग-भेद का पचडा निकाल दिया जाए। 'मोहन जाता है' और 'लक्ष्मी जाती है' मे कर्ता के अनुसार लिग-परिवर्तन तथा 'भात अच्छा है' और 'दाल अच्छी है' मे विधेय विशेषण का लिग-भेद अहिन्दी-भाषियो की दृष्टि मे एक बडी कठिनाई है। राष्ट्र-भाषा को सरल करने के लिए चटर्जी ने ये पॉच परिवर्तन सुझाये है–

१. सज्ञा-शब्दो का एक-वचन मे एक ही रूप रहे। जैसे 'स्त्री' और 'स्त्रियॉ' के स्थान पर 'स्त्री' और 'स्त्री लोग', 'घोडा'-'घोडे' के स्थान पर 'घोडा'-'सब घोडा' आदि।

२ सम्बन्ध कारक मे लिंग-भेद निकाल दिया जाए। जैसे–'उसका भाई' के साथ 'उसका बहन' भी शुद्ध माना जाए।

३ विशेषण शब्दो में लिग-भेद न रहे। जैसे–'अच्छा मर्द' के साथ 'अच्छा औरत' भी ठीक माना जाए।

४ क्रिया शब्दो मे भी लिग और वचन का भेद मिटा दिया जाए। जैसे–'मोहन', 'लक्ष्मी', 'तुम', 'मै', 'हम लोग', 'वे लोग'–इन सभी के साथ क्रिया-पद 'जाता है' लगाया जाए। 'जाता है,' 'जाती हैं', 'जाते हो', 'जाता हूँ', 'जाते है' आदि परिवर्तन करने की आवश्यकता न रहे।

५ कर्ता कारक मे 'ने' चिह्न न लगाए जाए। 'मै गया' के समान "मै पत्र लिखा" भी शुद्ध माना जाए–आदि आदि।

इसमे सन्देह नही कि इन सुधारो से हिन्दी की सुगमता और सुबोधता बढेगी और इस प्रकार जितने भी परिवर्तन आगे चल कर हिन्दी मे होंगे, वे सभी भाषा-प्रसार की दृष्टि से उचित है। यह निश्चित है कि अन्य भारतीय भाषाओ के सम्पर्क से हिन्दी मे अनेक परिवर्तन होगे और हिन्दी-व्याकरण को उन्हे मान्यता देनी पडेगी। क्योकि व्याकरण का यह काम ही है कि वह भाषा मे प्रचलित नियमो को ढूँढ-ढूँढ कर क्रमबद्ध करे। सजीव भाषा के प्रवाह को व्याकरण रोक नही सकता। वह उसके पीछे घसीटता हुआ चलता है। जब प्रचलित भाषा अपनी स्वाभाविक गति से आगे बढ जाती है तो व्याकरण बनाने वाले वैयाकरण अपने व्याकरण को उस चलती भाषा के पास पहुँचाने का प्रयत्न करते है। सक्षेप मे, व्याकरण भाषा का अनुयायी है, भाषा का जनक नही। भाषा एक प्रकृति-तत्त्व है, वह गढी नही जाती। हम व्याकरण के नये नियम गढ कर भाषा के नये स्वरूप का निर्माण नही कर सकते। हॉ, नये शब्द उधार ले कर या गढ कर उसका शब्द-भण्डार बढाया जा सकता है, किन्तु उसका स्वरूप और वाक्य-रचना उसकी निज की वस्तु है। उसका मनचाहा नवनिर्माण नही किया जा सकता। यूरोप में कई वर्ष पूर्व आर्यभाषाओ के मौलिक तत्वो और प्राथमिक रूपो की खिचडी पका कर 'एस्पेरेंटो' नामक एक नयी भाषा गढने का प्रयत्न किया गया था। किन्तु यह प्रयत्न विफल रहा, क्योकि उस नवनिर्मित भाषा मे स्वाभाविकता नही थी। उसमे एक जीवित भाषा की चेतना का अभाव था।

सत्य तो यह है कि प्रत्येक भाषा का एक स्वाभाविक और प्रकृति-सिद्ध स्वरूप हुआ करता है और उसी के अनुसार उस भाषा का विकास होता है। उसमे जान-बूझ कर तात्त्विक परिवर्तन नही किये जा सकते। यह बात दूसरी है, कि हिन्दी अपने स्वाभाविक प्रवाह मे

चलती-चलती कोई नया रूप धारण कर ले। पर वह नया रूप मत्र पढ कर या जादू की छडी घुमा कर नही होगा। हिन्दी की अपनी निजी स्वतत्र प्रकृति है। हिन्दी की अपनी इस प्रकृति का ऐतिहासिक आधार है। उत्तर भारत मे पूर्वी और पश्चिमी, ये दो भाषाओ के भेद है। पूर्वी वर्ग मे—बिहारी, बगाली, असमी, उडिया, ये भाषाये सम्मिलित है। पश्चिमी वर्ग मे—हिन्दी, पजाबी, लहदी, सिधी, राजस्थानी, गुजराती और मराठी भाषाएँ गिनी जाती है। इन दोनो वर्गो की भाषाएँ मध्ययुगीन शौरसेनी और मागधी प्राकृत की उत्तराधिकारिणी है। शौरसेनी प्राकृत और मागधी प्राकृत, ये दो भिन्न-भिन्न आर्य-शाखाओ की भाषाएँ थी। इन दोनो विभिन्न आर्य-शाखाओ के आचार-विचार और व्यवहार मे तात्त्विक अन्तर था। उनके सास्कृतिक विकास के इतिहास मे, सामाजिक और मनोवैज्ञानिक भेद के कारण क्रियापदो मे लिग-भेद का प्रारम्भ हुआ होगा। आगे चल कर शौरसेनी और मागधी की उत्तराधिकारिणी भाषाओ मे यह भेद अधिक स्पष्ट हो गया। आज इस लिग-भेद के आधार पर ही उत्तर भारत की आर्य-भाषाओ का वर्गीकरण किया जा सकता है। पश्चिमीय वर्ग मे विशेषण और क्रिया शब्द लिग-भेद से बदलते है, पूर्वीय वर्ग मे नही। यही कारण है कि बगाली मे लिग-भेद नही है, किन्तु गुजराती और मराठी मे है। फलत बगाली-भाषी भाई हिन्दी के लिग-भेद से घबराते है, किन्तु गुजराती और मराठी-भाषी नही ! हिन्दी मे नपुसक लिग न रहने के कारण निर्जीव-पदार्थ-वाचक शब्दो को भी पुल्लिग या स्त्रीलिग मानना पडता है। यह शब्द-गत लिग-भेद हिन्दी को सस्कृत से मिला है और यह वर्तमान हिन्दी का वैशिष्ट्य है।

मानव वही वस्तु खा कर पचा सकता है जो उसकी प्रकृति के अनुकूल है। उसी प्रकार भाषा भी वही तत्त्व ग्रहण कर सकती है जो उसकी प्रकृति के अनुकूल है। हिन्दी के शब्दो की बनावट, भाव व्यक्त करने की शैली, क्रिया के रूप, मुहावरे, मौलिक विशेषताएँ आदि सभी बातो का पूरा-पूरा ध्यान रखकर ही उसमे सुधार किये जा सकते है। अहिन्दी-भाषियो से सम्पर्क बढने पर इसमे प्रकृति के अनुरूप परिवर्तन स्वय ही होगे। किन्तु इस सम्बन्ध मे कृत्रिम नियमो की खोज कहाँ तक ठीक है, यह विचारने की बात है।

एक बात और। कुछ लोगो की यह भ्रान्त धारणा है, कि राष्ट्र-भाषा के रूप मे स्वीकृत खडी बोली को सीखने मे जो परिश्रम और अभ्यास अपेक्षित है, उससे हिन्दी-भाषी क्षेत्र के सभी निवासी सर्वथा मुक्त है। सत्य तो यह है कि मेरठ और उसके आस-पास के प्रदेश के लोगो को छोड कर अन्य सभी हिन्दी-भाषियो के लिए खडी बोली मातृ-भाषा नही है। छत्तीसगढी, भोजपुरी या बघेली बोलने वाली जनता को खडी बोली सीखनी पडती है।

एक भारतीय के लिए खडी बोली सीखने मे अग्रेजी की अपेक्षा कही कम परिश्रम और अभ्यास अपेक्षित है। इसकी सहज सुगमता ही तो इसका विशेष गुण है। फिर भी इसकी प्रकृति के विरुद्ध नये नियम लादना उचित नही है। भाषा-शुद्धि की दृष्टि से इसकी प्रकृति की रक्षा करना प्रत्येक राष्ट्र-भाषा-प्रेमी का कर्तव्य है।

[आकाशवाणी नागपुर से प्रसारित वार्ता तथा 'कल्पना' फरवरी १९५२ के अंक में प्रकाशित]

११. संस्कृत-व्याकरण-सम्प्रदायों में दश लकारों का मूल, क्रम तथा प्रयोग

सस्कृत-व्याकरण मे दश लकारो की व्यवस्था एक जटिल व्यवस्था है। इसमे प्राचीनतर काल के अनेक विषयो का सम्मिश्रण है। आजकल की नवीन व्याकरण प्रक्रियाओ के अनुसार काल (Tense) और प्रकार (Moods)—ये दो विभिन्न विषय है। वर्तमान, भूत और भविष्य—ये तीन काल है और सूचनार्थ, आज्ञार्थक, विध्यर्थक, सकेतार्थक आदि प्रकार है। सस्कृत-व्याकरण के दश लकारो मे इन कालो और प्रकारो को एक ही व्यवस्था मे रखकर मिला दिया गया है। एवमेव एक ही काल के विभिन्न भेदो का—जैसे, सामान्य वर्तमान, तात्कालिक वर्तमान, पूर्ण वर्तमान आदि का—स्पष्टीकरण नही किया गया है। मै जाता हूँ, मै जा रहा हूँ, मै गया हूँ के लिए 'गच्छामि', 'गच्छन्नस्मि' और 'गतोऽस्मि' वाक्यो का प्रयोग आधुनिक पद्धति का अनुसरण है। प्राचीन वाङमय मे एवविध यह भेद प्रदर्शन दृष्टिगोचर नही होता है। साथ ही भूत और भविष्यकाल के परोक्ष और अनद्यतन आदि जो भेद पाणिनि सूत्रानुसार किये गये हैं, उनका पूर्ण पालन उत्तरकालीन वाङमय मे नही मिलता है। तथैव आज्ञार्थक, विध्यर्थक आदि प्रकारों का जो अर्थ पाणिनि ने दिया है, उससे भी यह स्पष्ट होता है कि क्रियापदो का प्रयोग—जैसा कि एक जीवित भाषा मे होना चाहिए—किसी विशिष्ट अर्थबोधन-प्रकार की मर्यादा तक ही सीमित नही रहा है। एक लकार का अनेक अर्थो मे और अनेक लकारो का एक अर्थ मे प्रयोग बराबर होता रहा है। एवमेव इतर व्याकरण-सम्प्रदायो मे इन लकारो के नाम भी बदल दिये गये है, साथ ही साथ इनका क्रम भी विभिन्न पाया जाता है। पाणिनि-प्रणीत व्यवस्था मे 'लट्, लिट्, लुट्, आदि श्रवण-विचित्र ध्वनियो का मूल भी बहुत कुछ अस्पष्ट है। आज हम इन सभी समस्याओ पर विचार करने का प्रयत्न करेगे। पाणिनि-व्याकरण की व्यवस्था एक प्राचीनतर व्यवस्था की देन है एव उत्तरकालीन वैयाकरणो मे नियत मर्यादा से बाहर न जाने की प्रवृत्ति होने के कारण आज भी वही व्यवस्था ज्यो की त्यो कायम है। समय की दूरी, पाणिनि का लौह-नियन्त्रण, जीवित भाषा से विलग कर व्याकरणाध्ययन की परम्परा आदि अनेक कारणो से यह स्पष्ट है कि हमारा विषय-प्रतिपादन अधिकाश मे विवरणात्मक होगा, उसमे निर्णीत सिद्धातो या तर्कानुसगत कल्पनाओ मे सर्वमान्यता की आशा नही करनी चाहिए।

ये दश लकार क्रम से लट्, लिट्, लुट्, लृट्, लेट्, लोट्, लङ, लिङ, लुङ, लृङ है। इनमे से पाँचवाँ लकार 'लेट्' केवल वैदिक वाङमय मे उपलब्ध है। अत उत्तर सस्कृत मे प्रयुक्त लकार वास्तव मे नौ है, किन्तु लिङ के विधिलिङ और आशीर्लिङ—ये दो भेद कर देने के कारण

उत्तर काल मे भी लकारो की सख्या दश ही बनी रहती है। जैसा कि पूर्व कहा जा चुका है कि लकार शब्द का प्रयोग केवल काल के लिए ही नही, अपितु प्रकार (Moods) के लिए भी है। वर्तमान काल के लिए लट्, भूतकाल के लिए लिट्, लङ, और लुङ, भविष्य काल के लिए लुट् और लृट् है। अन्य लकार लेट्, लोट्, लिङ ओर लृङ; इच्छार्थक, आज्ञार्थक, विध्यर्थक और सकेतार्थक के अर्थबोधन प्रकार है। कालवाची लकार और प्रकारवाची लकार—सभी इस लकार-व्यवस्था मे सम्मिलित कर दिये गए है? यहाँ यह भी ध्यान मे रखना चाहिए कि Imperfcct, perfect और Aoırst आदि अग्रेजी-व्याकरण के शब्द सस्कृत-व्याकरण के लङ, लिट् और लुङ के पर्यायवाची माने जाते है, किन्तु वास्तव मे काल की विभिन्नताओ को (जैसे— Imperfect past या perfect past) सूचित करने के कारण नही, अपितु भारत-यूरोपीय भाषा (विशेषतया ग्रीक भाषा) के क्रियापद-रचना प्रकारो की समानता के कारण ये पर्यायवाची माने गये है। जैसे—अपठत् पठ् धातु के लङ रूप को Imperfect इसलिए कहते है कि अडागम और प्रत्यय के अल् का लोप और विकरण आने के कारण यह शब्द ग्रीक के Imperfect past रूप के सदृश है, अपूर्णभूत (Imperfect past) का अर्थ-बोधन करने के कारण नही। हम भारतीय लोग, जो ग्रीक भाषा नही जानते है, उन्हे Imperfect, perfect past आदि शब्दो से भ्रम उत्पन्न हो जाता है। अत लिट्, लङ, लुङ के लिए प्रथम द्वितीय, तृतीय भूत लकार (fıst, second, thırd past) ये शब्द अधिक सुविधा के है।

अब सक्षेप से दश लकारो के प्रयोग की चर्चा करेगे। सर्वप्रथम लकार 'लट्' है, जो न केवल सामान्य अपितु तत्सम्बद्ध अन्य अर्थो का भी बोधन करता है। 'उत्तरा सूरधर पुत्र आसीत्, दानु शये सहवन्सान धेनु' (ऋग्वेद) मे 'शये' भूतकाल के अर्थ मे है। 'प्रहसन्ति च त केचिद् अभ्यसूयन्ति चापरे' 'अकुर्वत दया केचित्' (महाभारत) मे प्रथम दो क्रियाएँ भूतकाल के अर्थ मे है। 'स्वागत तेऽस्तु कि करोमि तव' मे भविष्यकाल का अर्थ है। पाणिनि ने ऐसे प्रयोगो को 'वर्तमान सामीप्य' होने के कारण शुद्ध माना है। 'पुरा, स्म' के साथ लट् लकार का भूतार्थद्योतन प्रसिद्ध है। लिट् लकार पाणिनि के अनुसार परोक्ष भूत के लिए प्रयुक्त होता है। ब्राह्मण ग्रन्थो मे इसका बहुत कुछ पालन होता है, किन्तु उत्तरकालीन सस्कृत मे 'परोक्षत्व' लिट् के लिए अनिवार्य नही है। बहुधा लङ लकार के साथ इसका प्रयोग मिलता है 'मुमुदेऽपूजयच्चैनम्' (रामायण)। सत्य तो यह है कि पाणिनिकृत परोक्ष, अनद्यतन और सामान्य भूत—ये तीन भूत काल के भेद बहुधा ब्राह्मक्ष ग्रन्थो मे ही यथावत् प्रयुक्त किये गये है। उत्तरकालीन सस्कृत मे भारवि-सदृश कुछ विशिष्ट कवियो को छोडकर अन्य सभी ग्रन्थकार इस भेद के पालन मे उदासीन है। लुट् लकार, अनद्यतन भविष्य और लृट् सामान्य भविष्य है। इस भेद का भी पालन ब्राह्मण ग्रन्थो में ही अधिक पाया जाता है। 'लुट्' का प्रयोग वास्तव मे तृच् प्रत्ययान्त, विशेषण का सहायक अस् धातु के वर्तमान काल के रूपो के साथ (असि, स्थ स्थ, अस्मि स्व' स्म) प्रयोगो का अवशेष है, और यह बहुधा 'श्व' आदि विशिष्ट काल सूचक शब्दो के साथ ही प्रयुक्त किया जाता था। लेट्, लोट्, लिङ—ये क्रम से इच्छार्थक, आज्ञार्थक और विध्यर्थक प्रकार है, काल सूचक क्रियापद नही। इनका मौलिक अर्थ एक-दूसरे से सर्वथा

भिन्न था। जैसे—लोट् मे (प्रथम और मध्यम पुरुष) मे आज्ञा, लिङ् मे (प्रथम पुरुष) मे विधि और लेट् मे (उत्तम पुरुष) इच्छाप्रदर्शन—ये मौलिक अर्थ थे। किन्तु सभी लकारो मे सभी पुरुषो के रूप रखने की उत्सुकता होने के कारण इन विशिष्ट अर्थों की सूक्ष्मता का नष्ट होना अनिवार्य है, जैसे, उत्तम पुरुष मे 'लोट्' का रूप वास्तव मे अनुज्ञार्थक लेट् है, विध्यर्थक मे उत्तम पुरुष की और अनुज्ञार्थक मे प्रथम और मध्यम पुरुष की आवश्यकता ही नही है। तीनो पुरुषो के रूपो के रखने के कारण इन तीनो लकारों के अर्थ का वैशिष्ट्य नही रह जाता है और एक के स्थान मे दूसरे का प्रयोग दीख पडता है, जैसे 'शत जीव शरद॰ शतम्', 'शत जीवाति शरद', 'जीवेम शरद शतम्'। इसी प्रकार से आशीर्वादार्थक लिङ् मे उत्तम पुरुष के रूपो की आवश्यकता नही है। और 'जीव्यासम् सर्वमायु' मे आशीर्लिङ् का प्रयोग इच्छार्थक लेट् के अर्थ मे है। लुङ् का प्रयोग 'मा' इस निषेधार्थक शब्द के साथ बहुधा मिलता है। किन्तु लोट् और लङ् के साथ भी 'मा' का प्रयोग होता है। जैसे—'मा प्रयच्छेश्वरे धनम्', 'मा पुत्र मनुतप्यथा' इत्यादि। अन्तिम लकार लृङ् का प्रयोग सहिता मे नही के बराबर है। ब्राह्मण ग्रन्थो मे (विशेषतया शतपथ ब्राह्मण मे) इसका प्रयोग मिलता है। इसका अर्थ 'हेतुहेतुमद्भाव' (यदि सुवृष्टिर भविष्यत् सुभिक्षमभविष्यत्) बाद के वाङ्मय मे उपलब्ध होता है। पहिले तो इसका अर्थ 'होने वाला' या 'करने वाला' प्रतीत होता है, जैसे—शतायु गामकरिष्यम्। उत्तर काल मे विध्यर्थक लिङ् भी हेतुहेतुमद्भाव के अर्थ मे प्रयुक्त होता है, लिङ् और लृङ् दोनो लकार हेतुहेतुमद्भाव अर्थ बोधित करते है। साराश यह है कि इन दश लकारो की अपने-अपने क्षेत्र मे सीमा घटती-बढती है और पाणिनि जैसे महावैयाकरण को भी लकारार्थ के विषय मे अनेक अर्थ देने पडे। व्याकरण से भाषा हमेशा के लिए जकडी नही जा सकती।

इन दश लकारो के नाम सब व्याकरण-सम्प्रदायो मे एक से नही है। शर्ववर्मन् के कातन्त्र व्याकरण मे लट् के **वर्तमाना** लिट् के लिए **परोक्षा**, लुट् के लिए **श्वस्तनी**, लृट् के लिए **भविष्यन्ती**, लङ् के लिए **ह्यस्तनी**, आशीर्लिङ् के लिए **आशीः**, लृङ् के लिए **क्रियातिपत्ति** नाम रक्खा गया है। जान पडता है यह परम्परा पाणिनि-पूर्वकालीन है। क्योकि ऐतरेय ब्राह्मण मे कुर्वत् व्यरिष्यत्, कृतम् शब्द वर्तमान, भविष्य और भूतकाल के लिए प्रयोग किए गये है। कात्यायन ने (२-३-१-३-२-१२३) भवन्ती शब्द वर्तमान के लिए दिया है। इसी के आधार पर बोपदेव ने मुग्धबोध मे भवन्, भूत, भव्य शब्द प्रयुक्त किए है। अधिक लाघव के लिए अभिनव शाकटायन ने भवत् के स्थान मे सत् और भविष्यत् के स्थान मे वर्त्स्यत शब्द दिया है। किन्तु पाणिनि की नामपरम्परा की छाप से बचना कठिन था। क्योकि लोट् के लिए पचमी और विधिलिङ् के लिए सप्तमी शब्द का प्रयोग कातत्र मे पाया जाता है। पचमी और सप्तमी शब्द पाणिनि के दश लकारो के क्रम के अनुसार लिये गये हैं, क्योकि लोट् पाँचवाँ और विधिलिङ् सातवाँ लकार है। यह भी ध्यान रखना चाहिए कि इन उत्तरकालीन व्याकरणो के लकार-क्रम मे लोट् और विधिलिङ् का स्थान पाँचवाँ और सातवा नही है किन्तु दूसरा और तीसरा है। तो भी सप्तमी और पञ्चमी पद का प्रयोग करना पाणिनि के लकार-क्रम का अनुकरण मात्र है। अथर्व

प्रातिशाख्य (२-११, ३-११) मे लेट् के लिए नैगमी शब्द व्यवहृत किया गया है। हरदत्त के मतानुसार दक्षिण भारत मे लेट् शब्द अश्लील होने के कारण पञ्चम लकार शब्द प्रयुक्त होता है। सुपद्म व्याकरण मे आशीर्लिङ को 'लोङ' कहा है। लकारो के नामकरण मे वोपदेव ने करामात कर दिखाई हे। मुग्धबोध मे इन दश लकारो के लिए की, खी, गी, घी, टी, ठी, डी, ढी, ती, थी शब्द प्रयुक्त किये गये है। उच्चारण-सुखार्थ अनुनासिक कण्ठ्य और तालव्य वर्ण(ङ और ञ) छोड दिये गये है। इनके उच्चारण मे कठिनता क्या थी, समझ मे नही आती। जीवगोस्वामिन् ने हरिनामामृत मे 'मात्रालाघवमात्र पुत्रोत्सव इति पदमभिमन्यन्ते। हरिनामाक्षरलाभाद् वय त्वमीदृक् तिरस्कुर्म ' मानकर दश लकारो के लिए अच्युत (लट्), अधोक्षज (लिट्), बालकल्कि (लुट्), कल्कि (लृट्), विधाता (लोट्), विधि या कामपाल (लिङ), भूतेश्वर (लङ), भूतेश (लुङ), अजित (लृङ) इन नामो का स्वारस्य स्पष्ट है। भगवान् विष्णु के दशावतारो के नाम क्यो नही रक्खे, यह शङ्का उत्पन्न हो सकती है, किन्तु बात यह थी कि दश स्वरो के लिए दशावतारो के नाम प्रयुक्त किये गये थे। पा० (२-४-२१) पर काशिकाकार ने 'व्याऽयुपज्ञ दशहुस्करणम्' कहा है। इससे सन्देह होता है कि व्याडि के व्याकरण मे लकार के स्थान मे हुस्करण प्रयुक्त था। इसका स्पष्ट अर्थ हम नही जान सके है। (४-३-१५) 'आपिशल हुस्करणम्' भी कहा गया है।

'लकार' शब्द का क्या रहस्य है? पाणिनि-व्याकरण को 'अकालक व्याकरण' कहा गया है। (देखो पाणिन्युपज्ञमकालक व्याकरणम्—(२-४-२१, ६-२-१४) अर्थात् पाणिनि ने 'काल' शब्द का प्रयोग नही किया है। उन्होने 'काल' के स्थान मे केवल 'ल्'-ले लिया और उसी मे अक्षरसमाम्नाय के क्रम से अ, इ, उ, लृ, ए, ओ के साथ ६ टित् और अ, इ, उ, ऋ के साथ चार ङित् बनाकर दशो लकारो के नाम बना डाले। पा० सू० ३-४-७७ पर काशिकाकार ने कहा षट् टित चत्वारो ङित । टित् लकारो मे प्रत्यय पूर्ण रूप मे (ति , त , अन्ति आदि) है। किन्तु ङित् लकारो मे प्रत्यय खण्डित रूप मे (त्, न् आदि) है। इस प्रकार हम एक सकारण व्यवस्था को खोज सकते है। कहा भी है— 'व्याख्यानतो विशेष प्रतिपत्तिर्नहि सन्देहादलक्षणम्'—अर्थात् यदि स्पष्टतया कोई बात बुद्धिगम्य न दिखती हो, तो भी उसमे बुद्धि लगा कर व्यवस्था देखने का यत्न करना चाहिये, सन्देह के कारण निराश न होना चाहिये। महाभाष्यकार पतजलि की यह घोषणा व्याकरणशास्त्र की बौद्धिकता का निर्देश करती है। 'बुद्धौ साहसमन्विच्छ'।

[६ मार्च, १९४९ को सी० पी० रिसर्च सोसायटी में प्रकाशित]

१२· संस्कृत के प्रथम आलोचक : आचार्य भरत

आलोचना शब्द का अर्थ बारीकी से देखना, छानबीन करना है। साहित्य के क्षेत्र मे आलोचना का तात्पर्य काव्य (अर्थात् कवि कर्म) की छानबीन, गुणदोष की पहचान, काव्य को आकर्षक बनाने के उपकरणों का प्रतिपादन है। जैसे व्याकरण-शास्त्र की कल्पना के पहिले भाषा का अस्तित्व अनिवार्य है, वैसे ही साहित्यालोचना के पहिले साहित्य का अस्तित्व आवश्यक है। अत यह सर्वथा स्वाभाविक है कि भरत-पूर्वकालीन साहित्य मे काव्य-तत्त्व के दर्शन अति प्राचीन काल से ही होने लगते है। विश्व वाङमय का प्रथम ग्रन्थ ऋग्वेद की रचना ही पद्यो मे की गई है। उसकी ऋचाओं के अनुशीलन से स्पष्ट है कि उपमा, रूपक, अनुप्रास का जानबूझ कर प्रयोग किया गया है। कठ, मुण्डक, श्वेताश्वतर उपनिषद् मे अलकृत कविता का सहज दर्शन किया जा सकता है। महाभारत के श्लोको मे उपमा, रूपकादि प्रचलित काव्य-तत्त्वों का प्राचुर्य तो है ही, व्यञ्जना एव गुणीभूत व्यग्य के भी उदाहरण अलभ्य नही है। वाल्मीकि का रामायण तो आदिकाव्य ही माना जाता है। पतजलि ने न केवल प्रचलित काव्यों से अवतरण दिये है, बल्कि तत्काल प्रचलित नाटको का भी उल्लेख है। इससे यह स्पष्ट है कि आचार्य भरत से पहिले ही काव्य निर्माण-परम्परा उद्भूत और विकसित हो चुकी थी। साराश यह कि आलोचना शास्त्र के विकास के लिए वाङमय मे प्रभूत सामग्री उपलब्ध थी।

यही नही, आलोचना शास्त्र का उद्गम भी आचार्य भरत के पूर्वकालीन वाङमय मे स्पष्टतया दृष्टिगोचर होता है। ब्राह्मण काल मे ही अलकरण शब्द वाङमय के सन्दर्भ मे प्रयुक्त किया गया है। पाणिनि ने उपमान, उपमित आदि पारिभाषिक पदो का साक्षात् प्रयोग किया है, एव तत्कालीन नाट्य-शास्त्र के ग्रन्थो का निर्देश किया है। यास्क ने निरुक्त मे उपमा का उसके अनेक भेदो सहित निरूपण किया है। कौटिल्य अर्थशास्त्र मे अर्थक्रम, परिपूर्णता, माधुर्य, प्रसाद, औदार्य आदि काव्यगुणो का उल्लेख है। बौद्धग्रन्थ ललित विस्तर मे तो काव्य-करण ग्रन्थ का ही साक्षात् निर्देश है। वात्स्यायन के काव्यशास्त्र मे कवि कला को एक कला माना गया है। उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि आचार्य भरत के समकालीन तथा पूर्ववर्ती वाङमय में साहित्यशास्त्र का मनन, चिन्तन और अध्ययन अव्याहत रूप मे प्राचीन काल से चला आ रहा था।

साहित्य शब्द का व्यापक अर्थ वाङमय के अतिरिक्त काव्य (कविकर्म) का समानार्थी भी है। "शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्" इस काव्य की परिभाषा मे "सहितौ" शब्द के महत्त्व का आकलन कर काव्य को साहित्य का पर्यायवाचक शब्द माना जाता है। इस प्रकार "साहित्य"

शास्त्र काव्यतत्त्वो का समीक्षात्मक निरूपण करनेवाला शास्त्र है। प्राचीन काल मे इस शास्त्र को अलकारशास्त्र कहा जाता था। अत अलकारशास्त्र के ग्रन्थो मे अलकारो के अतिरिक्त गुण, रीति, दोष आदि इतर काव्यतत्त्वो का निरूपण है। बाद मे मम्मट, विश्वनाथ आदि ने अपने ग्रन्थो मे उपर्युक्त इतर काव्यतत्त्वो के साथ रस तथा ध्वनि का भी समावेश किया है। काव्य को अलकृत करने के कारण उपर्युक्त इतर काव्यतत्त्व भी साहित्यशास्त्र मे उपादेय माने जाते थे। आगे चलकर जब साहित्यशास्त्र के अन्तर्गत विभिन्न विषयो का स्वतत्र रूप से विचार तथा अध्ययन होने लगा तो विभिन्न विषयो पर लिखे स्वतन्त्र ग्रन्थो के नाम ध्वन्यालोक, व्यक्तिविवेक, औचित्य विचार-चर्चा, शृगार प्रकाश आदि देखे जाते है। सामान्य साहित्यशास्त्र के लिए साहित्य-विद्या, साहित्य-मीमासा, काव्य-मीमासा, काव्य-प्रकाश, साहित्य-दर्पण आदि नाम दिये गये।

यह रही, आचार्य भरत के उत्तर काल की नाम परम्परा। उनके पूर्ववर्ती वात्स्यायन के कामशास्त्र मे साहित्य-शास्त्र का 'क्रियाकल्प' नाम था, एव वह ६४ कलाओ मे परिगणित होता था। "क्रिया कल्प" मे "क्रिया" का अर्थ काव्य ग्रन्थ और "कल्प" का अर्थ है विधान। इस प्रकार साहित्य-शास्त्र के लिये यह एक उपयुक्त शब्द था। किन्तु यह नाम प्रचलित नही हुआ। कवि कर्म अर्थात् काव्य के दो प्रधान भेद है—दृश्य और श्रव्य। दोनो मे कवि कौशल की परिनिष्पत्ति है। काव्य रसास्वाद मे "श्रव्य" की अपेक्षा "दृश्य" काव्य का साक्षात् और अधिक महत्व है। 'सत्य शिव सुन्दरम्' की भारतीय जीवन दृष्टि मे श्रुति तथा दृष्टि के बीच का अन्तर केवल तारतम्य का है। आचार्य भरत का दृष्टिकोण विश्लेषणशील तथा क्रियाभिमुख था। अत' उन्होने अपने साहित्य-शास्त्र परक ग्रन्थ मे दृश्य और श्रव्य दोनो प्रकार के काव्यो की शास्त्रानुरूपी व्याख्या की है। तो भी "प्राधान्येन व्यपदेशा. भवन्ति" इस न्याय के अनुसार ग्रन्थ का नाम "नाट्यशास्त्र" दिया है। इसलिये नाम मे भिन्नता होते हुए भी उनका "नाट्यशास्त्र" साहित्य-शास्त्र का सुसम्बद्ध साङ्गोपाङ्ग विवेचक ग्रन्थ है। आचार्य भरत सस्कृत साहित्य के प्रथम आलोचक माने जाते है। उन्होने अपने ग्रन्थ "नाट्यशास्त्र" मे अनेक पूर्ववर्ती आचार्यो का उल्लेख किया है। राजशेखर ने "काव्यमीमासा" मे भरत मुनि के साथ १७ अन्य आचार्यो का नामोल्लेख उनके द्वारा प्रतिपादित विषयो के साथ किया है। किन्तु काल गर्भ मे कवलित हो जाने के कारण आचार्य भरत का नाट्यशास्त्र नि सन्देह साहित्यालोचना का सर्वप्रथम ग्रन्थ है।

वर्तमान युग मे साहित्य-शास्त्र के अन्य ग्रन्थो के समान भरत का नाट्यशास्त्र भी स्मृति शेष रह गया था। विभिन्न ग्रन्थो मे उसके अवतरण मिलते थे, किन्तु ग्रन्थ अनुपलब्ध था। सन् १८२६ मे विल्सन नामक विदेशी विद्वान् ने इसकी चर्चा करते हुए खेद पूर्वक कहा था कि नाट्यशास्त्र सदैव के लिए लुप्त हो गया है। किन्तु शीघ्र ही सौभाग्यवश इसकी पांडुलिपियाँ मिलनी शुरू हुईं और १८६७ से विदेशी विद्वान् उसके प्रकाशन मे जुट गए। भारतवर्ष मे इसका मुद्रित सस्करण सर्वप्रथम १८९४ मे प्रकाशित हुआ। अब तो इसके अनेक सटीक और अनूदित सस्करण उपलब्ध है।

वर्तमान उपलब्ध "नाट्य-शास्त्र" आदि भरत का वृद्ध भरत के बृहत् सस्करण का सक्षिप्त रूप है। बृहत् सस्करण "द्वादशसाहस्रिक" कहलाता था। क्योंकि उसमे १२,००० श्लोक थे। परन्तु वह आज अनुपलब्ध है। वर्तमान उपलब्ध सस्करण मे करीब ६००० श्लोक है तथा ३६ अध्याय है। प्रस्तुत रूप मे यह आलोचना शास्त्र का ही नही, बल्कि ललित कलाओ की समीक्षा का सर्वमान्य विश्वकोश है। यह अनेक शताब्दियो के साहित्य-शास्त्रीय चिन्तन का परिनिष्ठित और परिणत फल है। इसके सभाष्य सूत्र, कारिका तथा अनुवश्य श्लोक—ये तीन रूप है। मूल ग्रन्थ सूत्रशैली मे है—जिस पर भरत ने ही भाष्य भी लिखा है। विषय को विस्तार से समझाने के लिये कारिकाये दी है। अनतर अनुवश्य श्लोक (जो प्राचीन आचार्यो द्वारा विरचित है) सूत्रार्थ की पुष्टि मे दिये गये है। अभिनव गुप्त की अभिनव भारती टीका नाट्यशास्त्र पर सर्वप्रसिद्ध व्याख्या है, जिसके कारण नाट्य-शास्त्र को महनीय कीर्ति प्राप्त हुई है। इसकी लोकप्रियता का अनुमान इस पर ९ भाष्यो के लिखे जाने से किया जा सकता है। ईशवीय प्रथम शताब्दी के लगभग काल मे लिखा गया नाट्यशास्त्र, सस्कृत-साहित्य मे अपने विषय का अनुपम ग्रन्थ हे और सभी साहित्य शास्त्राचार्य श्रद्धापूर्वक इसे सिद्धान्त-ग्रन्थ मानते है।

जैसा कि पहिले कहा जा चुका है, नाट्यशास्त्र मे दृश्य और श्रव्य—दोनो काव्य भेदो के नियमो का शास्त्रीय निरूपण किया गया है। श्रव्य काव्य के विषयो का प्रतिपादन आठ अध्यायो मे है। शेष मे नाट्य सम्बन्धी विषयो का सुचिन्तित निरूपण है। श्रव्य काव्य सम्बन्धी निरूपण मे छठा अध्याय् रस-विपयक है। रस निरूपण आचार्य भरत की प्रमुख उपलब्धि है। उनका मत है कि "न हि रसादृते कश्चिदर्थ प्रवर्तते"—अर्थात् रस के बिना काव्यार्थ सम्भव ही नही है। भरत की रस-परिभाषा, "विभावानुभाव व्यभिचारि सयोगाद्रसनिष्पत्ति" रसास्वादन प्रकार सम्बन्धी अनेक सम्प्रदायो का प्रवर्तन करती है। लोल्लट का 'उत्पत्तिवाद', शकुक का अनुमिति-वाद, भट्टनायक का भुक्तिवाद, अभिनवगुप्त का व्यक्तिवाद—ये सभी सम्प्रदाय भरत की रस-परिभाषा की विभिन्न व्याख्याओ पर आधारित है, जिनका सुन्दर विवेचन मम्मट के काव्य-प्रकाश मे किया गया है। आचार्य भरत ने केवल ८ रस माने है—श्रृगार हास्य करुण रौद्र वीर भयानका। बीभत्सोऽद्भुत सज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्यरसा. स्मृता। किन्तु बाद मे शांत रस को भी माना है। यही नही, शात रस को ही सर्वप्रधान रस स्वीकार करते है तथा शान्त रस से ही अन्य रसो की उत्पत्ति तथा शान्त रस मे ही सब रसो का लय मानते है। 'स्व स्व निमित्त-मासाद्य शान्ताद्भाव प्रवर्तते। पुनर्निमित्तापाये तु शान्त एवोपलीयते।' आचार्य भरत के अनु-सार शान्त रस ही प्रकृति का मूल रस है, जिसकी विकृति अन्य रसो के द्वारा उपस्थित की जाती है।

सस्कृत-साहित्य मे प्रकृति-रस के सम्बन्ध मे विभिन्न मतो की उपस्थापना की गई है। भवभूति के अनुसार करुण रस, भोजराज के अनुसार श्रृंगार रस, नारायण पण्डित के अनु-सार आश्चर्यरस, रूप गोस्वामी के अनुसार मधररस, मूल या प्रकृति-रस हैं। इस प्रकार हम देखते है कि भरत के रस-सिद्धान्त को केन्द्र-विन्दु मानकर सस्कृत-साहित्य मे रसशास्त्र का मनोरम पल्लवन हुआ है।

रस-निरूपण के समान भरत का अलकार निरूपण भी उत्तरकालीन साहित्य-शास्त्रियो की अलकार मीमासा का उद्भवस्थान है। भरत के नाट्यशास्त्र मे केवल उपमा, रूपक, दीपक, यमक-इन ४ अलकारो का निरूपण है। किन्तु भरत से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक के दीर्घ-कालीन विकासेतिहास मे अलकारो की सख्या लगभग २०० तक पहुँच जाती है। भरत ने काव्य के प्रयोजन को एक व्यापक तथा मूलगामी परिप्रेक्ष्य मे प्रतिपादित किया है। वे कहते है—

धर्मोऽधर्मप्रवृत्तानां कामः कामोपजीविनाम्।
निग्रहो दुर्विनीतानां वितीनानां दमक्रिया॥
क्लीबानां धाष्ट्र्यजननमुत्साहः शूरमानिनाम्।
अबुधानां विबोधश्च वैदुष्यं विदुषामपि॥
दुःखार्तानां श्रमार्तानाम् शोकार्तानां तपस्विनाम्।
विश्रान्तिजननं काले नाट्यमेतद्भविष्यति॥
धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धिविवर्धनम्।
वेदविद्येतिहासानामाख्यानपरिकल्पनम् ॥

प्रयोजन की इस विशाल कल्पना के अनुरूप ही आचार्य भरत ने नाट्यशास्त्र मे दृश्य और श्रव्य काव्य से साक्षात् या परम्परया सम्बद्ध सभी विषयो का निरूपण किया है। इसमे रस, भाव, छन्द, अलकार, भाषा, काव्य तथा नाटक के भेद, रीति, गुण, दोष, नायक नायिका भेद के अतिरिक्त नृत्यकला, सगीतकला, अभिनयकला, गति प्रचार, पात्रचयन, पात्रलक्षण, प्रेक्षागृह, रगनिर्माण आदि सभी सम्भाव्य विषयो का सविस्तार निरूपण किया गया है। प्रथम तथा अन्तिम अध्याय मे नाट्य की उत्पत्ति, उसके मूलस्रोत तथा भूलोक अवतरण का चित्तग्राही वर्णन है। उन्होने नाट्यकला को लोकचरित का अनुकरण माना है। इसलिये उसमे नाना अवस्थाओ और भावो के चित्रण की आवश्यकता बताई है। उनके दृश्य-श्रव्यात्मक काव्य का आदर्श स्वरूप इस प्रकार है—

मृदुललितपदाढ्यं गूढशब्दार्थहीनं जनपदसुखबोध्यं युक्तिमन्नृत्ययोज्यम्।
बहुकृतरसमार्गं सन्धिसंधानयुक्तं स भवति शुभकाव्यं नाटकं प्रेक्षकाणाम्॥

इतने उदात्त और सर्वस्पर्शी काव्य स्वरूप के स्वप्नद्रष्टा आचार्य भरत है, यही कारण है कि गत २००० वर्षो के दीर्घकालीन आलोचना-विकास मे उनका प्रथम स्थान अक्षुण्ण है तथा आलोचना-शास्त्र को वेद का सप्तम अग कहा गया है।

[२७-१०-६४ को आकाशवाणी से प्रसारित वार्ता]

१३. काव्य-सिद्धांत के विभिन्न वाद–"अनुमान"

सस्कृत का काव्य-शास्त्र, परिपुष्ट चिन्तन, सूक्ष्म विवेचन एव तर्कानुगत प्रतिपादन के लिये प्रसिद्ध है। उसमे काव्य का स्वरूप, उसका अगागि भाव, काव्य की आत्मा क्या है, आदि विषयो पर ऊहापोहपूर्वक विवेचन किया गया है। शब्द और अर्थ दोनो मिलाकर (सहितौ), उसके शरीर है, माधुर्य, ओज, प्रसाद आदि उसके गुण है। अलकार उसके भूषण है। इनके विषय मे विशेष मतभेद नही है। परन्तु काव्य की आत्मा क्या है—इस पर जमकर मतभेद है। कोई "रीति" को आत्मा मानता है। कोई रस को, कोई रमणीयता या चमत्कारजनकता को काव्य की आत्मा मानते है तो अन्य आचार्य ध्वनि को काव्य की आत्मा के रूप मे महत्व देते है। स्थूल रूप से ध्वनिवादी सम्प्रदाय आज सर्व सम्मत माना जाता है। किन्तु यहाँ भी मत-भेद का अन्त नही। ध्वनि के मूल मे कौन शब्दावृति (अभिधा या व्यञ्जना) काम करती हे। इसके विषय मे घोर मतभेद है। व्यञ्जनामूलक ध्वनि को मानने वाले सम्प्रदाय के विरुद्ध अनुमानवादी सम्प्रदाय है। इसी अनुमानवादी सम्प्रदाय का सक्षिप्त परिचय आज की वार्ता का विषय है।

अनुभाववाद के मुख्य प्रवर्तक काश्मीर-जन्मा आचार्य महिम भट्ट है, जिनका काल ईसा की ग्यारहवी शताब्दी का मध्य काल है। इन्होने इस वाद का प्रतिपादन करने के लिये एक स्वतन्त्र ग्रन्थ की रचना की है, जिसका नाम व्यक्ति विवेक है। जो एक अपूर्ण टीका के साथ सर्वप्रथम १९०७ मे त्रिवेन्द्रम से प्रकाशित हुआ था। इसकी रचना आचार्य आनन्द वर्मन की प्रसिद्ध रचना ध्वन्यालोक मे प्रतिपादित व्यञ्जना वाद का खण्डन करने के उद्देश्य से की गयी थी। आनन्द वर्मन का यह मन्तव्य था कि काव्य मे ध्वनि की प्रतीति शब्द की गौणी वृत्ति अर्थात् व्यञ्जना वृत्ति के द्वारा होती है। किन्तु अनुमानवादी आचार्य महिम भट्ट को यह मत स्वीकार नही था। वे ध्वनि को तो मानते है किन्तु उसे अनुमान द्वारा सिद्ध कहते है। उनके मत मे व्यञ्जना वृत्ति को अलग से मानने की कोई आवश्यकता नही है। वह तो अनुमान के अन्तर्गत ही मानी जा सकती है। गौरव लाघव चिन्ता मे मग्न हमारे अनुमानवादी काव्य-शास्त्री यह समझते है कि यदि प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणो के आश्रय से अभिप्रेत अर्थ की सिद्धि हो सकती है तो व्यञ्जना नामक स्वतत्र वृत्ति की सत्ता मानने का गौरव नही करना चाहिये।

अनुमानवादियो का यह सिद्धात "रसनिष्पत्ति" की उस विद्या से सम्बद्ध है, जिसे शकुक नामक आचार्य ने प्रसिद्ध भरत मुनि सूत्र विभावानुभाव व्यभिचारि सयोगाद्रस निष्पत्तिः की व्याख्या मे प्रस्तुत किया था। आचार्य शकुक का यह कहना था कि रसोद्दीपन मे आलम्बन

उसने एक तरकीब सोची। दूसरे दिन भिखमगे को देख कर नायिका ने जो कहा—वह इस श्लोक मे निबद्ध है:

अर्थात् ऐ साधुजी ! अब तुम निशक होकर यहाँ चारो ओर घूम सकते हो। अब वह कुत्ता तुम्हे तग नही करेगा, क्योकि उसे तो गोदावरी के कछार मे रहने वाले एक भयकर सिह ने मार डाला है।

इस श्लोक मे अभिधाजन्य अर्थ तो यह है कि सिह द्वारा कुत्ता मार डाला गया है, वह अब तुम्हे भूँक-भूँक कर तग नही करेगा। अब तुम कछार मे नि शक घूम सकते हो। किन्तु ध्वनि यह है कि साधु जी ! खबरदार अब गोदावरी कछार मे जाने की न सोचना। क्योकि वहाँ एक भयकर सिह आ गया है। उससे तुम्हारी खैर नही। क्योकि कुत्ते को मार कर वह सिह प्राणी भक्षी बन गया है। वाच्यार्थ और ध्वन्यार्थ मे कितना सुन्दर अन्तर है। "मनमाना घूमो" का अर्थ "बिलकुल न घूमो" है। इसी ध्वन्यार्थ के कारण यह श्लोक व्यञ्जना का उत्कृष्ट उदाहरण माना गया है।

अनुमानवादी महिम भट्ट ध्वन्यार्थ को अपनी अनुमान प्रक्रिया से यो निकालते है। गोदावरी कछार मे मनमाना घूमने के लिये श्लोक मे जो कारण दिया गया है, वही कारण सूक्ष्म विचार करने पर विपरीत कार्य का कारण बन गया है। चूँकि वहाँ प्राणीभक्षी सिह आ गया है, अत वहाँ जाने का विचार ही नही करना चाहिये। अनुमान प्रक्रिया का काव्य शास्त्र मे मूर्धन्य उदाहरण यह दिया जाता है—

पर्वत अग्नि-युक्त है, क्योकि उसके ऊपर धुआ दिखाई देता है। न्याय-शास्त्र के इस उदाहरण की तरह श्लोकार्थ के विचार मे अनुमान प्रक्रिया का रूप अनुमानवादियो ने इस प्रकार से दिया है।

इसी प्रकार अनुमानवादी महिम भट्ट ने व्यक्ति विवेक मे ४० उदाहरणो को देकर प्रत्येक मे बताया है कि कहाँ किस प्रकार अनुमान-सिद्धात का प्रयोग माना जा सकता है। संस्कृत के काव्यशास्त्रियो का यह बुद्धि-वैभव कितना चमत्कारी है।

[३०-३-६४ को आकाशवाणी से प्रसारित वार्ता]

१४· भयानक और वीभत्स

"किसी आती हुई आपदा की भावना या दु ख के कारण के साक्षात्कार से जो एक प्रकार का आवेगपूर्ण अथवा स्तब्धकारक मनोविकार होता है, उसी को भय कहते है।" इसको स्पष्ट करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल कहते हैं—"क्रोध दु ख के कारण पर प्रभाव डालने के लिए आकुल करता है और भय उसकी पहुँच मे बाहर होने के लिए।" वास्तव मे बात यह है कि भयकर स्थिति के कारण भय उत्पन्न होता है।

इसके मूल मे सरक्षण की प्रवृत्ति है। भय का विषय साध्य और असाध्य रूप मे सामने आता है। असाध्य रूप मे तो उसका निवारण सभव ही नही होता, पर साध्य रूप मे होता है। जब सामना करने का सामर्थ्य नही होता तो "पलायन" क्रिया ही दीख पडती है। यही भय की भावना जब परिपक्व होकर अपना पूर्ण रूप प्रदर्शित करती है, तभी वह साहित्य मे "रस" की सज्ञा प्राप्त करती है। प्रत्यक्ष जीवन मे तो भय का भाव दु ख उत्पन्न करता है, पर साहित्य मे वह श्रोता के लिए आह्लाद का कारण बनता है। क्योकि वह वहाँ लौकिक क्षेत्र से ऊपर उठकर अलौकिक हो जाता है। वह किसी व्यक्ति का भाव न होकर सामान्य भाव बन जाता है।

श्रोता जब भयपूर्ण काव्य पढकर विकम्पित होने लगता है, तो इस विकम्पन मे भी एक प्रकार का मृदु उल्लास अनुभव करता है और प्रत्यक्ष जगत् मे भय का कारण न होने पर भी उसमे भय की स्थिति पैदा करने के अलौकिक सामर्थ्य के कारण कवि को साधुवाद देता है।

प्रत्येक रस मे स्थायी भाव के अतिरिक्त आलम्बन विभाव, उद्दीपन विभाव, अनुभाव और सचारी भाव होते है। भयानक रस का अस्थायी भाव स्पष्टत भय ही है। आलम्बन-विभाव-व्याघ्र, सिहादि हिंसक प्राणी, निर्जन स्थान, श्मशान, बलवान शत्रु, भूत-प्रेत का अश आदि, उद्दीपन विभाव—हिसक जीव की भयानक चेष्टा, शत्रु के भय उत्पन्न करने वाले व्यवहार, भयानक स्थान की निर्जनता, निस्तब्धता, विस्मयोत्पादक ध्वनि आदि। अनुभाव—रोमाच, स्वेद, कप, चीत्कार, शाप-वाक्य आदि तथा सचारी भाव—शका, चिन्ता, ग्लानि, आवेग, मूर्च्छा, जुगुप्सा, दैन्य आदि है।

वीभत्स और भयानक रस, एक दूसरे के बहुत सन्निकट होकर चलते है। जो वीभत्स है वह प्रारम्भ मे भयानक होता ही है। युद्ध-क्षेत्र मे 'कबन्ध' को नाचते हुए देखकर स्वभावत भय से मन उद्विग्न हो जाता है। शाकुन्तल नाटक मे राजा दुष्यन्त, भागते हुए हरिण को देखकर अपने सारथी से कहते है—

"ग्रीवाभङ्गाभिरामं मुहुरनुपतति स्यन्दने दत्तदृष्टिः-
पश्चार्द्धेन प्रवृत्तः शरपतन भयाद् भूयसा पूर्वकायम्।
दर्भैरर्द्धावलीढैः श्रमविवृतमुख भ्रंशिभिः कीर्णवर्त्मा-
पश्योदग्रप्लुतत्वाद्वियति बहुतरं स्तोकमुर्व्यां प्रयाति ।।"

हे सारथि ! यह मृग रथ पर दृष्टि डालता हुआ, ऊँची-ऊँची छलाँगे मार रहा है, जब यह अपनी गर्दन फेरकर देखता है तो बहुत सुन्दर मालूम पडता है, बाण लगने के भय से केंचुए के समान अपने शरीर को सिकोडता है तथा आगे बढता है, परिश्रम के कारण जिसका मुख खुला हुआ है, आधे खाये हुए कुश रास्ते मे बिखरे हुए है, जल्दी-जल्दी दौडने के कारण यह आकाश मे अधिक तथा पृथ्वी पर थोडा ही जा रहा है। इसकी दूसरी बानगी यह है—

"गीर्वाणाः प्रतियन्ति नैव पिदधे कर्णौ सुधर्माधिपः-
कर्णा कर्णिकयन्ति हन्त निभृत शम्भुःस्वयंभूगणः।
दूरादेत्य कृतान्तदूतनिवहाः स्वाकार-संगोपनै-
रुद्ग्रीवं कलयन्ति कौणप चमूनाथे शयाने रणे ।।"

युद्ध भूमि मे रावण मरा पडा है, फिर भी लोगो को विश्वास नही हो रहा है। देवता लौट रहे है, परन्तु अपने कानो को खोले हुए है। शिव तथा सुरगण कानो मे फुसफुसा रहे है। यमराज के दूत अपने को छिपाकर दूर से गर्दन उठाये हुए देख रहे है। एक चित्र यह भी है—

"माद्यन्मातङ्ग-कुम्भस्थल बहलवसा वासना वस्रगन्ध-
व्यासक्तव्यक्त मुक्ताफल सकललसत्केसराली करालः।
एणीवैधव्य वेधाः स्वभुजबल मदग्रस्त तेजस्विधामा-
गुञ्जन्कुञ्जे गिरीणां हरिरिह शबरीगर्भपात विधत्ते ।।"

मतवाले हाथियो के मस्तक से निकलते हुए दुर्गन्ध से सनी हुई गजमुक्ताओ से उनका आयल शोभित है। हरिणियों को विधवा बना देने वाला अपने पराक्रम से तेजस्वियो को नीचा दिखाने वाला भीषण सिंहनाद गिरि-गुहाओ मे रहने वाली शबरियो का गर्भपात करा देता है।

एक बानगी ताडका के विषय मे सुनिए

"निर्मज्जच्चक्षुरन्तर्भ्रमदति कपिलक्रूरतारा नरास्थिः-
ग्रन्थिं दन्तान्तरालग्रथितमविरलं जिह्वया घट्टयन्ती।
ध्वान्तेऽपि व्यात्तवक्त्र ज्वलदनल शिखाजर्जरे व्यक्तकर्मा-
निर्मान्ती गृध्ररौद्री दिवमुपरि परिक्रीडते ताडकेयम् ।।"

ताडका की आँखे भीतर घुसी हुई है, उसकी पीली तथा भयानक आँखे चारो ओर घूम रही है, वह दाँतो से मनुष्यो की हड्डियाँ चबा रही है। अन्धकार मे भी वह मुख खोलने

से अग्नि की शिखा प्रकाश को फैलाती है। इस प्रकार यह ताडका चारो ओर खेलती हुई घूम रही है।

> "प्रौढच्छेदानुरूपोच्छलनरयवशात्सैंहिकेयोपमेय-
> त्रासाकृष्टाश्वतिर्यग्वलितरविरथेनारुणे नेक्ष्यमाणम्।
> कुर्वन्काकुत्स्थवीर्यं स्तुतिमिव मरुतां कंधरारन्ध्रभाजाम्-
> झंकारैर्भीममेतन्निपतति वियतः कुम्भकर्णोत्तमाङ्गम्॥"

जब रामचन्द्र ने अपने बाणो से कुम्भकर्ण का शरीर छिन्न-भिन्न कर डाला तो उसके एक-एक अग पहले आकाश मे बाणो के साथ उड गये और फिर वेग के साथ पृथ्वी पर गिरने लगे। कुम्भकर्ण के मस्तक को प्रबल वेग से नीचे की ओर आता देखकर, सूर्य का सारथी अरुण, राहु की भावना से डरकर अपने रथ को तिरछा कर भगाने लगा कि कही मै राहु के सामने न पड जाऊँ, अन्यथा वह निगल लेगा।

यह हुआ भयानक का वर्णन। अब आगे वीभत्स की बानगी देखिए, जिसमे रोमाञ्च-कारी दृश्यो का प्रतिबिम्ब दिखाई पडता है—

वीभत्स रस का स्थायी भाव जुगुप्सा है। मोह, व्याधि, अपस्मार आदि इसके व्यभि-चारी भाव है। मास, रुधिर, मेदा, मल, मूत्र, दुर्गन्ध आदि इसके आलम्बन तथा कीडे-मक्खी आदि मलिन एव घृणा उत्पन्न करने वाले पदार्थ उद्दीपन है

युद्ध के वर्णन मे वीभत्स रस का पूर्ण परिपाक पाया जाता है। श्मशान के वर्णन मे वीभत्स और भयानक का मेल पाया जाता है। वीभत्स के वर्णन से युद्ध की भयङ्करता साकार हो उठती है। ससार के अतिवाद को सतुलित कर भोग से विरक्त करने मे भी जिस रस की उपयोगिता प्रकट होती है। सुन्दर स्त्री के शरीर को अस्थि और मास का समुच्चय कहकर उसकी वीभत्साकृति प्रस्तुत की जाती है।

> "सत्यत्वेन शशांक एष वदनी भूतो, न वेदंविर-
> द्वद्वं लोचनतां गतं, न कनकैरप्यंगयष्टिः कृता।
> किन्त्वेकं कविभिः प्रतारित मनास्तत्वं विजानन्नपि-
> त्वङ्मांसास्थिमयं वपुर्मृगदृशां मन्दोजनः सेवते॥"

महाकवि माघ ने "शिशुपालवध" के अष्टादश सर्ग मे युद्ध के प्रसङ्ग मे वीभत्स रस की पूर्ण उद्भावना की है·

> "ओजोभाजां यद्रणे संस्थितानाम्
> मादत्तीव्रं सार्द्धमंगेन नूनम्।
> ज्वालाव्याजादुद्वमन्ती तदन्त-
> स्तेजस्तारं दीप्तजिह्वा ववाशे।

नैरन्तर्यच्छिन्नदेहान्तरालम्-
दुर्भक्षस्य ज्वालिना वाशितेन।
योद्धुर्बाणप्रोतमावीप्य मांसं-
याकापूर्वं स्वादमादे शिवाभिः।
ग्लानिच्छेदी क्षुत्प्रबोधाय पीत्वा-
रक्तारिष्टं शोषिता जीर्ण शेषम्।
स्वादुङ्कार काल खण्डोपदेशम्-
क्रोष्टा डिम्बं व्यब्वगद् व्यस्वतञ्च॥"

युद्ध मे मरे हुए सैनिको के अङ्गो के साथ, सियारिनी उनके तीव्र तेज को भी खा गयी। बाणो की वर्षा से किसी योद्धा का शरीर ऐसा छिद गया कि उसमे कोई स्थान ही शेष नही रहा। अतएव उसका मास खाना गीदडो के लिए कठिन हो गया। अत. वे अग्निशिखा वाले शब्दो के द्वारा उन बाणो को जलाकर और उसमे मास को पकाकर, उस अपूर्व स्वाद वाले पके मास को खाने लगे। फिर गीदड क्षुधा को उद्दीप्त करने और अजीर्ण को शान्त करने के लिए रक्त रूपी अरिष्ट का पानकर स्वादिष्ट यकृत को खाने लगे और साथ ही सैनिको के शरीर को भी नोच-नोच कर मुख मे देने और चिल्लाने लगे।

'वेणीसहार' नाटक मे भी वीभत्स रस के अनेक उदाहरण मिलते है। उनमे से एक यह है—. –

"कुर्वन्त्वाप्ता हतानांरणशिरसिजनावन्हिसाद्देह भारा-
नश्रुमिश्रं कथञ्चिद्ददतु जलममीबान्धवाः बान्धवेभ्यः।
मार्गन्तां ज्ञातिदेहान्हतनरगहने खण्डितान्गृध्र कङ्कैः -
अस्तं भास्वान्प्रयातः सहरिपुभिरयं संह्रियन्तां बलानि॥"

युद्ध-क्षेत्र मे मरे हुए सैनिको के शव का, उनके सम्बन्धी दाह-सस्कार करे और उनके उत्तराधिकारी उन्हे अश्रुमिश्रित जलाञ्जलि दे। गीधो और सियारो द्वारा काटी हुई छिन्न-भिन्न लाशो के ढेर मे बन्धु-बान्धव खोजे।

नाटक के तृतीय अङ्क मे राक्षस-राक्षसी का सवाद तो वीभत्स वर्णन से परिपूर्ण है—कालिदास के महाकाव्य "रघुवश", "कुमारसभव" आदि ग्रन्थो मे भी, जिस रस की अवतारणा हुई है। रघुवश के पन्द्रहवे सर्ग में लवणासुर का बड़ा ही वीभत्स वर्णन है। उसका रग धुये-सा काला है, उसकी देह से चर्बी की गध निकल रही है। अग्नि की ज्वालाओ के समान उसके बिखरे हुए बाल है और मास खाने वाले राक्षस उसके चारों ओर चल रहे है। वह उस चिता की आग के समान प्रतीत हो रहा है, जो धुएँ से धुँधली हो, जिससे मास की गन्ध निकल रही है और जिसके चारो ओर गिद्ध और कुत्ते घूम रहे हो।

भवभूति के "मालती माधव" नाटक मे श्मशान का अत्यन्त वीभत्स वर्णन मिलता है—

"उत्कृत्योत्कृत्य कृत्तिं प्रथमथ पृथूत्सेध भूयांसि मासा-
न्यंसस्फिक्पृष्ठ पिण्डाधवयव सुलभान्युग्रपूतानि जग्ध्वा।
स्नाय्वान्त्र नेत्र प्रकटित दशनः प्रेतरेकः करङ्का-
दङ्कस्थादस्थिसंस्थं स्थपुरगतमपि क्रव्यमव्यग्रमत्ति।।"

अपने अङ्क मे रखे हुए शव की त्वचा को बार-बार चीर और आसानी से प्राप्त मास खाकर मासभक्षक पशु दाँत दिखला-दिखला कर आराम के साथ अपना काम कर रहा है।

अँधेरी रात मे लवणासुर की आकृति और श्मशान का भय-मिश्रित घिनौना दृश्य देखकर अधिक समय तक कौन ठहर सकता है। एक चित्र और भी देखिए—

"अन्त्रैः कल्पितमङ्गलप्रतिसराः स्त्रीहस्तरक्तोत्पलव्यक्तोत्तंस-
भृतः पिनह्य शिरसा तत्पुण्डरीकस्रजः।
ऐताः शोणित पङ्क कुङ्कुमजुषः सम्भूय कान्तैः पिबत्यस्थि-
स्नेह सुराः कपालचषकैः प्रीतापिशाचङ्गनाः।।

पिशाचो की स्त्रियाँ आँतो का मगल सूत्र बनाकर पहन रही है। कमलहस्त वाली स्त्रियो का हाथ काट कर अपने को सजा रही है। शिर पर हृदय-कमल की माला धारण कर रही है। नर-कपालो मे मदिरा और रक्त को मिलाकर अपने-अपने प्रियतमो के साथ हँसती हुई पिशाचाङ्गनाये आनन्द मना रही है।

इस प्रकार वीभत्स और भयानक रस के भावो का विस्मयोत्पादक रोमाञ्चकारी वर्णन हमारे साहित्य मे मिलता है। इसी के अनुरूप "रस" की प्रतीति होती है। अत साहित्य-कारो ने 'रस' की प्रतीति के लिए उनके साधनो के निर्माण मे उसी प्रकार के दृश्यो को अङ्कित किया है, जिसके द्वारा उन-उन रसो का सम्यग्बोध हो सके। बिना 'रस' की उत्पत्ति के किसी भी भाव का सम्यक् रूप से औचित्य प्रतीत नही होता है। इसीलिए अपनी रुचि के अनुसार आनन्ददायक वस्तु को "रसो वै स' की उक्ति से समन्वय किया गया है।

[२१-६-१९५१]

१५. संस्कृत-साहित्य में शिशिर-ऋतु का वर्णन

"प्ररूढशालीक्षुचयावृतक्षिति-
क्वचित्स्थनक्रौञ्चनिनादराजितम् ।
प्रकामकामं प्रमदाजनप्रियम्-
वरोरु कालं शिशिराह्वयं शृणु ।।"

यह श्लोक कविकुलगुरु कालिदास का है। इसे उन्होने अपने अमर-काव्य "ऋतुसहार" मे "शिशिर-ऋतु वर्णन" के प्रारम्भ मे दिया है। कालिदास के इस अपूर्व ग्रन्थ मे अन्य ऋतुओ के साथ-साथ शिशिर ऋतु पर भी एक छोटा-सा सर्ग है। सस्कृत-कवियो की परम्परा के अनुसार भारवि, माघ आदि महाकवियो ने भी अपने-अपने महाकाव्य मे "षड्-ऋतु वर्णन" किया है, जिसमे शिशिर-ऋतु को भी स्थान मिला है। इसके अतिरिक्त अनेक सुभाषितकारो ने भी शिशिर-ऋतु पर सुन्दर श्लोक रचे है। प्रकृति-वर्णन, सस्कृत-कवियो का परम प्रिय विषय रहा है। अत. आश्चर्य नही कि सस्कृत-साहित्य मे प्रत्येक ऋतु पर मनोरम रचनाएँ सहृदयो के रसास्वाद के लिए मिलती है। आइये, आज हम भी उनमे से कुछ का रसास्वादन करे।

शिशिर-ऋतु का काल ऋतुराज वसन्त के आने पर समाप्त हो जाता है। अत. इस ऋतु को हेमन्त और वसन्त का मध्यकाल समझना चाहिए। शिशिर-ऋतु मे, न तो हेमन्त के समान भयङ्कर हिमपात होता है, न वसन्त के समान, हिमपात का अभाव ही रहता है। आम्र-मञ्जरी का, वसन्त के समान, बाहुल्य तो नही रहता, तो भी यत्र-तत्र दर्शन होने लगते है। अधखिले सिन्दुवार अर्थात् निर्गुण्डी पुष्प, जहाँ-तहाँ दिखने लगते है। महाकवि भारवि कहते है कि हिमागम के अन्त का और सुरभित वसन्त के प्रारम्भ का सूचक शिशिर-ऋतु, कामीजनो को परम आनन्द देता है—

"कतिपयसहकारपुष्परम्यः-
तनुतुहिनोऽल्पविनिद्रसिन्दुवारः।
सुरभिमुख-हिमागमान्तशंसी-
समुपययौ शिशिरः स्मरैकबन्धुः।।"

महाकवि कालिदास का "शिशिर-वर्णन" बडा ही रम्य और हृदयग्राही है। प्रारम्भ मे उनका एक प्रस्तावनात्मक श्लोक सुन चुके हो। उसमे कालिदास कहते है कि अब शिशिर-ऋतु का वर्णन सुनिये, जिसमे धान और ईख के खेतो से पृथ्वी लहलहा उठती है; यहाँ-वहाँ

कभी-कभी सारस की बोली भी गूँज जाती है। आगे चलकर कालिदास कहते है कि लोग इन दिनो अपने घरो के भीतर खिडकियाँ बन्द करके रात मे सोते है, दिन मे आग-तापकर, सूर्य की धूप का सेवन कर, और मोटे कपडे पहनकर शिशिर-ऋतु बिताते है, एव शीत के त्रास को आनन्द मे परिणत कर सुख की बशी बजाते है। कालिदास के शब्दो को सुनिये—

"निरुद्धवातायनमन्दिरोदरं-
हुताशनो भानुमतो गभस्तयः।
गुरूणि वासांस्यबलाः सयौवनाः-
प्रयान्ति कालेऽत्र जनस्य सेव्यताम्॥"

इन दिनो चन्द्रमा की किरणो से ठडाया हुआ चन्दन अच्छा नही लगता है, न शारदीय चन्द्रमा के समान निर्मल छते ही सुहाती है, न घनी ओस से ठडा बना हुआ वायु ही मन को भाता है, कडकडाते हुए जाडो वाली और पीले-पीले तारो वाली शिशिर-ऋतु की रातो मे कोई भी घर से बाहर निकलना नही चाहता है। कालिदाम की वाणी सुनिए—

"न चन्दनं चन्द्रमरीचिशीतलं-
न हर्म्यपृष्ठं शरदिन्दु निर्मलम्।
न वायवः सान्द्रतुषारशीतलाः-
जनस्यचित्तं रमयन्ति साम्प्रतम्॥"

"तुषारसंघातनिपातशीतलाः-
शशाङ्कभाभिः शिशिरीकृताः पुनः।
विपाण्डुतारागणचारुभूषणाः
जनस्य सेव्यान भवन्ति साम्प्रतम्॥"

कालिदास के समय मे सुख और समृद्धि की भरमार थी। लोग चैन के दिन बिताते थे। तभी तो, देखिए न, कडकडाते हुए जाडो की रातो मे भी कामिनियाँ पुष्पो का आसव पीकर, कस्तूरी युक्त ताम्बूल खाकर, सुगन्धित फुलेल लगाकर, काले अगर के हृदयाकर्षक धुएँ से महकने वाले शयन-कक्षो मे बड़े चाव से जाती है—

"गृहीतताम्बूल विलेपनस्रजः-
पुष्पासवामोदित वक्त्रपङ्कजाः।
प्रकामकाला गुरुधूप वासित-
विशन्ति शय्यागृहमुत्सुकाः स्त्रियः॥"

शीतकाल मे कामीजनो की क्रीडा का वर्णन करता हुआ कवि कहता है कि मदमाती स्त्रियो ने अपने जिन पतियो को अपराध करने पर डाटा-फटकारा था, वे जब काँपते हुए और डर से घबराये हुए उनके पास आते है, तो स्त्रियाँ उन्हे तुरन्त क्षमा प्रदान कर देती है। एक

दूसरा कवि कहता है कि शिशिर-ऋतु मे चण्डाशु सूर्य भी मन्दतेज हो जाता है, एवं ज्वलनशील अग्निदेव भी ठडे हो जाते है, किन्तु कामीजनो के शीत निवारण के लिए कामिनियो की उष्णता कम नही होती—

"कृतापराधान् बहुशोऽभित जितान्-
सवेपशून् साध्वसलुप्त चेतसः।
निरीक्ष्य भर्तॄन्सुरताभिलाषिणः
स्त्रियोऽपराधान् समदा विसस्मरुः॥"

"तपनस्तपति स्म मन्दमन्दं-
ज्वलनोऽपि ज्वलतिस्म किञ्चिदेव।
शरणं शिशिरेऽथ किंच यूनां-
युवतीनां स्तनयुग्ममात्रमासीत्॥"

संस्कृत-कवियो मे माघ कवि कवित्व के सभी उत्कृष्ट गुणो से युक्त माने जाते है। "माघे सन्ति त्रयो गुणा" आगे के श्लोको मे मधुर कोमलकान्त पदावली और अनूठी कल्पनाओ की उडान देखिए—

"शिशिरमासमपास्य गुणोऽस्य नः-
क इव शीतहरस्य कुचोष्मणः।
इति धियातरुषः परिरेभिरे-
घनमतो नमतोऽनुमतान् प्रियाः॥"

"अधिलवङ्ग ममी रजसाधिकं-
मलिनिताः सुमनोदलतालिनः।
स्फुटमिति प्रसवन पुरोऽहसत्-
सपदि कुन्दलता दलतालिनः॥"

महाकवि माघ का शिशिर-वर्णन बडा मनोरम है। उन्होने उत्प्रेक्षा की है कि शिशिर काल मे जब प्रियगुलता फूलो से लद जाती है और मदमस्त भ्रमरी अपने गुञ्जार से वन को हिलाने-सी लगती है, तो ऐसा मालूम पडता है कि मानो शिशिर का शीतवायु मानिनी युवतियो को जोर-जोर से डाटकर प्रिय मिलन के लिए प्रेरित कर रहा है—माघ की वाणी सुनिये—

"कुसुमयन् फलिनीरलिनीरवैः-
मदविकासि भिरांहितहुकृतिः।
उपवनं निरभर्त्सयत प्रियान्-
वियुवतीयुवतीः शिशिरानलः॥"

शिशिर-ऋतु को उपलक्ष कर संस्कृत-कवियो ने अलंकारो के अच्छे उदाहरण दिये है।

महाकवि माघ का दिया हुआ अर्थान्तरन्यास का उदाहरण बडा हृदयग्राही है। कालवश शत्रु की शक्ति बढ जाने पर बलवान् भी असमर्थ हो जाता है। देखिए न, माघ के महीने मे प्रचड किरण सूर्य भगवान भी हिम-नाश करने मे सामर्थ्यहीन हो जाते है। माघ के शब्दो मे सुनिए—

"उपचितेषु परेष्वसमर्थतां-
व्रजति कालवशाद् बलवानपि।
तपसि मन्दगभस्ति भीषुमान्
नहि महाहिमहानिकरोऽभवत्॥"

सस्कृत कवियो का शिशिर-वर्णन केवल विलासी धनिक वर्गो के अलमस्त जीवन तक ही सीमित नही था, गरीब और अमीर—उनके लिए दोनो वर्णन के विषय है। देखिए—एक गरीब क्या कह रहा है—"मेरे घर मे आज गृहिणी नही है, कस्तूरी, पान एव रजाई का भी अभाव है, ताजे-ताजे गोघृत मे पकाये हुए बडे भी नही बने है। हे भगवान, अब यह शीत रात कैसे बिताई जाय ?"—इस पर कवि की शब्दावली सुनिए—

"पीतोत्तुङ्ग पयोधरापरिलसत्सम्पूर्णचन्द्रानना-
कान्ता नैव गृहे, गृहे न च दृढ़ जात्यं न काश्मीरजम्।
ताम्बूलं न च तूलिका न च पटी तैलं न गन्धाविलं-
सद्यो गोघृतपाचिता बटकाः शीतं कथं गम्यते॥"

एक अन्य कवि कहता है कि बडी-बडी दीवारो से घिरे तथा सुगन्धित आग से गर्म किये गये धनिको के कमरो से जाडा बाहर निकाल दिया गया है, इसलिए वह दरिद्रो के ऊपर आ गिरा है। इसी कारण से दरिद्र लोग दिन मे भानु और रात मे जानु (अर्थात् घुटने) और सबेरे-शाम कृशानु अर्थात् अग्निदेव की शरण लेते है। सुनिए कवि के ये शब्द—

"प्रवारैरङ्गारैर्गभगृहैः स्तनतटैश्च दयितानां-
सन्तर्जितमाढयाना निपतति शीतं दरिद्रेषु॥"
"रात्रौ जानुर्दिवा भानुः कृशानुः सन्ध्ययोर्द्वयोः।
एवं शीतं मया नीतं जानु भानु कृशानुभिः॥"

कडे की आग सुलगाकर एक गरीब धान के पुलाव पर सो रहा है। उसकी घास-पूस की झोपडी के छेदो से शिशिरकाल की अति शीतल वायु बहने लगती है। वह बेचारा घुटनो को गले से लगाकर जाडा दूर करना चाहता है, किन्तु जितना ही वह शीतनिवारण के लिए चीथडो से बनी अपनी पुरानी गुदडी का सहारा लेना चाहता है, उतना ही दाँतो की कटकटाहट के साथ उसकी गुदडी भी चर्र-चर्र फटती ही जाती है। देखिए, इस गरीब की कितनी दयनीय दशा है। इसी बात को कवि की वाणी मे सुनिए—

"आरात्कारी वह्नेः तृणरचितकुटीकुडय कोणैकदेशे
शीते संवातिवायौ हिमकणिनि रणदन्तपंक्तिद्वयाग्रः।
पान्थः कन्थां निशीथे परिकुथितरजरक्ततन्तु संतानगुर्वी
ग्रीवापादाग्रजानुग्रहणचटचटत्कर्पटा प्रावृणोति ॥"

निर्धन की इस करुणापूर्ण दशा को देखकर किसका हृदय दयार्द्र नही हो जायेगा। वैराग्यमार्ग के उपदेशक ऐसी स्थिति का लाभ उठाकर सन्यास मार्ग का अवलम्बन करने को कहते है। भगवान शकराचार्य ने ऐसे ही प्रसग का वर्णन करते हुए कहा है कि "शिशिर काल मे निर्धन लोग प्रात साय आग सेकते है। दिन मे पीठ पर सूर्य का धूप लेते है, रात मे चिबुक अर्थात् ठुड्डी से जानुओ को लगाकर सोते है। पास मे बर्तन न होने से हाथ मे रखकर रूखा-सूखा भोजन करते है एव पेडो के नीचे बसकर जिन्दगी काटते है, तो भी ससार के मायापाश का बन्धन उन्हे नही छोडता। इसी से कहते है कि दुनिया को छोडकर भगवान को भजो।" अब इसी विषय पर शकराचार्य की मधुरवर्षिणी सस्कृत वाणी को सुनिए—

"अग्रेवह्निः पृष्ठे भानु. रात्रौचिबुक समर्पित जानुः-
करतलभिक्षा तरुतलवासः तदपि न मुञ्चत्याशापाशः।
भज गोविन्दं भज गोविन्दं गोविन्दं भज मूढ मते
प्राप्ते सन्निहिते मरणे नहि नहि रक्षति डुकृञ् करणे ॥"

आगे के श्लोक मे शिशिर काल के पवन का चित्ताकर्षक वर्णन सुनिए—

"केशानाकुलयन् दृशौ मुकुलयन् वासो बला दाक्षिपन्-
आतन्वन् पुलकोद्‌गमं प्रकटयन् आवेगकम्पं गतेः।
वारं वारमुदारसीत्कृति भरैः दन्तच्छदं पीडयन्-
प्रायः शैशिर एव सम्प्रति मरुत् कान्तासु कान्तायते ॥"

इस प्रकार संस्कृत-साहित्य मे शिशिर-ऋतु का सक्षेप से परिचय देकर, "जहाँ से प्रारम्भ, वही से उपसहार" इस न्याय के अनुसार हम अन्त मे पुन कालिदास की मनोरम वाणी मे श्रोताओ के कल्याण के लिए शिशिर-ऋतु से प्रार्थना करते है—

"प्रचुरगुडविकारः स्वादुशालिक्षिरम्यः-
प्रबलसुरतकेलिः जातकन्दर्पदर्पः।
प्रियजनरहितानां चित्तसंताप हेतुः-
शिशिर समय एष श्रेयसेवोऽस्तु नित्यम् ॥"

[२७-८-५० को आकाशवाणी से प्रसारित वार्ता]

१६. संस्कृत-साहित्य में वसन्त-श्री

हमारे सामाजिक जीवन को सरस बनाने मे ऋतुओं का विशेष हाथ है। सावन की रिमझिम, अगहन का गुलाबी जाडा, फागुन की मस्त बयार—इनसे जीवन में उल्लास और मिठास का अनुभव होता है। यही कारण है कि इन प्रसङ्गो का सस्कृत-साहित्य मे प्रभूत वर्णन मिलता है।

सस्कृत-साहित्य मे वसन्त को ऋतुराज कहा गया है। इसका विशेष कारण है। शीतकाल की कडक सर्दी के बाद जब सूर्य की किरणों मे उष्णता आनी प्रारम्भ होती है, वृक्षो और लताओ का पतझड समाप्त होकर उनमे नये-नये पल्लव आने शुरू होते है, तब वातावरण मे एक नव-चेतना का सञ्चार होता है। प्रकृति एक नया परिधान पहनती है। यत्र-तत्र-सर्वत्र आशा, स्फूर्ति और जागरण का सदेश मिलता है। हममे रसग्राहिणी वृत्ति उद्बुद्ध हो उठती है। ऐसे परमानन्ददायक काल को 'ऋतुराज वसन्त' कहना ठीक ही है।

वसन्त शब्द वस् धातु से बना है, जिसका अर्थ है शोभित होना, चमकना। प्रात काल के प्रथम प्रकाश को 'उषा' नाम दिया जाता है। यह उषा शब्द भी इसी वस् धातु से बना है। शीतकाल के निष्प्राण प्रकाश मे, जब चेतना का प्रकाश होता है, तब १२ मासवाले एक वर्ष के जीवन मे रात्रि का अन्त और प्रभात का प्रारम्भ होता है। जैसे दिवस के प्रथम प्रकाश-काल को उषा कहते है, वैसे ही बारहमासा वर्ष के नूतन प्रारम्भ को 'वसन्त' कहा जाता है। दक्षिणायन से उत्तरायण मे सूर्य के आते ही वसन्त के प्रारम्भ का हमें अनुभव होने लगता है। इस सुखमय और आनन्ददायक काल की महिमा को, हम मकर-संक्रान्ति या वसन्त पञ्चमी के उत्सव मे, मूर्तस्वरूप देते है। वसन्त पञ्चमी के उत्सव मे चारो ओर आनन्द और हर्ष का वातावरण छा जाता है। वसन्ती रङ्ग के कपडे पहिन कर बालक-बालिकाएँ मानो खेतो मे लहलहाते हुए सरसो और अरहर के पौधो से होड़ लगाती है। वसन्तोत्सव मे महासरस्वती की पूजा की जाती है। आश्विन के नवरात्र मे महाकाली की, कार्तिक की दीपावली मे महालक्ष्मी की और माघ की वसन्त पञ्चमी के दिन महासरस्वती की आराधना विश्वशक्ति के लिए त्रिविधरूप की आराधना है। नये वर्ष का प्रारम्भ, महासरस्वती की पूजा से प्रारम्भ करना हमारे पूर्वजो की अपूर्व सूझ का परिचायक है। महाकाली शक्ति की प्रतीक है, महालक्ष्मी समृद्धि की प्रतीक है और महासरस्वती विद्या की प्रतीक है। शक्ति और समृद्धि की अपेक्षा विद्या या ज्ञान को प्रधानता देना यह सिद्ध करना है कि भारतवर्ष की संस्कृति मे भौतिक शक्ति और धन का माहात्म्य वही तक है, जहाँ तक वे ज्ञान या विद्या के आधिपत्य मे है। विवेक-रहित बल और धन

की वृद्धि से जगत का कल्याण नही हो सकता। इस वसन्त पञ्चमी के दिन महासरस्वती की पूजा कर हम विश्वकल्याण के इसी चिरन्तन सत्य का स्मरण करते है।

यह हुआ वसन्त ऋतु का सास्कृतिक महत्त्व। अब इसके साहित्यिक महत्व को देखिये।

सस्कृत-साहित्य मे हमे पदे-पदे वसन्त-शोभा का सजीव वर्णन मिलता है। विभिन्न ऋतुओ के मनोहर वर्णन के लिए कवि कुलगुरु कालिदास का "ऋतुसहार" प्रसिद्ध है। कालिदास की कवित्व-प्रतिभा की प्रथम झलक हमे इस ग्रन्थ मे मिलती है। अन्य सब ऋतुओ की अपेक्षा अधिक विस्तार से कवि ने वसन्त ऋतु का वर्णन किया है। सस्कृत के अन्य सभी कवियो ने भी कम-ज्यादा मात्रा मे वसन्त-शोभा के वर्णन मे अपनी-अपनी प्रतिभा का उपयोग किया है। कालिदास कहते है कि—

> आम्री मञ्जुलमञ्जरी खरशरः सत्किंशुकं यद्धनु-
> र्ज्या यस्यालिकुलं कलङ्करहितं छत्रं सितांशुः सितम्।
> मत्ते भो मलयानिलः परभृता यद्वन्दिनो लोकजि-
> त्सोऽयं वो वितरीतरीतु वितनुर्भद्रं वसन्तान्वितः॥"

अर्थात् वसन्त ऋतु के दिनो मे कामदेव का अखण्ड साम्राज्य चारो ओर छा जाता है। स्वय शरीर-रहित होकर भी वह वसन्त की सहायता से लोकविजयी होने का दावा रखता है। भीनी-भीनी सुगन्ध वाले आम के बौर ही उसके तीखे बाण है, पलाशपुष्प या टेसू ही उसका धनुष है, गुनगुनाते हुए भौरो की पात ही उसके धनुष की डोरी है, मलयाचल मे मन्द-मन्द बहता हुआ पवन ही उसका मतवाला हाथी है और मधुर स्वर कोयल ही उसके स्तुतिगायक है। ऐसे ऋतुराज की सहायता पाकर यदि कामदेव सारे जगत को काममत्त कर दे तो क्या आश्चर्य? रसिक-जनो को रिझाने के लिए ही तो वीर वसन्त फूले हुए आम्र की मन्जरियो के पैने वाण लेकर अपने धनुष पर भ्रमरो की पाँत की डोरी चढाकर और कोयल की कूक की गर्जना के साथ प्रकृति के मैदान मे आ उतरता है। चारो ओर वसन्त के छा जाने पर प्रकृति मे क्या-क्या परिवर्तन होते हैं, कवि की वाणी मे देखिए—

> द्रुमाः सपुष्पाः सलिलं सपद्मं स्त्रियः सकामाः पवनः सुगन्धिः।
> सुखाः प्रदोषाः दिवसाश्च रम्याः सर्वं प्रिये चारुतरं वसन्ते॥
> आदीप्तवह्निसदृशैर्मरुताऽवधूतैः
> सर्वत्र किंशुकवनैः कुसुमावनम्रैः।
> सद्यो वसन्तसमयेन समाचितेयं
> रक्तांशुका नववधूरिव भाति भूमिः॥
> आकम्पयन् कुसुमिताः सहकारशाखाः,
> विस्तारयन् परभृतस्य वचांसि दिक्षु।
> वायुर्विवाति हृदयानि हरन्नराणां,
> नीहारपातविगमात्सुभगो वसन्ते॥

अर्थात् वसन्त के आते ही सब वृक्ष फूलो से लद गए है, सरोवरो मे कमल खिल उठे हैं, स्त्रियो मे काम-विकार जाग उठा है, पवन मे सुगन्धि भर गयी है, अब साझे सुहावनी लगती हैं और दिन भी लुभावने हो गये है। सचमुच, सुन्दर वसन्त मे सब कुछ सुन्दर ही सुन्दर दिखता है। पृथ्वी की तो इस समय एक अपूर्व शोभा है। वह मानो लाल साडी पहिने हुए कोई नई दुलहिन हो, क्योकि चारो ओर पलाश या ढाक के वृक्ष लाल-लाल फूलो से भर गये है और पवन के झोको से हिलती हुई पलाश की डाले जलती हुई आग की लपटो के समान झोके खा रही है। वसन्ती पवन की तो कुछ बात ही न पूछिये। मन्जरियो से लदी आम की डालो को हिलाता हुआ, कोयल की कूक को चारो ओर फैलाता हुआ और अब शीतकाल के समान पाला न पडने के कारण मीठा-मीठा सुखस्पर्श देता हुआ—वसन्ती पवन लोगो का मन हरता हुआ बह रहा है।

वसन्त की मस्तानी शोभा से प्रभावित होकर नर-नारी तो क्या; पशु-पक्षी, वृक्ष-लता सभी मे मस्ती छा जाती है। "कुमारसम्भव" मे शिवजी की समाधि भग करने के लिए जब मदन ने आज्ञा दी कि भगवान् शकर के तपोवन् मे वसन्त-ऋतु अपना पूरा रूप खोलकर छा जाये, तो उस समय चराचर जगत् की हालत देखिये—

"मधु द्विरेफः कुसुमैकपात्रे पपौ प्रियां स्वामनुवर्तमानः।
भृङ्गेण च स्पर्शनिमीलिताक्षीं मृगीमकण्डूयत कृष्णसारः॥
ददौ रसात्पङ्कजरेणुगन्धि गजाय गण्डूषजलं करेणुः।
अर्धोप भुक्तेन बिसेन जायां संभावयामास रथाङ्गनामा॥
गीतान्तरेषु श्रमवारिलेशैः किंचित्समुच्छ्वासितपत्रलेखम्।
पुष्पासवाघूर्णितनेत्रशोभि प्रियामुखं किं पुरुषश्चुचुम्बे॥
पर्याप्तपुष्पस्तम्बकस्तनाभ्यः स्फुरत्प्रवालौष्ठमनोहराभ्यः।
लतावधूभ्यस्तरवोऽप्यवापुर्विनम्रशाखाभुजबन्धनानि ॥

अर्थात् भ्रमर अपनी प्यारी भ्रमरी के साथ एक ही पुष्प-कटोरी मे मकरन्द पीने लगा। काला हरिण अपनी प्रियतमा हरिणी को सीग से खुजलाने लगा, हरिणी भी प्रिय-स्पर्श का सुख लेती हुई आँख मूँदे बैठी रही। उधर हथिनी बड़े प्रेम से कमल के पराग से सुगन्धित जल सूड से निकाल कर अपने प्रियतम हाथी को पिलाने लगी और चकवा आधी कुतरी हुई कमल की नाल लेकर अपनी प्रियतमा चकवी को भेट करने लगा। किन्नर लोग गीतो के बीच मे अपनी प्रियाओ के मुखो को चूमने लगे। उन किन्नरियो के मुखो पर थकावट के कारण पसीना छा गया था। मुखो पर की गयी कलात्मक चित्रकारी लिप गयी थी और उनके नेत्र, फूलो की मदिरा से मतवाले और सुन्दर दिख रहे थे। इधर वृक्ष भी अपनी झुकी हुई डालियो को फैला-फैलाकर लताओं से लिपटने लगे। उन लताओ का भी सौन्दर्य उस समय निखर उठा था। वे बड़े-बड़े पुष्प-गुच्छो के रूप में अपने स्तनों को और ताम्रवर्ण कोमल किसलयो के रूप मे अपने सुन्दर ओष्ठो को हिला-हिलाकर अपना हृदयोल्लास व्यक्त कर रही थी।

इस प्रचार चारो ओर श्रृङ्गार और सौन्दर्य का साम्राज्य है। वसन्त के इस सौन्दर्य के सामने सुन्दर से सुन्दर कामिनियो की सुन्दरता फीकी नजर आती है। कवि कहता है—

"परभृतकलगीतैर्ह्लादिभिः सद्वचांसि-
स्मितदशनमयूखान्कुन्दपुष्पप्रभाभिः ।
करकिसलयकान्तिं पल्लवैर्विद्रुमाभै-
रुपहसति वसन्तः कामिनीनामिदानीम् ॥"

अर्थात् इस समय वसन्त, जी हुलसाने वाले कोकिल-गीत सुना-सुनाकर, सुन्दरियो की रस भरी बातो की खिल्ली उडा रहा है। कुन्द के फूलो की चमक दिखाकर, मुसकान पर चमक उठनेवाली कामिनियो की दन्तावली की हँसी कर रहा है तथा मूँगे जैसी लाल-लाल कोमल पत्तो की ललाई दिखाकर, ललनाओ की लाल और कोमल हथेलियो को लजा रहा है। इसी से तो वसन्त-ऋतु रूपी कामिनी आज अभूतपूर्व श्रृगार कर रसिको के सामने आई है। उडते हुए भौरे, खिले हुए तिलक के फूल और प्रात काल के सूर्य की लाली से चमकने वाली आम्र-पल्लव की नई कोपले, ऐसी लगती थी, मानो वसन्त-ऋतु रूपी कामिनी भौरे रूपी आजन लगाकर, माथे पर तिलक-पुष्प का तिलक लगाकर, आम्र किसलयो से अपने ओष्ठ रग लिए हो। आम की मञ्जरियो को खाने से कोकिल का कण्ठ और भी मीठा हो गया है। अशोक का वृक्ष नीचे से ऊपर तक फूल-पत्तो से लद गया है।

माघकवि के वसन्त-श्री-वर्णन मे कवि-कल्पना के साथ-साथ मधुर पदो की सुन्दर छटा भी दृष्टिगोचर होती है—

"नवपलाशपलाशवनं पुरः स्फुटपरागपरागतपङ्कजम्।
मृदुलतान्तलतान्तमलोकयत्स सुरभिं सुरभिं सुमनोहरैः ॥
वदनसौरभ लोभपरिभ्रमद् भ्रमरसंभ्रमसंभृतशोभया।
चलितया विदधे कलमेखला कल कलोडल कलोलदृशान्यया ॥"

पलाश वृक्षो मे नये-नये पलाश अर्थात् पत्ते निकल आये। पकजो अर्थात् कमलो मे पराग खूब भर आया। कोमल लताएँ दिवस की गर्मी मे थोडी कुम्हलाई-सी दिखाई देने लगी। पुष्पो की सुरभि अर्थात् गन्ध से सारा वातावरण सुरभित हो उठा। मधुपान से सुगन्धित मुखवाली तरुणियो के चारो ओर गन्ध-लुब्ध भ्रमर चक्कर काटने लगे। इससे उनके मुख की शोभा तो अवश्य बढी और ऐसा प्रतीत हुआ कि काले-काले बालो की लटे उनके चन्द्रमुख के चारो ओर बिखर गयी हो। किन्तु साथ ही उनके चौकने के कारण कटिमेखला की किङ्कणिया भी बज उठी।

मधुर कोमलकान्त पदावली की दृष्टि से गीतगोविन्द का सरस वसन्त-वर्णन संस्कृत साहित्य मे अद्वितीय है।

"ललितलवङ्गलतापरिशीलनकोमलमलयसमीरे ।
मधुकरनिकरकरम्बित कोकिलकूजित कुञ्जकुटीरे ॥

स्फुरदतिमुक्तलता परिरम्भण मुकुलितपुलकितचूते।
वृन्दावनविपिनेपरिसरपरिगत यमुनाजलपूते।
विहरति हरिरिह सरस वसन्ते।।"

कोमल पदशय्या, मधुर वर्ण विन्यास और सरसभाव चित्रण से हृत्तत्री को झकृत कर देने वाले ऐसे अनेक गीतिकाव्य सस्कृत-साहित्य मे भरे पडे है। सस्कृत-भाषा की लोचपन ऐसी रमणीय है कि नवीन-नवीन छन्दो मे भी वसन्त-शोभा का वर्णन किया गया है। हिन्दी-कविता का घनाक्षरी छन्द प्रसिद्ध है। इस छन्द मे रीतिकालीन हिन्दी कवियो ने रचनाएँ कर हिन्दी-काव्य-जगत् को समृद्ध किया था। उसी छन्द मे मथुरानाथ भट्ट द्वारा निबद्ध सस्कृत-भाषा का यह वसन्त-वर्णन सुनिये—

"ललितलताभिनवनायिकाविलासी वर-
वारिजविकासी वनवीथी-विपदन्तोयम्।
वञ्जुलविपिनमौनहन्ता पिकचिन्ताहरः-
मञ्जुलमलयमन्दमारुतैरनन्तोऽयम् ।
मञ्जुनाथ महितमीनकेतनमहामंत्री-
मानिनीमनः स्थमानतंत्री मिलदन्तोऽयम्।
सन्तोषयदिन्दुकरदीपितदिगन्तो विद्ध-
विरहिदुरन्तो बत वर्धते वसन्तोऽयम्।।"

× × ×

"सौरभसरससाधुसारससमृद्धिसुखा
सेव्यते सलीलमलिपुञ्जैः पद्मवीथीयम्।
परिमललवलोभनीय ललितलवङ्गलता-
लिङ्गिता चकास्ति किल मञ्जुकुञ्जवीथीयम्।
रम्यतममञ्जुलमहीरुहसुलेखा भाति-
मन्ये कुसुमाकर सुपुण्यपण्यवीथीयम्।
विन्दति विकासमिह कुसुमविकासवहा-
वासकवधूरिव वसन्त वन वीथीयम्।।"

[२०-१-'५३ को आकाशवाणी से प्रसारित वार्ता]

१७. संस्कृत-साहित्य में 'समुद्र'

नील वर्ण, उत्ताल तरङ्ग और अथाह जलराशिपूर्ण समुद्र, अनादि काल से भावुक कवि-हृदयो को प्रभावित करता आया है। ऊपर प्रशान्त और अपरिमेय नीलगगन एव सामने क्षितिज के छोर तक फैला हुआ, मन्द्र ध्वनियुक्त और प्रक्षुब्ध-तरङ्ग नीलसमुद्र—इन दोनो मे साम्य और वैषम्य-मूलक इतना आकर्षण है कि प्रत्येक सहृदय आश्चर्यमुग्ध और आनन्द-विभोर हो जाता है। महाकवि कालिदास कहते है कि—

"तांतामवस्थां प्रतिपद्यमानं स्थितं दर्शव्याप्य दिशोमहिम्ना।
विष्णोरिवास्यानवधारणीयम् ईदृक्तया रूपमियत्तया वा॥"

क्षण-क्षण मे बदलते हुए और दशो दिशाओ मे व्याप्त समुद्र की महिमा—गुण और परिमाण दोनो की दृष्टि से—कल्पनातीत है। जैसे जगत् के स्रष्टा, रक्षिता और संहर्ता विष्णु भगवान् के विषय मे यह नही कहा जा सकता कि वे ऐसे और इतने बडे है, उसी प्रकार समुद्र के भी विषय मे यह नही कहा जा सकता कि वह ऐसा है और इतना बडा है। ऋग्वेद से लेकर आजतक संस्कृत के असख्य कवियो ने समुद्र के सम्बन्ध मे अपने उद्गार प्रकट किये है।

ऋग्वेद का एक मन्त्रद्रष्टा कहता है कि जल के देवता वरुण की दृष्टि मे, आकाश मे उडने वाले पक्षिगण और अथाह जलराशि पर तैरने वाले जहाज और नौकाएँ—ये दोनो भी छिप नही सकते। हे देव! वाणिज्य के लिए दूर-विदेश जानेवाले व्यापारी समुद्र के मध्य मे निर्विघ्न जाने के लिए तुम्हारी अनन्य निष्टा से स्तुति करते है। कल-कल निनाद करती हुई नदियाँ अपने प्रियतम समुद्र की ओर कामातुरा स्त्री के समान दौडी जा रही है। एक ऋषि कहता है कि—महामहिम समुद्र अपनी मर्यादा का उल्लघन कभी नही करता। भूतल का सम्पूर्ण जल-समूह समुद्र की परिधि मे रहता है। ससार का सारा वाणिज्य और समृद्धि समुद्र की समर्यादस्थिति पर अवलम्बित है। ऐसे सरस्वान् समुद्र की रक्षा के लिए हम लोग प्रार्थना करते हैं—

"यस्य व्रतं पशवो यन्ति सर्वे यस्य व्रते उपतिष्ठन्ति आपः।
यस्य व्रते पुष्टिपतिर्निविष्टस्तं सरस्वन्तमवसे हवामहे॥"

आदिकवि वाल्मीकि का समुद्र-वर्णन, जब क्रुद्ध होकर राम ने समुद्र को दण्ड देने के लिए बाण छोडे, बडा ही सजीव और आकर्षक है—

"तोयवेगः समुद्रस्य समीनमकरो महान्।
स बभूव महाघोरः समारुतरवस्तथा॥
महोर्मिजालचलितः शङ्खजालसमावृतः।
सधूमः परिवृत्तोर्मिः सहसासीन्महोदधिः॥
ऊर्मयः सिन्धुराजस्य सनक्रमकरास्तथा।
विन्ध्यमन्दरसंकाशाः समुत्पेतुः सहस्रशः॥
आघूर्णिततरङ्गौघः संभ्रान्तोरगराक्षसः।
उद्वर्तितमहाग्राहः सघोषो वरुणालयः॥"

इस वर्णन मे प्रचण्ड लहरो का गर्जन, जल-जन्तुओ का सक्षोभ, महान जलराशि की उथल-पुथल, भीषण झझावात और धूमशिखा के समान तरङ्गो का सीधे एकदम ऊपर जाना आदि पढ कर हमारे सामने अमेरिका द्वारा प्रशान्त महासागर मे ऐटम बम की परीक्षा का दृश्य उपस्थित हो जाता है। कविकुल गुरु कालिदास ने रघुवश मे विमान द्वारा लका से लौटते हुए राम के मुख से समुद्र का हृदयस्पर्शी वर्णन कराया है—

"वैदेहि पश्यामलयाद्विभक्तं मत्सेतुना फेनिलमम्बुराशिम्।
छायापथेनेव शरत्प्रसन्नम् आकाशमाविष्कृत चारुतारम्॥
गर्भं दधत्यर्कमरीचयोऽस्मात् विवृद्धिमत्राश्नुवते वसूनि।
अबिन्धनं वह्निमसौ बिभर्ति प्रह्लादनं ज्योतिरजन्यनेन॥
मुखार्पणेषु प्रकृतिप्रगल्भाः स्वयं तरङ्गाधरदानदक्षः।
अनन्यसामान्यकलत्रवृत्तिः पिबत्यसौ पाययते च सिन्धूः॥"

हे सीते! इस फेन से भरे हुए समुद्र को तो देखो। मेरे बनाये हुए पुल ने, इसे दो भागो मे इस प्रकार विभक्त कर दिया है, जैसे सुन्दर तारो से भरे हुए शरद् ऋतु के खुले आकाश को आकाश-गङ्गा दो भागो मे बाँट देती है। सीते! यह समुद्र बडा उपयोगी है। इसी मे से सूर्य की किरणे, जल खीच-खीच कर पृथ्वी पर बरसाती है। इसी मे मौक्तिक रत्न उत्पन्न होते है। सुखकारी प्रकाश देने वाला चन्द्रमा भी इसी से उत्पन्न होता है। दूसरे लोग तो केवल अधरपान करते है, अपना अधर नही पिलाते, पर समुद्र इस बात मे औरो से बढकर है, क्योकि जब नदियाँ ढीठ होकर अपना मुख इसके सामने बढाती है, तब यह बड़ी चतुराई से अपना तरङ्ग रूपी अधर तो उन्हे पिलाता ही है, साथ ही उनका अधर स्वय पीता है।

"ससत्वमादाय नदीमुखाम्भः संमीलयन्तो विवृताननत्वात्।
अमी शिरोभिस्तिमयः सरन्ध्रैरूर्ध्वं वितन्वन्ति जलप्रवाहान्॥
मातंगनक्रैः सहसोत्पतद्भिः भिन्नान्द्विधा पश्य समुद्रफेनान्।
कपोलसंसर्पितया य एषां व्रजन्ति कर्णक्षण चामरत्वम्॥
प्रवृत्तमात्रेण पयांसि पातुम् आवर्तवेगाद् भ्रमता घनेन।
आभाति भूयिष्ठमयं समुद्रः प्रमथ्यमानो गिरिणेव भूयः॥"

रीते! देखो, ये बडे-बडे मगरमच्छ अपना मुँख खोलकर मछलियो सहित समुद्र का जल पी जाते है और फिर मुँह बन्द करके अपने सिर के छेदो से जल-धाराये छोडने लगते हे। इन मगरमच्छो के अचानक उठने से समुद्र की फटी हुई फेन को तो देखो। मगरमच्छो के कपोलो पर क्षण भर के लिए लगी हुई यह फेन ऐसी दिखाई देती है, मानो इनके कानो पर चँवर रंगे हुए हो। देखो, काले-काले बादल समुद्र से पानी लेने आये है और समुद्र की भँवर के साथ-साथ बडी तेजी मे चक्कर काट रहे हे। इस समय यह समुद्र ऐसा जान पड रहा है, मानो मन्दराचल फिर इसे मथ रहा हो।

महाकवि माघ का समुद्र के सम्बन्ध मे कल्पना-विलास अति-रमणीय है—

"आश्लिष्टभूमि रसितारमुच्चैर्लोलद्भुजाकारबृहत्तरङ्गम्।
फेनायमानं पतिमापगानाम् असावपस्मारिणमाशशङ्के॥
पीत्वा जलाना निधिनातिगाध्यद् वृद्धिं गतेऽप्यात्मनि नैव मान्तीः।
क्षिप्त्वाइवेन्दोः स रुचोऽधिवेलं मुक्तावलीराकलयां चकार॥"

अरे! यह समुद्र तो विचित्र दिखाई पड रहा है। मालूम होता है इसे मिर्गी का रोग हो गया है। तभी तो यह अपने को किनारे की जमीन पर बार-बार पटकता हे। कँपती हुई भुजाओं के समान अपनी बडी-बडी तरगो को ऊपर उठा कर जोर से चिग्घारता हे। इसके मुख अर्थात् गुहह पर फेन के झाग आ गये है। कैसा सजीव चित्रण है? कवि ने दूसरे श्लोक मे कहा है कि समुद्र के तटपर मोतियो के जाल बिछे हे? मालूम पडता है समुद्र ने लालच के कारण चन्द्रमा की किरणे—पूर्णिमा के दिन—अत्यधिक पी ली थी। वे अब उससे समाती नही। इसी से समुद्र ने उन्हे वमन कर बाहर फेक दिया है। सो ये मोती वही चन्द्रमा की किरणे है। कैसी कल्पना की उडान है।

समुद्र के सम्बन्ध मे पुराणो की अमृत-मन्थन कथा सर्वविदित है। मन्थन से जो १४ रत्न निकले, उन्हे देवताओं ने आपस मे बाँट लिया। रत्नो के नाम ये है—

"लक्ष्मीः कौस्तुभपारिजातकसुरा धन्वन्तरिश्चन्द्रमाः।
गावः कामदुघाः सुरेश्वरगजो रम्भादि देवाङ्गनाः॥
अश्वः सप्तमुखो विषं हरि धनुः शंखोऽमृतं चाम्बुधेः।
रत्नानीह चतुर्दश प्रतिदिनं कुर्वन्तु नो मङ्गलम्॥"

इस प्रकार समुद्र का रत्नाकर नाम सार्थक हुआ। इसका जल इतना खारा है कि कोई उसे पी नही सकता। इन्द्र के भय से भागकर मैनाक पर्वत समुद्र मे आ छिपा है। समुद्र अपने भीतर अपने शत्रु वडवानल को भी शरण देता है, क्योकि अगस्त्य मुनि सारे समुद्र को चुल्लू मे भरकर पी गये। एवविध अनेक पौराणिक प्रसिद्धियो के आधार पर सस्कृत के कवियो ने समुद्र को खूब भला-बुरा कहा है। किसी ने प्रशसा की है तो किसी ने निन्दा। अब कुछ उदाहरण सुनिये—

"रत्नैरापूरितस्यापि मदलेशोऽस्ति नाम्बुधेः।
मुक्ताः कतिपयाः प्राप्य मातङ्गा मदविह्वलाः॥
अधः करोषि रत्नानि मूर्ध्ना धारयसे तृणम्।
दोषस्तवैव जलधे रत्नं रत्नं तृणं तृणम्॥"

समुद्र! तुम धन्य हो, क्योकि रत्नो से परिपूर्ण होने पर भी तुममे गर्व लेशमात्र भी नही है, और ये हाथी एक-दो गजमुक्ता को पाकर कितना मद-विह्वल हो गये है। किन्तु दूसरा कवि कहता है कि—हे समुद्र! तुम बडे अविवेकी हो, रत्न और तृण के मूल्य मे भेद तुम्हे मालूम नही है। तभी तो रत्नो को नीचे रखते हो और तृणो को वक्ष स्थल पर रखकर सबको दिखाते हो। इसमे तुम्हारा ही अज्ञान प्रकट होता है। रत्नो का कुछ बनता-बिगडता नही, क्योकि 'रत्न रत्न तृण तृणम्'।

"याचित्वाम्बुकणांस्त्वदेव जलधौ मौलौ तवैव स्थिताः।
गर्जन्त्यम्बुधरास्तथापि सहसे, नो जातुचित् क्षुभ्यसे॥
सर्वस्वं च हृतं बलात्सुरवरैः, रामेण बद्धस्तथा।
क्रान्तस्त्वं च हनुमता पुनरपि श्रीस्ते तथैवेत्यहो॥"

अर्थात् हे समुद्र! तुम्हारा धैर्य अतुलनीय है। देखो, ये बादल तुमसे जल लेकर तुम्हारे ही ऊपर आकर गरजते है, तो भी तुममे क्षोभ का नाम नही। देवताओ ने तुम्हारे रत्न छीन लिए, रामचन्द्र जी ने तुम्हारी छाती पर पुल बाँधा, और तो और उनके दासानुदास हनुमान ने लाँघ कर तुम्हारे गौरव को मिट्टी मे मिला दिया। किन्तु वाह रे समुद्र! तुम जैसे के तैसे गम्भीर और शान्त बने रहे। अब निन्दा की बौछार देखिए—

"यद्वीचीभिः स्पृशसि गगनं यच्च पातालमूलं।
रत्नैरुद्दीपयसि पयसा यत्पिधत्से धरित्रीम्॥
धिक् सर्वं तत्तव जलनिधे यद्विमुच्या श्नुधाराः।
तीरे तीरे ग्रहगरसिकैः अध्वगैरुज्झितोऽसि॥"

हे समुद्र! तुम्हे धिक्कार है, काम बडे और दर्शन थोडे। अपनी लहरो से आकाश को छूते हो। अपने चमकते हुए रत्नो से पाताल की जड तक को प्रकाशित करते हो। अपनी महान् जलराशि से सारी पृथ्वी को घेरे हुए हो। किन्तु यह सब वृथा है। क्या तुम्हे यह नही मालूम कि सैकडो यात्री जल पीने की आशा से, तुम्हारे तट पर आते है, किन्तु तुम्हे कोसते हुए आँसू बहाकर लौट जाते है।

"पीयूषेण कृतार्थिताः त्रिविषदः लक्ष्म्या हरिः प्रीणितः,
चन्द्रार्धेन विभूषितः पशुपतिः कल्पद्रुमैर्वासवः।
आत्मानं परिमन्थितामुदधिना किं किं न तेषां कृतं,
तस्यागस्त्यमुनिप्रपीतपयसो नोच्चैः कृतैकाञ्जलि.॥"

अर्थात् समुद्र की उदारता और त्याग अपूर्व है। अपने को मथने वाले देवताओ के लिए उसने क्या-क्या नही किया। उसने अमृत देकर देवताओ को कृतार्थ किया, लक्ष्मी देकर विष्णु को प्रसन्न किया, चन्द्रमा देकर शिवजी को सुन्दर बनाया, इन्द्र को कल्पवृक्ष दिया। किन्तु जब अगस्त्य मुनि समुद्र को चुल्लू भर पानी के समान पीने लगे, तो किसी देवता ने सहायता करना तो दूर रहा, अङ्गुली तक नही उठाई। सच है, सकटकाल न कोउ सहारा।

इन्दुमती के स्वयवर-वर्णन मे महाकवि कालिदास जी ने कलिङ्गराज का वैभव दर्शाते हुए कहा है—

उसका राजप्रासाद समुद्र तट पर बसा है। राजमहल की खिडकियो से समुद्र की कल्लोल करती तरङ्गे स्पष्ट दिखाई पडती है। रात्रि के अन्तिम प्रहर मे समुद्र की मन्द्र ध्वनि से कलिङ्गराज की नीद स्वय खुल जाती थी। राजा को जगाने के लिए भाट-चारणो के गीत की आवश्यकता नही पडती। समुद्र-तट पर यह सुख-निवास कितना आकर्षक है। अब श्रोताओं के लिए ऐसे ही सुख-निवास की कामना करते हुए अन्त मे हम कालिदास की उसी अमरवाणी को सुनवाते है—

"यमात्मनः सद्मनि सन्निकृष्टो मन्द्रध्वनित्याजितयामतूर्यः।
प्रसादवातायनदृश्यवीचिः प्रबोधयत्यर्णव एव सुप्तम्॥"

[१५-३-'५१ को आकाशवाणी से प्रसारित वार्ता]

३०. संस्कृत-साहित्य में विज्ञान : नक्षत्र-विद्या

मानव आदिकाल से ही जिज्ञासु रहा है। अपने चारो ओर के वातावरण को देखकर उसके बारे मे 'क्या', 'क्यो' और 'कैसे' जानने की उसकी इच्छा जागृत होती है। ऊपर आकाश की ओर दृष्टिपात करने पर आदिकाल मे उसके मन मे उत्सुकता हुई होगी कि इस विशाल नील गगनमडल मे चमकते हुए ज्योतिपुज क्या है। इनमे से कुछ स्थिर रूप से चमकते है और कुछ टिमटिमाते रहते है। इनका दर्शन रात्रि मे ही होता है, दिन मे तो सूर्य का चकाचौध प्रकाश रहता है। रात्रि मे चमकने वाला चन्द्रमा रोज-रोज घटता-बढता रहता है। चन्द्रमा और स्थिर रूप से चमकने वाले अन्य ग्रहो का स्थान भी समयानुसार बदलता रहता है। सूर्य के उत्तर और दक्षिण की ओर जाने पर ऋतुये बदल जाती है। इन सब बातो का विचार करते समय तथा विशिष्ट अवसरो पर आकाशगगा, पुच्छल तारे, इन्द्र-धनुष और सूर्य तथा चन्द्रग्रहण देखकर आदिम काल का मानव आश्चर्य विभोर हो जाता रहा होगा। कितने काल-खण्ड तक वह इस अघेड़बुन मे रहा—कहा नही जा सकता। गगन के आश्चर्योत्पादक दृश्यो का उसने अपने तेज और स्वस्थ आँखो से सूक्ष्मावलोकन किया और उनके रहस्य को जानने का प्रयत्न किया। उसकी इस प्रयत्नशीलता मे आकाश-सम्बन्धी वर्तमान ज्ञानराशि की उत्पत्ति का बीज निहित है। युग-युग तक इन दृश्यो को देखते-देखते उसके मन मे कुछ धारणाये बननी प्रारभ हुई होगी और इस प्रकार धीरे-धीरे नक्षत्र विद्या को जन्म मिला।

सस्कृत-साहित्य मे नक्षत्र-विद्या का दूसरा और अधिक व्यापक नाम ज्योति शास्त्र है। ज्योति शास्त्र का अर्थ सूर्य-चन्द्र आदि, अश्विनी-भरणी-कृत्तिका आदि ग्रह-नक्षत्र और अन्य अगणित तारकाओ के विषय मे ज्ञान करानेवाला शास्त्र है। इस शास्त्र मे इनका स्वरूप, गति, परिभ्रमण काल आदि का निरूपण होता है। बाद मे इन ग्रहो की गति और स्थिति के अनुसार मानव-जीवन पर शुभाशुभ फलो का भी विवेचन किया जाने लगा। तब से भारतीय ज्योतिषशास्त्र के गणित और फलित (Astronomy & Astrology)—ये दो रूप हुये। इनमे से प्रथम—गणित-ज्योतिष्—सिद्धान्तशास्त्र (Theory) और दूसरा—फलित-ज्योतिष्—प्रयोगशास्त्र (Practical) कहा जा सकता है, क्योकि गणित-ज्योतिष् के आधार पर फलित-ज्योतिष् की स्थापना की गई है। वैदिक देवताओ मे सूर्य एक प्रधान देवता है। वैदिक ऋचाओ मे सूर्य को स्थावर और जगम—दोनो प्रकार के ससार की आत्मा कहकर स्तुति की गई है : 'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च'। भारतीय ऋषियों ने सूर्य के प्रकाश-दाता और जीवन-संरक्षक रूप से प्रभावित होकर सूर्य की उपासना पर इतना जोर दिया।

तभी से गणित और फलित-ज्योतिष् के घनिष्ठ सम्बन्ध का सूत्रपात हुआ होगा। प्रारम्भ-काल मे ग्रहो की गति, स्थिति, अयनाश आदि का विचार गणित-ज्योतिष् के अन्तर्गत तथा यज्ञ आदि शुभकार्य के लिये उपयुक्त काल का निर्णय फलित-ज्योतिष् के अन्तर्गत माना जाता था। वैदिक युग के पश्चात् आगे चलकर फलित-ज्योतिष् का क्षेत्र अधिक विस्तृत हुआ और मनुष्य के जन्मकाल से, प्रश्न पूछने के समय से, रमल फेंककर या अन्य शकुनो के आधार पर मानव के सुख-दुख, इष्ट-अनिष्ट, उन्नति-अवनति आदि के विषय मे भविष्य का निर्देश फलित-ज्योतिष् का मुख्य विषय माना गया।

भारत मे नक्षत्रविद्या के विकास का एक लम्बा इतिहास है। वैदिक युग मे ही इस शास्त्र के स्थूल विषयो का निर्देश मिलता है। वैदिक ऋषि गगनमण्डल का निरन्तर निरीक्षण किया करते थे, क्योकि उन्हे प्रतिदिन प्रात और साय, मास मे दो बार (अमावास्या और पूर्णिमा को) तथा वर्ष मे दो बार विषुव दिन को (जब दिन और रात बराबर होते है) भिन्न-भिन्न यज्ञ करने के लिये बिलकुल ठीक निर्दिष्ट समय जानना आवश्यक था। अत आकाश की नक्षत्र माला को देखना उनके लिये नई बात नही थी। पृथ्वी को सूर्य की एक परिक्रमा करने के लिये ३६५ दिन, १५ घटे, २८ पल का समय लगता है। किन्तु चन्द्रमा को पृथ्वी की परिक्रमा करने मे लगभग ३५४ दिन लगते है। सूर्य के सौर तथा चन्द्र के चान्द्र-वर्षों मे जो अतर आता है, उसे मिलाने के लिये आजकल प्रत्येक ३२ मास १६ दिन के बाद एक अधिक चान्द्रमास माना जाता है। इस अधिक मास का तथा वर्ष के १२ मास और ३६० दिनो का सकेत ऋग्वेद की एक ऋचा मे बडे रोचक ढग से किया गया है। तैत्तिरीय सहिता मे इन बारह मासो के तथा अधिक मास और क्षयमास के नाम दिये गये है। ऐतरेय ब्राह्मण मे कहा गया है कि पृथ्वी पर दिन और रात, सूर्य के भ्रमण से होते है; सूर्य न उदय, न अस्त होता है। इसी प्रकार सूर्य के उत्तरायण और दक्षिणायन मे होने से ऋतुओं का परिवर्तन सूचित किया गया है।. तैत्तिरीय सहिता के अनुसार पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्यौ, सूर्य और चन्द्र की कक्षाये क्रमशः एक-एक के ऊपर है। प्रारमिक युग की इस भ्रान्त कल्पना का यह कारण था कि चन्द्रमा ऊँचा होने के कारण नक्षत्र-प्रदेशो से गुजरता है, इसीलिये रात्रि मे—उसके गमनकाल मे—नक्षत्र दिखाई पडते हैं। सूर्य, नक्षत्रो से नीचे है; अत उसके गमनकाल मे नक्षत्र नही दिखाई देते। नक्षत्रो की पूर्ण नामावली तैत्तिरीय सहिता मे दी गई है और अथर्ववेद में नक्षत्रो के गुण और प्रभाव का भी निर्देश है। क्रान्तिवृत्त—अर्थात् आकाश के उस मार्ग के—जिसमे से चन्द्र आदि ग्रह आकाश मे परिक्रमा करते है—के बारह भागों को राशि तथा २७ विभागो को नक्षत्र कहते है। नक्षत्र का अर्थ है—स्थिर या निश्चल तारा · 'न क्षरतीति नक्षत्रम्'। इन २७ तारक पुंजो की (घोडा, हरिण, हाथी आदि की) आकृति के अनुसार उन्हें अश्विनी, भरणी आदि नाम दिये गये हैं। ये नक्षत्र आकाश मार्ग मे छोटे-छोटे २७ स्टेशनों के समान हैं तथा कई नक्षत्रो से बने १२ तारक पुजों—अर्थात् १२ राशियो को—हम बडे-बडे स्टेशन कह सकते हैं। इनके भी भेड, बैल, बिच्छू आदि की आकृति के अनुसार मेष, वृष आदि-आदि नाम हैं। किन्तु इन राशियो के नाम वैदिक-युग के अन्तिम खण्ड मे ही मिलने के कारण, विद्वानों

का कथन है कि राशि-व्यवस्था ग्रीक-ज्योतिष् से ली गई है, हाँ, नक्षत्रो की व्यवस्था अति प्राचीन होने के कारण सर्वथा भारतीय है। आगे चलकर नक्षत्रचक्र और राशिचक्र का भारतीय ज्योतिष मे समन्वयात्मक अन्तर्भाव पाया जाता है। वेदो मे सूर्य और चन्द्र ग्रहण का कारण राहु और केतु माने गये है। वर्ष के ४ दिनो के—जब दिन-रात बराबर होते है या दिन सब से बडा तथा सब से छोटा होता है—विशेष नाम वैदिक युग मे पाये जाते है। आकाश मे तारापुजो से बनी सुन्दर आकृतियो को देखकर वैदिक ऋषि का कवि हृदय जाग उठता है। सप्तर्षि-तारो के मध्य मे वशिष्ठ के पास सती अरुन्धती नामक तारा की कल्पना तथा मृगशिरस्-रोहिणी नक्षत्रो मे भागती हुई हरिणी का पीछा करते हुये प्रजापति-मृग को मारने के लिये देवताओ के कोप का व्याध बनकर बाण मारने के दृश्य को कल्पना कैसी रमणीय है। ससार के अन्य भागो मे भी आकाश का निरीक्षण करने वाले ज्योतिषियो ने तारापुजो मे कल्पना के सहारे विभिन्न आकृतियाँ देखकर तदनुकूल नाम दिये है। इन नामो की भारतीय नामो से समता, कवियो के कल्पना-प्रसू हृदय की समानता का परिचायक है।

ईसा के पूर्व ५०० वर्ष के लगभग भारत मे ज्योतिषशास्त्र के विषयो पर स्वतत्र ग्रन्थ लिखे जाने लगे। वेदाग-ज्योतिष ज्योतिष-शास्त्र का सर्वप्रथम स्वतत्र ग्रन्थ है। इसकी रचना मुख्यतया यज्ञ-समय जानने के लिये की गई थी। उस समय तक आकाश-निरीक्षण की किसी विशेष पद्धति का आविष्कार हुआ था—यह नही कहा जा सकता। तो भी वेदाग-ज्योतिष मे उपलब्ध सूचनाओ से तत्कालीन ज्योति शास्त्र सम्बन्धी ज्ञान-राशि को जानकर आश्चर्य होता है। सूर्य, चन्द्र, मगल आदि सातो वार के नाम अथर्ववेद के वेदाग-ज्योतिष मे आये है। इससे सिद्ध है कि उस समय मे, वर्तमान काल मे मान्यता प्राप्त ग्रह-कक्षा का क्रम ज्ञात था। ससार भर मे वारो के विषय मे भेद नही है। हमारा रविवार पाश्चात्यो का Sunday और चन्द्रवार Monday है। इसी प्रकार अन्य वारो के विषय मे भी नामो के अर्थ मे समानता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि आकाश मे पृथ्वी के चारो ओर इन ग्रहो की कक्षा सर्वमान्य हो गई थी। तभी तो वार भिन्न-भिन्न दिनो पर नही पडते। सबसे दूर की कक्षा मे होने के कारण शनैश्चर ग्रह की गति सबसे मन्द दिखती है, वह २॥ वर्ष मे एक राशि का अतिक्रमण करता है, अत उसका शनैश्चर नाम सार्थक है। चन्द्रमा ग्रह सबसे पास की कक्षा मे होने के कारण २। दिनो मे ही वह एक राशि का अतिक्रमण कर लेता है। ग्रहो की राशि और स्थिति के अनुसार वारो का क्रम निश्चित किया गया है। ऋग्वेद-काल मे वसन्त सम्पात-बिन्दु Varnal Equinox अर्थात् दिन-रात का बराबर होना, मृगशिरस् नक्षत्र पर था, तैत्तिरीय सहिता मे वह २ नक्षत्र पूर्व कृत्तिका नक्षत्र पर आ गया था, ईसवीय सन् ५०० मे वह २ नक्षत्र अधिक पूर्व अश्विनी नक्षत्र पर आ गया था, आजकल वह और भी पीछे खिसक कर उत्तरा भाद्रपद नक्षत्र पर आ गया है। अत नक्षत्र-गणना का प्रारभ, एक ही नक्षत्र से न होकर पीछे की ओर खिसकता जाता है। इस खिसकने के काल (लगभग १ नक्षत्र के लिये ९६० वर्ष) को ध्यान मे रखकर भारतीय ज्योतिषियो ने समय-समय पर नक्षत्र-गणना के प्रारभ को निश्चित किया है। गत १५०० वर्षों से भारतीय-नक्षत्र-गणना मे परिवर्तन

नही किया गया, अत' असली वसन्त-सम्पात-दिन और वर्तमान पचाग के सम्पात-दिन मे करीब ३।। सप्ताह का फर्क हो गया है।

अन्तिम नक्षत्र-गणना का क्रम आर्यभट्ट के समय मे हुआ था। आर्यभट्ट ने भारतीय ज्योतिषशास्त्र मे एक नयी क्रान्ति की थी। उन्होने सूर्य को स्थिर और पृथ्वी को चल सिद्ध किया था। ध्यान रहे कि इसी सिद्धान्त को प्रतिपादित करने के कारण यूरोप मे गेलीलियो को फाँसी दे दी गई थी। भारतीय ज्ञान-धारा मे विचार-स्वातन्त्र्य का यह ज्वलत उदाहरण है। आर्यभट्ट ने दिन और रात होने का कारण पृथ्वी का सूर्य के चारो ओर घूमना बताया है। उनके अनुसार पृथ्वी की परिधि (Circumference) करीब ५००० योजन है। उन्होने सूर्य और चन्द्रग्रहण के वैज्ञानिक कारणो पर भी प्रकाश डाला है। आर्यभट्ट के बाद उज्जयिनी निवासी वराहमिहिर ने भारतीय ज्योतिष-विज्ञान को क्रमबद्ध किया। ईसवी सन् ६०० से आकाश-निरीक्षण की विशिष्ट पद्धति काम मे लाई जाने लगी थी। वराहमिहिर का पच-सिद्धान्तिका एक प्रामाणिक ग्रन्थ है, जिसमे अपने पूर्वकालीन प्रचलित सिद्धान्तो की उन्होने वैज्ञानिक मीमासा की है। वराहमिहिर ने ज्योतिष-शास्त्र को नक्षत्र-ज्ञान तक ही सीमित न रखकर उसका मानव-जीवन से सम्बन्ध स्थापित किया। बारहवी शताब्दी मे भास्कराचार्य ने ग्रहमान के भारतीय ज्ञान की स्थूलता को दूर करने के लिये बीज सस्कार की व्यवस्था निकाली। इससे खगोल-सम्बन्धी भारतीय ज्ञान का सशोधन और परिष्करण हुआ। भास्कराचार्य प्रसिद्ध ज्योतिषी होने के साथ-साथ ऊँचे दर्जे के कवि भी थे। अपनी कन्या लीलावती के नाम पर उन्होने गणित-ज्योतिष् पर एक ग्रन्थ लिखा, जिसमे उच्चगणित के सूक्ष्म तत्वो का सुन्दर प्रतिपादन किया है। भारतीय-ज्योतिष् के उत्तरकालीन इतिहास मे बीजगणित, अकगणित आदि विशुद्ध गणित विज्ञान का परिपक्व अध्ययन हुआ। किन्तु आकाश-निरीक्षण के बल पर ग्रह-गणित का विकास बन्द-सा हो गया। हाँ, फलित-ज्योतिष् की खूब तरक्की हुई। रोमक, अरबी ज्योतिष से प्रभावित भारतीय ज्योतिषियो ने फलित-ज्योतिष् के विभिन्न अगो की—जैसे प्रश्न, शकुन, रमल, जन्मपत्र, वर्ष कुडली आदि के साहित्य की अच्छी पुष्टि की। सन् १७८० मे महाराजा जयसिंह ने काशी, जयपुर और दिल्ली मे वेधशालायें (observatory) बनवाईं। आधुनिक काल मे बापूदेव शास्त्री और सुधाकर द्विवेदी ने आधुनिक ग्रह-गणित के सिद्धान्तों को आत्मसात् कर सस्कृत में नवीन ग्रन्थ रचे है। आकाश की ओर न देखकर केवल पुरानी पुस्तको के सहारे तैयार की गई ग्रह-गणित की सारणियो और पंचागो (Almanac) मे स्थूलता रहना स्वाभाविक है। अब आवश्यकता इस बात की है कि भारतीय ज्योतिषी आधुनिक यंत्रों की सहायता से आकाश-निरीक्षण कर परम्परागत सारणियो को अद्यथावत् आधुनिक बनाये और खगोल विषयक भारतीय ज्ञान की उज्ज्वल परंपरा को आगे बढ़ाएँ।

अन्त मे एक बात और। ज्योतिष-शास्त्र के क्षेत्र मे भारत का अन्य देशो से परस्पर आदान-प्रदान खूब हुआ है। भारतीय राष्ट्रजीवन के चेतनाकाल मे विदेशियो से प्राप्त ज्ञान का उपयोग करना बुरा नही माना जाता था। ग्रीक-ज्योतिष् के साथ भारत का सम्बन्ध

ईसवीय शताब्दी के पूर्व ही हो गया था। इसी से अनेक ग्रीक पारिभाषिक शब्द—होरा, केन्द्र आदि भारतीय ज्योतिष मे शामिल कर लिये गये। सन् ७७१ मे भारत के ज्योतिषियो का एक दल बगदाद गया था। ब्रह्मगुप्त के 'ब्रह्मस्फुट-सिद्धान्त' का इसी समय मे अरबी अनुवाद हुआ। फलित-ज्योतिष् के ताजिक और रमल—ये दो अग मुसलमान ज्योतिषियो के द्वारा भारत मे आये। भारतीय ज्योतिष के पॉच सिद्धान्तो मे रोमक-सिद्धान्त का उल्लेख है, जिसके विषय मे कहा जाता है कि सूर्य ने शापग्रस्त होकर यवन जाति मे जन्म लिया और रोमक नामक यवन को इसे सिखाया। एलेक्जैड्रिया के ज्योतिषी पोलस के यूनानी सिद्धान्तो के आधार पर पौलिश सिद्धान्त की रचना की गई थी, जिसकी गणना पचसिद्धान्तो मे की जाती है। मेष, वृष आदि राशियो के नाम के साथ-साथ अनेक विदेशी पारिभाषिक शब्दो को भारतीय ज्योतिष ने आत्मसात् किया है। अनेक ज्योतिषी यवनाचार्यो के नाम आदर के साथ भारतीय ज्योतिष के ग्रन्थो मे मिलते हैं। वराहमिहिर ने कहा है कि ज्योतिष का म्लेच्छो और यवनो मे अच्छा प्रचार है, इस कारण वे भी ऋषियो के समान पूजनीय हैं।

म्लेच्छाहि यवनास्तेषु सम्यक् शास्त्रमिदं स्थितम्।
ऋषिवत्तेऽपि पूज्यन्ते किं पुनर्दैवविद् द्विजः।।

ज्ञान की साधना में स्वदेशी और विदेशी का भेद सर्वथा त्याज्य है। पुरातन काल मे देव और असुरो ने ज्योतिष-शास्त्र को जन्म दिया। बाद में ग्रीक और मुसलमानो ने इसे अपनाकर पल्लवित किया और अब यूरोप के वैज्ञानिको की सहायता से ज्योतिष-शास्त्र की अभूतपूर्व उन्नति हुई है।

प्राग्देवासुरसूरिभिर्बहुविधं प्रादुष्कृतं ज्योतिषं
यत्तद्ग्रीकमुहम्मदीय कृतिभिः स्वस्वस्थलेषूद्धृतम्।
भूयः प्रोद्यदुदारबुद्धिविभवैर्यूरोपवैज्ञानिकैः,
सौभाग्येन सहैव साम्प्रतमिदं नीतं परामुन्नतिम्।...

३१· भारत के ज्ञान-विज्ञान : गन्धर्ववेद

वेद भारतीय ज्ञाननिधि के प्राण हे। वेदो की इस अनन्यलभ्य महिमा का कारण यह है कि भारतीय परम्परा के अनुसार समस्त ज्ञानराशि का आदिस्रोत वेद है। सस्कृत-व्याकरण के अनुसार 'विद्' धातु का अर्थ 'जानना' है। अत. विद् धातु से निकला 'वेद' शब्द का अर्थ 'ज्ञान' है। अत आश्चर्य नही कि भारतीय अनुश्रुति मे वेदो को सभी ज्ञानशाखाओ का उद्गम स्थान माना गया हो। फलत यह गलेपतित है कि मानवीय ज्ञान के विविध रूपो का उद्भव वेदो मे मिले।

दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि सस्कृत-वाङमय का उत्कर्ष न केवल गुण दृष्टि से बल्कि परिमाण दृष्टि से भी है। इसकी विशालता—अर्थात् इयत्ता—का अनुमान इसी बात से किया जा सकता हे कि मानवीय ज्ञान की सभी उपलब्धियाँ मूर्तरूप मे इस विशाल एव दीर्घकाय वाङमय मे पाई जाती है। इसी कारण से भारतीय-चिन्तन मे सगीतकला पर सर्वप्रथम ग्रन्थो का निर्देश करते समय 'गन्धर्ववेद' का नाम हमारे सामने प्रस्तुत किया जाता है।

ऋषिवर्य शौनक का 'चरणव्यूह'-ग्रन्थ वैदिक-वाङमय का अत्यन्त प्राचीन निर्देश ग्रन्थ है। उसमे कहा गया है कि "ऋग्वेदस्यायुर्वेदोपवेद., यजुर्वेदस्य धनुर्वेदोपवेदः, सामवेदस्य गन्धर्ववेदोपवेद, अथर्ववेदस्य शब्दशास्त्राणीति"—अर्थात् ऋग्वेद का उपवेद आयुर्वेद है, यजुर्वेद का उपवेद धनुर्वेद है, सामवेद का उपवेद गन्धर्ववेद है तथा अथर्ववेद का उपवेद शब्दवेद या शब्दशास्त्र है। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि भारत की वाङमय परम्परा मे 'उप' शब्द के साथ सम्बद्ध ग्रन्थो का नामनिर्देश करने की पद्धति है। जैसे पुराणो के उपपुराण और रूपको के उपरूपक सम्बद्ध ग्रन्थ हैं, एवमेव वेदो मे भी चारो वेदों के चार सम्बद्ध उपवेद हैं। उनमे से अन्यतम गन्धर्ववेद अर्थात् सगीत-विद्या को सामवेद से सम्बद्ध माना गया है। सामवेद के साथ गन्धर्ववेद को सम्बद्ध करने मे जो विवेकपूर्ण औचित्य तथा स्पृहणीय सूझबूझ है, वह भारतीय मस्तिष्क के पुष्ट चिन्तन और तद्भावगाहिनी प्रतिभा का निर्देशक है। दूसरी बात, जिसे हमे नही भूलना चाहिये, वह यह है कि 'उपवेद' किसी उपलब्ध ग्रन्थविशेष का नाम नही है, बल्कि उस विद्या या ज्ञानराशि का विशिष्ट अभिधान है; जैसे ऋग्वेद के उपवेद का आयुर्वेद और यजुर्वेद के उपवेद को धनुर्वेद का नाम दिया गया है। इसका यह तात्पर्य नही कि आयुर्वेद या धनुर्वेद नामक एक विशिष्ट ग्रन्थ है, बल्कि आयुर्वेद विषय या धनुर्विद्या पर वह सर्वप्रथम मूर्तीकृत रूप—जिसके आधार पर उत्तरकाल में असख्य महत्त्वपूर्ण मूलग्रन्थ रचे गये।

अब 'गन्धर्ववेद' शब्द का अर्थ जान लेना चाहिये। साधारणतया इसके दो अर्थ हो सकते है। पहिला : "गन्धर्वाणा सगीतविद्योपजीविना वेद —अर्थात् सगीत विद्या से जीविका चलाने वालो का वेद"। दूसरा "गन्धर्व (गन्धर्वसम्बन्धिनी गन्धर्वकला अथवा सगीत रूप विद्या) विद्यते विज्ञायते अनेन स गन्धर्ववेद —अर्थात् गन्धर्व शब्द लक्षणावृत्ति से गन्धर्व-कला के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है, तब गन्धर्वकला अर्थात् सगीतविद्या जिससे जानी जा सके तो वह गन्धर्ववेद है।" यही कारण है कि हमे आजकल 'गन्धर्ववेद' नामक कोई पुस्तक नही मिलती है, किन्तु उसके आधार पर नृत्य, अभिनय तथा वाद्यकला पर अनेक ग्रन्थ रचे गये है, जिनका निर्देश आगे किया जायेगा। इस असमजस स्थिति को दूर करने के लिये विष्णु-पुराण मे यह कहा गया है कि गन्धर्ववेद के रचयिता (भारतीय परम्परा मे द्रष्टा) का नाम भरतमुनि है अर्थात् भरतमुनि कृत 'नाट्यशास्त्र' ही गन्धर्ववेद है। अस्तु।

जैसा पहिले कहा जा चुका है कि सस्कृत-शास्त्रीय परिभाषा मे 'सगीत' शब्द नृत्यकला, अभिनयकला एव वाद्यकला—तीनो ललितकलाओ का बोधक है 'नृत्य नृत्त तथा वाद्य त्रय सगीतमुच्यते।' नृत्त शब्द से 'नट' शब्द बना है और नट इन तीनो कलाओ का एक साथ या अलग-अलग प्रयोग करता था। इस प्रकार सगीत-समारोह मे सामाजिक को वाद्य और अभिनय के साथ नृत्यकला को देखने का अवसर मिलता था। नाट्यशास्त्र अर्थात् सगीत-शास्त्र पर रचे गये प्राचीन ग्रन्थ का नाम 'नट सूत्र' था, जिसका उल्लेख पाणिनि की अष्टाध्यायी मे मिलता है। पाणिनि ने दो नट सूत्रकारो का—कृशाश्व और शिलालिन् का भी उल्लेख किया है। भरतमुनि के 'नाट्यशास्त्र' मे ही कोहल, धूर्तिल, शाण्डिल्य, वात्स्य, नखकुट्ट, अश्म-कुट्ट आदि पूर्वकालीन आचार्यो का निर्देश मिलता है। इससे सिद्ध होता है कि गन्धर्वविद्या बडी पुरानी विद्या या कला है। इसी से इसे 'गन्धर्ववेद' का गौरवपूर्ण नाम दिया गया था।

'गन्धर्व' शब्द का यौगिक अर्थ यो किया जाता है "गन्ध सगीतविद्यादिजनितप्रमोदम् अर्वति प्राप्नोति य स।" अर्थात् वह व्यक्ति विशेष जो कण्ठसगीत और वाद्यसगीत से उत्पन्न आनन्द को पाता है। गन्धर्वों के विषय मे पुराण कहते है कि—

> **"देवानां गायकाह्येते चारणा स्तुतिपाठकाः।**
> **गीतज्ञाः स्वरगीतेन तोषयन्ति नराधिपान्॥**
> **स्तुवन्ति च धनाढ्यांश्च गीतं गायन्त्यहर्निशम्"**

अर्थात् गन्धर्व देवताओ के दरबारी गवैये हैं, वे स्तुतियो से देवताओ, राजाओ तथा धनिको को प्रसन्न करते है, सगीतशास्त्र मे वे प्रवीण होते है तथा आजकल के मनचले युवको के समान रात-दिन गीत गुनगुनाया करते है। समाज मनोरजक कला के उपासक होने के नाते गन्धर्व जाति का एक विशिष्ट महत्त्व है। उसे देवयोनि विशेष कहा जाता है तथा १० देवयोनियो मे उनकी गणना की जाती है—

> **"विद्याधराप्सरोयक्षरक्षो गन्धर्वकिन्नराः।**
> **पिशाचो गुह्यकः सिद्धो भूतोऽमी देवयोनयः॥"**

गन्धर्व जाति के देवगन्धर्व और मर्त्यगन्धर्व—ये दो भेद है। देवगन्धर्व पूर्वकाल के पुण्यात्मा और मर्त्यगन्धर्व इसी सृष्टिकाल के पुण्यात्मा माने जाते है। गन्धर्वों मे से विश्वावसु और चित्ररथ के नाम सस्कृत-साहित्य मे प्रसिद्ध है। विश्वावसु को ऋग्वेद मे दिव्यगन्धर्व कहा गया है "विश्वावसुरपि तन्नो गृणातु दिव्यो गन्धर्वो रजसो विमान."। कालिदास के 'विक्रमोर्वशीय' मे चित्ररथ नामक गन्धर्व का वर्णन आया है। गन्धर्व जाति के लोग कलाप्रिय होने के साथ-साथ रहस्यपूर्ण गुप्त व्यक्ति भी होते थे। महाभारत मे द्रौपदी ने पाण्डवो के तेरहवे वर्ष के गुप्त-वनवास काल में उन्हे रहस्यपूर्ण व्यक्ति होने का सकेत किया है—

"गन्धर्वाः पतयो मम"।

वाल्मीकि रामायण मे गन्धर्वों को सुन्दर, रूपवान् एव मधुर स्वरयुक्त कहा गया है। राम-लक्ष्मण को लक्ष्य मे रखकर कहा है कि "भ्रातरौ स्वरसम्पन्नौ गन्धर्वाविव रूपिणौ।"

साराश यह है कि सगीतोपजीवी, कलाप्रिय, सुन्दर शरीरवाले एव रहस्यपूर्ण व्यक्तित्व वाले गन्धर्वो को वेद के साथ जोडकर सगीतकला को मानव की उपलब्धियो मे एक प्रमुख स्थान दिया गया है। गन्धर्ववेद मे सगीतशास्त्र की तीनो ललितकलाओ का—नृत्यकला, अभिनयकला और वाद्यकला का निर्वचन रहा होगा।

उसी के आधार पर रचे गये उत्तरकालीन असख्य ग्रन्थरत्न जैसे नाट्यशास्त्र, नारद-शिक्षा, अभिनयदर्पण, सगीत-मकरन्द, सगीत-रत्नाकर, वीणाप्रपाठक, स्वरमेलकलाविधि, रागविनोद, रसकौमुदी, रागकल्पद्रुम आज भी उपलब्ध है। साराश यह कि सस्कृत-वाङ्मय मे जो सगीत-शास्त्र विषयक प्रचुर ग्रन्थराशि आज उपलब्ध है, वह गन्धर्ववेद रूपी मूलवृक्ष का शाखा-प्रशाखा विस्तार है।

[आकाशवाणी वार्ता : २७ अप्रैल, १९६५]

३२. 'संस्कृत' शब्द का स्वारस्य : साहित्य के सन्दर्भ में

किसी राष्ट्र या जाति का वास्तविक इतिहास उसका साहित्य है। साहित्य ही समाज की तत्कालीन चिन्ताओ, धारणाओ, भावनाओ, आकाक्षाओ और आदर्शों का सम्पुटित चित्र हमारे सम्मुख उपस्थित करता है। इस दृष्टि से सस्कृत-साहित्य भारत के गौरवमय अतीत का मणिमय मुकुट है। वास्तव मे सर्वाङ्गसुन्दर सस्कृत-साहित्य ही हमारे नव्य सम्य समाज मे तथा इस पुण्यभूमि भारत के भव्य-भविष्य के लिए उत्कर्ष विधायक रहा है।

सस्कृत शब्द का मुख्यार्थ है—परिष्कृत अथवा परिमार्जित। इस शब्द मे सम् उपसर्ग है, "कृ" (डुकृञ्) धातु है, तथा "क्त" प्रत्यय है। फलत निष्पन्न शब्द का स्वरूप होना चाहिए था "सकृत", किन्तु प्रस्तुत शब्द है "सस्कृत"। प्रश्न उठता है कि "सम्" तथा "कृत" के मध्य मे "सकार" कैसे आ गया ? महर्षि पाणिनि के एक प्रसिद्ध सूत्र "सपरिभ्या करोतौ भूषणे (६।१।१३७)" के अनुसार "सम्" अथवा "परि"—पूर्वक "कृ" धातु को भूषण के अर्थ मे सट् का आगम होता है जो टित् होने के कारण उसके आदि मे जुटता है। इसी प्रकार "सस्कृत" शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ हुआ भूषित–अलकृत–परिष्कृत अथवा परिमार्जित। भाषागत सूक्ष्म भेद को लक्ष्य मे रखकर, भारत के सुप्रसिद्ध प्राच्यविद् प्रोफेसर क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय ने भाषा के बोधक "सस्कृत" और "प्राकृत" शब्दो की यह व्याख्या प्रस्तुत की है—

"सस्कृताना शिष्टाना भाषा इति संस्कृत भाषा, प्राकृतानां जानपदाना भाषा इति प्राकृत भाषा।" इस अवसर पर "साहित्य" शब्द की भी मीमासा अपेक्षित है। "सहितयोः शब्दार्थयो भाव. साहित्यम्"—अर्थात् शब्द और अर्थ अथवा भाषा और भाव के रमणीय सहभाव (समभाव या समता) का नाम साहित्य है। इसीलिए महाकवि कालिदास जी ने अपने "रघुवश" आद्यसर्ग के प्रथम श्लोक मे घोषणा कर दी है कि : "वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थ प्रतिपत्तये"। इतिहास शब्द का मूल विग्रह है "इति+ह+आस" (यह घटना वस्तुतः ऐसी ही हुई थी)। अमरकोश मे भी "परम्परा से समागत उपदेश" के अर्थ मे "इतिह" तथा "ऐतिह्य"—ये दो शब्द प्रयुक्त हुए है, इनमे 'इतिह' तो निपात समुदाय अथवा अव्यय (इति एव ह किल) है, तथा ऐतिह्य भी उसी अर्थ मे "इतिह" शब्द से "ष्य" प्रत्यय लगाकर बना है (इतिह एव ऐतिह्य) यही सक्षेप मे "इतिहास" शब्द की व्युत्पत्ति है।

सस्कृत-साहित्य का इतिहास प्रधान रूप से तीन काल—विभागो मे विभाजित किया जा सकता है। पहला श्रुतिकाल है, जिसमे चारो वेद, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् का निर्माण हुआ। इस काल मे वाक्य-रचना सरल, सक्षिप्त और क्रिया-बहुल हुआ करती थी। दूसरा

स्मृतिकाल है, जिसमे वेदाग, रामायण, महाभारत, पुराण तथा सूत्र-ग्रन्थ निर्मित किये गये। तीसरा वह काल है, जिसमे व्याकरण के मुनित्रय-द्वारा व्याकृत तथा नियन्त्रित भाषा मे काव्य-साहित्य आदि की सर्जना हुई। इस काल को विभाजन की सुविधा की दृष्टि से हम "लौकिक सस्कृत का काल" कह सकते हैं। इसी लौकिक मस्कृति को पाश्चात्य विद्वान् तथा डॉ० भाण्डारकर आदि भारतीय विद्वान् श्रेण्य (Classical) सस्कृत कहते है।

यत्प्रभापटलोद्भासा भासतेऽद्यापि भारतम्।
दिव्यं तत् संस्कृत ज्योतिरासंसारं प्रकाशताम्॥
तावदेव प्रतिष्ठा स्याद भारतस्य महीतले।
ज्ञानामृतमयी यावत् सेव्यते सुरभारती॥
सद्वरेण्यनुतामला सुखदा सुधारस वर्षिणी।
शास्त्रकाव्यनिबन्धनैस्तनुते परा पर भागताम्॥
मंगला मतिमोदिनी रञ्जिताखिल वैबुधा—
कस्य नो हृदयंगमा विबुधप्रिया सुरभारती॥

[अगस्त, १९५० में दिये गये भाषण का सार;
'सस्कृत भवितव्यम्' नागपुर में प्रकाशित]

३३. मैक्समूलर का भ्रम

वेदो पर भाष्य लिखने वाले सायण के सम्बन्ध मे देशी और विदेशी सभी प्राच्य-विद्या-विशारद श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते है। इसमे सन्देह नही कि सायण-रचित ग्रन्थो की बहुलता तथा विशालता आश्चर्यावह है। ऋग्वेदसहिता, तैत्तिरीयसहिता (कृष्ण यजुर्वेद), काव्य-सहिता (शुक्ल यजुर्वेद), सामवेद सहिता तथा अथर्ववेद सहिता—इस प्रकार चारो वेदो पर उन्होने भाष्य लिखे है। साथ ही ऋग्वेद के ऐतरेय-ब्राह्मण और ऐतरेय-आरण्यक, यजुर्वेद (कृष्ण और शुक्ल) के ब्राह्मण ग्रन्थ तैत्तिरीय ब्राह्मण और शतपथ-ब्राह्मण तथा सामवेद के ब्राह्मण ग्रन्थो पर भी सायण ने भाष्य लिखे है। इनमे से कई भाष्य अपूर्ण या अनुपलब्ध है, जिनका विवरण इस टिप्पणी का प्रतिपाद्य विषय न होने से नही किया जा रहा है।

इस लघु टिप्पणी का अभिप्रेत यह है कि सायण की विशाल ग्रन्थराशि से प्रभावित होकर प्रसिद्ध वैदिक विद्वान् मैक्समूलर ने सायण-रचित ग्रन्थो की सख्या को और भी बढा दिया है, जो वस्तुत यथार्थ नही है। 'ऐशेट हिस्ट्री आफ सस्कृत लिटरेचर' नामक अपनी बहु-मूल्य पुस्तक (१८६० मे प्रकाशित द्वितीय सस्करण) के पृष्ठ १२३ पर मैक्समूलर लिखते है कि "यह कहा जाता है कि ऋक्, यजुष् और साम—इन तीनो वेदो की प्रत्येक शाखा पर सायण ने भाष्य लिखा है।" इसके प्रमाण मे उन्होने यह श्लोक उद्धृत किया है—

'ऋग्यजुः सामशाखानामेकैका व्याकृता मया।
तावता तत्समानार्था ज्ञातुं शक्यास्ततः पराः॥

'एकैका' का अर्थ 'प्रत्येक' समझकर मैक्समूलर ने उपर्युक्त भ्रमपूर्ण बात लिखी है कि वेदो की प्रत्येक शाखा पर सायण ने भाष्य लिखा है।

वस्तुत इस श्लोक मे 'एकैका' का अर्थ 'एक-एक'—अर्थात् चारो वेदो की अनेक शाखाओ मे से छाँटकर एक-एक शाखा है। इस प्रकार सायण के श्लोक का तात्पर्य यह है कि उन्होने अपनी रुचि के अनुसार प्रत्येक वेद की एक शाखा पर भाष्य लिखा है। यह कथन ठीक है, क्योकि यह सर्वविश्रुत है कि पतजलि ने (१५० ईसा पूर्व) अपने महाभाष्य मे ऋग्वेद की २१ शाखा और यजुर्वेद की १०१ शाखा, अथर्ववेद की ९ शाखा और सामवेद के गेय प्रकार के हजारो मार्गों का निर्देश किया है। समयातिक्रम के साथ वेदो की अनेक शाखाओ का लोप हो गया। तो भी सायण के समय मे (चौदहवी शताब्दी) प्रत्येक वेद की एकाधिक शाखाएँ प्रचलित थी। उनमे से एक विशिष्ट शाखा की सहिता पर सायण ने भाष्य लिखे थे। सभी शाखाओ या प्रत्येक शाखा पर उन्होने भाष्य नही लिखे है।

पाश्चात्य विद्वान् भी सस्कृत-वाङमय के सम्बन्ध मे—भ्रमवश ही सही—बढा-चढा कर लिखते है, यह दिखाना इस टिप्पणी का ध्येय है।

[१९६४ में लिखित]

३४. संस्कृत-गद्य का विकास

सस्कृत-गद्य के विकास का इतिहास दो दृष्टियो से विशेष महत्त्वपूर्ण है। एक तो, सस्कृत-गद्य मे एकतानता अथवा एकसूत्रता है तथा दूसरे, उसमे क्रमिक विस्तार की एक सुस्पष्ट धारा दृष्टिगोचर होती है। ब्राह्मण-ग्रन्थ ही हमारे ऐसे प्राचीनतम ग्रन्थ हैं, जिनकी रचना सम्पूर्णतया प्राय गद्य मे ही निष्पन्न हुई है। इन ब्राह्मण-ग्रन्थों की गद्य-भाषा सरल तथा प्रभावशालिनी है, किन्तु उसमें परिमार्जन का अभाव है। इस गद्य-भाषा का क्रमिक विकास दो रूपों मे हुआ। एक ओर तो हमें कथा-काव्यो का गद्य मिलता है, जो रमणीय है, कृत्रिम है तथा जटिलता के वैभवशाली आवरण से पद-पद पर मण्डित है। दूसरी ओर पारिभाषिक तथा दार्शनिक ग्रन्थों का प्रौढ, चिन्तन-प्रधान गद्य है, जो तर्क-बहुल तथा तथ्यमूलक है।

इस प्रकार हम देखते है कि सस्कृत भाषा का गद्य अनेक शताब्दियों तक निरन्तर विकसित तथा परिष्कृत होता रहा है। विकास का यह विलक्षण तत्त्व इतना क्रमिक तथा धारावाही रहा है कि किसी भी सहृदय व्यक्ति को इसकी विविध भगिमाओ का दर्शन, उपलब्ध गद्य-ग्रन्थो मे सरलता के साथ हो सकता है।

सस्कृत-भाषा में काव्य का प्राचीनतम स्वरूप हमे ऋग्वेद की ऋचाओ मे मिलता है। विद्वानो की दृष्टि मे समस्त विश्व-वाङ्मय में ऋग्वेद के समान प्राचीन अन्य कोई काव्यजातीय ग्रन्थ नही है। ऋग्वेद और सामवेद मे हमें गद्य के दर्शन की आशा नही करनी चाहिये, क्योकि इनमे वस्तुत. ऋचाओ और गीतों का क्रमश सकलन है। यजुर्वेद का लगभग आधा भाग गद्य मे ही है। इस वेद की तैत्तिरीय सहिता, काठक सहिता तथा मैत्रायणी सहिता आदि मे भी गद्य की सत्ता लगभग उसी मात्रा मे है। इस गद्य मे हमें एक विशिष्ट सारवत्ता, सौन्दर्य तथा मोहकता के दर्शन होते है। वाक्य छोटे-छोटे, चुस्त तथा मुहाविरेदार है। वाणी के पीछे-पीछे अर्थ जैसे भागता हुआ चलता है। समासो का सामान्य प्रयोग ही दिखलायी पडता है। पदो से अर्थ निकालने मे अत्यधिक माथापच्ची नही करनी पड़ती है। यह गद्य प्राञ्जल और प्रवाहपूर्ण है। कालक्रम मे कुछ उतर कर अथर्ववेद का गद्य आता है। अथर्ववेद का लगभग छठा भाग गद्यात्मक ही है। इस प्रकार हम देखते हैं कि सस्कृत-गद्य का प्रारम्भ वैदिक-साहित्य के मन्त्र-काल से ही हुआ है।

वैदिक-साहित्य के द्वितीय चरण अर्थात् ब्राह्मण-काल में, गद्य ही पूर्णतया विचारो की अभिव्यञ्जना का माध्यम बन जाता है। कृष्ण यजुर्वेद का ब्राह्मण भाग तथा अन्य वेदो के

ब्राह्मण-ग्रन्थ—ये सभी सरल किन्तु सप्राण गद्य मे विरचित हैं। ब्राह्मण-ग्रन्थो मे पुराकथा से भी सम्बद्ध पुष्कल सामग्री मिलती है, जिससे उनकी गरिमा और भी बढ जाती है।

कालिदास जैसे परवर्ती महाकवियो ने इन पुराकथाओ का अपने काव्यो अथवा नाटको मे पूर्ण उपयोग किया है।

वैदिक-साहित्य के तृतीय चरण अर्थात् उपनिषद्-काल मे गद्य का धूमधाम से प्रयोग होने लगता है और उसका महत्त्व पद्यातिशायी हो जाता है। कठोपनिषद् आदि को छोडकर प्राय सभी प्रधान प्राचीन उपनिषदो की रचना गद्य मे ही है। उपनिषदो की गद्य-भाषा सरल, सहज तथा भावाभिव्यञ्जक है। अथ, इति, तत् तथा आदि शब्दो का प्रयोग उसमे एक स्वाभाविकता की सृष्टि कर देता है। ह, वै, उ—आदि अव्यय वाक्यालङ्कार के रूप मे प्रयुक्त हुए है, जिनसे वाक्यो की कमनीयता बढ जाती है। शैली की सरलता तथा भावो की भव्यता—इन दोनो का मधुमय सामञ्जस्य हमे उपनिषदो की भाषा मे मिलता है।

सूत्र-काल के प्रारम्भ के साथ-साथ सस्कृत-गद्य मे एक उल्लेखनीय परिवर्तन दिखलायी पडता है। मन्त्र-वाङमय की लयबद्ध सगीतमय गद्य-भाषा तथा ब्राह्मण और उपनिषद् ग्रन्थो की सहज-सरल भाषा का मुख्य लक्षण यही था कि उसमे भावो की व्यञ्जना बडे ही विशद तथा निर्मल ढग से होती थी। अर्थ की सुस्पष्ट रीति से प्रतीति के लिये शब्दो का प्रयोग किया जाता था। अर्थ के सुस्पष्ट तथा विस्तृत प्रतिपादन की चिन्ता का प्राय यह परिणाम होता था कि सम्पूर्ण वाक्यो की तथा कभी-कभी पूरे वाक्य-समुदायो की पुनरावृत्ति करनी पडती थी, किन्तु सूत्र-वाङमय मे शब्द-लाघव तथा वचोविस्तर का अभाव प्रधानतया दृष्टिगोचर होता है। यहाँ ग्रन्थकार का प्रमुख उद्देश्य यही है कि वह स्वल्पतम शब्दो मे अधिकतम अर्थ की अभिव्यक्ति कर सके। शब्द-लाघव पर इस अतिशय गौरव-प्रदान का फल यह हुआ कि शैली दुरूह तथा दुर्बोध हो गयी, कभी-कभी सूत्र स्वय पहेली बन गये और उनके अनेक अर्थ निकाले जाने लगे। सूत्र-वाङमय की रचना का एक निश्चित उद्देश्य था। विभिन्न विषयो पर दीर्घकाय ग्रन्थ उपलब्ध थे, उनका सार-भाग अथवा तात्पर्य इन सूत्रो मे लिपिबद्ध कर दिया गया। ये सूत्र आजकल के बीजगणित के सूत्रो (Formulae) की भाँति थे। प्राचीन-काल से ही प्रत्येक वैदिक-शाखा अथवा चरण के कल्प-सूत्र के दो विभाग चले आते थे, जिन्हे श्रौतसूत्र तथा गृह्य-सूत्र कहा जाता है। श्रौतसूत्रो मे वैदिक यज्ञ-प्रक्रिया का वर्णन है तथा गृह्यसूत्रों मे गृह-परिवार के दैनन्दिन जीवन की धार्मिक विधियो तथा विवाहादि सस्कारो का प्रतिपादन है।

श्रौतसूत्र तथा गृह्यसूत्र—ये दोनो ही सस्कृत-गद्य की सूत्रशैली मे ही सूत्रित किये गये है।

आशा तो धर्मसूत्रो के विषय मे भी ऐसी ही की जाती थी, किन्तु धर्मसूत्रो (कल्पसूत्र के तृतीय विभाग) के जो ग्रन्थ परम्परा से हमे प्राप्त हुए हैं, उनमे पद्य से सम्मिश्रित गद्य के दर्शन होते है। सच बात तो यह है कि कुछ काल के अनन्तर सूत्र-शैली मे गुम्फित गद्य सभी प्रकार के वाङमय के लिये प्रयुक्त होने लगा। भारतीय दर्शन के विविध प्रस्थान (Systems)

वैदिक निर्वचनशास्त्र (यास्क का निरुक्त) तथा व्याकरण-शास्त्र (पाणिनि की अष्टाध्यायी) भी इसी सूत्र-शैली मे लिखे गये है।

कौटिल्य का अर्थशास्त्र भी प्राय ऐसी ही शैली मे लिखा गया है। अर्थशास्त्र मे विषय-प्रतिपादन की ऐसी शुद्धता और सपत्ति पायी जाती हे, जो प्राय धर्मशास्त्रीय ग्रन्थो मे उतनी मात्रा मे नही मिलती। इसमे प्रत्येक प्रकरण के अन्त मे कुछ पद्य मिलता है, प्रकरण का शेप कलेवर गद्य मे निर्मित है। प्रतिपादन की प्रणाली तथा बाह्य स्वरूप मे, वात्स्यायन का कामशास्त्र भी अर्थशास्त्र से मिलता-जुलता है।

इस प्रकार के शास्त्रीय गद्य के साथ ही साथ एक दूसरे प्रकार के भी गद्य का प्रस्फुटन हो रहा था, जिसे हम ब्राह्मण-काल के गद्य और परवर्ती लौकिक सस्कृत-साहित्य के गद्य का सन्धि-स्थल कह सकते है। महाभारत मे क्वचित् और कदाचित् प्रयुक्त गद्याशो मे एतज्जा-जीत गद्य का स्वरूप परिलक्षित होता है। पतञ्जलि का महाभाष्य एक महत्तम गद्य-ग्रन्थ है, जो सरल, सुबोध तथा व्यास-शैली मे लिखा गया है। महाभाष्य को पढने से ऐसा प्रतीत होता है मानो उपाध्याय और अध्येता दोनो आमने-सामने बैठे है और प्रश्नोत्तर शैली द्वारा शास्त्र के अभीप्ट विषय का प्रतिपादन प्रस्तुत किया जा रहा है। द्वितीय शताब्दी ईसवी पूर्व मे प्रचलित अनेक प्रकार के सस्कृत-वाङमय की भी अमूल्य सूचना हमे महाभाष्य द्वारा उपलब्ध होती है।

यहाँ बौद्धो और जैनो के भी धार्मिक ग्रन्थो का उल्लेख करना समीचीन होगा। यद्यपि इन ग्रन्थो की भाषा पाली और अर्ध-मागधी है, तथापि भावव्यञ्जना की गद्य-शैली का बहुल प्रयोग इस बात का परिचायक है कि उस समय मे भी गद्य-भाषा का जनता मे प्रचुर प्रचार था।

इन धार्मिक ग्रन्थो मे प्रयुक्त सरल, वर्णनात्मक गद्य से यह लक्षित होता है कि कदाचित् सस्कृत मे भी उसी प्रकार की सरल गद्य-भाषा का प्रचार रहा होगा और इस प्रकार इन धार्मिक ग्रन्थो का प्रभाव सस्कृत-गद्य शैली के विकास पर भी पडा होगा। कुछ समय के पश्चात् बौद्धो ने भी सस्कृत भाषा को अपने भावो की व्यञ्जना के लिये अपनाया और 'ललितविस्तर' तथा 'दिव्यावदान' जैसे रमणीय गद्य-ग्रन्थो की रचना की, जिनमे बीच-बीच मे पद्य का भी पुट है। इन दोनो ग्रन्थो मे परवर्ती सस्कृत-गद्य के लक्षण सुस्पष्ट रूप से अंकित मिलते है।

आयुर्वेद को ऋग्वेद का उपवेद माना जाता है। आयुर्वेद के उपलब्ध ग्रन्थो मे चरक सहिता सबसे प्राचीन ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ की रचना गद्य मे हुई है। यत्र-तत्र पद्य का भी प्रयोग मिलता है। चरक की गद्य-शैली बडी ही प्रौढ तथा उत्कृष्ट है। कभी-कभी वाक्य-विन्यास मे अभिनव नाद-सौन्दर्य भी मिलता है जो उपनिषदो की गद्य-शैली का बरबस स्मरण दिला देता है। चरक संहिता मे हमे दर्शन-सम्बन्धी अनेक विषयो की भी सूचना मिलती है।

पाली, प्राकृत तथा सस्कृत के उत्कीर्ण अभिलेखो (Inscriptions) मे हमे गद्य के रमणीय स्वरूप का दर्शन मिलता है। ये अभिलेख सम्राट अशोककालीन तथा बाद की विविध

ज्ञातव्य सामग्री की सूचना देते है। पश्चिमी भारत के प्रसिद्ध क्षत्रप रुद्रदामन् के गिरनार स्थित शिलालेख (१५० ई०) को पढने से यह पता चलता है कि उस समय तक अलकृत गद्य-शैली का पर्याप्त प्रचार हो चुका था (इस अभिलेख मे 'स्फुट लघुमधुरचित्रकान्तशब्द समयोदारालङ्कृतगद्यपद्य'—इस गद्याश से उपर्युक्त निष्कर्ष निकलता है)। प्रयागस्थित शिलालेख (चौथी शताब्दी ईसवी) मे महाराज समुद्रगुप्त की प्रशस्ति की गयी है। इस प्रशस्ति के रचयिता है—कविवर हरिषेण। इस शिलालेख की गद्य-भाषा से यह प्रतीत होता है कि उस समय तक गद्य-शैली का एक निश्चित रूप निखर चुका था, जिसमे कही दीर्घ समासो की परम्परा मिलती थी, कही भाषा के अलङ्करण के नाना उपकरणो का जुटाव था, कही वर्णाढ्य वर्णन मिलते थे, कही कथानक की कमनीय सरणि दृष्टिगोचर होती थी और कही-कही मार्मिक श्लोको की बानगी भी मिलती थी।

अब लौकिकयुगीन अभिजात (Classical) गद्य-काव्य के उद्भव और विकास पर सक्षेप रीति से विचार करना है। अभिजात गद्य-काव्य की उत्पत्ति के विषय मे हमारा ज्ञान अत्यन्त सीमित है। इसका उद्भव कब और कैसे हुआ, यह निश्चित रूप से कहना कठिन है। इस गद्य-काव्य का सर्वप्रथम दर्शन दण्डी, बाण और सुबन्धु की रचनाओ मे होता है। किन्तु यह गद्य-काव्य का विकसित रूप है। उनके पूर्व के लेखकों तथा रचनाओ का इतिहास प्राय अज्ञात-सा है। हाँ, कात्यायन और पतञ्जलि के प्रमाण के आधार पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि उस समय तक आख्यायिकाओ का निर्माण हो चुका था। दण्डी ने कथा और आख्यायिका मे कुछ भेद बताये है, किन्तु अन्तत उन्होने भी स्वय कह दिया कि कथा और आख्यायिका मे कोई महत्त्वपूर्ण भेद नही है।

इन गद्य-काव्यो की भाषा अतिशय अलकृत तथा कृत्रिम है। अब भावो की व्यञ्जना मे भाषा की सरलता का कोई महत्त्व नही दिखायी पडता है। श्रमनिष्पादित उक्तिवैचित्र्य के लिये लेखक वक्र उक्तियो का आश्रय लेने लगे। इस काल के गद्य-काव्य मे प्रयुक्त शैली नितान्त परिष्कृत, उदात्त तथा निर्दोष है और लेखको का निरन्तर प्रयास यह रहा है कि समस्त प्रतिभा का व्यय कलापक्ष के प्रसाधन मे कर दिया जाय, फलत भाव-पक्ष स्वय गुणीभूत हो गया। दण्डी का दशकुमारचरित इस प्रकार की अलकृत गद्य-भाषा का उत्कृष्ट निदर्शन है। यह बात स्मरणीय है कि दण्डी की गद्य-भाषा औचित्य की सीमा का उल्लघन नही करती है और 'विश्रुतचरित' मे तो वह विशेषत शास्त्रीय गद्य की प्राञ्जलता से होड़ लेती हुई प्रतीत होती है।

बाण की 'कादम्बरी' मे कही समासो की सुदीर्घ घन-घटा घुमडती हुई दिखायी देती है, कही श्लेष और यमक की भरमार है, कही उपमा और रूपक की आँखमिचौनी है, तो कही उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति की धूप-छाँह। ऐसा प्रतीत होता है मानो अलङ्कार-शास्त्र बाण की प्रतिमा के सामने सदैव हाथ जोडे खडा रहता था। सचमुच ही महाकवि बाण वाणी के जबर्दस्त 'डिक्टेटर' थे। कादम्बरी मे समास-तत्व की दृष्टि से प्रसगानुसार तीनो प्रकार की शैली मिलती है—दीर्घ समास वाली शैली, (उत्कलिकाप्राय), अल्प समास वाली शैली (चूर्णक)

तथा यत्र-तत्र समास रहित शैली (जैसे शुक के आत्मकथन मे पितृमरणविषयक चिन्तन का वर्णन) जिसे गद्य की मुक्तक शैली कहा जाता है। हारीतकुमार के वर्णन मे पहिले व्यापक समष्टिगत सौन्दर्य वर्णन, फिर अग-प्रत्यग का वर्णन, बाद मे साथ की वस्तुओ का वर्णन, अनन्तर श्लेषमय वर्णन तथा अन्त मे विरोधाभासाश्रित वर्णन आया है। बाण के दीर्घ वर्णनो मे प्राय यही तत्र-क्रम परिलक्षित होता है।

श्लेष-प्रयोग के प्रति यह अतिशय अनुराग महाकवि सुबन्धु की 'वासवदत्ता' मे पहुँच कर अपनी चरम अवसान-भूमि मे अधिष्ठित हो गया है। महाकवि सुबन्धु को इस बात का बडा गर्व है कि उन्होने अपने प्रबन्ध के प्रत्येक अक्षर मे श्लेष गुम्फित कर दिया है · प्रत्यक्षर-श्लेषमयप्रबन्धविन्यासवैदग्ध्यनिधि सुबन्धु.—वासवदत्ता। इस प्रकार हम देखते है कि बाण के युग मे ओजस्विनी समासो की शैली के प्रति अनुराग ने भाषा को पूर्णरूप से आच्छादित कर रक्खा था और फलत यही गद्य का सजीवन-तत्त्व माना जाता था . ओज समासभूयस्त्वमेतद् गद्यस्य जीवितम्—काव्यादर्श। ऐसे ही युग मे यह प्राचीन सूक्ति भी अक्षरश कृतार्थ होती थी कि गद्य ही कवित्व की कसौटी है . गद्य कवीना निकष वदन्ति।

अब, शास्त्रीय गद्य पर दृष्टिपात करना है। यह तो पहले कहा ही जा चुका है कि भारतीय दर्शन के सभी प्रस्थानो की आधार-भूमि, सूत्र रूप मे ही प्रस्तुत कर दी गयी थी। अपने वर्तमान स्वरूप मे विद्यमान 'साख्यसूत्र' परवर्ती काल मे निबद्ध हो सकते है, किन्तु न्याय, वैशेषिक, योग, मीमासा और वेदान्त के सूत्र-ग्रन्थ पर्याप्त रूप से प्राचीन काल की रचनाये है। मीमासा सूत्रो पर शबर-स्वामी का भाष्य, न्यायसूत्रों पर वात्स्यायन का भाष्य तथा वेदान्त-सूत्रो पर शकराचार्य का भाष्य अत्यन्त प्रसिद्ध है। ये सभी भाष्य-ग्रन्थ लौकिक शास्त्रीय गद्य के टकसाली नमूने है। इस गद्य की शैली नितान्त पारिभाषिक तथा वैज्ञानिक है। इन आचार्यों की दृष्टि मे, प्रौढ़ शैली मे, अर्थों की अभिव्यक्ति ही चरम लक्ष्य है। फलत. इनका ध्यान शब्द-सौन्दर्य की सृष्टि की ओर उतना नही गया, तथापि आचार्य शंकर की 'प्रसन्न-गम्भीरपदा सरस्वती' किस सहृदय के हृदय का बलात् अपनी ओर आवर्जन नही कर लेती। इनके गद्य की सुषमा ही निराली है। वाचस्पति मिश्र जैसे आचार्य प्रकाण्ड ने उसे यथार्थत. प्रसन्नगम्भीर कहा है। बीच-बीच मे आचार्य शंकर लोक-प्रयुक्त सूक्तियाँ भी गुम्फित कर देते हैं और इस प्रकार उनका गद्य रस-पेशल तथा श्रुति-मधुर बन जाता है।

जयन्त भट्ट 'न्यायशास्त्र' के विख्यात आचार्य हैं। इनकी 'न्यायमञ्जरी' न्याय-दर्शन का प्रामाणिक ग्रन्थ है। इस न्याय-शैली मे पहले पूर्वपक्ष की सम्यक्तया प्रतिष्ठा की जाती है, फिर उसमे अरुचि का बीज प्रदर्शित किया जाता है, तदनन्तर सिद्धान्त पक्ष का धूमधाम से मण्डन किया जाता है।

जयन्त भट्ट का गद्य भी बड़ा ही सुन्दर, सरस तथा प्राञ्जल है। प्रतिपादनशैली अत्यन्त रोचक है।

'चम्पू-काव्य' में गद्य-पद्य का संयुक्त प्रयोग किया जाता है : 'गद्य-पद्यमय काव्यं चम्पू-

पदावली के प्रयोग का आश्रय लेकर प्रतिपाद्य विषय का सूक्ष्मतम निरूपण किया जाता है। जगन्नाथ की यह असाधारण विशेषता है कि उनकी गद्य-शैली मे शास्त्रीय परिणतप्रज्ञा तथा रसपरिपाकवती असाधारण प्रतिभा—इन दोनो की गगा-यमुनी निरन्तर प्रवाहित होती रहती है।

गद्य-काव्य का चरम प्रतिनिधि ग्रन्थ 'शिवराजविजय' है। 'शिवराजविजय' के सहृदय पाठको को पद-पद पर कादम्बरी और दशकुमारचरित का स्मरण हो आता है। वर्तमान युग मे भी ऐसे सर्वगुणमण्डित गद्य-काव्य का प्रणयन हुआ है—इसी से सिद्ध होता है कि सस्कृत-भारती की सर्जना-शक्ति का कोष अक्षय्य है और उसके उपासक सहृदय विद्वानो का उत्साह अजय्य है। 'शिवराजविजय' की गद्य-शैली मे प्रसाद और प्रवाह के साथ-साथ पर्याप्त प्रौढता भी है। इसके रचयिता आचार्य अम्बिकादत्त 'व्यास' 'अभिनव बाण' की उपाधि से विभूषित किये जाते है।

यह सक्षेप मे सस्कृत-गद्य के विकास की एक मनोरम झाँकी है। यह नि सकोच कहा जा सकता है कि प्रारम्भ मे सस्कृत-गद्य एक 'सदेशवाहक दूत' की भाँति, द्रुतगति से सचरण-शील होकर, अपने अभीष्ट अर्थ का प्रतिपादन करता था, कालान्तर मे वह एक चक्रवर्ती सम्राट् की भाँति अलकरण के नाना उपकरणो से लद गया। फलत जैसे कौतुकी जन राजा की शोभा-यात्रा मे कालव्यय की उपेक्षा करते हुए उसकी आकर्षक वेषभूषा और अलङ्कारो को ही देखते रह जाते है, वैसे ही सहृदय विदग्धजन उस गद्य के अलङ्कारो के चाकचिक्य से विस्मय-विमुग्ध हो जाते हैं और कथा-प्रवाह के व्याघात से वैरस्य का अनुभव नही करते। कदाचित् 'भट्टारहरि-चन्द्रस्य गद्यबन्धो नृपायते' मे, 'नृपायते'—इस क्रिया-पद से गद्य काव्य के विषय मे बाण का उप-र्युक्त आशय रहा हो।

विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ने ठीक ही कहा है : "परवर्ती सस्कृत-साहित्य का गद्य मयूर-पिच्छ से निर्मित उस करव्यजन (Hand fan) के समान है, जो शोभा के लिये धारण किया जाता है, न कि किसी व्यावहारिक प्रयोजन की सपूर्ति के लिये"।

अन्यत्र 'विश्वकवि' ने सहृदय पाठक की प्रशस्ति इस प्रकार की है : "वर्णनातत्त्व की विवेचना और अवान्तर प्रसगो से, भारतीय कथा का प्रवाह, पग-पग पर खण्डित होने पर भी, भारतीय सहृदय का धैर्य, च्युत होते नही देख पडता।" गद्यकाव्य के कलापक्ष का कितना मार्मिक विवेचन है!

[संस्कृत गद्यालोक की भूमिका,
१९६३ ई० में प्रकाशित]

३५· नालन्दा विश्वविद्यालय

आजकल की तरह प्राचीन-काल मे भी हमारे देश मे अनेक विश्वविद्यालय थे। बिहार प्रदेश का नालन्दा विश्वविद्यालय अपने समय का एक प्रमुख विद्या केन्द्र था। मध्यप्रदेश के साथ नालन्दा का विशेष सम्बन्ध था। क्योकि यही का निवासी नागार्जुन, जो एक महान् दार्शनिक और रसायन-शास्त्रवेत्ता था, नालन्दा विश्वविद्यालय मे विद्यार्थी बन कर गया और धीरे-धीरे परिश्रम कर इतना विद्याध्ययन किया और कीर्ति कमाई कि नालन्दा विश्वविद्यालय के कुलपति (Chancellor) बनने का उसे सम्मान मिला। आप लोगो ने रामटेक मे अबाडा तालाब से ऊपर चढते वक्त दाहिने ओर की दूसरी पहाडी पर नागार्जुन गुफा देखी होगी। नालन्दा जाने के पूर्व इसी गुफा मे रहकर नागार्जुन ने एक बौद्धभिक्षु से पढाई आरभ की थी। हाँ, तो इस नालन्दा विश्वविद्यालय की कीर्ति केवल भारत मे ही नही, बल्कि बर्मा, चीन, जावा, सुमात्रा आदि तक पहुँची थी। देश-विदेश से बडे-बडे विद्वान् यहाँ पढने-पढाने आया करते थे। इन देशो के राजा नालन्दा को आर्थिक सहायता देना अपना अहोभाग्य समझते थे। यहाँ विद्यार्थियो के लिये विशाल तिमजले और चौमजले छात्रावास (विहार) थे। पढाने के लिए लम्बे-चौडे हाल (शालाये) थे। बडे-बडे प्रार्थनागृह थे। नालन्दा का विशाल पुस्तकालय तीन भवनो मे बँटा हुआ था। उनमे से एक भवन 'रत्नोदधि' नौमजला था। यहाँ के भवनो की विशालता का इसी से अनुमान किया जा सकता है कि प्रधान बुद्धमूर्ति की ऊँचाई ८० फुट थी, अर्थात् एक साधारण मनुष्य की ऊँचाई से १४ गुना ज्यादा।

किन्तु काल की गति प्रबल है। १३वी शताब्दी मे हिन्दू-राज्यकाल समाप्त होने पर इसका भी अन्त हो गया। विशाल भवन गिरकर खंडहर हो गये। आज से १०० पूर्व वहाँ चारो ओर बडे-बडे टीले ही नजर आते थे। पुरातत्व विभाग (आर्कियालाजी डिपार्टमेंट) की ओर से खुदाई करने पर इन टीलो के नीचे दबी इस विशाल सस्था का ज्ञान ससार को हुआ।

आइये, पहिले यह जान ले कि नालन्दा है कहाँ और वहाँ कैसे पहुँचा जा सकता है। बिहार प्रदेश की राजधानी पटना से लगभग ५० मील दक्षिण-पूर्व बख्तियारपुर-राजगृह लाइट रेलवे लाइन पर नालन्दा नाम का रेलवे स्टेशन है। स्टेशन से २ मील पश्चिम मे प्राचीन नालदा के ध्वंसावशेष याने खंडहर है। नालदा से ७ मील दक्षिण मे राजगृह है, जो महाभारत काल मे जरासघ की और पाटलिपुत्र (पटना) के स्थापित होने के पूर्व मगध के सम्राटो की राजधानी थी। आज राजगृह भी नालन्दा की भाँति खँडहर हो गया है। किन्तु अभी भी उन खँडहरो को देखकर राजगृह के प्राचीन वैभव का अदाज किया जा सकता है। प्राचीन-काल मे विश्व-

विद्यालय राजधानी से दूर पर स्थापित किये जाते थे। अत उस वक्त नालंदा राजगृह का बाहरी भाग (Suburb) माना जाता था। नालदा की प्राचीनता का इसी से अनुमान हो सकता है कि जैनधर्म-सस्थापक महावीर स्वामी और बौद्धधर्म के सस्थापक गौतम बुद्ध कई बार यहाँ पधारे और निवास किया था। आप लोगो ने गत वर्ष बुद्धशिष्य सारिपुत्र के अस्थिशेष का बडे समारोह से साँची के स्तूप में पुन स्थापन का समाचार पढा होगा। सारिपुत्र गौतम बुद्ध के दाहिने हाथ माने जाते थे। इसीलिये गत वर्ष के समारोह मे लका, बर्मा, चीन आदि के राज-प्रतिनिधि और बौद्ध-विद्वान् उपस्थित हुए थे। इन सारिपुत्र का जन्म और मृत्यु यही नालन्दा मे हुआ था। नालदा मे सारिपुत्र की समाधि पर २३०० वर्ष पूर्व सम्राट् अशोक ने अपनी श्रद्धाजलि अर्पित की थी। गुप्तवश, वर्धनवश और पालवश के राजाओं ने नालन्दा मे छात्रावास, मदिर और स्तूप बनवाकर नालन्दा की उन्नति मे हाथ बँटाया था। सातवी शताब्दी के सम्राट् हर्षवर्धन के राज्यकाल मे नालन्दा का वैभव चरम सीमा पर पहुँच गया था। सातवी शताब्दी मे हुयेनत्साग और ई-त्सिग नामक चीनी विद्वान् भारत मे आये। उन्होने नालन्दा मे अनेक वर्ष रहकर विद्याध्ययन किया। उन्होने अपने यात्रा-विवरण मे नालन्दा विश्वविद्यालय का अच्छा वर्णन किया है। उस समय नालन्दा मे ४-५ हजार विद्यार्थी अध्ययन करते थे। उनके निवास, वस्त्र-पुस्तक और भोजन आदि की पूरी व्यवस्था विश्वविद्यालय द्वारा की जाती थी। आस-पास के लगभग २०० गॉवो मे विश्वविद्यालय की ओर से सहकारी-सिद्धान्तो पर खेती की जाती थी। चावल, घी, दूध सब कुछ इन्ही गॉवो से आता था। नालन्दा मे दर्शन, व्याकरण, आयुर्वेद, ज्योतिष आदि गम्भीर विषयों की पढाई होती थी। इनके अलावा वैदिक और बौद्ध-धर्म के ग्रन्थो के अध्ययन का प्रबन्ध था। नालन्दा के अध्यापक अपने-अपने विषय के प्रसिद्ध विद्वान् थे। छात्रावास के नियम कडे थे। खुदाई के बाद टीलो के भीतर दिखाई देते हुये छात्रावास के सभी कमरो मे सोने के लिये पत्थर का चबूतरा और सिरहाने के लिये पत्थर की ही तकिया, नालन्दा के विद्यार्थियो के कठिन अनुशासन को सूचित करती है। सादा जीवन और गम्भीर चिन्तन वहाँ का ध्येय-वाक्य था। आज्ञाभग, आचारहीनता, चोरी आदि का कोई भी मामला चीनी-पर्यटकों को देखने मे नही आया था। उपदेश और व्याख्यान के अलावा वहाँ परस्पर चर्चा, अधिकाधिक गुरु शिष्य-सपर्क और शास्त्रार्थ पर अधिक जोर दिया जाता था। यही कारण था कि देश-विदेश से विद्वान् नालन्दा मे पढने के लिये आया करते थे। नालन्दा विश्व-विद्यालय मे प्रवेश पाना सहज नही था। प्रवेश चाहने वालो की प्रवेश के पूर्व कठिन परीक्षा ली जाती थी। हुयेनत्साग ने लिखा है कि इस कठिन प्रवेशिका परीक्षा मे ७० से ८० प्रतिशत तक छात्र असफल होकर लौट जाते थे। न्यायशास्त्र का धुरन्धर विद्वान् दिङनाग, जिसका जन्म दक्षिण भारत मे हुआ था, नालन्दा की प्रतिष्ठा से आकृष्ट होकर शास्त्रार्थ मे भाग लेने के लिये यहाँ आया और 'पण्डित-पुगव' की उपाधि प्राप्ति की थी। यहाँ के अन्य प्रसिद्ध विद्वानो मे आर्यदेव, वसुबन्धु, धर्मपाल, शीलभद्र और धर्मकीर्ति के नाम उल्लेखनीय हैं। यहाँ के विद्वानो को विदेश—तिब्बत, चीन, जापान—के राजा सम्मान के साथ बुलाते थे और अपने यहाँ रखकर बौद्ध-ग्रन्थो का अनुवाद कराते थे। ऐसे ही एक विद्वान् पद्मसम्भव ने तिब्बत जाकर वहाँ लामा-सप्रदाय की

स्थापना की थी, जो आज तक तिब्बत मे प्रचलित है। खुदाई करते समय प्राप्त एक ताम्रपट लेख मे लिखा है कि सुमात्रा (सुवर्ण द्वीप) के एक राजा ने छात्रवृत्ति देने और पुस्तको की नकल कराने के लिये कई गाँवो की आमदनी नालन्दा मे लगाई थी, यही नही, बल्कि अपनी ओर से एक विहार (छात्रावास) का भी निर्माण कराया था। इससे स्पष्ट है कि भारतीय-सस्कृति और नालन्दा की कीर्ति भारत के बाहर बृहत्तर भारत मे उस समय पहुँच चुकी थी।

ईसा की बारहवी शताब्दी के बाद अर्थात् आज से लगभग ७०० वर्ष पूर्व बौद्ध-धर्म के ह्रास के साथ नालन्दा का भी महत्त्व कम हो चला था। मुसलमानी आक्रमण की बर्बरता ने तो इसे पूर्णत तहस-नहस कर दिया। खुदाई के अवशेषो से पता चलता है कि नालन्दा के विध्वस मे अग्निदेव के प्रकोप का भी भयकर हाथ था। धीरे-धीरे राजाओ के आश्रय से रहित, बौद्ध भिक्षुओ द्वारा परित्यक्त, विदेशी आक्रमणकारियो द्वारा उध्वस्त—ऐसी नालन्दा नगरी के बिहार, चैत्य, स्तूप आदि सब केवल ऊचे-ऊचे टीले रह गये। सन् १८६२ मे जनरल कनिघम ने अपनी रिपोर्ट मे नालन्दा के महत्त्व की ओर भारत-सरकार का ध्यान आकृष्ट किया। किन्तु वैज्ञानिक ढग से खुदाई सन् १९१५ मे पुरातत्व-विभाग ने प्रारभ की और १६ टीलो की खुदाई की जा चुकी है। इन टीलो के भीतर विहार, चैत्य-स्तूप बिना छत के खडे दिखते है। भूमि की ऊपरी सतह के नीचे विशाल भवनो के समूचे खड होगे—इसकी कल्पना भी पहिले नही हो सकती थी। आज वहाँ विशाल छात्रावासो और प्रार्थना-गृहो के अलावा बडे-बडे ऑगन, चबूतरे, सीढियाँ, सडके, ढकी हुई नालियाँ—स्पष्ट दिखाई पडती है। खुदाई मे प्राप्त असख्य बर्तन, मूर्तियाँ, शिलालेख सिक्के आदि को वहाँ से हटाकर पास ही मे एक नये बने म्यूजियम (पदार्थ सग्रहालय) मे रक्खा गया है। नालदा के टीलो के भीतर विशाल भवनो और सुन्दर स्मृतियो को देखकर नेत्रो मे आँसू आ जाते है, किन्तु सयोग की बात है कि जहाँ एक ओर वैज्ञानिक ढग पर खुदाई द्वारा प्राचीन नालन्दा को प्रकाश मे लाया जा रहा है, वहाँ दूसरी ओर बिहार प्रदेश शासन ने २ वर्ष पूर्व नालन्दा मे एक पाली-सशोधन-विद्यापीठ की स्थापना की है, जहाँ पाली-वाङमय और बौद्ध-दर्शन का सम्यक् अध्ययन किया जायगा। उन्नति और अवनति—यही ससारचक्र का नियम है। समृद्धि और वैभव के दिन, नालन्दा ने तेरहवी शताब्दी तक देखे, फिर लगभग ७०० वर्ष तक भारत-भूमि की गोद मे छिपकर नालन्दा ने बुरे दिन बिताये और आज देश मे स्वराज्य-सूर्य के उदय होने पर—नालन्दा के फिर शुभ दिन प्रारभ हुए है।

[आकाशवाणी-वार्ता : ३ सितम्बर, १९५३]

३६· युद्ध का नीतिशास्त्र

'युद्ध का नीतिशास्त्र'—इस शीर्षक से ही स्पष्ट है कि युद्ध मे नैतिक नियमो का विधान है तथा उनके अनुसार युद्ध होना चाहिये। किन्तु प्रचलित जन-धारणा यह है कि Every thing is fair in war अर्थात् युद्ध मे जो कुछ भी किया जाय, समर्थनीय है। इस जनधारणा के अनुसार युद्ध और नीति-अनीति परस्पर विरोधी वस्तुएँ है। नैतिकता का सम्बन्ध जनकल्याण से है और युद्ध जनसहार का कारण है। अत. इस परस्पर विरोध को दूर करने के लिये युद्ध के कारणो की मीमासा करना उचित होगा।

मानव साधारणतया शान्तिप्रिय होता है। मासाहारी हिंस्र पशु भी भोजनतृप्ति के बाद अहिंसा नीति को अपनाने लगते है। आवश्यकतावश या परिस्थितियो के कारण ही मानव युद्ध की ओर प्रवृत्त होता है। घुमक्कड अवस्था से आगे बढ कर मानव जब कृषि-जीवी बना, तो शांति और सुख चैन से रहने की उसे अधिक आवश्यकता प्रतीत हुई होगी। क्योकि खेत, घर, पशु और अन्न का स्वामित्व प्राप्त कर उसे अधिक शान्तिप्रिय होना चाहिये। आज भी देखा जाता है कि धनी वर्ग अकिंचन वर्ग की अपेक्षा अधिक शाति और व्यवस्था चाहता है। यह स्वाभाविक भी है, क्योंकि जो अकिंचन है, उससे कोई क्या छीनेगा? छीनने का आकर्षण तो काचन को देखकर होता है।

किन्तु वही शातिप्रिय कृषिजीवी समाज, जनसख्या मे वृद्धि होने पर, परिस्थितिवश, दूसरे की जमीन छीनना चाहता है और सघर्ष बढाता है। इस छीनने की मनोवृत्ति मे ही युद्ध का बीज निहित है। फिर, दूसरी बात यह भी है कि युद्ध कोई एकागी वस्तु नही है। युद्ध के भी आक्रामक और रक्षक—ये दो अग होते है। अत. यदि आक्रमण वृत्ति नही भी रही, तो भी स्वरक्षा के लिये युद्ध मे भाग लेना ही पडता है। अतः मानव-समाज मे विशिष्ट आवश्यकता के कारण और विशिष्ट परिस्थितियो मे युद्ध अनिवार्य बन जाता है।

एक बार युद्ध मानव के कार्यक्षेत्र का अग बना कि फिर अनेक समस्यायें उठ खडी होती हैं। चाहे आक्रमणमूलक युद्ध हो, चाहे रक्षामूलक हो—दोनो के सचालन मे सगठन और कार्य विभाजन की आवश्यकता होती है। साथ ही कुशल नेतृत्व भी होना चाहिये। इन आवश्यकताओ ने ही राज-सस्था और चतुर्वर्ण व्यवस्था को जन्म दिया। समाज के एक विशिष्ट वर्ग—क्षत्रिय वर्ण—के कन्धे पर समाज और देश की रक्षा का भार रक्खा गया। बाद में इस वर्ण-भेद को जन्मजात माना जाने लगा, क्योकि अधिक नैपुण्य और कम झझट की दृष्टि से जन्मजात वर्ण-परपरा अपेक्षाकृत अधिक उपादेय समझी गई।

इसमे सन्देह नही कि इस व्यवस्था से राष्ट्र की चतुर्मुखी उन्नति हुई। समाज के अन्य अगो को निश्चित रूप से अपना समाजोपयोगी कार्य करने का अबाध अवसर मिला। क्योकि वे युद्ध-वृत्ति से अछूते बने रहे। फलत विद्या, कला और विज्ञान की अप्रतिहत रूप से वृद्धि हुई। समाज, युद्ध की भीषण विभीषिकाओ से छुटकारा पाकर जनकल्याण की ओर अधिक ध्यान दे सका। किन्तु इसके बदले मे क्षत्रिय जाति को सम्मान का ऊचा पद दिया गया। प्राणो के बलिदान का यह मूल्य उचित ही था। इसीलिये क्षत्रियो के शौर्यगुण की प्रशसा शास्त्रो मे पदे-पदे मिलती है। वेदो की यही सर्वोच्च पुकार है कि 'वीरो का अधिकाधिक मात्रा मे जन्म हो, ताकि राष्ट्र की सर्वागीण रक्षा हो सके'। उच्च सम्मान को पाकर क्षत्रियवर्ग ने युद्धभूमि मे मरना—अपना परम कर्त्तव्य समझा। महाभारत मे तो यहाँ तक कहा है कि 'न गृहे मरण तात क्षत्रियाणा प्रशस्यते'—अर्थात् घर मे खाट पर पडे-पडे मरना, क्षत्रिय के लिये कलक है। युद्धभूमि मे मरने वालो के लिये स्वर्ग का खुला द्वार और अप्सराओ द्वारा स्वागत—एक आकर्षक प्रलोभन था। इन प्रोत्साहनो से क्षत्रियवर्ग की मनोवृत्ति मे घोर परिवर्तन हुआ। उसे अब बिना युद्ध किये चैन नही था। इसलिये पशुग्रहण, कन्याहरण या और कुछ न सही तो केवल शौर्य-प्रदर्शन के लिये युद्ध करना फैशन बन गया। भास के एक नाटक मे युद्ध को क्षत्रियो के लिये एक आदर्श यज्ञ कहा गया है। आधुनिक काल मे जैसे साम्राज्य विस्तार-लोलुप तानाशाह और शस्त्रास्त्रो के निर्माता व्यापारी युद्ध के लिये तरसते है, उसी प्रकार रणोत्सुक क्षत्रिय भी युद्ध के लिये लालायित रहते थे। इस कारण क्षत्रिय समाज मे युद्ध-शास्त्र और शस्त्रविद्या का अधिकाधिक प्रचार हुआ।

दूसरी ओर इस प्रवर्धमान युद्धवृत्ति के दुरुपयोग से समाज की रक्षा के लिये राष्ट्र के हितकारको ने युद्ध के नीतिशास्त्र की ओर ध्यान दिया और Warrior's Code (वीराचार) का निर्माण हुआ। पुराण, इतिहास, धर्मशास्त्रो मे क्षत्रियवर्ग के कर्तव्य का निर्देश करते समय उसे नैतिक, मानवीय और लोक-कल्याणात्मक नियमो और बन्धनो से नियमित और समर्याद बनाने का प्रयत्न किया गया। भारतीय युद्धशास्त्र मे शूरता और नीति—दोनो को प्राधान्य दिया गया। नीतिरहित युद्ध को पाशववृत्ति घोषित किया गया। कालिदास ने कहा है कि केवल नीति का पालन कायरता है, और केवल वीरता, पाशविकता है "कातर्यं केवला नीति शौर्यं श्वापदचेष्टितम्'। प्राचीन भारत मे युद्ध के दो प्रकार माने जाते है—धर्मयुद्ध और कूट-युद्ध। धर्मयुद्ध मे छात्रधर्म का उदात्त रूप दृष्टिगोचर होता है। अधर्म से प्राप्त विजय को क्षणिक और नारकीय विजय कहा गया है 'अधर्मयुक्तो विजयो ह्यध्रुवोऽ स्वर्ग्य एव च'। धर्मयुद्ध मे युद्ध घोषित करने के पूर्व राजदूत भेजकर पूर्व सूचना देना आवश्यक माना था। भारत मे यह सदैव परपरा रही है कि राजदूत अवध्य है: "नतुहन्यान्नृपो जातु दूत कस्याचिदापदि।" यहाँ यह भी जानना आवश्यक है कि युद्ध-नीति के अनुसार साम, दाम और भेद (Negotiation Persuation & Coveitiation) के विफल होने पर ही दण्ड अर्थात् युद्ध का आश्रय लिया जाता था। युद्धनीति के छ: प्रमुख अगो मे (षाड्गुण्य मे) सन्धि को प्रथम स्थान दिया है। कौटिल्य ने स्पष्ट कहा है कि अपने से प्रबल शत्रु से ही नही, बल्कि तुल्यबल शत्रु से भी सन्धि रखनी चाहिये।

क्योकि युद्ध का परिणाम अनिश्चित है और युद्ध का सकट जहाँ तक सम्भव हो, टालना चाहिये। स्थायी सन्धि न हो तो 'चल सन्धि' ही कर लेनी चाहिये। युद्ध के लिये युद्ध नही, बल्कि एक विशिष्ट ध्येय की प्राप्ति के लिये युद्ध को मान्यता प्राप्त थी और वह भी सबसे अन्तिम और अनिवार्य एकमात्र साधन के रूप मे। इसी कर्तव्य भावना के कारण युद्ध के पूर्व व्रत, उपवास आदि धार्मिक विधि की योजना थी, ताकि युद्ध के ववंरतापूर्ण फलों का उत्तरदायित्व न रहे। युद्ध करते समय इन नियमो का पालन करना आवश्यक था। कवचधारी और शस्त्रयुक्त योद्धा, कवचरहित और नि शस्त्र से न लडे। एक से एक लडे, अनेक नही। गिरे हुये योद्धा से लडना तुरन्त बन्द कर दे। पैदल, घुडसवार, रथी और हाथी-सवार अपने-अपने वर्ग से ही लडे। दूसरे वर्ग से लडना अनिवार्य हो तो १ हाथी-सवार, ५ घुडसवार और १५ पैदल के बराबर माना जाता था। स्वय राजा राजा से ही लडे 'राज्ञा राजैव योद्धव्य तथा धर्मो विधीयते।' मेल कराने के लिये आये मध्यस्थ पर कभी प्रहार न किया जाय। इसी प्रकार असैनिक नागरिको को, दर्शको को तथा सेना के कर्मचारी भृत्यो को कभी चोट न पहुचाये, भगोडो को भाग जाने दे। शरणागत को वन्दी बना ले। युद्धबन्दियो की रक्षा का विशेष प्रबन्ध था। युद्ध समाप्त होने पर उन्हे उनकी इच्छा के अनुसार दास बना ले या मुक्त कर दे। विजयी राजा का यह आद्य कर्तव्य था कि शत्रु राज्य के उद्यान, मन्दिर या अन्य सार्वजनिक स्थानो की क्षति न होने दे। प्राचीन काल मे युद्ध के समय भी राष्ट्र का सामाजिक और व्यापारिक जीवन निर्वाध चलता था। ग्रीक इतिहास-लेखक मैगस्थनीज ने लिखा है कि जबकि अन्य देशो मे युद्ध के समय जनता को अपार कष्ट होता था, भारतवर्ष मे स्थिति दूसरी ही थी। यहाँ चाहे निकट मे ही क्यो न युद्ध हो रहा हो, साधारण जनता अपने-अपने काम मे लगी रहती थी। क्योकि सैनिक दल गाँव, खेत और वृक्षो को हानि नही होने देते थे। युद्धभूमि मे घायलो की सेवाशुश्रूषा के लिये चिकित्सको का दल उपयोगी उपकरणो के साथ तैयार रहता था। लडाई दिन में ही होती थी। रात्रि मे योद्धा विश्राम करते थे। महाभारत-काल मे कौरव-पाडव दल के लोग रात्रि के समय विरोधी दल मे नि शक आते-जाते थे। ग्रीक सेनापति एलैक्जैण्डर के सैन्य-शिविर मे रात्रि के समय नाटको का अभिनय हुआ करता था और भारतीय जनता भी उसे देखने नि शक जाती थी। मृत सैनिको के कुटुम्बियो के लिए विजयी राजा को उचित प्रबन्ध करना पडता था। साधारणतया विजयी राजा पराजित राजा को पुन. उसकी गद्दी लौटा देते थे। साथ ही उस राज्य की प्रचलित शासन-पद्धति और प्रबन्ध मे हस्तक्षेप नही करते थे। गुप्तवशी समुद्रगुप्त ने पराजित राजाओ को अपना आधिपत्य मान लेने पर या वार्षिक कर देने की प्रतिज्ञा करने पर पुन प्रतिष्ठापित किया था। महाभारत मे कहा है कि पराजित राज्य की प्रजा को सर्वथा सुखी रखना चाहिये। विजयी राजा का स्थावर सम्पत्ति पर ही अधिकार था। वैदिक-युग मे दिवोदास और प्रतर्दन की निन्दा की गई है कि वे पराजित राज्य की चल सम्पत्ति उठा ले गये थे। इस तरह के अनेक नियमो का शास्त्रो मे विधान है। प्राचीन युद्ध काल में वैयक्तिक शूरता का प्रमुख स्थान था। इसीसे रणभूमि से पलायन की बडी निर्भर्त्सना की गई है। रणभूमि मे मारने की अपेक्षा शत्रु को जीते पकड लाना प्रशस्य माना गया है। चीनी यात्री ह्वेनत्सांग ने लिखा है कि बन्दी किये गये

सेनापति को शारीरिक दण्ड न देकर स्त्रीवेष पहिनाते थे। अत.आश्चर्य नही कि पराजित बन्दी सेनापति इस अपमान की अपेक्षा आत्महत्या को अच्छा समझे।

युद्ध का दूसरा प्रकार कूटयुद्ध था। इसमे धर्मयुद्ध के नियमो की अवहेलना की जाती थी। गुप्तरूप से अचानक हमला, विषबुझे शस्त्रो का प्रयोग, इन्द्रजाल, जादू-टोना, नगर-ग्राम विध्वस, जलाशयो को विषदूषित करना, शत्रु-शिविर मे आग लगाना, धोखा देकर मार डालना, घूस देकर और गुप्तचरो के द्वारा शत्रु दल मे विद्रोह खडा करना आदि सभी अनैतिक साधनो का प्रयोग कूटयुद्ध मे होता था। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र मे इसका विस्तार से वर्णन किया है। कुछ पाश्चात्य विद्वानो ने कौटिल्य-मत को मैशियावेली-मत से मिलाया है। किन्तु वास्तव मे कौटिल्य ने बडे कठोर शब्दो मे कूटयुद्ध के नृशस प्रयोगो की निन्दा की है और कूटयुद्ध को अधर्म और अमानवोचित कहा है। कौटिल्य के अनुसार कूटयुद्ध का प्रयोग कूटयुद्ध के विरुद्ध होना चाहिये। विशेषत प्रबल और दुर्दान्त आक्रमण के सामने दुर्बल राष्ट्र आत्मरक्षा के लिये कूटयुद्ध का सहारा ले। वाल्मीकि रामायण मे कूटयुद्ध को राक्षसी-युद्ध कहा है। इसीलिए भारतीय युद्धनीति मे धर्म विजय को आदर्श विजय माना है। धर्म विजय मे आसपास के छोटे-मोटे राज्यो पर आधिपत्य स्वीकार करा लेना ही उद्देश्य था। एक प्रकार से यह सास्कृतिक विजय थी। प्राचीन काल मे हिमाच्छादित पर्वत श्रेणी और तीन ओर समुद्र से घिरी भारत-भूमि की अखण्डता और एक राष्ट्र तथा एक सस्कृति की स्थापना कर सम्राट् या चक्रवर्ती का गौरवपूर्ण पद प्राप्त करना—एक महान् राष्ट्रीय कर्तव्य समझा जाता था। इसी से दिग्विजय के बाद राजसूय, अश्वमेध आदि यज्ञ का विधान कर इस 'एकच्छत्र' की भावना को धार्मिक रूप दिया गया था। सम्राट् अशोक का धर्मविजय Cultural Misson या Good will Mission की भाँति सास्कृतिक विस्तार का साधन मात्र था। इसी से इसे लोक-विजय न कहकर धर्मविजय कहा गया।

युद्ध-नियमो का न पालन करने वालो के लिये दण्ड का विधान शास्त्रो मे किया गया है। महाभारत मे कहा है कि जो युद्ध मे मर्यादा पालन न करे, उसका सामाजिक बहिष्कार किया जाय। घोर अनैतिक कार्य के लिए मृत्युदड की व्यवस्था थी। किन्तु यह नियम विधान तभी व्यवहार्य हो सकता था, जब शत्रु दल भी इस व्यवस्था को मानता हो। विरोधी पक्ष द्वारा यदि इन नियमो का पालन न किया गया, तो एकपक्षीय नियम पालन कभी-कभी महान् राष्ट्रीय सकट का कारण बन सकता है। मोहम्मद गोरी और पृथ्वीराज चौहान के दीर्घकालीन सघर्ष मे पृथ्वीराज द्वारा एकपक्षी नियम पालन का देश के इतिहास पर कैसा अनर्थावह प्रभाव पडा, यह कहने की आवश्यकता नही है। इसी से युद्धनीति का सागोपाग विवेचन करने के बाद कौटिल्य ने निष्कर्ष निकाला है कि कूटयुद्ध के विरुद्ध धर्मयुद्ध सर्वथा अव्यावहारिक है। राष्ट्र के कल्याण के लिए दैवी और आसुरी—दोनो व्यवस्थाओ का यथा समय उपयोग वाञ्छनीय है। साराश यह कि .

साधुवृत्तिर्भवेत् साधौ शठे शाठ्य समाचरेत् ॥

[आकाशवाणी-वार्ता : २३ अगस्त, १९५३]

३७. प्राचीन अभिलेखों का महत्व

प्राचीन भारत के इतिहास लेखन मे जिन सामग्रियो का उपयोग आवश्यक है, उनमे प्राचीन अभिलेखो का विशेष महत्व है। क्योंकि इतिहास के अन्य स्रोत—जैसे लोक कथाओ मे वाङमयीन साक्ष्य—बहुत कुछ कल्पना पर आधारित होते है और यह भी सम्भव है कि समय के साथ उनमे हेरफेर भी होगे। स्पष्ट है कि इन कम-ज्यादा कल्पनाश्रित और परिवर्तनशील सामग्रियो के आधार पर लिखित इतिहास को पूर्णत विश्वसनीय नही माना जा सकता। शिलाओ, स्तम्भो एव धातुनिर्मित ताम्रपत्रो पर खुदे हुए अभिलेख न केवल स्थायी होते है, बल्कि परिवर्तन सम्भव न होने के कारण इनका ऐतिहासिक प्रामाण्य अकाट्य होता है। एक दूसरा कारण यह भी है कि इन अभिलेखो का उद्देश्य बहुधा साक्षात् इतिहास लिखना नही होता। अत॰ इनका साक्ष्य नि स्वार्थ और निष्पक्ष रहता है।

सौभाग्य से हमारे देश मे प्राचीन अभिलेख प्रभूत सख्या मे मिलते है। लगभग ४० वर्ष पूर्व गणना करने पर यह ज्ञात हुआ था कि ईसा की पाँचवी शताब्दी के पूर्व के अभिलेख १५०० से अधिक और पाँचवी शताब्दी के बाद के अभिलेखो की सख्या २५०० से कही अधिक थी। उसके बाद तो अभिलेखो की प्राप्ति सख्या प्रतिवर्ष ऐसी बढ रही है कि वह कई गुना बढ गई होगी। साथ ही साथ ऐसे भी सैकडो अभिलेख है, जो अभी तक ठीक तरह नही पढे जा सके है। नवीन पाये गये अभिलेखो के अध्ययन से न केवल इतिहास पर नवीन प्रकाश पडता है, बल्कि विवादास्पद ऐतिहासिक गुत्थियो का समाधान भी होता है। वाङमयीन उल्लेखो के आधार पर तथागत बुद्ध के जन्मस्थान को निर्धारित करना कठिन हो रहा था। किन्तु एक दिन नेपाल की सीमा पर स्थित रुमन्दोई ग्राम मे पाये गये स्तम्भ पर खुदे हुए लेख से पता चला कि पास ही लुम्बिन वन मे तथागत बुद्ध का जन्म हुआ था।

भारतवर्ष मे अभिलेखो की परम्परा बडी पुरानी है। प्रागैतिहासिक युग के अभिलेखो की प्राप्ति की आशा करना दुराशा ही होगी। किन्तु हरप्पा-मोहनजोदडो मे सिन्धु-सभ्यता के जो अभिलेख ईंटो और मूर्तियो पर खुदे मिले है; यदि उनका इतिहास विशेषज्ञो के द्वारा अध्ययन सफल हो सका तो भारत की एक पुरानी ऐतिहासिक कडी का रूप स्पष्ट हो जायेगा। बौद्ध-काल से तो अनेक अभिलेख पाये जाते है। इन अभिलेखो मे उत्तर भारत से भोजपत्रो पर और दक्षिण भारत से ताडपत्रो पर लिखी पुरानी हस्तलिखित पुस्तको की भी गणना की जा सकती है। किन्तु इनका जीवन अधिक न होने के कारण इनका प्राचीन अभिलेखो मे अन्तर्भाव करना उचित न होगा। अतः हम यहाँ शिलाओ, पाषाण-स्तम्भो सिक्के, ताम्रपत्र इत्यादि धातुनिर्मित वस्तुओ पर खुदे अभिलेखो की ही चर्चा करेंगे।

इन अभिलेखो का उद्देश्य राज्यघोषणा, राज्य-प्रशस्ति, वश-वर्णन और सार्वजनिक दान आदि होता था। सबसे महत्त्वपूर्ण अभिलेख सम्राट् अशोक के वे शिलालेख और स्तम्भ-लेख है, जो देश के प्राय सभी भागो मे पाये गये है। ये उन प्रदेशो की भाषा ओर उन्ही लिपियो मे खुदाये गये थे। इनमे धार्मिक विजय का महत्व, विश्व-बन्धुत्व, सहिष्णुता, बौद्धधर्म के प्रचार के उपाय, अहिंसा-पालन आदि पर जोर दिया गया है। उच्च विचार तथा प्रचार शैली की दृष्टि से इन अभिलेखो का विश्व के इतिहास मे एक महत्वपूर्ण स्थान है। अशोक की १५ धर्म-प्रशस्तियाँ विभिन्न स्थानो मे पाई जाती है। सौराष्ट्र मे गिरिनार के शिलाखण्ड का अपूर्व ऐतिहासिक महत्व है। यह शिलाखण्ड दो पहाडियो के जोड पर स्थित है। इसके स्थानीय महत्व के कारण अशोक के बाद महाक्षत्रप रुद्रदामन और गुप्त-सम्राट् स्कन्दगुप्त ने भी इस शिलाखण्ड को अपने अभिलेख के लिए चुना था। महाक्षत्रप रुद्रदामन—जिसके पितामह चष्टन विदेश थे और जिन्होने भारत मे बस कर हिन्दू-धर्म स्वीकार किया था तथा जिसका समय ईसवीय दूसरी शताब्दी है—ने अपने अभिलेख मे उस बाँध का वर्णन किया था, जिसे चन्द्रगुप्त मौर्य ने दो पहाडियो को जोडकर जलाशय निर्माण के लिये बनाया था और सम्राट् अशोक ने उससे नहरे निकालकर उसका उपयोग सिंचाई के लिये किया था। बाद मे इसी शिलाखण्ड पर पाँचवी शताब्दी मे स्कन्दगुप्त ने अपना कवित्त्वपूर्ण सुन्दर अभिलेख खुदाया था। सम्राट अशोक, सम्राट रुद्रदामन और सम्राट स्कन्दगुप्त के अभिलेखो के कारण उन शिलाखण्डो का विशेष महत्व है।

स्तम्भ लेखो मे इलाहाबाद का स्तम्भ लेख भी उल्लेखनीय है। इसमे सम्राट अशोक की प्रशस्तियो के अलावा ईसवीय ५ शताब्दी के सम्राट समुद्रगुप्त का सस्कृत में गद्यपद्यमय अभिलेख खुदा हुआ है। दिल्ली के निकट कुतुबमीनार के अहाते मे स्थित वे लौहस्तम्भ भी उल्लेखनीय है, जिसे मेहरौली ग्राम मे पाये जाने के कारण मेहरौली-लौह-स्तम्भ भी कहा जाता है। इस पर चन्द्रगुप्त की धवल कीर्ति का सुन्दर सस्कृत मे मनोहर वर्णन है। इसे देख कर आज भी लोग आश्चर्य करते है कि इतना विशाल लौह-स्तम्भ कैसे ढाला गया होगा और इस पर जग क्यो नही लगता। मालवा मे मन्दसोर का स्तम्भ लेखन भी महत्व का है। जिसमे गुप्तवशी यशोधर्मन विक्रमादित्य द्वारा विदेशी आक्रमणकारी मिहिरकुल को पराजित करने की विषद गाथा ललित सस्कृत श्लोको मे गाई गई है।

बौद्ध-स्तूपो के तोरण द्वार पर तथा स्तूप के भीतर रखे गये अवशेष-पात्र पर महत्वपूर्ण अभिलेख पाये जाते है। पूर्वी उत्तर प्रदेश मे पिपरावाँ गाँव मे पाये गये बौद्ध-स्तूप के अवशेष-पात्र पर एक ऐतिहासिक उल्लेख खुदा हुआ मिला है; जिससे तथागत बुद्ध का कपिलवस्तु निवासी होने का पूर्णत प्रमाण मिलता है। मध्यप्रदेश मे साँची स्तूप के भीतर पाई गई अवशेष मजूषाओ मे तथागत बुद्ध के दो प्रमुख शिष्य सारिपुत्त और मोग्गलान के नाम खुदे है। उडीसा, नासिक और कुर्ला आदि के गुफा मन्दिरो मे पाये गये अभिलेखो मे ऐतिहासिक महत्व की सामग्री मिलती है। जैसे भुवनेश्वर के निकट उदयगिरी की गुफाओ मे—जिसे हाथीगुफा कहा जाता है—कलिङ्गराज खारवेल ने अपनी राज्यकला का विस्तृत बर्णन किया है। इलाहाबाद के पाषाण-स्तम्भ पर गुप्त-सम्राट् समुद्रगुप्त की दिग्विजय का प्रभावशाली वर्णन मिलता है।

कुछ प्राचीन अभिलेखों का विषय साहित्य सरक्षण भी है। अजमेर और धार मे दीवारो पर सस्कृत नाटक अशत खुदे हुए है। ओकार मान्धाता के निकट महेश्वर मन्दिर मे तथा दक्षिण भारत के अनेक मदिरो मे सस्कृत की ओजपूर्ण शैली मे लिखे पूरे के पूरे धार्मिक स्तोत्र पाये जाते है। इसी प्रकार विभिन्न स्थानो मे पाये गये स्तम्भो, दीवारो या चबूतरो पर समाधि-प्राप्त महात्माओ, हुतात्मा वीरो और सती वीरागनाओ के स्मृतिचिह्न अकित मिलते है।

ताम्रपत्रो मे पाये गये अभिलेखो मे प्राय राजाओ के दान का उल्लेख मिलता है। इनमे तत्कालीन राजाओ का वशवर्णन, दान का निमित्त, पाने वाले का परिचय और सम्पत्ति का पूर्णत विवरण मिलता है। साथ ही दाता के उत्तराधिकारियो को दिये गये दान की मान्यता का आदेश, नहीं तो भयकर विपत्ति की धमकी भी दी जाती है। प्रसगवश ताम्रपत्रो मे पाये गये उल्लेख मे ऐतिहासिक एव भौगोलिक महत्त्व की सामग्री रहती हे। जिसका प्राचीन भारत के इतिहास लेखन मे बहुमूल्य उपयोग किया गया है। ये अभिलेख न केवल भारतवर्ष मे, बल्कि देश के बाहर पश्चिम मे अफगानिस्तान दक्षिण मे श्रीलका, पूर्व मे वर्मा, इडोनेशिया, जावा, सुमात्रा, बाली तक विस्तीर्ण वृहत्तर भारत मे भी पाये जाते हैं। इनकी भाषा शुद्ध या मिश्रित रूप मे सस्कृत, प्राकृत, पाली-अपभ्रश आदि रहती है।

प्राचीन लिपियो के ज्ञान के लिये इन लेखो का विशेष महत्व है। भारत की लिपियो का जो प्राचीनतम रूप हमे मिलता है, वह ब्राह्मीलिपि है, जिससे भारत की प्राय सभी वर्तमान लिपियाँ निकली हे और जिसमे अशोक के अभिलेख पाये जाते है। पश्चिमोत्तर भारत मे पाये जाने वाले अशोक के अभिलेख खरोष्ठी लिपि मे हैं। खरोष्ठी लिपि मे दीर्घ स्वर और संयुक्त व्यजन के स्वर नही हैं तथा यह लिपि दाई से बाई ओर लिखी जाती थी। अत इसका बहुत कुछ फारसी लिपि से साम्य है। ब्राह्मी लिपि के क्रमिक परिवर्तित रूपो के नाम शारदा-लिपि, कुटिललिपि, गुप्तलिपि नागरिक लिपि आदि है। जिनमे उत्तरकालीन अभिलेख पाये जाते है। इन प्राचीन लिपियो का पढना मुस्लिम शासन के समय पढना सरल नही था। अकबर द्वारा पूछे जाने पर अशोक के अभिलेखो का सार निकालना तत्कालीन पडितो के लिए दुष्कर हो गया था। अग्रेजी शासन के प्रारम्भ मे जब इन लिपियो को पढने का विधिवत् प्रयत्न किया गया, तो ब्राह्मी तथा यूनानी दो लिपियो वाले सिक्के से अमूल्य सहायता मिली थी। जेम्स-प्रिंस ने इन सिक्को का सूक्ष्म अध्ययन कर ब्राह्मी-लिपि के ज्ञान का उद्धार किया और इतिहास सशोधको का मार्ग सरल कर दिया। कई अभिलेखो मे ब्राह्मी, यूनानी और खरोष्ठी इन तीनो लिपियो का प्रयोग किया गया था। फलस्वरूप ब्राह्मी लिपि के प्राचीन अभिलेखो का पढना सरल हो गया और भारतीय इतिहास के बुद्धोत्तरकालीन कालक्रम का पृष्ठ स्पष्ट दिखने लगा। अत यह सिद्ध है कि अतीत भारत का महत्व जानने के लिए देश के प्राचीन अभिलेखों और लिपियो का अध्ययन परम उपयोगी है।

[आकाशवाणी-वार्ता : ६ दिसम्बर, १९६०]

३८. विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता

सम्राट् विक्रमादित्य प्राचीन भारत के इतिहास मे देदीप्यमान सूर्य है। भारतीय कथा-वाङमय और साहित्यिक जनश्रुति के अनुसार वे सस्कृत-विद्या तथा भारतीय-कला और सस्कृति के आश्रयदाता थे। उनकी राजसभा के नवरत्नो मे वराहमिहिर[1] और कालिदास का अपने क्षेत्र मे विशिष्ट स्थान है। विदेशीय शको को परास्त कर उन्होने देश की स्वतत्रता की रक्षा की। इस महत्त्वपूर्ण विजय की स्मृति को चिरस्थायी बनाने के लिये उन्होने एक नया सवत् प्रवर्तित किया, जिसका २०२९ वॉ वर्ष आजकल चल रहा है। सिहासनद्वात्रिशतिका की कथा के अनुसार वे परम बुद्धिमान और आदर्श शासक थे। 'वेताल पञ्चविंशतिका' की कहानियो से उनकी वैयक्तिक वीरता और असीम धैर्य का परिचय मिलता है। कल्हण की 'राजतरगिणी' मे भी विक्रमादित्य द्वारा शको के पराजय का उल्लेख किया गया है। 'गाथा सतसई' मे उनकी दानशीलता का वर्णन है। इसका निर्देश सुबन्धु की 'वासवदत्ता' मे भी करुणापूर्ण शब्दो मे किया गया है। जैनियो की 'कालकाचार्य कथा' मे उनके द्वारा शको के पराजय और नया सवत् चलाने का स्पष्ट शब्दो मे नि सन्दिग्ध उल्लेख है। धनेश्वर सूरि कृत 'शत्रुजयमाहात्म्य' मे स्पष्ट लिखा है कि वीर महावीर के निर्वाण के ४७० वर्ष बाद विक्रमादित्य नामक प्रतापी राजा हुआ। यह हमारा दुर्भाग्य है कि अशोक और समुद्रगुप्त के समान शकारि विक्रमादित्य का कोई शिलालेख या अन्य भौतिक स्मारक उपलब्ध नही है। आधुनिक ऐतिहासिक विद्वान् अनुश्रुतियो और आख्यानो को निरपेक्षरूप से विश्वसनीय नही मानते। यही कारण है कि विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता का प्रश्न आज भी सन्देहातीत नही है।

सम्राट् विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता के प्रश्न पर आधुनिक विद्वानो के विभिन्न मतो का इतिहास काफी मनोरजक है। इतिहास-अन्वेषको ने सम्राट् विक्रमादित्य के सम्बन्ध मे जो मत प्रकट किये है, उनका क्रमबद्ध वर्णन करने से इतिहासशास्त्र की प्रगतिशीलता तो प्रकट होती ही है, साथ ही विक्रमादित्य के अस्तित्व के सम्बन्ध मे सन्देह की मात्रा भी दिनोदिन कम होती जा रही है। सशोधन-युग के प्रारम्भकाल मे मैक्समूलर ने गुप्तकाल मे "सस्कृत विद्या का पुनरुज्जीवन" के मत को सिद्ध करने के लिये भारतीय इतिहास मे एक 'अन्धकार

---

१. वराहमिहिर का समय निश्चित रूप से ई० स० की छठी शताब्दी है, अतः वे ईसवी पूर्व ५७ वाले विक्रमादित्य की राजसभा में कदापि नहीं हो सकते—सं०।

युग' की कल्पना निकाली थी। उनका कहना था कि मौर्योत्तर काल मे 'शक' आदि विदेशी जातियो के आक्रमण से देश की राजनैतिक, सामाजिक और सास्कृतिक स्थिति अस्त-व्यस्त हो गई थी, सस्कृत-विद्या का प्रचार लुप्त हो रहा था और साथ ही हिन्दू-कला और सस्कृति को भी धक्का पहुँचा। किन्तु पञ्चम शताब्दी से गुप्तवशी राजाओ के प्रभाव से सस्कृत विद्या का पुनरुज्जीवन और हिन्दू-सस्कृति को प्राणप्रतिष्ठा मिली। ईसा के पूर्व प्रथम शताब्दी मे, जो अन्धकार युग के अन्तर्गत है, विद्या, कला और सस्कृति के पोषक शकारि सम्राट् विक्रमादित्य के प्रादुर्भाव की कल्पना भी असम्भव है, इसी से विक्रमादित्य और विक्रम सवत् की ऐतिहासिक सत्ता पर सन्देह करते हुए मैक्समूलर ने 'मूले कुठारघात' किया और विक्रमादित्य सम्बन्धी भारतीय जनश्रुति को कपोल-कल्पित माना। इस स्थिति मे विक्रम सवत् के उद्भव की उपपत्ति लगाने के लिये फर्ग्यूसन साहब ने एक अजीब युक्ति सामने रखी। उनका कहना था कि ५४४ ई० मे मालवा के एक राजा ने विदेशियो को परास्त कर एक नया सवत् चलाया। सवत् का महत्त्व बढाने के लिए उसका आरम्भ १, २, ३ से न कर ६०१, ६०२, ६०३ से किया। विक्रमादित्य उस राजा की पदवी थी, अत इस नये सवत् का नाम विक्रम सवत् हुआ। किन्तु इस मत की समस्त शृखलाए नि सार है। पहली बात तो यह है कि छठी शताब्दी मे विक्रमादित्य नामधारी राजा ही न था, उस समय 'हूण' हराये गये थे, 'शक' नही। दूसरी बात यह है कि हूणो से यह प्रसिद्ध युद्ध ५२८ मे हुआ था, ५४४ मे नही। अत सवत् के आरम्भवर्ष का मेल ठीक नही बैठता। नये सवत् के प्रारम्भ को प्रथम वर्ष न कहकर ६०१ वर्ष कहने का एकमात्र कारण प्रचलित विक्रम सवत् से उनके तथाकथित सवत् की एकता सिद्ध करने की 'फर्ग्यूसन' की मनीषा ही है। सशोधन के इतिहास मे ऐसी ऊलूल-जुलूल कल्पना शायद ही कही देखने मे आये। तीसरी शताब्दी के बाद इस सवत् का अनेकश उल्लेख स्पष्ट सिद्ध करता है कि वह ५४४ से प्राचीन काल का है। सच बात तो यह है कि गुप्त-पूर्वकाल मे अन्धकार युग की कल्पना ही नि सार है। मैक्समूलर के समय मे उपलब्ध सामग्री के आधार पर यह युग अन्धकारपूर्ण प्रतीत हुआ हो, किन्तु अब तो नवीन सामग्री के प्रकाश मे आ जाने से इस मत का खण्डन आसानी से किया जा सकता है। पतजलि, भास, अश्वघोष, शूद्रक, आर्यशूर आदि बौद्ध और हिन्दू ग्रन्थकारो की उज्ज्वल कृतियो के युग को 'अन्धकार-युग' कहना अपने को अन्धा मानना है। उस युग के अनेक शिलालेख भी (जैसे रुद्रदामन् का गिरिनार वाला[१] १५० ई० सन् का लेख) तत्कालीन सस्कृत की साहित्यिक प्रगति की सूचना देते है। पाश्चात्य विद्वानो ने विदेशीय आक्रमणो को आवश्यकता से अधिक महत्त्व दिया है। वस्तुस्थिति यह है कि गुप्त-पूर्व काल मे जितने भी आक्रमण हुए, वे सब क्षणस्थायी थे। मथुरा से पूर्व मे उनका प्रभाव नगण्य था। मथुरा तक भी जो विदेशी जातियाँ आईं, वे शीघ्र ही भारतीय-सस्कृति से प्रभावित हुई। उन्होने भारतीय-भाषा और धर्म को स्वीकार कर सस्कृत विद्या की भी वृद्धि मे सहयोग दिया। तत्कालीन शिलालेख और

---

[१] अथवा मथुरा के मोरा ग्राम से प्राप्त महाक्षत्रप राजुवुल (ई० पू० ५०) का लेख जो भुजंगविजृम्भित छन्द में है—सं०।

भारतीय शिल्प-कला के उत्तम नमूने इसके साक्षी है। अत अन्धकार-युग की कल्पना पर ६०० वर्ष अनन्तर विक्रम सवत् के प्रवर्तन का मत सर्वथा निर्मूल है।

मैक्समूलर और फर्ग्यूसन के मत के निर्मूल सिद्ध हो जाने के बाद कीलहार्न ने विक्रम सवत के सम्बन्ध मे एक नये मत का प्रचार किया। उसके अनुसार विक्रम सवत् को विक्रमादित्य ने नही चलाया। विक्रमादित्य का नाम इस सवत् से बाद मे धीरे-धीरे जोड दिया गया। वर्षा ऋतु बीतने पर कार्तिक मास मे राजा लोग युद्ध के लिए प्रस्थान करते थे, अत इस समय को 'विक्रम-काल' कहते थे। चूकि इस सवत् का वर्ष कार्तिक मास मे दीपावली के बाद प्रारम्भ होता है। अत यह सवत् 'विक्रम-सवत्' कहा जाने लगा। बाद मे इस अर्थ को भूलकर लोगो ने 'विक्रम सवत्' का अर्थ विक्रमादित्य का सवत् समझा। कहना नही होगा कि यह मत भी क्लिष्टकल्पना से दूषित है। कोई सवत् विश्व के इतिहास मे ऋतुकाल के नाम से नही है। यह मत भारतीय जनश्रुति के अनुसार विक्रमादित्य की ऐतिहासिक सत्ता न मानने की जिद का फल है। इस मत की अविश्वसनीयता के कारण ही उत्तरकालीन विद्वानो ने इस सवत् की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे भिन्न-भिन्न मत रखे। एक मत के अनुसार यह सवत् पहले 'मालव सवत्' कहा जाता था। गुप्तवशीय द्वितीय चन्द्रगुप्त 'विक्रमादित्य' के काल मे इस सवत् का नाम उस राजा से जोड दिया गया और मालव सवत् 'विक्रम सवत्' बन गया। फ्लीट ने सम्राट् कनिष्क का सम्बन्ध इस सवत् के प्रवर्तक से लगाया, किन्तु 'कनिष्क सवत्' का प्रारम्भ काल ई० स० का ७८वाँ वर्ष है और 'विक्रम सवत्' का प्रारम्भ ५६ वर्ष ईसा से पूर्व है। अत यह मत भी मान्य नही हुआ। सर जॉन मार्शल का मत है कि यह सवत् ईसा से पूर्व ५६ मे पजाब के शासक—(प्रथम ऐजेस Ages I) द्वारा चलाया गया। किन्तु तक्षशिला के शिलालेख (जो इस मत का मुख्य आधार है) का पाठ सन्देहातीत न होने से यह मत भी सर्वमान्य नही हुआ। श्री आलतेकर के अनुसार इस सवत् की स्थापना मालवगण के अध्यक्ष 'कृत' के द्वारा (जिन्होने शको को मध्य भारत से निकाला था) प्रचलित की गई थी।

सारांश यह कि ईसवी सन् से पूर्व की प्रथम शताब्दी मे विक्रमादित्य की सत्ता न मानने के कारण ही इन भिन्न-भिन्न मतो का प्रतिपादन किया गया है। कथा-वाङमय और साहित्यिक जनश्रुति मे निहित सत्य की उपेक्षा करने से ही सवत्-प्रवर्तक के नाम के लिये ऐतिहासिको को यहाँ-वहाँ भटकना पडा है। हमारे इतिहास-तत्वान्वेषियो का यह फैशन-सा हो गया है कि शिलालेख जैसी ठोस सामग्री का साक्ष्य जब तक न मिले, तब तक वे पूर्णत किसी मत पर विश्वास नही करते। आधुनिक युग की इस भौतिक प्रमाणापेक्षता के दुराग्रह का ख्याल सम्राट् विक्रमादित्य को न था, नही तो वे अपनी विजय के स्मारक मे सास्कृतिक चिह्न (सवत्) न चला कर पाषाण का विजय-स्तम्भ ही खडा कर देते। उन्होने तो यह समझा होगा कि पाषाण-स्तम्भ जैसे भौतिक स्मारक की अपेक्षा सवत्-प्रवर्तन का सास्कृतिक स्मारक अधिक महत्त्वपूर्ण है। विचारणीय यह है कि प्राचीन कथा-वाङमय और साहित्यिक जनश्रुति क्या सर्वथा अविश्वसनीय है। आज से हजारो वर्ष पूर्व प्रचलित जनश्रुति को अविश्वसनीय मानने के लिये अकाट्य प्रमाण चाहिये, केवल सशयालु प्रवृत्ति ही पर्याप्त नही है। 'गाथा सप्तशती' के टीका-

कार गदाधर, जिन्होने विक्रम कथा का उल्लेख किया है, उत्तर कालीन भले ही हो, किन्तु मूल ग्रन्थ तो सर्वसम्मति से पर्याप्त प्राचीन है और उसमे दानशील विक्रमादित्य की उदारता का निर्देश है। 'वैतालपचीसी' की कथाये एकादश शताब्दी मे रचे गये 'कथासरित्सागर' और 'बृहत्कथामजरी' मे ली गई है, किन्तु यह भी तो सर्वसम्मत है कि 'कथासरित्सागर' और 'बृहत्कथामजरी' प्राचीन ग्रन्थराज 'बृहत्कथा' के सक्षिप्त सस्करण है और 'बृहत्कथा' प्रथम शताब्दी मे लिखी गई थी। 'ज्योतिर्विदाभरण' को (जिसके सब श्लोक मे विक्रमादित्य के नवरत्नो के नाम दिये गये है) १६वी शताब्दी का ग्रन्थ मानकर उसकी आज तक अवहेलना की जाती थी और नवरत्नो की जनश्रुति कपोलकल्पित मानी गई, किन्तु हाल ही मे श्री० एस० के० दीक्षित ने (इडियन कल्चर ६ भाग, १९३९-४०) यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि यह ग्रन्थ ५वी शताब्दी का है और ये नवरत्न चन्द्रगुप्त द्वितीय के दरबार मे थे। इस प्रकार हम देखते है कि शनै-शनै सशोधको का मत परम्परा प्राप्त मत की ओर झुक रहा है। कालिदास के आश्रयदाता विक्रमादित्य थे, यह सभी मानते है। भेद केवल इतना ही है कि वह आश्रयदाता राजा का नाम 'विक्रमादित्य' था या विक्रमादित्य उसकी उपाधि थी। आभिज्ञान शाकुन्तल की बनारस वाली प्राचीन (१६४३ ई० स०) हस्तलिखित प्रति मे उपलब्ध उल्लेखो से स्पष्ट है कि कालिदास के आश्रयदाता 'विक्रमादित्य' की पदवी साहसाक थी। उनके नाम का अनुकरण कर गुप्तवशी अन्य प्रभावशाली राजाओ ने 'विक्रमादित्य' उपाधि धारण करने मे गर्व का अनुभव किया। सवत्-प्रवर्तक विक्रमादित्य (मालवा) गणो के मुख्य थे। प्रथम शताब्दी की अनेक मुद्राओ मे 'मालवाना जय' लिखा है, जिससे पता चलता है कि मालवा गण की (शको पर) विजयस्मृति मे ये सिक्के चलाये गये थे। ईसा से पूर्व प्रथम शताब्दी के इतिहास से पता चलता है कि उस काल मे शक लोग पश्चिम की ओर से भारत मे प्रवेश कर रहे थे। उनकी इस प्रगति को मालवो ने विक्रमादित्य के सरक्षण मे सफलता पूर्वक रोका और इस प्रकार विदेशी आक्रमण से भारत को बचाकर मालवगण के मुख्य विक्रमादित्य ने देश के स्वातंत्र्य की रक्षा की। उस महत्वपूर्ण घटना की स्मृति मे ही एक नया सवत् चलाया गया। मालवाधिपति विक्रमादित्य के नाम से इसका नाम 'विक्रम-सवत्' पडा। मालवदेश मे सर्वप्रथम प्रचलित होने के कारण यह 'मालव-सवत्' भी कहा जाता था। किन्तु ज्यो-ज्यो उत्तरकाल मे इस संवत् का अधिकाधिक प्रचार मालवेतर प्रान्तो मे हुआ, त्यों-त्यों इसका स्थानीय नाम 'मालव-सवत्' अप्रचलित होता गया। फलत इसका अन्वर्थ नाम 'विक्रम-सवत्' अधिक प्रचलित हुआ। संवत् प्रचलन के बाद की कुछ शताब्दियो के शिलालेखो मे 'विक्रम-सवत्' नाम न मिलने का यही कारण है। इसी अनुपलब्ध प्रमाण को आवश्यकता से अधिक महत्त्व देकर आधुनिक इतिहास शास्त्री विक्रमादित्य को काल्पनिक मानते है। प्राचीन कथा-वाङ्मय और साहित्यिक जनश्रुति जिस विषय मे एक मत हो और जिसके समर्थन मे नई-नई सामग्री मिलती जा रही हो तथा विरोध मे कोई भी मत स्थायी रूप से नही टिक रहा हो, उसके सम्बन्ध मे अनावश्यक सन्देह करना वाञ्छनीय नही है।

[विक्रमोत्सव ग्रन्थ, आगरा, में प्रकाशित]

३९. मध्यप्रदेश का संस्कृत-वाङ्मय

भारतवर्ष के मध्य भाग मे स्थित होने के कारण मध्यप्रदेश को प्राचीन काल से ही विशेष महत्व प्राप्त है। उत्तर मे चेदि, दक्षिण मे दण्डकारण्य, पूर्व मे दक्षिण कोशल तथा पश्चिम मे विदर्भ—इन चार विख्यात प्रदेशो से निर्मित तथा पश्चिमवाहिनी नर्मदा, ताप्ती और पयोष्णी एव पूर्ववाहिनी महानदी और गोदावरी—इन पुण्यतोया नदियो के परिसर मे फैला हुआ हमारा मध्यप्रदेश प्राचीनकाल से ही सस्कृत-साहित्यिको का क्रीडास्थल रहा है। प्रागैतिहासिक युग, मे आर्य-धर्म के प्रथम प्रसार का अगस्त्य ऋषि ने मध्यप्रदेश मे जन्मी लोपामुद्रा को धर्म-पत्नी के रूप में सहायक पाकर न केवल कर्तव्य सिद्धि के लिये १२ वर्ष तक दाम्पत्य जीवन मे भी ब्रह्मचर्य व्रत की दीक्षा ली, अपितु एक-पुत्रोत्पादन व्रत का आदर्श भी समाज के सामने रखा है। अगस्त्य के नाम से ऋग्वेद मे अनेक सूक्त तथा अगस्त्य-गीता और अगस्त्य-सहिता आदि ग्रन्थ प्रसिद्ध है।

कालिदास के रघुवश मे अगस्त्य, सुतीक्ष्ण और शरभग नामक ऋषियो के आश्रमो का वर्णन आया है। ये आश्रम मध्यप्रदेश मे स्थित थे और इनमे आर्य-धर्म प्रसार के लिये प्रशिक्षण दिया जाता था। विदर्भकन्या इन्दुमती के स्वयवर-वर्णन मे कालिदास ने वहाँ के 'सुराज्य' और समृद्धि का विशेष रूप से उल्लेख किया है। उनके अमरग्रन्थ 'मेघदून' का स्फूर्तिस्थान रामगिरि (वर्तमान रामटेक) है। नगाधिराज हिमालय और उज्जयिनी के समान सम्भवत विदर्भ और रामगिरि ने कालिदास के हृदय को आकृष्ट किया था। कविकुल गुरु कालिदास कुछ काल के लिये वाकाटक-नृपति प्रवरसेन के दरबार मे आये थे तथा यहाँ रह कर उन्होने मेघदूत की रचना की। सस्कृत काव्य रचना की तीन विशिष्ट शैलियो—वैदर्भी, गौडी, पाञ्चाली मे वैदर्भी का प्रमुख स्थान है। कालिदास इसी वैदर्भी शैली के पुरस्कर्ता कवि थे। इस शैली का विकास इसी प्रदेश मे हुआ था, यह तो नाम से ही स्पष्ट है।

रसोत्पत्ति के सम्बन्ध मे चार निम्न वृत्तियो का अलकार-शास्त्रियो ने वर्गीकरण किया है, कैशिकी, सात्वती, भारती और आरभटी। इनमे कैशिकी सर्वश्रेष्ठ रसपद्धति मानी जाती है। इस कैशिकीवृत्ति का भी विकास विदर्भ मे ही हुआ था, क्योकि कैशिक और विदर्भ पर्याय-वाची शब्द है। काव्य शैली मे और वृत्ति के नाम मे भेद स्पष्ट करने के लिये वैदर्भी और कैशिकी ये दो भिन्न नाम दिये गये थे। इससे स्पष्ट है कि विदर्भ का सस्कृत काव्य शैली के इतिहास मे कितना महत्वपूर्ण स्थान है। यही कारण है कि ११वी शती के प्रसिद्ध नाटककार और समीक्षक राजशेखर ने विदर्भ को "सारस्वती जन्म भू" कहा है।

काव्य शैली और वृत्तियो के नामो मे ही नही, मस्कृत-साहित्य के अनेक काव्यनाटको की नायक-नायिकाओ के कारण भी विदर्भ की साहित्यिक ख्याति प्राचीनकाल मे दृष्टिगोचर होती है। मालविकाग्निमित्र की मालविका, रघुवश की इन्दुमती, नैषध चरित और नल-चम्पू की दमयन्ती, मालती माधव का माधव---इन सभी का विदर्भ की रम्यभूमि मे जन्म हुआ था। राजशेखर की नाटिका "विद्धशालभञ्जिका" की रचना त्रिपुरी (जबलपुर के निकट तेवर) के कलचुरिवशी केयूर वर्ष उपनाम युवराज देव के दरबार मे अभिनय करने के लिये की गयी थी। 'सेतुबध' तथा 'नाय कुमारचरित' जैसे सस्कृतेतर प्राकृतकाव्य के रचयिता प्रवरसेन और पुष्पदन्त भी यही जन्मे थे। त्रिपुरी के निकट गोलकीमठ के आचार्य सोमशम्भु एक प्रकाण्ड दार्शनिक और जननेता थे। उनके लोककल्याणकारी तथा शैक्षणिक कार्य का विस्तृत क्षेत्र यही था। इस गोलकीमठ को प्रभूत राजाश्रय प्राप्त था। इस मठ मे महाविद्यालय थे। जिनमे विविध शास्त्रो के विद्यार्थियो को नि शुल्क शिक्षा, भोजन और वस्त्र आदि दिये जाते थे। यहाँ विद्याध्ययन के लिए बगाल, केरल आदि दूर-दूर के प्रदेशो से विद्वान आते थे। चेदि मडल मडन की उपाधि से विभूषित सर्वश्रेष्ठ कवि के रूप मे मान्यता प्राप्त सदानन्द की १०वी शती मे अनन्यलब्ध कीर्ति थी। साराश यह कि सस्कृत-साहित्य की श्रीवृद्धि मे मध्यप्रदेश का योगदान, गुण और परिमाण—दोनो दृष्टियो से विशेष उल्लेखनीय है।

प्रस्तुत निबध का मुख्य विषय मध्यप्रदेश मे निर्मित सस्कृत-साहित्य की कृतियो का विहगावलोकन करना है। सर्वप्रथम प्राचीन ग्रन्थकारो का सक्षिप्त परिचय दिया जाता है। कालिदास के अमर खण्ड-काव्य मेघदूत का उल्लेख ऊपर आ चुका है। सर्वविदित नाटककार भवभूति का जन्म विदर्भ के पद्मपुर मे हुआ था। महावीर चरित, उत्तर रामचरित और मालती-माधव ये भवभूति के तीन प्रसिद्ध नाटक हैं। किरातार्जुनीय महाकाव्य के रचयिता भारवि, दशकुमारचरित के रचयिता दण्डी अचलपुर (एलिचपुर) के निवासी माने जाते हैं। प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन, जिसकी स्मृति मे अभी भी रामटेक के पास नागार्जुन गुफा यात्रियो को दिखाई जाती है, मूलत नागपुर क्षेत्र मे ही जन्मे थे, ऐसा कहा जाता है। सांख्य-दर्शन के आचार्य रुद्रिल का एक नाम विंध्यवासी है। इससे सिद्ध है कि वे मध्यप्रदेश निवासी थे। तेरहवी शताब्दी के प्रसिद्ध विद्वान् हेमाद्रिनाथ भी विदर्भ मे जन्मे थे। उनकी प्रतिभा चतुर्मुखी थी। धर्मशास्त्र पर चतुर्वर्ग चिन्तामणि नामक प्रचण्ड ग्रन्थ उनकी प्रसिद्ध रचना है। शिल्पशास्त्र, वैद्यक, ज्योतिष-शास्त्र पर उन्होने ग्रन्थ लिखे है। हेमाद्रिनाथ के समकालीन वोपदेव के मुग्धबोध नामक संस्कृत व्याकरण का आज भी बंगाल मे प्रचार है। वोपदेव ने व्याकरण पर दस, वैद्यक पर नौ, ज्योतिष-पर एक, साहित्यशास्त्र पर तीन और श्रीमद्भागवत पर तीन—ऐसे २६ ग्रन्थो की रचना कर लोकोत्तर कीर्ति प्राप्त की थी। धारा नगरी के राजा भोज के समान विदर्भ मे भी विद्वानो के आश्रयदाता राजा भोज हो गए हैं। प्रसिद्ध नलचम्पू ग्रन्थ के रचयिता त्रिविक्रम भट्ट भी विदर्भ निवासी थे। उन्होंने अपने ग्रन्थ मे कुण्डिनपुर, वरदा नदी तथा पयोष्णी नदी का मार्मिक वर्णन किया है। जातकाभरण, मुहूर्त मार्तण्ड, मुहूर्त चिन्तामणि आदि प्रसिद्ध ज्योतिष ग्रन्थो के रचयिता धुण्डिराजनारायण नीलकठ आदि ज्योतिषियो ने विदर्भ देश को अलंकृत किया था।

कवियों और विद्वानों के आश्रयस्थान के रूप मे कलचुरियो की राजधानी त्रिपुरी की अच्छी ख्याति थी। राजशेखर ने यहाँ रहकर विद्धशालभजिका नामक नाटिका की रचना की थी। उनके अन्य नाटक बालभारत, बाल रामायण और कर्पूर मजरी (प्राकृत नाटक) सुप्रसिद्ध है। काव्यमीमासा (अपूर्ण) साहित्य-समीक्षा पर उनका एक अनूठा ग्रन्थ है। तत्कालीन साहित्यिक और सामाजिक परम्पराओ की सूचना देने मे काव्यमीमासा अर्थशास्त्र और महाभाष्य के समान महत्वपूर्ण है। त्रिपुरी के महाराज कर्णदेव के समय मे गगाधर कवि शास्त्रो के मर्मज्ञ विद्वान् थे। काश्मीर के प्रसिद्ध पर्यटक कवि बिल्हण ने त्रिपुरी के कवि गगाधर को शास्त्रार्थ मे हराया था। बाद मे महाराज कर्णदेव के आश्रय मे रहकर बिल्हण ने 'कर्ण सुन्दरी' नामक नाटिका की रचना की थी। 'विक्रमाक देव चरित' नामक ऐतिहासिक महाकाव्य और चौर पचाशिका नामक श्रृगार रस पूर्ण श्लोक सग्रह इन्ही बिल्हण की सुप्रसिद्ध कृतियाँ है। बारहवी शताब्दी मे पृथ्वीधर और शशिधर त्रिपुरी के प्रख्यात कवि थे। तत्कालीन प्रशस्तियो मे उनके और उनके वशजो का गौरवपूर्ण उल्लेख किया गया है। उपर्युक्त प्रथितयश कवियो के अतिरिक्त अनेक ऐसे कवि भी है, जिनकी काव्य-प्रतिभा का परिचय तत्कालीन राज-प्रशस्तियो मे मिलता है। इन राज-प्रशस्तियो मे इतिहास-निर्माण के लिए महत्वपूर्ण सामग्री के अतिरिक्त सस्कृत कविता की उत्तमोत्तम शैलियो का भी दिग्दर्शन होता है। मध्यप्रदेश की विभिन्न रियासतो मे प्राप्त राज-प्रशस्तियो, शिलालेखो और ताम्रपत्रो मे पाए जाने वाले गद्य और पद्य के कवित्व-पूर्ण अवतरण, इस प्रान्त के सस्कृत-साहित्य निर्माण की उच्च परम्परा का परिचय देते है।

मध्यप्रदेश के विविध स्थानो मे प्राप्त विशाल हस्तलिखित सग्रहो मे उत्कृष्ट साहित्यिक कृतियाँ छिपी हुई है। इन्हे बस्तर रियासत के राज्य पुस्तकालय मे अनेक ग्रन्थ रत्नो के अस्तित्व का पता चलता है। भोसले राजाओ की बडी और छोटी गद्दियो का अपना-अपना अलग ग्रन्थ सग्रह है। महाकोशल और विदर्भ के समृद्ध कुलो तथा पण्डित घरानो मे जो विपुल वाङमयीन सामग्री बिखरी पडी है, उसकी खोज, परीक्षण और सरक्षण शीघ्र होना चाहिए; अन्यथा कालचक्र के फेर मे इनका अस्तित्व चिरकाल नही रहेगा। कटनी के दिवगत प्रसिद्ध गवेषक डा० हीरालाल ने इस बिखरी वाङमयीन सामग्री की एक परिचयात्मक सूची निकाली थी। किन्तु कालचक्र के प्रवाह मे इन ग्रन्थो को इस सूची के अनुसार ढूँढ निकालना बडा कठिन है। अत. केवल सूची न बनाकर इस सामग्री को सगृहीत करने की परम आवश्यकता है। हर्ष का विषय है कि प्रान्त मे कुछ सस्थाये इस विषय मे जागरूक है और शनै-शनै. इस महत्वपूर्ण वाङमयीन सामग्री के सग्रह और सरक्षण का प्रयत्न हो रहा है। इस सम्बन्ध मे महाकोशल हिस्टारिकल सोसायटी (रायगढ), शारदाश्रम (यवतमाल), मध्यप्रदेश सशोधन मण्डल (नागपुर) और नागपुर विश्वविद्यालय का हस्तलिखित सग्रहालय विशेषरूप से उल्लेखनीय है।

प्राचीन साहित्यिक कृतियो के सक्षिप्त परिचय के बाद अब हम अपेक्षाकृत नवीन मौलिक ग्रन्थो का निर्देश करेंगे। मण्डला मे प्राप्त रूपनाथकृत गढेशनृप वर्णन और लक्ष्मी प्रसाद कृत गजेन्द्र मोक्ष काव्य क्रमश ऐतिहासिक और साहित्यिक महत्व की कृतियाँ है। छत्तीसगढ

की पटना रियासत के बैजल देव का सस्कृत व्याकरण पर बैजलकारिका ग्रन्थ, सवलपुर निवासी गगाधर मिश्र विरचित कोसलानन्द काव्य, रतनपुर के तेजनाथ शास्त्री का पद्यात्मक रामायण सार सग्रह आदि ग्रन्थ प्रान्त की वाङमय निर्माण सम्बन्धी प्राचीन परम्परा के परिचायक है। रुद्रकवि विरचित "नवाब खान खाना चरित', गणेश कवि कृत 'शोरिसुरत तरगिणी', नागपुरीय गगाधर कवि के विविध विषयो पर अनेक ग्रन्थ नागपुर विश्वविद्यालय के हस्तलिखित सग्रहालय मे सुरक्षित है। कायस्थ कुलभूषण प० रेवाराम बाबू के गीतमाधव, गगा लहरी, नर्मदा लहरी आदि अनेक ग्रन्थ साहित्य-निर्माण मे ब्राह्मणेतर बन्धुओ के सक्रिय सहयोग के निदर्शक है। शतकत्रय (नीतिशतक, श्रृगार-शतक, वैराग्यशतक) की भॉति एक चतुर्थ 'विज्ञान शतक' भी किसी एक अन्य भर्तृहरि ने रचा था। उसका प्रकाशन भी नागपुर मे हो चुका है। श्री भा० ना० डाऊ की 'विनोदलहरी' मे श्लेष-अनुप्रास आदि अलकारो का सुन्दर प्रयोग के साथ विनोदपूर्ण कवित्व चमत्कार भी दृष्टिगोचर होता है। भट्टजी शास्त्री घाटे की 'उत्तर राम-चरित' पर भवभूतार्थ बोधिनी टीका ग्रन्थकार की विद्वत्ता का परिचय देती है। काव्य निर्माण कौशल की परपरा मे महामहोपाध्याय केशव गोपाल ताम्हन और शिवदासपत बार्रलिगे का रचना नैपुण्य प्रशसनीय है। ताम्हन काव्य सग्रह और शकराचार्य जन्मकाल काव्यम् मे क्रमश इसका परिचय मिलता है। कृष्ण शास्त्री घुले का 'हरि हरीयम्' एक द्व्यर्थक स्तोत्र है। जिसमे कवित्व कल्पना के साथ भाषा-प्रभुत्व भी स्पष्ट परिलक्षित है। रायगढ रियासत के राजा चक्रधर सिंह ने विद्वानो की सहायता से सगीतशास्त्र के तीनो अगो पर सचित्र ग्रन्थ लिखवाये थे। इनका नाम 'नर्तन सर्वस्व', 'तालतोयनिधि' और 'राग रत्नाकर' है। जबलपुर के व्यौहार रघुवीर सिह की 'विद्वन्मोदतरगिणी' मे विविध शास्त्रों के सिद्धान्तो का काव्यमय वर्णन है।

उपरिनिर्दिष्ट साहित्यिक कृतियो के अतिरिक्त शास्त्रीय विषयो पर भी मध्यप्रदेश के आधुनिक विद्वानो का अच्छा योगदान है। छन्दशास्त्र पर म० म० जगन्नाथ प्रसाद 'भानु' का छन्द प्रभाकर अपने विषय का अनूठा ग्रन्थ है, जिसमे सस्कृत के छन्दोवाङमय का पूर्ण उपयोग किया गया है। ज्योतिषशास्त्र पर डा० के० ल० दफ्तरी के अनेक ग्रन्थ सुप्रसिद्ध है। मीमासा शास्त्र पर 'मीमासासूत्र विमर्श' उनके मौलिक चिन्तन का परिचायक है। डा० ज्वाला प्रसाद ने सूत्रवृत्तिशैली मे 'भारतीय दर्शनम्' की रचना कर यह सिद्ध कर दिया है कि नवीनतम दार्शनिक चिन्तन भी सस्कृत भाषा की परम्परागत शैली मे व्यक्त किये जा सकते हैं। कृष्ण शास्त्री का सापिड्य भास्कर और होत्र ध्वान्त दिवाकर धर्मशास्त्र और वैदिक कर्मकाण्ड विषय पर पाण्डित्य पूर्ण और प्रगल्भ शैली मे लिखे विवेचनीय ग्रन्थ हैं। दासो पंत गोसावी ने 'पुरुषसूक्त' पर 'पुरुषसूक्तार्थ प्रकाश' नामक विशद और भावपूर्ण भाष्य लिखा है।

सस्कृत मे मूल ग्रन्थो के अतिरिक्त उनके रूपान्तर या अनुवाद का कार्य भी मध्यप्रदेश मे किया गया है। सरल भाषा मे परिभाषेन्दु शेखर तथा मनोरमा शब्दरत्न (प्रथम भाग) सदृश कठिन और दुर्बोध व्याकरण ग्रन्थो के विशद प्रतिपादन का दुष्कर कार्य डा० वाडेगावकर ने किया है। कृष्ण शास्त्री घुले ने ऋग्वेद के मराठी अनुवाद का सुन्दर उपक्रम किया था। डा० रघुवीर द्वारा चुने हुए वैदिक सूक्तो के अंग्रेजी अनुवाद (वैदिक मिस्टिसिज्म) वैदिक सदेश

के दिव्य रूप का दर्शन कराते है। द्वारिकाप्रसाद मिश्र का 'कृष्णायन' चाहे व्यासकृत भागवत का रूपान्तर नही, हो किन्तु कला और भाव दोनो पक्षो की दृष्टि से भागवत के समान आर्य सस्कृति के उदात्त रूप को कवित्वमय वाणी मे साधिकार प्रस्तुत करने वाला एक अपूर्व प्रभावशाली प्रबध काव्य है। इसकी भाषा कल्पना और प्रवाह मे व्यास और तुलसी का अपूर्व समन्वय है। काव्य प्रकाश का प्राध्या० सावलापुरका कृत मराठी भाषान्तर, नैषधचरित के प्रथम पाँच सर्गों का सुन्दरलाल शुक्ल द्वारा सुबोध हिन्दी मे अनुवाद, विनय मोहन शर्मा (शुकदेव प्रसाद तिवारी) द्वारा गीत गोविन्द का हिन्दी रूपान्तर, प्रभुदयाल अग्निहोत्री द्वारा 'मृच्छकटिक' का हिन्दी भाषान्तर एव व्यौहार राजेन्द्र सिंह द्वारा मेघदूत का हिन्दी मे नाटकीकरण—ये सभी कृतियाँ सस्कृत साहित्य के रत्नो का वर्तमान भाषा मे उपलब्ध कर उनकी श्रीवृद्धि करने की दिशा मे स्तुत्य प्रयत्न है। मूल ग्रन्थ के सौन्दर्य को अनुवाद मे उतारना सहज नही है। किन्तु अधिकारी रचयिताओ के लिये यह दुष्कर भी नही है। इस तथ्य को उपरिनिर्दिष्ट कृतियाँ सिद्ध करती है।

ऊपर के क्षिप्र विहगावलोकन मे मध्य प्रदेशीय सस्कृत-साहित्य के मूल ग्रन्थो का एक अति सक्षिप्त आभास मात्र दिखाया गया है। इस विवरण मे पूर्णता की आशा करना विधेयक के प्रति अन्याय करना होगा। इस वाङमयीन सामग्री का आलोडन कर खोजपूर्ण निबधो या पुस्तको के द्वारा गत अर्धशती मे मध्यप्रदेश के विद्वानो ने जो गवेषणा का महत्वपूर्ण कार्य किया है, उसका निरूपण एक स्वतत्र निबध का विषय है। निर्माण और समीक्षण—ये दो भिन्न-भिन्न कार्य है। यहाँ निर्माण सबधी कार्य का व्यौरा दिया गया है। समीक्षण सबधी कार्य का नही। समीक्षण कार्य के क्षेत्र मे भी मध्यप्रदेश ने अपना योगदान दिया है। अभी तो प्रकृत मे यही वक्तव्य है कि सर्जन या निर्माण के क्षेत्र मे भारत-भारती के चरणो मे मध्यप्रदेश ने जो पुष्पाञ्जलि चढाई है, वह गुण और परिमाण दोनो मे सर्वथा स्तुत्य है।

[पण्डित रविशंकर शुक्ल-अभिनन्दन ग्रन्थ · अगस्त, १९५५ में प्रकाशित]

४०. मध्यप्रान्त में संशोधन-कार्य

प्रस्तुत निबन्ध का विषय मध्यप्रदेश मे सस्कृत-साहित्य पर गत २५ वर्षों मे किए गये सशोधनात्मक-वाङमय का सक्षिप्त परिचय देना है। यहाँ 'सस्कृत-साहित्य' का अभिप्रेत अर्थ वह वाङमय है, जिसमे वैदिक, ऐतिहासिक तथा पारिभाषिक (Technical) से भिन्न सभी सस्कृत-ग्रन्थ अन्तर्भूत किये जाते है। अत वेद, ब्राह्मण, उपनिषद् तथा मुद्राएँ, ताम्रपट, शिला-लेख, आयुर्वेद, ज्योति शास्त्र आदि को छोडकर अन्य विषयो पर लिखे गये सस्कृत-ग्रन्थो पर आधारित सभी सशोधन तथा वाङमयीन कृतियो का सिंहावलोकन यहाँ अपेक्षित है। यह कहने की आवश्यकता नही कि सस्कृत-वाङमय मे इन विषयो पर असख्य ग्रन्थ लिखे गये हैं। हमारे मध्यप्रदेश मे ही सशोधन-सामग्री की दृष्टि से इन विषयो पर प्रभूत ग्रन्थराशि उपलब्ध है।

भारतवर्ष के मध्य मे स्थित होने के कारण वाङमय-निर्मिति की दृष्टि से मध्यप्रदेश का महत्व प्राचीन समय से ही सर्वमान्य रहा है। मध्यप्रदेश का एक प्रमुख भाग 'विदर्भ' है, जिसका गौरवपूर्ण उल्लेख कविकुलगुरु महाकवि कालिदास ने एक "समृद्ध राज्य" के रूप मे किया है। काव्य-रचना की सर्वविदित 'वैदर्भी' रीति का नामकरण 'विदर्भ' शब्द से ही किया गया है। राजशेखर की वच्छोमी (काव्य-रीति) का नामकरण विदर्भ के वत्सगुल्म (वर्तमान बाशिम) नगर के नाम पर किया गया था। काव्य-रीतियो के नाम मे ही नही, बल्कि अनेक काव्य तथा नाटको की नायक-नायिकाओ मे भी विदर्भ की साहित्यिक प्रसिद्धि दृष्टिगोचर होती है। कालिदास के 'मालविकाग्नि मित्र' की नायिका मालविका, रघुवश की इन्दुमती, नैषध-चरित और नलचम्पू की दमयन्ती, भवभूति के मालतीमाधव का नायक 'माधव'—ये सभी विदर्भ की रम्यभूमि मे जन्मे और पाले-पोसे गये थे। अमर गीति काव्य मेघदूत का 'रामगिरि' मध्यप्रदेश मे स्थित है। राजशेखर की नाटिका 'विद्धशालभजिका' त्रिपुरी (वर्तमान जबलपुर के निकट तेवर गाँव) के कलचुरी-वशावतस केयूरवर्ष के दरबार मे अभिनीत करने के लिये लिखी गयी थी। अत: आश्चर्य नही कि प्राचीन काल से ही मध्यप्रदेश मे विद्वानो और कवियो की लम्बी परम्परा रही हो। सेतुबन्ध के रचयिता प्रवरसेन, नादकुमार चरित के रचयिता पुष्पदन्त, नलचम्पू के रचयिता त्रिविक्रम भट्ट एवं भवभूति, भारवि, दण्डी, राजशेखर तथा कविवर्य सदानन्द और दार्शनिक सोमशम्भु आदि अनेक विख्यात ग्रन्थकार मध्यप्रदेश निवासी थे। साराश यह कि पश्चिमवाहिनी नर्मदा, ताप्ती और पूर्णा एव पूर्ववाहिनी महानदी और गोदावरी के परिसर मे फैला हुआ विस्तीर्ण मध्यप्रदेश प्राचीन काल से ही साहित्यिकों का क्रीड़ास्थल रहा है।

मध्यप्रदेश के विभिन्न भागो मे आज भी विशाल सशोधन-सामग्री बिखरी पडी है। छत्तीसगढ की रियासतो मे विकीर्ण वाङ्मय-निधि किसी उत्साही तरुण सशोधक की प्रतीक्षा कर रही है। रियासत बस्तर के राज्य पुस्तकालय मे, कहा जाता है, अच्छी सशोधन-सामग्री है। नागपुर के भोसलो की दोनो शाखाओ के ग्रन्थागारो का पूर्णपरीक्षण अभी होने को है। महाकोशल तथा विदर्भ के समृद्ध घरानो तथा श्रोत्रिय और शास्त्री-वर्ग के पडित-कुलो मे जो वाङ्मयीन सामग्री बिखरी पडी है, उसकी खोज, परीक्षण तथा सरक्षण शीघ्रातिशीघ्र होना चाहिए। काल-चक्र के दौरे मे हस्तलिखित ग्रन्थो का अस्तित्व अधिक काल तक बना रहे, यह असम्भव है। नागपुर मे एवविध सामग्री का उद्धार प्राध्यापक करबेळकर, लाडगे, चट्टे आदि सशोधक विद्वान् कर रहे हैं, यह सतोष की बात है। नागपुर विश्वविद्यालय के हस्तलिखित ग्रन्थागार मे तथा मध्यप्रदेश सशोधन-मण्डल नागपुर के सग्रह मे उपर्युक्त विद्वानो के प्रयत्न का मूर्त्तरूप देखा जा सकता है। एवमेव महाकोशल हिस्टारिकल सोसायटी, रायगढ के पडित लोचनप्रसाद पाडेय तथा 'शारदाश्रम' यवतमाल के डा० य० खु० देशपाडे ने हस्तलिखित सग्रह का स्तुत्य कार्य किया है। मडला के पडितकुलो मे प्राप्त वाङ्मय-सामग्री मे से रूपनाथ कृत 'गढेशनृपवर्णनम्' तथा लक्ष्मीप्रसाद कृत 'गजेन्द्रमोक्षकाव्यम्' का पूर्ण परिचय श्री जी० वी० भावे और श्री ल० रा० कुलकर्णी ने अपने निबन्धो (अँग्रेजी) द्वारा देकर एवविध कार्य का महत्व दिखा दिया है।

सस्कृत-साहित्य-विषयक सशोधन के क्षेत्र मे हमारे मध्यप्रदेश मे जो कार्य किया गया है उसके निम्नलिखित लघुपरिचय मे यह कह देना आवश्यक है कि इसमे किसी विशेष क्रम की मर्यादा नही रखी गयी है। लेखक का काल, वय, ग्रन्थ या निबन्ध-सख्या, उसके सशोधन की मौलिकता, व्यापकतादि गुणातिशय आदि किसी भी विशेष क्रम का सनिर्बन्ध पालन न कर केवल एक चलता परिचय दिया गया है। अत इस परिचय मे तुलनात्मक तारतम्य का सकेत ढूँढना न केवल अव्यावहारिक, बल्कि निर्दिष्ट विद्वानो के प्रति अन्यायपूर्ण भी होगा। हाँ, एक लेखक की समस्त कृतियो का एक साथ निर्देश करने से निम्नलिखित परिचय 'विषयानुसार' न होकर 'लेखकानुसार' है।

दिवगत महामहोपाध्याय कृष्णशास्त्री घुले ने वेद, धर्मशास्त्र, व्याकरण, साहित्य मे पर्याप्त कार्य किया था। उनके पूर्वज सदाशिव शास्त्री घुले की नागेशभट्ट कृत लघुशब्देन्दु शेखर पर 'सदाशिव भट्टी' नामक टीका का, जो बनारस से प्रकाशित है, नव्यवैयाकरण-सम्प्रदाय मे विशिष्ट स्थान है। स्वय कृष्णशास्त्री घुले ने मध्यप्रदेश-सशोधन मण्डल मे पठित अपने एक व्याकरण-विषयक निबन्ध (मराठी) मे 'पाणिनीय-व्याकरण' की न्यूनताओ का विवेचन किया है। उनका प्रकाशित ग्रन्थ 'सापिण्ड्यभास्कर' (सस्कृत) दक्षिणात्यो मे प्रचलित मातुल-कन्या-परिणय प्रथा का शास्त्रीय दृष्टि से समर्थन करता है। 'गणपति-पूजा' व 'गाथासप्तशती का काल' नामक निबन्ध (मराठी) मे ईसोत्तर पाँचवी शताब्दी के अनन्तर गणपति-पूजा और गाथासप्तशती का काल सुझाया गया है। उनकी 'पतितोद्धार मीमांसा' वर्तमान युग के प्रासगिक महत्व की वस्तु है। एवमेव कालिदास के ग्रन्थो पर भी घुलेशास्त्री ने शास्त्रीय दृष्टि से

समीक्षात्मक विचार (मराठी मे) प्रकट किये है; जैसे 'मेघदूत मे पाठभेद', 'रघुवश और कुमारसम्भव की रचना मे पौर्वापर्य' आदि। उनका 'हरिहरीयम्' नामक द्व्यर्थक स्तोत्र (सस्कृत मे) प्रकाशित हो चुका है। उसमे उनका काव्य-निर्माण-पाटव स्पष्ट झलकता है। म० म० केशव ताम्हन मे प्रसाद गुणपूर्ण कवित्व की अद्भुत प्रतिभा थी, यह उनके सच्छिष्य श्री ल० रा० कुलकर्णी द्वारा सपादित 'ताम्हन-काव्य-सग्रह' पढने से पूर्णतया सिद्ध है। भट्ट जी शास्त्री घाटे की उत्तमरामचरित पर 'भावभूतार्थबोधिनी' टीका (सस्कृत) से टीका वाङमय की श्रीवृद्धि हुई है। डा० तु० ज० केदार ने कालिदास-वाङमय पर अच्छा लिखा है। 'कालिदास का काल तथा जन्मभूमि' शीर्षक (अग्रेजी) निबन्ध मे उन्होने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि कालिदास ईसापूर्व प्रथम शताब्दी मे उत्पन्न हुए तथा मालव उनकी जन्मभूमि थी। 'मेघदूत मे मेघमार्ग' (अग्रेजी) मे उन्होने मेघयात्रा का समावित मार्ग प्रदर्शित किया है। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद के प्राचीन व्यक्ति और स्थान नामो का पश्चिमीय एशिया से सम्बन्ध जोडने का इतिहास विषयक सशोधन भी श्री केदार जी ने अपने 'वेद-स्थान' शीर्षक (अग्रेजी) पुस्तक मे किया था। श्री सदाशिवदास बारलिगे ने 'महाभारत काल', 'मेघदूत का रामगिरि' एव 'कालिदास काल' पर निबन्ध (मराठी मे) लिखे थे। उनके मत से कालिदास का काल विक्रम सवत् की प्रथम शताब्दी तथा मेघदूत का रामगिरि, बस्तर रियासत (रामगढ) मे स्थित था। उनके देहावसान के थोडे ही दिन पूर्व प्रकाशित श्रीमदाद्यशङ्कराचार्य-जन्मकाल-काव्यम् (सस्कृत) मे उनके कवित्व का पुष्ट प्रमाण मिलता है। रायगढ रियासत के स्वर्गीय नरेश चक्रधर सिंह ललित कलाओ के अच्छे पुरस्कर्ता थे। अपनी छत्रच्छाया मे विद्वानो को रखकर उन्होने सगीत शास्त्र के तीनो अगो पर—नृत्य, वाद्य, गीत-पर तीन बृहत्काय सचित्र ग्रन्थ लिखाये थे, जिनके नाम तीनो क्रमश 'नर्तनसर्वस्व' 'तालतोयनिधि' और रागरत्नाकर करते है। इनके प्रकाशन से ललितकला-वाङमय की श्रीवृद्धि होगी, इसमे सन्देह नही। जबलपुर के ब्यौहार रघुवीर सिह जी ने अपनी प्रकाशित 'विद्वन्मोदतरङ्गिणी' (सस्कृत) मे विभिन्न शास्त्रो के सिद्धान्तो का कवित्वपूर्ण निर्देश किया था। पडित सरयूप्रसाद मिश्र (जबलपुर) ने कालिदास के 'रघुवश' का हिन्दी मे सटिप्पणी पद्यानुवाद प्रकाशित कराया। विलासपुर के म० म० जगन्नाथ प्रसाद 'भानु' का, सस्कृत के छन्दस्-वाङमय का आलोडन कर लिखित, 'छन्द प्रभाकर' (हिन्दी) अपने विषय का अनूठा ग्रन्थ है।

यहाँ तक मध्यप्रदेश के दिवगत आधुनिक विद्वानों की साहित्यिक-सेवा का सामान्य परिचय दिया गया। अब वर्तमान विद्वानो के वाङमयीन कृतियो का उल्लेख प्रस्तुत है। म० म० वा० वि० मिराशी जी के बहुविध सशोधनो मे, प्राचीन इतिहास-सम्बन्धी कार्य का—शिलालेख एव ताम्रपटो का वाचन, प्राचीन मुद्राओ का पुनरुद्धार आदि का महनीय एव उच्च-कोटि का है। पद्मगुप्त के महाकाव्य 'नवसाहसाङ्कचरित', दण्डिन् के गद्यकाव्य 'दशकुमार-चरितम्' तथा राजशेखर की नाटिका 'विद्धशालभञ्जिका—इन प्रसिद्ध सस्कृत ग्रन्थो मे निहित सूचनाओ की ऐतिहासिक खोज, मूल्यांकन तथा इतिहास-निर्माण मे उपयोग कर श्री मिराशी जी ने अपने निबन्धो (अग्रेजी मे) यह सिद्ध किया है कि विशुद्ध साहित्यिक ग्रन्थो से भी किस

प्रकार सूक्ष्मेक्षिका से ऐतिहासिक सामग्री निकाली जा सकती है। राजशेखर के ग्रन्थो का कालक्रम 'गाथा सप्तशती का काल तथा मूल-नाम', 'वाकाटक-युग के कुछ राजकवि' आदि निबन्धो (अग्रेजी) मे उन विषयो पर नया प्रकाश डाला गया है। भवभूति का जन्म-स्थान—पद्मपुर (जि० भडारा), भवभूति के नाटको मे उल्लिखित 'काल-प्रियनाथ' का स्थान (वर्तमान कालपी (उ० प्र०) तथा मेघदूत का रामगिरि (वर्तमान रामटेक जि० नागपुर)—सिद्ध करने मे (अग्रेजी और मराठी) श्री मिराशी जी के प्रमाणो और तर्कों का प्राय. सभी सशोधक विद्वानो ने लोहा माना है। कालिदास पर (उसका काल, कृतियाँ, कवित्व, दर्शन, समाज-स्थिति, देन आदि) सभी दृष्टियो से लिखा गया उनका 'कालिदास-ग्रन्थ' (मराठी-हिन्दी) अपने विषय पर एक प्रामाणिक ग्रन्थ है। 'समुद्रगुप्त का कृष्णचरित' तथा 'भास का यज्ञफल'—इन दो निबन्धो (मराठी) मे उन्होने युक्तिपूर्ण प्रमाणो द्वारा इन ग्रन्थो के 'नकली' होने की सफलता के साथ पोल खोली है। अभी हाल ही मे उनके कुछ मराठी निबन्धो का एक सकलन 'सशोधन-मुक्तावलि' प्रकाशित हुआ है, उसमे प्रकाशित कालिदास-विषयक अन्य मतो पर उनके चर्चात्मक निबन्धो (मराठी) से परपक्ष के आमूलाग्र खण्डन मे उनकी तीक्ष्ण विवेक-बुद्धि तथा स्वमत-प्रतिपादन मे तर्कसङ्गति का स्पष्ट परिचय मिलता है। श्री नारायण पैराजी पण्डित ने विविध निबन्धो मे सत ज्ञानेश्वर के तत्वज्ञान की, शङ्कराचार्य के सिद्धान्तो से अभिन्नता दिखाते हुए जो स्तुत्य समन्वयात्मक विवेचन किया है, वह दार्शनिक व्याख्या की भारतीय परम्परा के सर्वथा अनुकूल है। एक स्वतन्त्र ग्रन्थ 'आर्य धर्मोपपत्ति' और 'नारद भक्ति-सूत्र' की मराठी टीका (अपूर्ण) का प्रकाशन हो चुका है। उनके सुपुत्र डा० वा० ना० पडित के डाक्टरेट की थीसिस 'शाङ्कर तत्वज्ञान मे भक्ति का स्थान' अभी प्रकाशित होने को है, किन्तु 'जगन्मिथ्यात्व', 'औपनिषदिक तत्वज्ञान' और 'ज्ञानेश्वरी मे निर्दिष्ट षड्दर्शनो की पहचान' आदि निबन्ध उनकी तर्कानुगत समीक्षण-पद्धति का सुन्दर परिचय देते है। डा० के० एल० दफ्तरी के ज्योतिष तथा आयुर्वेद-शास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थ प्रकाशित तथा प्रसिद्ध है। किन्तु उपनिषदो पर उनका विवेचनात्मक-व्याख्या-ग्रन्थ अभी प्रकाश मे आने को है। उनके 'मीमांसा-सूत्र विमर्श', 'धर्म-विवाद स्वरूप' और 'महाभारत काल-निर्णय' (मराठी) प्रकाशित हो चुके है और उससे उनकी स्वतन्त्र विचार-पद्धति एवं तर्क पुरसरता पर पर्याप्त प्रकाश पडता है। 'राजतरगिणी-निरीक्षण', 'रामचन्द्र की डायरी', 'व्यास की शङ्कराचार्य पर फिर्याद' और 'प्राचीन भारत की मनुसप्तर्षि-सस्था' आदि निबन्ध (मराठी) विचार-परिप्लुत तथा मौलिक विचार-धारा के निदर्शक है। 'प्राचीन भारत की काल-गणना मे ज्योति शास्त्रीय पद्धति का उपयोग' नामक शीर्षक उनका दीर्घकाय निबन्ध (अग्रेजी) नागपुर विश्वविद्यालय द्वारा समादृत हुआ है। प्राध्यापक स० प्र० चतुर्वेदी ने पाणिनीय व्याकरण की विविध समस्याओ पर; जैसे, विशिष्ट सूत्रो का अर्थ, पाठ-भेद, पारिभाषिक शब्दावली, भाष्यार्थ-विमर्श आदि पर शास्त्रीय विषयात्मक अनेक निबन्धो (अग्रेजी) के अतिरिक्त 'पाणिनीय शब्द-भण्डार से पाणिनि-काल-निर्णय' (अग्रेजी), 'गत द्वि-सहस्राब्दी मे पाणिनीय व्याकरण का विकास' (हिन्दी), 'पाणिनीय व्याकरण-सम्प्रदाय मे खण्डन-मण्डन पर परम्परागत शास्त्रार्थ-चर्चा' (अग्रेजी) आदि सामान्य विषयो पर भी निबन्ध

लिखे है। अनुष्टुप्-छन्द की उत्पत्ति, विकास तथा प्रकार-भेद नामक निबन्ध (अग्रेजी) मे इस छन्द के सभी सम्भाव्य प्रकारो की निश्चित सख्या तथा सोदाहरण लक्षण—स्वरचित (सस्कृत) कारिकारूप मे दिये गये हैं। एकमात्र हस्तलिखित के आधार पर प्रा० चतुर्वेदी द्वारा सम्पादित 'भृङ्ग-दूत' (सस्कृत) 'दूत-साहित्य' का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। इसी प्रकार कालिदास के ग्रन्थो मे 'मध्य-प्रान्त-विदर्भ की झॉकी', 'विक्रमादित्य की ऐनिहासिकता', 'पाणिनिकालीन भारत', 'सङ्कल्प-विधि की महत्ता', 'वाल्मीकि का रामराज्य' आदि उनके निबन्ध (हिन्दी) जिज्ञासुओ के लिए उपादेय है। डा० वि० वा० करवेलकर द्वारा डाक्टरेट के लिए लिखा गया सशोधन-निबन्ध (अग्रेजी), 'अथर्ववेद की सस्कृति—उसका भारतीय धर्म मे स्थान' अभी प्रकाशित होने को है, किन्तु अनेक विषयो पर प्रकाशित उनके निबन्धो से उनकी सशोधन-पटु प्रतिभा का खासा परिचय मिलता है। नागपुर विश्वविद्यालय के हस्तलिखित ग्रन्थागार के मुख्याधिकारी होने के नाते उनके द्वारा अनेक ग्रन्थ (सस्कृत) प्रकाश मे आये है, जिनमे रुद्रविरचित 'नवाब खानखाना चरितम्', गणेश कवि कृत 'शौरीसुरततरङ्गिणी', 'गगाधर कवि के १८ ग्रन्थ', 'गीतगोविन्द के अनुकरणात्मक तीन ग्रन्थ', 'सगीत राघव', 'सगीत-चिन्तामणि' व 'सगीत दामोदर' विशेष रूप से उल्लेखनीय है। 'नागानन्द नाटक मे इतिहासोपयोगी सूचनाएँ', 'नागार्जुन-समस्या', 'सस्कृत-साहित्य मे 'यातु विद्याविधान', 'गोडो के शासन काल मे साहित्य-वृद्धि' आदि उनके सशोधनात्मक निबन्ध (अग्रेजी) मननीय है। इसी प्रकार उन्होने माधुर्य भक्ति की प्रतीक 'राधा का विकास-क्रम', 'आजकल महाकाव्यो का निर्माण क्यो नही होता' आदि प्रासङ्गिक विविध प्रश्नो पर भी लेखनी (मराठी मे) चलायी है। 'भारतीय सस्कृति का उत्कर्ष' (मराठी) तथा 'सस्कृत-साहित्य का सोपपत्तिक (मराठी) इतिहास' शीर्षक पुस्तक लिखकर श्री करंबेळकर ने मराठी-वाङमय की श्रीवृद्धि की है। प्राध्यापक-द्वय भा० गो० देशमुख और ग० त्र्य० देशपाडे भारतीय-साहित्य-शास्त्र के कलापक्ष और भावपक्ष का अध्ययन कर मराठी के तद्विषयक वाङमय को सुसम्पन्न किया है। श्री देशमुख के 'मराठी का साहित्य-शास्त्र' (डाक्टरेट के लिए उनकी थिसिस : मराठी) तथा 'रेखा-शब्दार्थ विवेचन' (मराठी) में और देशपाडे के 'रस-व्यवस्था' सम्बन्धी व्याख्यानमाला (मराठी) मे सस्कृत-साहित्य शास्त्र-विषयक सूक्ष्म अध्ययन की छाप है। प्राध्यापक वि० भि० कोलते ने अपने बहुविध अध्ययन के दौरान 'कालिदास के यश का रहस्य', 'महात्मा रावण', 'विदर्भ महाकवि-भारवि', 'शाकुन्तल का सर्वश्रेष्ठ अङ्क' आदि विचारोत्तेजक लेखो (मराठी) के द्वारा सस्कृत-साहित्य को भी अभिभूत किया है। लोकनायक बापूजी अणे का 'महाभारत—बुद्ध या बुद्धोत्तरकालीन', (मराठी) तथा श्री विष्णु मोरेश्वर महाजनी का 'रामायणकालीन लोक-स्थिति का इतिहास' महाभारत और रामायण के गभीराध्ययन के फल हैं। प्राध्यापक श० दा० पेडशे ने अपने 'महाराष्ट्र का सास्कृतिक इतिहास' विवेचन मे सस्कृत-वाङमय का विशेष आश्रय लिया है। उनके महाभारत कालीन समाज के अध्ययन का फल 'भारत नारी का तेजस्वी रूप—द्रौपदी' मे स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। प्राध्यापक भा० स० आष्टीकर ने ध्वन्यालोक तथा तद्विषयक अन्य ग्रन्थो का अध्ययन कर 'ध्वनि सम्प्रदाय के विविध तत्वो पर मननीय निबन्ध (मराठी) लिखे है। प्राचार्य स० ला०

पण्डरी पाडे ने स्वसम्पादित 'विज्ञानशतक' (नवीन सस्करण) की भूमिका (मराठी) मे 'शत-कत्रय' के रचयिता भर्तृहरि से इसके सम्बन्ध पर अच्छी सामग्री प्रस्तुत की है। विद्वद्वर्य श्री अप्रबुद्ध तथा वाकशास्त्री हरदास ने अपनी पुस्तको और व्याख्यानमाला (मराठी) द्वारा भारतीय-सस्कृति के विविध अगो पर प्रकाश डाला है। डा० जी० के० पोटे ने अपने डाक्टरेट की थीसिस 'मध्ययुगीन भारत का सामाजिक जीवन' (अग्रेजी) मे ईसवीय प्रथम सहस्राब्दी के सस्कृत-वाङमय का आलोडन कर तत्कालीन सामाजिक जीवन का सर्वाङ्गीण चित्रण किया है। डा० ज्वाला प्रसाद ने भारतीय न्यायशास्त्र मे 'प्रत्यक्ष-लक्षण की मीमासा', 'निर्विकल्प प्रत्यक्ष' पर विचारपूर्ण निबन्ध (अग्रेजी) लिखे है। सूत्रशैली मे लिखित उनके 'भारतीयदर्शनम्' (सस्कृत) मे पौरस्त्य और पाश्चात्य मतो का समन्वयात्मक प्रतिपादन है। डा० डी० जी० लोढे ने 'साख्यमत' (मराठी ज्ञानकोश मे) 'शङ्कराचार्य-सम्मत ब्रह्म', 'अद्वैत वेदान्त मे प्रत्यक्ष की समस्या', 'शङ्करोत्तर अद्वैत वेदान्त' आदि विषयो पर मननीय निबन्ध (अग्रेजी) लिखे है।

रायगढ के प० लोचनप्रसाद पाण्डेय ने विविध पत्र-पत्रिकाओ मे अनेक सूचनापूर्ण निबन्ध हिन्दी मे लिखकर छत्तीसगढ के अनेक विस्मृत ग्रन्थरत्नो पर प्रकाश डाला है, यथा ईसवीय पन्द्रहवी शताब्दी के प्रारम्भ मे पटना राज्य-निवासी बैजलदेव रचित 'प्रबोध कारिका' या 'बैजल-कारिका' मे सस्कृत-व्याकरण के नियमो को पद्यबद्ध किया गया है। दूसरे उल्लेखनीय ग्रन्थ 'कोसलानन्द' नामक १८ सर्गात्मक सस्कृत काव्य मे पटना-राज्य के नरेशो के पराक्रम का विविध छन्दो मे वर्णन किया गया है। इसके प्रथम सर्ग मे कोसल देश का रसग्राही वर्णन है। दूसरी रचना ईसवीय सत्रहवी शताब्दी के प्रारम्भ मे सबलपुर-राज्य-निवासी प० गगाधर मिश्र ने की थी। तीसरा ग्रन्थ ई० सन् १८४२ के लगभग रतनपुर के राजमान्य प० तेजनाथ शास्त्री द्वारा रचित पद्यात्मक 'रामायण-सार-सग्रह' है। इसी रतनपुर मे ही 'कायस्थकुल भूषण' 'ब्राह्मणचरणारविन्दानुरक्त' प० रेवाराम बाबू ने (सन् १८१०-८०) 'गगा-लहरी', 'नर्मदा लहरी', 'गीतमाधव' आदि अनेक काव्य रचे थे।

देश मे स्वातन्त्र्य के पश्चात् सस्कृत भाषा और उसके साहित्य के प्रति विद्वानो की अनुरागवृद्धि सर्वथा स्वाभाविक है। प्राध्यापक सावलापुरकर ने काव्य-प्रकाश का मराठी मे, प० सुन्दरलाल शुक्ल ने 'नैषध-चरितम्' के ५ सर्गों का हिन्दी मे अनुवाद, प्राध्यापक विनय-महिन शर्मा (श्री शुकदेव प्रसाद तिवारी) ने 'गीतगोविन्द' और 'ऋतुसहार' का पद्यमय हिन्दी रूपान्तर, प्राध्यापक प्रमुदयाल अग्निहोत्री का शूद्रक विरचित नाटक 'मृच्छकटिक' का हिन्दी मे भाषान्तर तथा श्री व्यौहार राजेद्रसिह द्वारा मेघदूत का हिन्दी मे नाटकीकरण—इस अनुराग वृद्धि के सुन्दर उदाहरण है। उपर्युक्त सभी प्रयत्नो को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि सस्कृत-साहित्य-विषयक सशोधन-कार्य मे मध्यप्रदेश के विद्वानो का योगदान सर्वथा स्तुत्य है॥

[१९५२ में मराठी मे प्रकाशित]

४१. रामराज्य क्या था ?

'स्वराज्य' के अनन्तर, देश की जनता का ध्यान 'सुराज्य' की ओर आकृष्ट हुआ है। नेतागण भी 'वेल्फेअर स्टेट' कहकर अब 'सुराज्य' की स्थापना करने मे प्रयत्नशील है। महात्मा गाधी ने आदर्श राज्य-व्यवस्था को 'राम-राज्य' का पवित्र नाम दिया था। किन्तु रामराज्य क्या है ? इसका यथार्थ ज्ञान बहुत कम लोगो को है। आदिकवि वाल्मीकि ने अपने अमर ग्रथ 'रामायण' मे जिस 'रामराज्य' का चित्र खीचा है, उसका जानना, न केवल सामयिक, अपितु आवश्यक भी है।

रामायण मे कहा गया है कि 'जब तक भारत देश मे पर्वत खडे है और नदियाँ बहती है, तब तक रामायण कथा का जनता मे सार्वत्रिक प्रचार रहेगा'। यह भविष्यवाणी सर्वथा सत्य सिद्ध हुई है, क्योकि "ऋषीणा पुनराद्याना वाचमर्थोनुऽधावति" आद्य ऋषियो की वाणी के पीछे कार्य चलता है, अर्थात् वे जो कुछ कहते है वही होता है। यही कारण है कि रवीन्द्र ने रामायण को राष्ट्र का सच्चा इतिहास माना है। हमारे देश की सास्कृतिक परम्परा के ज्ञान के लिये 'रामायण' दर्पण है। उसमे ऐतिहासिक, धार्मिक और नैतिक महत्व के ही वर्णन नही है, बल्कि तत्कालीन सामाजिक स्थिति का पूर्ण प्रतिबिम्ब है। सासारिक जीवन को सुविधापूर्ण और सुखमय बनाने के लिये जिन साधनो और उद्धरणो की आवश्यकता पड़ती है तथा जैसी 'रसीली' चित्तवृत्ति और मानसिक उल्हास होना चाहिए, उसका रामायण मे सागोपाग निर्देश पाया जाता है। मानव सुख की कल्पना तत्कालीन उपलब्ध जीवन प्रकार से की जा सकती है। सस्कृति और सभ्यता की उन्नति मे मानव की सुखमय प्रियता की एव सुरुचि की वृद्धि होती है। इस दृष्टि से 'रामायण' का अध्ययन करने पर हम देखते है कि रामायण-काल मे जनता ऐहलौकिक सुख के अत्युच्च स्तर का अनुभव करती थी। वाल्मीकि रामायण मे बालकाण्ड के छठे सर्ग मे जनता के सुख और समृद्धि की मनोरम झाँकी मिलती है।

"प्रजावत्सल इक्ष्वाकुओ के सुशासन मे प्रजा का जीवन आनन्दमय था। उस समय नागरिक बहुश्रुत और धर्मात्मा होते थे। जनता सत्यवादी, लोभरहित और सतुष्ट थी। किसी के पास आवश्यक वस्तुओ की कमी न थी। प्रत्येक कुटुम्बी के पास अन्नराशी, गाय और घोड़े पर्याप्त रहा करते थे। उसका जीवन नैराश्यपूर्ण नही, उल्हासमय सफल जीवन था। ढूंढने पर भी कामी, कुटुम्बपीडक, मूर्ख, नास्तिक और नृशंसी मनुष्य देखने मे नही आता था। सभी नर-नारी सयमी धर्मशील, प्रसन्नचित्त, स्वच्छचित्त और सदाचारी थे। उनके कानो मे कुण्डल, सिर पर मुकुट, गले मे माला, भुजाओ मे अगद, वक्ष.स्थल पर हार और हाथो मे ककण

दिखते थे। उनके अंग सुवासित तैल, मलयजरस और इत्र से सुगन्धित रहते थे। वे कंजूसी और गन्दे भोजन से घृणा करते थे। वे क्षुद्रमनोवृत्ति और अनुदार स्वभाव को पसन्द नही करते थे। लम्पट और वर्णसकरी कही भी दृष्टिगोचर नही होता था। प्रजा की सभी श्रेणियाँ अपने-अपने कर्तव्य मे निरत थी। असत्यवादी, कम पढा, ईर्ष्यालु, दुर्बल, दीन-हीन, विक्षिप्त और चिरदुखी—ऐसा मानव दुर्लभ था। कुरूपता और घिनौनी आकृति ढूंढने पर भी नही दिखती थी। सभी लोग राजभक्त थे और राष्ट्र की मगल कामना करते थे। व्यक्तिसुख की अपेक्षा समाज-सुख की ओर प्रत्येक व्यक्ति का ध्यान था। स्वार्थ की अपेक्षा परार्थ की ओर अधिक लक्ष्य था। प्रत्येक ब्राह्मण वेदो का ज्ञाता था, ब्रह्मण्यव्रत का पालन करता था, उसका शास्त्र-ज्ञान सर्वतोमुखी था। ब्राह्मणवर्ग जितेन्द्रिय, अध्ययन-प्रेमी, स्वार्थरहित और प्रतिग्रह मे सयमी था। क्षत्रिय वर्ग शूर, उदार हृदय, कृतज्ञ, पराक्रमी और देवताओ और अतिथियो का पूजक था। वे धर्म और सत्य का पालन करते थे एव दीर्घायु और स्त्री-पुत्र-पौत्रो से सम्पन्न थे। क्षत्रिय ब्राह्मणो का नेतृत्व मानते थे और वैश्य (व्यापारी वर्ग) क्षत्रियो (शासक वर्ग) की आज्ञा मानते थे। शूद्र (मजदूर वर्ग) स्वकर्तव्य परायण और त्रैवर्णिको के कर्तव्य-पालन मे उचित और आवश्यक सेवा द्वारा सहयोग प्रदान करते थे।

रामराज्य मे प्रजा के उपर्युक्त 'अमन-चैन' का वर्णन कितना मोहक है! आजकल की दयनीय स्थिति से तुलना करने पर यह स्पष्ट हो जायगा कि रामराज्य की स्थापना के लिये शासक और शासित दोनो क्यो उत्सुक है? ऊपर दिये गये सुख-समृद्धि वर्णन मे अतिशयोक्ति नही है, क्योकि जनता का वह सुखपूर्ण जीवन, हमारी 'सुजला सुफला, सस्यश्यामला' भारतभूमि के सर्वथा अनुकूल है। इसी से तो देवगण भी भारत के निवासियो को 'धन्यभाग्य' मानते है, क्योकि कर्मभूमि होने के कारण यहाँ सभी लोग शुभकर्म द्वारा सुख-प्राप्त कर सकते है। उपर्युक्त प्रजासुख का मुख्य कारण तत्कालीन शासन-व्यवस्था भी थी, जिसका अनुमान वाल्मीकि द्वारा राज्य के शासक अधिकारियो के वर्णन से लगाया जा सकता है। बालकाण्ड के सातवे सर्ग मे शासनाधिकारियो का वर्णन आया है.

"राज्य के मन्त्रिमडल मे आठ मत्री थे, इनके अतिरिक्त तपपूत ब्रह्मर्षि भी शासन-कार्य मे सलाह दिया करते थे। इन स्वार्थविहीन, सम्पत्ति पराङमुख, राष्ट्रोन्नति तत्पर ब्रह्मर्षियो से निर्धारित नीति के अनुसार अधिकारी-गण शासन कार्य चलाते थे। ये अधिकारी-गण सुविद्य, विनीत, स्वकर्म कुशल एव जितेन्द्रिय और राज्य नियमो का सूक्ष्म पालन करने वाले थे। उनमे सब ओर क्षमा, क्रोध और सहिष्णुता, निष्पक्षता और दयालुता—दोनो प्रकार के गुण थे। वे सदा प्रजा से मुस्करा कर बोलते थे, असत्य भाषण बचाते थे। प्रत्येक प्रजाजन की उचित सहायता करना वे अपना कर्तव्य समझते थे। राज्य मे जो कुछ भी कही होता था, उसकी उन्हे पूरी जानकारी रहती थी। स्वदेश या परदेश मे भूत या सभावित, सभी महत्वपूर्ण घटनाओ का उन्हे तुरन्त पता लग जाता था। वे निष्पक्षतापूर्वक शासन करते और मित्रता का दुरुपयोग नही करते थे। अपराध की मात्रा के अनुसार वे दण्ड देते थे। अवसर पडने पर अपने लड़को को भी वे यथान्याय दण्ड देने से नही हिचकते थे। साथ ही, बिना अपराध अपने शत्रु को

भी नुकसान नहीं पहुँचाते थे। ब्राह्म और क्षात्र तेज की रक्षा करते हुए वे राजकोश को बढ़ाते थे। राजनीति के नेत्र से वे प्रजाहित का कार्य देखते थे। सन्धि, विग्रह आदि छ. गुणो को वे भली प्रकार से समझते थे। इसी से विदेशो मे उनकी प्रतिष्ठा होती थी। गोपनीय राजकार्यों को वे सर्वथा गुप्त रखते थे और किसी भी प्रलोभन मे पडकर राष्ट्रहित के विरुद्ध कोई कार्य नही करते थे।"

शासनाधिकारियो के उपर्युक्त वर्णन से यह सिद्ध है कि उस समय राष्ट्र मे शाति और वैभव का साम्राज्य था। प्रजा और अधिकारीगण दोनो स्वकर्तव्य पालन मे तत्पर रहते थे। रामराज्य मे समस्त प्रजा सुखी और अधिकारीगण निश्चिन्त थे, क्योकि सभी के हृदय मे अपने कार्यों के द्वारा राष्ट्रोन्नति करने की कामना थी। सुख और शान्ति सभी के लिये उपलब्ध थी, आवश्यकता केवल अपना कर्तव्य पालन कर उनके योग्य बनने की थी। रामराज्य का सुख प्राप्त करने के लिये अधिकार और कर्तव्य—दोनो का सामजस्य होना चाहिये। अधिकारयाचना मे उत्सुकता और कर्तव्य पालन मे शिथिलता वाञ्छनीय नही है। यदि प्रजा और अधिकारी दोनो इस नैतिक सत्य को पूर्णतया समझ ले, तो देश मे वाल्मीकि का 'रामराज्य' पुनः प्रस्थापित किया जा सकता है। तथास्तु!

['मानवता' फरवरी, १९५१ में प्रकाशित]

४२. श्रीकृष्ण में मानवता की पूर्णता

भगवान् श्रीकृष्ण मे मानवता की पूर्णता है, यह सिद्ध करने के लिये वर्तमान युग की वैज्ञानिक उन्नति के ज्ञान का आश्रय लिया जा सकता है। पाश्चात्य वैज्ञानिको ने सृष्टिक्रम में 'मानव' के विकास के सम्बन्ध मे जिस मत का प्रतिपादन किया है, उसका स्थूल रूप पुराणो मे वर्णित अवतार-क्रम से बहुत कुछ मिलता-जुलता है। पुराणो की प्रतिपादन-शैली रूपकात्मक होने से यह बात सहसा विश्वसनीय नही प्रतीत होती, किन्तु रूपको का आवरण दूर कर देने पर सन्देह का अवकाश नही रह जाता। पाश्चात्य वैज्ञानिको के मत से आज का 'नर' प्रागैतिहासिक युग के 'वा-नर' का विकास है। एवमेव वानर भी किसी अपेक्षाकृत कम चेतन प्राणी का विकास है। साराश यह कि चौरासी लाख पशु-पक्षी-सरीसृप योनियाँ प्राणी के क्रमिक विकास की शृखलाएँ है। विकास की यह वैज्ञानिक कल्पना भारतीय ज्ञानक्षेत्र मे नवीन नही है। पुराणो का अवतार निरूपण भी इसी विकास का अलकारिक वर्णन है।

पुराणो मे वर्णित अवतार-क्रम मे प्रथम मत्स्यावतार है। इसका तात्पर्य यह है कि निर्गुण ब्रह्म के सगुण होने पर सर्वप्रथम जिन प्राणियो की सृष्टि होती है, उनमे मत्स्य एक स्थूल मानदण्ड है। मत्स्य से भी छोटी असख्य जीव-जातियाँ है, किन्तु मानव के विकास मे प्राणियो की मुख्य आठ दशाओ मे मत्स्यावतार प्रतिनिधि रूप से प्रथम है। जलीय सृष्टि मे क्रमिक परिवर्तन के फल-स्वरूप ज्यो-ज्यो जल-भाग सूखता गया और स्थल-भाग ऊपर आया, त्यो-त्यो मत्स्य का विकास कच्छप मे हुआ, क्योंकि अर्ध-जल और अर्ध-स्थल प्रदेश मे मत्स्य की अपेक्षा कच्छप अधिक सफलता से रह सकता है। अतः कच्छपावतार विकास की द्वितीय दशा है। स्थल-भाग का अधिक विस्तार होने पर जब पृथ्वी पर जगलो का बाहुल्य हुआ, तब वन्य पशुओ के प्रतिनिधि-स्वरूप वराह दशा का जन्म हुआ। जगल का पुष्टकाय वराह 'मानव' के क्रमिक विकास मे उस दशा का प्रतिनिधि है, जब केवल शारीरिक बल ही सब कुछ था। यह वराहावतार तृतीय मानव-दशा है। इसके बाद क्रमश. 'पशु' का 'अर्धमानव' मे विकास हुआ। शारीरिक अवयवो मे केवल बल के अलावा चापल्य, कार्यक्षमत्व आदि गुण आये। 'नरसिहावतार' मे हम यही बात पाते हैं। अधोमुख और चतुष्पाद पशु अब द्विपाद् होकर ऊर्ध्वमुख हुआ। उसके कार्य अब अधिक भयकर थे। नरसिह द्वारा हिरण्यकशिपु के वध मे दुष्ट-दमन है, अत सदसद्विवेक का उदय भी अर्ध-मानव 'नरसिंह' मे दृष्टिगोचर होता है। अत नरसिहावतार चतुर्थ मानव-दशा है।

किन्तु अभी भी 'मानव' मे चतुरता तथा दूरदर्शिता का अभाव था। इसकी पूर्ति के लिये

'नरसिह' 'वामन' बना। चतुरता, चालाकी और दूरदर्शिता के बल पर लघुकाय और दुर्बल मानव किस प्रकार विकराल और आत्ममन्य दानव को नीचा दिखा सकता है, इसका सुन्दर निर्देश बलि-वामन की कथा मे किया गया है। मानव विकास की पञ्चम दशा वामनावतार मे बुद्धिबल का महत्त्व दीख पडता है। किन्तु केवल बुद्धिबल से ही काम नही चलता, साथ ही साथ पर्याप्त शारीरिक बल भी चाहिये। अत परशुरामावतार मे मानव-विकास की षष्ठ दशा का प्रादुर्भाव हुआ। बुद्धि और शारीरिक बल—दोनो के समन्वय से समस्त पृथ्वी पर किस प्रकार विजय पायी जा सकती है, इसका दिग्दर्शन परशुराम-कथा मे है। 'परशुराम' मानव मे जिन उदात्त मानव-गुणो की कमी थी, वे गुण 'राम' मानव मे पाये जाते है। मानव-विकास की सप्तम दशा 'रामावतार' मे मानव, बुद्धि और शारीरिक बल के साथ-साथ कर्तव्य-परायणता, त्यागभाव, सदाचरण, अनुकम्पा, मर्यादा-पालन आदि मानवोचित उदात्त गुणो से पूर्ण है। इसी से राम 'मर्यादा पुरुषोत्तम' कहे जाते है। तो भी 'राम' का मानवत्व कुछ अश मे अपूर्ण है। उसमे ललित-कलारुचि तथा माधुर्य का अभाव है। मानव-विकास की अष्टम-दशा 'कृष्णावतार' मे ये गुण पर्याप्त रूप मे विद्यमान है। मुरलीधर श्रीकृष्ण का ललित-कलाप्रेम और पार्थसारथि श्रीकृष्ण की राजनीतिज्ञता सर्वविदित है। योगेश्वर श्रीकृष्ण ने गीता मे जिस उच्च-जीवन-दर्शन (Philosophy of Life) का उपदेश दिया है, उसका महत्त्व विश्व-विश्रुत है। साराश, भगवान् श्रीकृष्ण 'मानवता' के विकास की चरमावस्था के प्रतीक है। इसी से उन्हे ईश्वर का पूर्णावतार—अशावतार नही—कहा जाता है। उनमे 'मानव-धर्म' पूर्णता को प्राप्त है। इसी 'पूर्णता' के कारण 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' कहा गया है। उस पूर्ण एव आदर्श 'मानव' को मानव-समाज की शतश प्रणामाजलि अर्पित है।

['मानव-धर्म', : सितम्बर, १९४५ में प्रकाशित]

४३. संस्कृत-साहित्य में सहयोग

सहयोग शब्द का अर्थ मिलकर काम करना है। मानव-समाज का सहयोग से घनिष्ठ सम्बन्ध है, क्योकि सहयोग की भित्ति पर समाज की स्थापना की गई है और समाज पूर्णतया सहयोग पर अवलम्बित है। यदि सहयोग न हो तो समाज कैसा ? समाज और सहयोग के इस मौलिक सम्बन्ध को सस्कृत के वैयाकरण भलीभाँति समझते थे। इसी से उन्होंने मनुष्यो और पशुओ के समाज को भिन्न-भिन्न नाम दिये हैं। "समाजा मनुष्याणाम् समज. पशूनाम्" · मनुष्य संकल्पपूर्वक सहयोग के साथ रहता है, इसी से उसके सघ को 'समाज' नाम दिया है। पशुओ में, चाहे क्षणिक तौर से प्रातिमिक सहयोग कभी-कभी दिख जाय, किन्तु सकल्पपूर्वक सहयोग नही देखा जाता, इसी से पशुओ के संघ को 'समाज' न कहकर 'समज' नाम सस्कृत-वैयाकरणो ने दिया है। इस प्रकार मनुष्य-संघ और पशुसघ को समाज और समज—ये भिन्न-भिन्न नाम दिये जाने से स्पष्ट है कि समाज मे सहयोग का विशिष्ट स्थान है और बिना सहयोग के समाज की कल्पना नही की जा सकती। यही कारण है कि प्राचीन काल से भारतीय-साहित्य में सहयोग की महिमा गाई गई है। ऋग्वेद मे जो न केवल भारतवर्ष का अपितु समस्त विश्व का महत्वपूर्ण प्राचीनतम ग्रन्थ है, परस्पर सहयोग के लिये प्रार्थना की गई है :

संगच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम् ।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ।।
समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः ।
समानवस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ।।

अर्थात् हे मानव गण ! तुम लोग सहयोग से रहो; मिलकर चलो, मिलकर बोलो; मिलकर सोचो। पूर्वकाल मे देवगण सहयोगपूर्वक कार्य कर उन्नति को पहुंचे है। तुम्हारी ईच्छाये, तुम्हारे मनोरथ, तुम्हारे हार्दिक अभिप्राय, सहयोग की भावना से, ओतप्रोत और समान हो और तुम्हे सदैव परस्पर-सहयोग का बल प्राप्त हो। अथर्ववेद में राष्ट्र की उन्नति के लिये सहयोग पर अनेक बार जोर दिया गया है। उसके तृतीय काण्ड, चतुर्थ सूक्त मे प्रजा द्वारा राजा के चुनाव का वर्णन आया है। उस सूक्त के अन्त मे ऋषि कहता है :

पथ्या रेवतीर्बहुधा विरूपाः सर्वाः संगत्य वरीयस्ते अक्रन् ।
तास्त्वा सर्वाः संविदाना ह्वयन्तु दशमीमुग्रः सुमना वशेह ।।

अर्थात् हे राजन्! ये प्रजायें समृद्ध और स्वहित जानती है। इनमे अनेक विभिन्न-तायें है, तो भी सहयोग की भावना से प्रेरित होकर ये यहाँ एकत्रित हुई है और सबो ने मिलकर तुम्हे राजा चुना है और इस प्रकार अपना और तुम्हारा—दोनो का कल्याण किया है। इनमे सहयोग सर्वदा बना रहे और ये सब मिलकर तुम्हे पुकारे और शुभ आश्रय प्राप्त करे। उसी काण्ड मे आठवाँ सूक्त 'राष्ट्र धारण' पर रचा गया है:

सं वो मनांसि संव्रता समाकूतीर्नमामसि।
अमी ये विव्रता स्थ न तान्वः सं नमयामसि॥

अर्थात् समस्त राष्ट्र के सहयोगपूर्ण मन, अभिलाषाओ और अभिप्रायो को नमस्कार। जो लोग सहयोग की भावना को छोडकर राष्ट्रहित के विरुद्ध कार्य करते हैं, उन्हे हम नीचा दिखाने की घोषणा करते है। इसी प्रकार राष्ट्रदेवता का वर्णन करता हुआ कवि कहता है:

अहमेव वात इव प्रवामि आरभमाणा भुवनानि विश्वा।
परो दिवा पर एना पृथिव्या एतावती महिम्ना सं बभूव॥

अर्थात् राष्ट्रदेवता समस्त राष्ट्र मे सर्वगामी वायु के समान व्याप्त है। आकाश से लेकर पृथ्वी तक यह समस्त राष्ट्र, सहयोग की महिमा के कारण समृद्ध हुआ है।

वैदिक-साहित्य के समान जैन और बौद्ध-साहित्य मे भी सहयोग का माहात्म्य स्वीकार किया गया है। जैनियो की समाज रचना चतुर्विध सघ की भित्ति पर आधारित है। करुणा के साथ-साथ मैत्री पर भी जोर दिया गया है। जैन-धर्म के मूल तत्वो मे 'परस्परोपग्रहो जीवानाम्, अर्थात् प्राणियो मे परस्पर सहायता एक प्रधान तत्व है। हिन्दू-धर्म की चतुर्वर्ण व्यवस्था मे मनुष्य के मुख, बाहु, जाँघ और पैर की उपमा देकर इसी सत्य की पुष्टि की गई है। क्योकि शरीर के इन विभिन्न अवयवो मे सहयोग न होने पर, शरीरी मानव समाज की वही दुरवस्था होगी, जो अपने मूर्ख और असहयोगी शिष्यो के कारण उन गुरुजी की हुई थी, जिनके दाहिने और बाये पैर को शिष्यो ने आपस मे बाँट कर एक दूसरे के पैर को निर्घृणतापूर्वक पीटा था। चारो वर्णों मे परस्पर सहयोग होने पर ही, समाज-रथ सुचारु रूप से उन्नति के मार्ग पर आगे बढ़ सकेगा। इसी प्रकार बुद्ध-धर्म मे बुद्ध और धर्म के साथ-साथ सघ के प्रति शरणागति आवश्यक मानी गई है। बौद्ध लोग प्रतिदिन प्रतिज्ञा करते हैं: बुद्ध सरण गच्छामि, धम्म सरण गच्छामि, संघ सरण गच्छामि। सघ के प्रति बौद्धो की इस विशेष निष्ठा का कारण सहयोग की महत्ता। है। धम्मपद बौद्धो की मनुस्मृति है। उसमे कहा है कि:

सुप्पबुद्धं पबुज्झन्ति सदा गोतमसावका।
येसं दिवाच रत्तोच निच्चं संघगता सति॥

अर्थात् जब तक गौतम बुद्ध के उपासक दिनरात सदैव सघ-सस्था की सहयोग-भावना

को मानते रहेगे, तब तक सोते-जागते उनकी सर्वतोमुखी उन्नति होती रहेगी। .बौद्ध-साहित्य मे जातक कथाओ का स्थान महत्वपूर्ण है। जातक मे यह कथा आई है कि एक गाँव के लोग आपस मे लड-झगडकर कष्टमय जीवन बिता रहे थे। उनकी दयनीय दशा देखकर बोधिसत्व ने उन्हे सहयोगपूर्वक रहने का उपदेश दिया। जिसके फलस्वरूप वे मिलकर रहने लगे। उन्होने मिलकर गाँव की सडक को सुधारा, जो बरसात मे कीचड के कारण चलने लायक नही रहती थी। उनमे से प्रत्येक ने गाँव की सफाई मे सहयोग दिया। तब उनका जीवन सुखमय हो गया। एक दूसरे जातक मे कहा गया है कि बनारस के एक जगल मे सूकरो ने अपने को बाघ से बचाने के लिए आपस मे मिलकर पद्मव्यूह की रचना की और तब बाघ का ऐसा मुकाबला किया कि बाघ को कहना पडा :

इमे सुदं यन्ति दिसोदिसं पुरे भयट्ठिता लेणगवेसिनो पुथू।
ते दानि संगम्म रसन्ति एकतो यत्थट्ठिता दुप्पसहज्ज मे मया।।

अर्थात् पहले ये सूकर डर के मारे अपनी-अपनी गुफाओ को खोजते हुये जिस-तिस दिशा मे भाग जाते थे। अब एक जगह इकट्ठे होकर आवाज लगाते है। आज मेरे लिये इनका मर्दन करना दुष्कर है।...यह है सहयोगपूर्वक किये गये कार्य की सफलता। तभी तो गुरु गोविन्दसिह ने कहा था 'पछिहि लै मैं बाज लडाऊँ।" बौद्ध-साहित्य के प्रसिद्ध ग्रन्थ दीघ-निकाय मे गौतम बुद्ध अपने प्रिय शिष्य आनन्द से कहते हैं कि :

"यावकीवच आनन्दवज्जी समग्गा संनिपतिस्सन्ति, समग्गा वुट्ठहिसन्ति, वज्जी करणीयानि करिस्सन्ति, बुद्धि येव आनन्द वज्जीनं पातिकङ्खानो परिहानि।"

अर्थात् हे आनन्द! जब तक वृज्जि प्रजातत्र की यह जनता आपस मे सहयोग से एक साथ उठती, बैठती और कर्तव्यपालन करती है; तब तक हे आनन्द! तुम यह निश्चय मानो, इनकी वृद्धि होती रहेगी और इनके मनोरथ सदैव सफल होगे। इस प्रकार हम देखते है कि वैदिक और बौद्ध-साहित्य मे सहयोग का गुणगौरव किया गया है। रामायण और महाभारत, हमारे देश के सास्कृतिक इतिहास की अपूर्व निधि है। उनमे स्थान-स्थान पर सहयोग की महिमा बताई गई है। इसी प्रकार कालिदास, माघ आदि महाकवियो के ग्रन्थो मे सहयोग के महत्व की चर्चा है। सस्कृत-साहित्य मे पंचतत्र का प्रमुख स्थान है। इसकी कहानियो ने अतिप्राचीन काल से केवल भारत की ही नही, अपितु योरोप की समस्त प्रमुख भाषाओ के कथा-साहित्य मे स्थान पाया है। इसी सर्वश्रुत पचतत्र के पाँच प्रकरणो मे एक प्रकरण मिसप्राप्ति है, जिसमे सहयोग के द्वारा कार्य की सफलता को दिखाने के लिये एक मनोरम कहानी दी गई है :

असाधना वित्तहीना बुद्धिमन्तः सुहृत्तमाः।
साधयन्त्याशु कार्याणि कामकूर्ममृगा खुवन्।।

कौआ, कछुआ, हिरण और चूहा—ये चार मित्र थे। यद्यपि वे साधनविहीन और नि:सहाय थे, किन्तु उनमे परस्पर सौहार्द्र था। उन्होने सहयोग की भावना से काम किया। इसी

से वे अपने अभीप्सित कार्य मे सफल हुये।...एक बार हजारो कबूतरो का झुड एक बहेलिए के जाल मे फँस गया था, किन्तु अपने सरदार के कहने पर सब कबूतरो ने एक साथ, एक समय उड़ना प्रारम्भ किया और जाल को आकाश मे उडा ले गये और एक निरापद स्थान में उतर कर अपनी जान बचाई। जब वे कबूतर जाल को उडा ले जा रहे थे, तब बहेलिये ने सोचा:

संहतास्तु हरन्त्येते मम जालं विहंगमाः।
यदा तु विवदिष्यन्ति वशमेष्यन्ति ते तदा॥

अर्थात् अभी इन कबूतरो मे परस्पर सहयोग है, इसी से ये जाल को उठाये जा रहे है, किन्तु जब इनमे विवाद और मतभेद उत्पन्न होगा, तब तो ये मेरे वश मे आयेंगे। किन्तु बहेलिये की यह आशा दुराशा ही रही। 'मित्र प्राप्ति' प्रकरण के अन्त मे कवि कहता है कि:

तिरश्चामपि यत्रेदृक् संगतं लोकसंमतम्।
मर्त्येषु यदि करस्तत्र विस्मयो ज्ञानशालिषु॥

अर्थात् पशु-पक्षियो मे भी परस्पर-सहयोग सफलता का कारण बनता है। यदि कही विवेकी मानव, सहयोग को अपना कर सफल बने, तो इसमे क्या आश्चर्य।...वही कवि आगे चलकर कहता है कि:

न वंशमार्गक्रमलक्षणं गुणं निरीक्षिते नैव वपुर्नचागमम्।
य एव शूरः सुसहायवान्नरस्तमेव लक्ष्मीश्चपलापि सेवते॥

अर्थात् उत्तम वश मे जन्म, शरीर-स्वास्थ्य और शास्त्रज्ञान के कारण लक्ष्मी आकृष्ट नही होती। वह साथी मित्रो के सहयोग से सम्पन्न वीर पुरुष को वरती है।...उद्भट्ट सागर सुभाषितो का अमूल्य सग्रह है। उसके प्रथम प्रवाह मे कहा है:

गुणैः सर्वज्ञ कल्पोऽपि सीदत्येको निराश्रयः।
अनर्घमपि माणिक्यं हेमाश्रयमपेक्षते॥

चाहे मनुष्य अपने गुण के कारण सर्वज्ञ ही क्यो न बन जाय, मित्रो के सहयोग के बिना वह दुखी ही रहेगा। जैसे मणि कितना भी अनमोल क्यो न हो, सुन्दर आभूषण बनाने के लिये उसे सुवर्ण के सहयोग की अपेक्षा करनी ही पड़ती है। ..उसी ग्रन्थ के द्वितीय प्रवाह मे कहा है कि:

ज्ञानंवर्द्धयति श्रियं वितनुते वैदग्ध्यमामुञ्चति।
श्रेयः पल्लवयत्यघानि दलयत्युन्मीलयत्युन्नतिम्॥
बुद्धिं संपरिशोधयत्युपचिनोत्युच्चैः कलाकौशलं।
किं किं नारभते हरेस्वि कथा मित्रैः सहायैर्युतिः॥

सहयोग से अनेक लाभ है। उससे ज्ञान बढता है, निपुणता प्राप्त होती है। कल्याण मिलता है। दुख दूर होते है। उन्नति होती है। बुद्धि की परख होती है, कलाओ मे कौशल्य प्राप्त होता है। कहाँ तक कहाँ जाय, सक्षेप मे हरि-कथा-कीर्तन के समान, सहायक मित्रो का सहयोग क्या नही कर सकता है?

अब श्लेष के आधार पर रचे गये एक उत्तम सुभाषित की छटा देखिये:

> सद्वंशजातं गुणकोटि नम्रं धनुः कथं क्षत्रियवामहस्ते।
> शरः प्राणहरोऽप्यसव्ये सत्पक्ष योगादधर्मो गरीयान्॥

अच्छे बाँस का बना और सुन्दर डोरी से नम्र भी धनुष, योद्धा के बाये हाथ मे रक्खा जाता है, किन्तु बाण को, जो इतना दुष्ट है कि छूटते ही तत्काल प्राण हर लेता है, योद्धा के दाहिने हाथ का गौरव मिलता है, क्यो? यह अन्याय कैसे? कवि उत्तर देता है कि बाण को अच्छे पख का सहयोग प्राप्त है, इसी से . । कवि का दूसरा अभिप्रेत अर्थ यह है कि उच्चवश और नम्रतादि गुणो से वह गौरव नही प्राप्त हो सकता, जो अच्छे सहयोगियो की सहायता से मिलता है। इस श्लोक मे वश, गुण, सत्पक्ष, दक्षिण और वाम—इन शब्दो मे श्लेष होने से दो अर्थ का चमत्कार है। .सफलता के लिये बल की अपेक्षा सहयोग अधिक आवश्यक है। आगे के श्लोक मे यही बात कही गई है:

> अत्युच्चश्रृंगोपरि तुंगवृक्षात् काकोऽपि पक्वफलमालभते सपक्षः।
> सिंहो बली द्विरदवर्यबलाधिकोऽपि सीदत्यहो तरुतले सहिपक्षहीनः॥

अर्थात् फल-प्राप्ति के लिये केवल बल पर्याप्त नही है, बल्कि साथियो का सहयोग चाहिये। सपक्ष याने पख सहित होने से कौआ भी ऊँचे से ऊँचे फल को पाता है और गजराज से भी अधिक बली सिह, पक्षहीन होने के कारण, वृक्ष के नीचे ही रहकर फल की ओर ताकता रहता है। इस श्लोक मे 'पक्ष' और 'फल' शब्द मे श्लेष बडा मनोरम है। महाभारत का श्लोक है .

> संहतिः श्रेयसी राजन् विगुणेष्वपि बन्धुषु।
> तुषैरपि परिभ्रष्टा न पुरोहन्ति तण्डलाः॥

अर्थात् सहयोग प्राप्त करने मे छोटे-बड़े का विचार नही करना चाहिए। यदि चावल के दाने, अपने छिलके से अलग कर दिये जाते है, तो उनमे फिर उगने की शक्ति नही रहती। उगने की शक्ति प्रदान करने मे छिलके का सहयोग आवश्यक है। . एक दूसरा कवि कहता है:

> अल्पानामपि वस्तूनां संहतिः कार्यसाधिका।
> तृणैर्गुणत्वमापन्नैर्बध्यन्ते मत्तदन्तिनः॥

अर्थात् कार्य साधने मे छोटे साथियो का भी सहयोग समान रूप से सहायक है।

पटसन या जूट के छोटे-छोटे रेशो से बनी रस्सी, बड़े-से-बडे हाथी को बाँध सकती है। कवि कहता है :

क्षुद्राणामपि साहाय्यमासाद्य लभते श्रियम्।
लंकेश्वर पदं रामो विजिग्ये कपि संगतिः।।

अर्थात् इतिहास साक्षी है कि छोटो का भी सहयोग विफल नही जाता, बल्कि सफलता-प्राप्ति मे सहायता करता है। श्री रामचन्द्रजी ने परमप्रतापी रावण को वानर सेना के सहयोग से हराया था। एक दूसरा सुभाषित है .

कुरुते कार्यमच्छिद्रं तृणानामपि संहतिः।
तालच्छत्तिकयादित्य सप्रतापोऽपि वार्यते।।

अर्थात् छोटी-से-छोटी वस्तुओ के सहयोग से बडे-से-बडा कार्य हो सकता है। ताल के पत्तो से बना छाता सूर्य भगवान की प्रखर धूप से कितनी रक्षा करता है।. . .इसी सम्बन्ध मे महाकवि माघ ने कहा है कि :

बृहत्सहायः कार्यान्तं क्षोदीयानपि गच्छति।
सम्भूयाम्भोधिमभ्येति महानद्या नगापगा।।

छोटे-से-छोटा भी बडो के सहयोग को पाकर अपना मतलब निकाल लेता है। पहाड़ की एक छोटी-सी भी नदी, बडी नदियो से मिलकर समुद्र तक पहुँच जाती है। . .एक दूसरे कवि की सूझ देखिये :

बह्वीं प्रतिष्ठामाप्नोति पंचभिः सेवितो नरः।
उत्तमाङ्गं शिरः प्रोक्तं पञ्चेन्द्रिय समन्वितम्।।

कहा है—सात-पाँच की लाठी, एक जने का बोझ। इसी प्रकार पाँच-सात की सहायता से उत्तमाग प्रतिष्ठा प्राप्त की जा सकती है। तभी तो पाँच इन्द्रियो से युक्त सिर, शरीर का उत्तमाग कहाता है। एक दूसरा सुभाषित है :

सर्वत्र साहाय्यमपेक्षणीयंतदन्तरा क्वापि न सिद्धिरिष्टा।
सृष्टिर्हिसर्वा परमेश्वरस्य विजृम्भतेऽन्योन्य समष्टिमूला।।

अर्थात् हे मानवो! सदैव सहयोग की अपेक्षा करो। उसके बिना सफलता मिलना असभव है। परमपिता जगदीश्वर की यह चराचर सृष्टि भी परस्पर समष्टि के आधार पर ही तो चल रही है; क्योकि पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश—इन पाँच महाभूतो के पची-करण पर ही तो सृष्टि की रचना हुई है।

अन्त मे सहयोग की महत्ता पर ऋग्वेद का मंत्र सुनिये, जिसका अर्थ है : 'हम सब सहयोग

४४. 'हिन्दू' शब्द का वास्तविक अर्थ

'हिन्दू' शब्द एक भौगोलिक नाम है। यह 'सिन्धु' (सस्कृत) शब्द का फारसी रूप है। भारतवर्ष की पश्चिमीय सीमा पर 'सिन्धु' नामक प्रसिद्ध नद है। उसके पूर्व की ओर विस्तृत भूमिखण्ड के निवासियो को सस्कृत मे सिन्धुपारीय नाम से संज्ञा दी गई थी। गगापारी, यमुनापारी, सरयूपारी आदि शब्दो की भाँति सिन्धुपारी या सिन्धुपारीय शब्द भी भौगोलिक अर्थ रखता है। व्यवहार की परम्परा के कारण गगापारी या सरयूपारी शब्द गगा या सरयू के उत्तर मे रहने वालो के लिए एव यमुनापारी शब्द यमुना के दक्षिण मे रहनेवालो के लिए अभी भी प्रयुक्त होता है। एवमेव रूढि के कारण सिन्धु के पूर्व मे रहने वालो के लिए ही सिन्धुपारी शब्द का प्रयोग होता था। 'सिन्धु के पश्चिम मे रहने वालो" के अर्थ मे इस शब्द का व्यवहार रूढि नही था। इसका कारण प्रयोग करनेवालो का दृष्टिकोण और उस दृष्टिकोण का ऐतिहासिक परम्परा मे अधिक प्रचलन था। कहने का तात्पर्य यह है कि प्राचीन काल मे सिन्धु नद के पूर्व मे स्थित विशाल भूखण्ड के निवासियो को 'सिन्धुपारीय' सज्ञा दी गई थी। उसी शब्द का सक्षिप्त रूप 'सिन्धु' शब्द है।

भाषा-विज्ञान के नियमो के अनुसार सस्कृत शब्दो का 'स', फारसी (ईरानियन) भाषा मे 'ह' बन जाता है, जैसे 'सोम' का होम, 'सप्ताह' का 'हफ्ता' आदि। उसी प्रकार से 'सिन्धु' शब्द का फारसी भाषा मे रूपान्तर 'हिन्दु' शब्द मे हुआ। इस प्रकार भारतवर्ष के निवासी 'हिन्दू' कहलाने लगे। कालान्तर मे धर्म-विद्वेष के कारण 'हिन्दू' शब्द का प्रयोग मुसलमान ग्रन्थकार निन्दात्मक अर्थ मे करने लगे, यह दूसरी बात है। इतिहास मे ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं, जहाँ विजित जाति का नाम-वाची शब्द, विजेताओ द्वारा निन्दात्मक अर्थ मे प्रयुक्त किया गया है। दैत्य शब्द को ही लीजिये। दिति के वशज दैत्य, अदिति के वंशज आदित्यो (देवों) के शत्रु थे। अत. आगे चलकर भारतीय-वाङमय मे दैत्य शब्द कुत्सितार्थ बना दिया गया। राक्षस, पिशाच शब्द भी मूल मे जातिवाची थे। संस्कृत के दस्यु (डाकू) शब्द का समवर्ती 'दह्यु' शब्द ईरानी भाषा मे कुत्सित अर्थ वाला नही है। भारतीय आर्यों ने द्वेष के कारण दस्यु शब्द का अर्थ बिगाड दिया है। इसी प्रकार विजेता मुसलमानो ने 'हिन्दू' शब्द का प्रयोग कुत्सितार्थ मे किया हो तो कोई आश्चर्य की बात नही है। क्योकि जाति सघर्ष के साथ विश्व के इतिहास मे ऐसा हुआ ही करता है। आश्चर्य तो तब होना चाहिए, जब विजित जाति इसके कारण अपने प्राचीन नाम को छोड दे और स्वयं उस नाम से अपने को सबोधित करना न चाहे। अस्तु, वर्तमान 'हिन्दू' शब्द, सस्कृत भाषा के 'सिन्धु' (सिन्धुपारीण) शब्द का रूपान्तर

मात्र है। साथ ही यह शब्द उस प्राचीन ऐतिहासिक स्मृति का प्रतीक है, जब प्रागैतिहासिक काल मे भारतीय आर्य काल और ईरानी आर्य परस्पर सम्पर्क मे आये थे। हिन्दुओ के ऋग्वेद और ईरानियो (भारतीय पारसी) के आवेस्ता मे, भाषा और भाव—दोनो की दृष्टि से, परस्पर सादृश्य उसी ऐतिहासिक सम्पर्क का साक्षी है। 'सिन्धु' शब्द भारतवर्ष के निवासियो के लिये तो प्रयुक्त होता ही था, साथ ही लक्षण वृत्ति से भारत की अपूर्ण शिल्पकला की वस्तु के लिए भी प्रयुक्त होता था। इजिप्त के राजाओ के सुरक्षित शवो पर लपेटे गये कोमल तन्तुवाले भारतीय कपडो को भी 'हिन्द' नाम दिया गया था। कहने का तात्पर्य यह है कि इस देश की अनेक गौरवपूर्ण वस्तुओ ने प्राचीन इतिहास मे 'हिन्द' नाम पाया था। सख्या के अको को, जिन्हे अरबी अक कहते है, किन्तु जो वास्तव मे—जैसा कि भारतीय सविधान सभा ने कहा है—भारतीय अको के अन्तर-राष्ट्रीय रूप है, उन्हे अभी भी उर्दू मे 'हिन्द-सा' कहा जाता है। उसी प्रकार इस देश के निवासी 'हिन्दु' कहलाते थे। 'भारतीय' शब्द की तरह 'हिन्दु' शब्द भी सम्पूर्ण देश के निवासियो की सज्ञा है, जैसे 'भारतीय' कहने से हिन्दू, सिक्ख, पारसी, मुसलमान सभी भारत भूमि निवासियो का बोध होता है। उसी प्रकार से 'हिन्दु' शब्द का भी व्यापक अर्थ है। हमारे देश के निवासियो की 'हिन्दु' सज्ञा उसी प्राचीन 'सिन्धुपारीण' नाम का समानार्थक प्रयोग है।

इस प्रकार हम देखते है कि 'भारतीय' और 'हिंदु'—ये दोनो शब्द—पर्यायवाची है। भेद केवल इतना ही है कि प्रथम शब्द—'भारतीय' तत्सम है और दूसरा शब्द—'हिदु' तद्‌भव है। अधिक से अधिक यही कह सकते है कि यह तद्‌भव शब्द फारसी -(ईरानी) भाषा मे रूपान्तरित होने से विदेश मे घूमकर आया है और अन्य तद्‌भव शब्दो के समान सदैव स्वदेश ही मे नही रहा। विदेश से घूमकर आये अनेक तद्‌भव शब्दो का उदाहरण दिया जा सकता है। सूर्य का पर्यायवाची 'मिहिर' शब्द—एक ऐसा ही उदाहरण है। सस्कृत का 'मित्र' शब्द जो पुल्लिग मे सूर्य का पर्यायवाची है, ईरानी भाषा मे 'मिस्र' हो गया। तुर्की, इजिप्त आदि सेमेटिक परिवार की भाषाओ मे जाकर 'मिस्र' शब्द 'मिहिर' या 'मिहर' बन गया। बाद मे जब भारत और अरब के ज्योतिर्विदो मे ज्योतिषविद्या का आदान-प्रदान हुआ, तब वही 'मिहिर' शब्द उसी सूर्य अर्थ मे पुन भारत मे आया। प्रसिद्ध ज्योतिषाचार्य 'वराह मिहिर' के नाम मे उसी सम्पर्क की स्मृति आज तक बनी है। आज सस्कृत मे एक ही शब्द के 'मित्र' और 'मिहिर' ये दोनो रूप सूर्य के अर्थ मे प्रचलित है। ठीक उसी प्रकार 'सिंधु' और 'हिदु' शब्द एक ही शब्द के दो रूप है। एव 'मिहिर' और 'हिदु' ये शब्द विदेशो से घूमकर आये तद्‌भव रूप है। 'मित्र' और 'मिहिर' के समान 'सिन्धु' और 'हिदु' भी समानार्थक है। जिस प्रकार 'सिधु' इस भौगोलिक नाम से एक विशिष्ट धर्मावलम्बी जाति का अर्थ अभिप्रेत नही हो सकता, उसी प्रकार 'हिदु, शब्द भी एक 'विशिष्ट धर्मावलम्बी जाति' का बोधक नही है। वास्तव मे 'भारतीय' शब्द के समान 'हिंदु' शब्द इस देश के सारे निवासियो का नाम है।

जब इस देश के निवासी 'हिंदु' है, तो देश 'हिन्दुस्तान', देश की सस्कृति 'हिन्दु सस्कृति' कही जा सकती है। नवीन दृष्टिकोण के मित्र इन 'नये' नामो को सुनकर नाक-भौ सिकोड़ेंगे,

किन्तु यह उनकी भूल है। जैसा कि पहिले कहा जा चुका है, 'हिन्दु' शब्द शुद्ध भौगोलिक शब्द है, इसमे साम्प्रदायिक अर्थ का लेश भी नही है। फ्रेंच, जर्मन, रशियन शब्द की तरह 'हिन्दु' शब्द भी राष्ट्र-नाम है, धर्म-नाम नही। 'हिन्दुस्तान' मे विभिन्न जातियो का अस्तित्व सदैव रहा है। वर्ण, वश, व्यवसाय, धर्म आदि मे भेद के कारण भिन्न-भिन्न अगणित जातियो का उल्लेख वैदिक वाङमय मे पाया जाता है। उन जातियो मे आर्य, आर्येतर, आदिवासी, बाहर से आयी, सकर से उत्पन्न आदि सभी जातियो का समावेश है। 'हिन्दु' राष्ट्र मे जातियो की विविधता—कोई नयी बात नही है। प्राचीन काल से लेकर आज तक आर्य, द्राविड, नाग, आभीर, शक, हूण, गुर्जर, मगोल, मुगल आदि अनेक जातियो ने हिन्दु-राष्ट्र मे अपने को समाविष्ट किया है। यह एक ऐतिहासिक सत्य है। 'हिन्दु' शब्द के इस मौलिक और वास्तविक अर्थ को ध्यान मे रखने से अर्थ का अनर्थ हो जाता है। अभी हाल ही मे भारतीय सविधान-सभा मे देश को Secular State (धर्मातीत राष्ट्र) घोषित किया गया है। इसके रहस्य और उपादेयता को समझने के लिये 'हिदु' राष्ट्र की ऐतिहासिक परम्परा जानना आवश्यक है। इसके अज्ञान के कारण कई लोग देश को 'हिन्दुस्तान' और देश की सस्कृति को हिदु-सस्कृति' कहने मे साम्प्रदायिकता की गन्ध पाते है। किंतु यदि उपर्युक्त विवेचन ध्यान मे रखकर विचार किया जाय तो हमारा देश 'हिन्दु-स्तान' शब्द से सम्बोधित किये जाने पर भी 'धर्मातीत' राष्ट्र बना रह सकता है। क्योकि हमारे देश की परपरा ही ऐसी रही है कि यहाँ विभिन्न धर्मावलम्बी बिना परस्पर विरोध के साथ रहते आये है। जिन देशो मे धर्म-परिवर्तन की प्रथा है, वहाँ एक धर्म के लोग दूसरे धर्म के लोगो का पृथक् अस्तित्व नही देख सकते। वहा तो सब को 'एक धर्म' का बना कर ही शाति की आशा की जा सकती है, अन्यथा सघर्ष का अन्त नही होता। हमारे देश की दुनिया इस विषय मे 'तीन लोक से न्यारी है।' यहाँ सभी धर्म—आस्तिक, नास्तिक, एकदेववादी, बहुदेववादी, अवतारवादी, अद्वैतवादी—अपने-अपने धर्म का उचित रूप से पालन करते हुये रह सकते है। इसके कारण राष्ट्र या देश की अखण्डता को कोई ठेस नही पहुँचती।

इन दिनो देश के नामकरण के सम्बन्ध मे पर्याप्त चर्चा हुई है। कई लोगो ने 'आर्यावर्त' नाम सुझाया है; परन्तु अनेक कारणो से यह नाम सर्वसम्मत नही हो सकता। भाषा-विज्ञानी और वश-विद्या-विशारदो के मतानुसार भारतीय ही नही, बल्कि ईरानी, ग्रीक, इटैलियन, जर्मन, फ्रेंच, रशियन, अग्रेजी आदि अनेक आधुनिक जातियाँ अपने को 'आर्यवश' की मानती है। जर्मन डिक्टेटर 'हिटलर' का आर्यवशाभिमान और स्वस्तिक चिह्न धारण सभी को विदित है। 'फारस' देश के 'ईरान' नाम में, हिटलर की पदवी 'हेर' (Herr) मे एवं अंग्रेजी शब्द 'सर' (Sir) मे आर्य शब्द का रूप छिपा हुआ है। इन सभी जातियों को 'आर्यवशी' मानने मे गर्व होता है। इस स्थिति मे केवल भारतवर्ष को ही 'आर्यावर्त' कहना उचित न होगा। दूसरा आक्षेप यह है कि हमारे देश मे 'आर्यावर्त' शब्द का प्रयोग विंध्य और हिमालय के बीच के भाग के लिये प्राचीन काल मे किया जाता था। उसमे 'दक्षिणापथ' सम्मिलित नही था। इसके अतिरिक्त 'आर्यावर्त' शब्द हमारे सामने प्रागैतिहासिक काल के आर्यों और अनार्यों के बीच महान सघर्ष को उपस्थित कर देता है, जिसकी विस्मरणीय स्मृति को

पुन जगाना वाछनीय नही है। वैसे ही, दक्षिण के तामिल भाग से कभी-कभी 'द्राविडस्तान' की पुकार सुनाई दे जाती है। इसलिये "आर्यावर्त" नाम सर्वसम्मत नही हो सकता है। दूसरा शब्द 'भारतवर्ष' है, जिसका प्रयोग देश के लिये बहुत कुछ चल पडा है और जिसे सविधान-सभा भी शीघ्र स्वीकार कर लेगी, ऐसी आशा है। भारतवर्ष शब्द विख्यात सम्राट भरत का स्मारक होने के कारण ऐतिहासिक भी है और देश के प्राचीन गौरव का परिचायक है। किन्तु कोई यदि पूछ बैठे कि सम्राट् भरत के पहिले इस देश का क्या नाम था ? तो क्या उत्तर दिया जायगा ? भारतवर्ष नाम सम्राट् भरत के बाद दिया गया था। किन्तु उसके पूर्व तो कोई दूसरा ही नाम होना चाहिये। इस दृष्टि से 'भारतवर्ष' नाम अपेक्षाकृत प्राचीन नाम नही है। यदि हमारे देश का नाम 'हिन्दुस्थान' रखा जाय, तो ऊपर के आक्षेप नही उठते। क्योकि यह नाम भौगोलिक होने के कारण उतना ही पुराना है, जितना सिन्धु नद। 'हिन्दुस्तान' शब्द आर्य-अनार्य के सघर्ष को नही उठाता और भौगोलिक होने के कारण अन्य देशवासी, आर्यावर्त के समान इसे अपना नही सकते। सुतरा सभी दृष्टियो से 'हिन्दुस्तान' नाम ग्राह्य है।

हमारे देश का नाम 'सिन्धु' या उसके तद्भव शब्द 'हिन्दु' को छोड नही सकता, क्योकि उसके चारो ओर सिन्धु ही सिन्धु है। उत्तर पश्चिम मे 'सिन्धु' (नद) और पश्चिम, दक्षिण और पूर्व मे सिन्धु (समुद्र) लहराता है। सस्कृत भाषा मे 'सिन्धु' का एक तीसरा अर्थ सामान्य 'नदी या नद' भी है। देश के उत्तर-पूर्व मे बहने वाला 'ब्रह्मपुत्र' नद भी 'सिन्धु' है उत्तर-पश्चिम का विशिष्ट नद 'सिन्धु' (Indus) और उत्तर-पूर्व का सामान्य नद 'सिन्धु' (ब्रह्मपुत्र)—ये दोनो महानद, देश के मुकुट रूप हिमालय के एक ही स्थान से निकलकर भिन्न दिशाओ मे (पश्चिम और पूर्व मे) बहते हुए अपनी आधी यात्रा के बाद दक्षिण की ओर झुकते है और देश के सपूर्ण स्थल भाग को घेरते है। उधर दक्षिण मे अरब सागर (रत्नाकर) और बगाल सागर (महोदधि) है (सिन्धु का अर्थ सागर भी है) पश्चिम और पूर्व के दोनो छोर पर सिन्धु और ब्रह्मपुत्र को अपने मे मिलाते है। इस प्रकार से हमारा देश चारो ओर से सिन्धु-बलयीकृत है, अर्थात् सिन्धु चारो ओर से देश को घेरे हुए है। ककण के पूर्वार्द्ध मे सिन्धु और ब्रह्मपुत्र—ये नद (सिन्धु) और अपरार्ध मे रत्नाकर और महोदधि ये दो समुद्र (सिन्धु) है। जिस प्रकार उत्तर मे नगराज हिमालय से सिन्धु और ब्रह्मपुत्र नदो को जन्म मिला है, उसी प्रकार दक्षिण मे रत्नाकर और महोदधि सागरो को भारतीय महासागर Indian Ocean से जन्म मिला है। जैसे उत्तर मे पृथ्वी का मानदण्ड पर्वत राज हिमालय है, वैसे ही दक्षिण मे अथाह जलराशिपूर्ण भारतीय महासागर है। अतएव चारो ओर से सिन्धु सवलित हमारे देश को 'सिन्धु' या उसके तद्भव 'हिन्दु' शब्द से अलग नही रखा जा सकता है। सारांश यह है कि अनेक जातिसकुल, नाना धर्मावलम्बियो से अध्युषित, परमप्राचीन, आसिन्धु सिन्धुपर्यन्त ब्याप्त हमारे देश का नाम 'हिन्दुस्थान' है, और यहॉ का प्रत्येक निवासी—चाहे वह जिस धर्म, जाति, या सम्प्रदाय का हो—हिन्दू है।

[जयहिंद, दिपावली अंक, संवत् २००६ में प्रकाशित]

४५. धर्म और दर्शन

भारतवर्ष बहुत पुराना देश है। प्रागैतिहासिक काल से लेकर आज तक आर्य, द्राविड, नाग, आभीर, शक, हूण, गुर्जर, मगोल, मुगल आदि अनेक जातियो का यहाँ विलीनीकरण हुआ है। भारतीय-सस्कृति मे ये सब जातियाँ आत्मसात् कर ली गई है, साथ ही उन्होने भी भारत की धार्मिक साधना को नया रूप दिया है। यह सुनकर आश्चर्य होगा कि अज्ञात काल की दुर्गापूजा, तीर्थयात्रा, तिलकमुद्राये, सिन्दूरधारण, लिंगपूजा आदि प्रचलित प्रथाये, वैदिक काल के याग प्रधान श्रौतधर्म मे, स्मृतिकाल के स्मृतिधर्म और पौराणिक काल के पौराणिक धर्म—इन सभी धर्मो का वर्तमान हिन्दू धर्म मे समन्वय हो गया है। इसी से धर्म कार्य के आरभ मे आस्तिक हिन्दू अपने को, 'श्रुति-स्मृति-पुराणोक्त-फल-प्राप्ति-काम' घोषित करता है। इन्द्र, विष्णु आदि ऋग्वेदकालीन देवताओं के साथ-साथ ब्रह्मा, शिव आदि उत्तरकालीन देव एव राम, कृष्ण, गणेश आदि पौराणिक देव, भैरव, काली, हनुमान आदि स्थानीय देव—सभी को ईश्वरीय शक्ति का प्रतीक मानकर आज उपासना की जाती है। शैव, वैष्णव, शाक्त आदि विशिष्ट सप्रदायो मे भी पचायतन पूजा देखी जाती है। वैदिक काल का कर्मकाण्ड, उपनिषत्काल का ज्ञानकाण्ड और मध्ययुग का भक्ति-काण्ड—इन सब की समय पर परिस्थिति के अनुसार क्रम से प्रधानता रही, किन्तु बाद मे इन सबका सामजस्य होकर ज्ञानकर्म कर्मसवलित भक्तिमार्ग मे पर्यवसान हुआ है। एवमेव तत्काल प्रचलित धार्मिक प्रथाओ से विद्रोह कर प्रतिक्रिया स्वरूप उठनेवाले बौद्ध, जैन आदि अनीश्वरवादी सप्रदाय भी विशालोदर भारतीय धर्म मे समा गये है। भगवान् बुद्ध को हिन्दुओ के दशावतारो मे अन्तर्भूत कर लेने से बौद्धो की विशिष्टता ही जाती रही। जैन धर्म के प्रचलित व्यावहारिक रूप मे जैसे मन्दिर-दर्शन, मूर्तिपूजा, व्रत, उपवास, तीर्थयात्रा, धार्मिक सस्कार आदि मे हिन्दू और जैन का भेद लुप्तप्राय हो गया है। रहा कुछ मौलिक सिद्धान्तो का भेद, सो तो रह सकता है। क्योकि विचारक्षेत्र मे पूर्ण स्वातत्र्य को भारतीय परपरा ने कभी रोका ही नही। अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैत, द्वैताद्वैत आदि साम्प्रदायिक सिद्धान्तो के समान बौद्ध और जैन सिद्धान्त भी भारतीय धर्म-परम्परा मे निभ जाते है। भारतीय इतिहास साक्षी है कि इस बूढे देश के दीर्घकालीन इतिहास मे ऐसे सघर्ष के कठिन प्रसग आये थे, किन्तु समझौता और समन्वय करने की भारतीय प्रतिभा ने उन पर विजय पाई है। भारतीय परपरा मे व्यक्ति के लिये धर्म का परि-वर्तन वर्ज्य है, किन्तु समष्टिरूप से धर्म का विकास और रूपान्तर सदैव होता आया है। विकास-शीलता की इस प्रवृत्ति ने भारतीय धर्म को सब धर्मों से अधिक परमत-सहिष्णु बनाया है।

अब प्रश्न उठता है कि यह कैसे संभव हुआ ? नाना आचार-विचार और विश्वासो के इस विशाल जनसमूह को एक सूत्र मे बाँधनेवाला और मानसिक विकास के विभिन्न स्तरो की जातियो मे एकरूपता लानेवाला कौन-सा जादू है ? इसका उत्तर यह है कि एक विशिष्ट दृष्टिकोण . सदैव से भारतीय जीवन को प्रभावित करता रहा है, वह है कर्मवाद और पुनर्जन्म का सिद्धान्त। इसके अनुसार मनुष्य अपने कर्मो का फल भोगता है, इसके लिये दूसरो को दोष देना व्यर्थ है। इस सिद्धान्त ने भारतीय समाज-व्यवस्था को जो स्थिरता और व्यवस्थितता प्रदान की है, वह ससार मे अन्यत्र नही दिखती। समाज एक विराट् पुरुष है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र उसके विभिन्न अग है। समाज पुरुष के सुखी जीवन के लिये सभी अगो का स्वस्थ होना आवश्यक है। शरीर के अगो मे ऊँच-नीच की कल्पना व्यर्थ है। समष्टि भारतीय जीवन की इस सजीव कल्पना ने कर्मवाद के अनुपम सिद्धान्त का आश्रय लेकर प्रत्येक निवासी को आत्मसतुष्ट और स्वार्थनिरपेक्ष रहना सिखाया है। अन्य देशो मे उच्चवर्ग के प्रति, तथाकथित नीच वर्ग मे प्रतिस्पर्धा, ईर्ष्या और विद्रोह की भावना जागरूक है। किन्तु भारत मे इसका अपेक्षाकृत अभाव है। यहाँ ब्राह्मण और चाण्डाल—दोनो अपने-अपने कर्म की दुहाई देते है। प्रत्येक व्यक्ति स्वय का उत्तरदायी है। वह शुभ कर्म करके भविष्य मे अपने को उन्नत कर सकता है। किन्तु पूर्व कर्मो से निर्णीत होने के कारण उसे वर्तमान तो भोगना ही पडेगा। समष्टि जीवन का व्यष्टि-जीवन से और समाज-कल्याण का व्यक्ति-कल्याण से इतना सुन्दर समन्वय ससार मे अन्यत्र मिलना असभव है। इस स्वकर्तव्य पालन की भावना मे निष्कामकर्म और अनासक्ति-योग का पुट देकर गीता ने भारतीय वर्ण-व्यवस्था को और भी परिष्कृत कर दिया है। फलप्राप्ति की बुद्धि से नही, केवल कर्तव्यबुद्धि से स्वकर्म करना एक ऐसा आदर्श मार्ग है, जिसमे अनैतिकता और दुराचार सभव ही नही है। क्योकि फलप्राप्ति की ओर अधिक ध्यान देने से ही मानव, निषिद्ध साधनो का आश्रय लेता है। साध्य ही नही, साधन भी शुद्ध होना चाहिये . यह हमारी भारतीय परम्परा End justifies the means की रोमन परम्परा से कही अधिक उदात्त है।

भारतीय धर्म का स्वरूप व्यापक है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चार पुरुषार्थो मे धर्म को प्रमुख स्थान दिया गया है। महर्षि व्यासजी कहते है कि 'धर्म साधना से अर्थ और काम की साधना मे सहायता मिलती है।' अत सर्वप्रथम धर्म को साधना चाहिये। भारतवर्ष मे धर्म की भूमिका काफी ऊँची बाँधी गई है। महाभारत में कहा गया है कि जो धर्म अविरोधी है, वही वास्तविक धर्म है। जो धर्म दूसरे को बाधित करता है, वह धर्म नही, कुधर्म है। मानव को पशुता के स्तर से ऊपर उठाकर मानव बनाना ही सच्चा धर्म है। भारतीय धर्म इस प्रकार से वास्तव मे मानवधर्म या विश्वधर्म है। क्षुद्रस्वार्थ और अहमहमिका से ऊपर उठाकर सत्य और न्याय की प्रतिष्ठा पर मानव को पहुँचाना भारतीय धर्म का उदात्त स्वरूप है। कबीर आदि मध्ययुगीन सन्त और रामकृष्ण परमहस आदि आधुनिक युग के महर्षियो ने भारतीय धर्म के इसी उदात्त स्वरूप का प्रतिपादन किया है। समस्त प्राणिवर्ग के प्रति मैत्री और करुणा का सन्देश देनेवाले भगवान् बुद्ध, विश्वमैत्री की भावना का प्रसार करनेवाले कवीन्द्र रवीन्द्र, सत्य

और अहिसा की वेदी पर बलिदान हो जानेवाले महात्मा गाधी—ये भारतीय मनीषी हमारी धर्मपरम्परा के अमर मार्गप्रदशक है।

उत्तरार्ध मे हमे भारतीय दर्शन की चर्चा करनी है। भारतीय दर्शन-शास्त्र इतना विशाल, विविध और गहन है कि उसका विवेचन यहाँ असभव है। अत' हम केवल उसकी स्थूल रूप-रेखा ही प्रस्तुत करते है। भारत मे दर्शन और धर्म का घनिष्ठ सम्बन्ध है। दर्शन-शास्त्र के आध्यात्मिक तत्वो पर ही भारतीय धर्म की प्रतिष्ठा है। दर्शन-शास्त्र तत्वचिन्तको की केवल कल्पना न होकर हमारे व्यावहारिक जीवन पर अमिट प्रभाव डालता है। प्लेटो ने दर्शन का उद्गम आश्चर्य और कौतुक मे माना है। किन्तु भारत मे दर्शन का उद्गम दु ख की व्याख्या और उसके निराकरण के साधनो की विवेचना मे है। इसी से भारतीय जीवन पर दर्शन का व्यापक प्रभाव दिखाई पडता है, और यहाँ दर्शन का इतना विविध और गभीर अध्ययन किया गया है। ससार के प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद मे ही भारतीय दार्शनिक चिन्तन का प्रारभ दृष्टि-गोचर होता है। पुरुषसूक्त और नासदीय-सूक्त मे सृष्टि के कर्ता और उपादानो की मनोरम व्याख्या मिलती है। ब्राह्मणकाल मे सृष्टि के कर्ता और तत्वो की चर्चा यज्ञकर्म की एक अग थी। आगे चलकर उपनिषत्काल मे भारतीय दार्शनिक चिन्तन उच्चतम कोटि पर पहुँच जाता है। श्रेय और प्रेय का भेद, ऐहिक सुख और मोक्ष का भेद, इन्द्रियज्ञान और बौद्धिकज्ञान की अपर्याप्तता, कर्म की अपेक्षा ज्ञान की महत्ता, दृश्यमान जगत की नश्वरता, जीवब्रह्म का तादात्म्य आदि विषयो का उपनिषदो मे बडे मनोरजक प्रकार से और सरल भाषा मे प्रतिपादन किया गया है। इस अनेक नामरूपात्मक और क्षण-क्षण मे परिवर्तमान जगत के अन्तस्तल मे निहित एकरूपता को खोज निकालना भारतीय दर्शन का लक्ष्य है। जगत के भीतर के अपरिवर्तनशील तत्व का नाम आत्मा है। ब्रह्म और आत्मा दोनो एक है, भिन्न नही। प्रत्येक प्राणी अपने भीतर की नियामक सत्ता—आत्मा—में उसी ब्रह्म की सत्ता का अनुभव किया करता है। इसी से कहा गया है कि ब्रह्म का साक्षात्कार करने के लिये आत्मा को—अपने को पहिचानना आवश्यक है। यही आत्मप्रत्यभिज्ञा है। इसी मे उपनिषदो की चरमतत्व सम्बन्धी जिज्ञासा का पर्यवसान है। यह जिज्ञासा निष्प्रयोजन नही है। मैत्रेयी याज्ञवल्क्य से कहती है : 'जिससे मैं अमर नही हो सकती, उसे लेकर मैं क्या करूँ'? मैत्रेयी ससीम भोगैश्वर्यो से सतुष्ट नही, वह तो असीम, अनन्त और शाश्वत आनन्द की खोज मे है।

भारत मे दार्शनिक समस्या के दो मुख्य रूप है : विश्वतत्व की खोज और आत्म-तत्व का ज्ञान। विश्वतत्व की मीमासा हमे जैन दर्शन, साख्य योग, न्यायवैशेषिक मे प्रधानतया मिलती है। दार्शनिक समस्या के द्वितीय रूप अर्थात् आत्मचिन्तन का विवेचन हमे गीता, ब्रह्मसूत्र और उसके टीका ग्रन्थो मे मिलता है। आत्मचिन्तन के सिद्धान्तो का निर्देश स्पष्टतया उपनिषत्काल मे ही पाया जाता है, किन्तु उनकी तर्कपूर्ण और युक्तिसगत उपपत्ति के लिये उत्तरकालीन दार्शनिक टीका ग्रन्थ परम उपयोगी है।

गत सहस्र वर्षों मे भारतीय दार्शनिक सगुण ईश्वर की ओर अधिक अभिमुख रहे हैं। यह ईश्वर, शाकर वेदान्त का निर्गुण ब्रह्म नही है। वह आर्तों का त्राता, करुणापूर्ण और भक्तजन-

चित्तबिहारी है। भक्त और भगवान के परस्पर सम्बन्ध का प्रतिपादन, रामानुज, निम्बार्क, मध्वाचार्य, बल्लभ आदि आचार्यो के दर्शनो मे पाया जाता है। दुष्ट शासको द्वारा उत्पीडित और त्रस्त जनता को निर्गुण ब्रह्म के शुष्क ज्ञान से शान्ति नही मिल सकती थी। इसी से उपर्युक्त आचार्यो ने सगुण ईश्वर को जनता के सम्मुख रखकर सर्वसुलभ भक्ति-मार्ग का उपदेश दिया है।

त्रिविध दु ख का विवेचन करने के कारण भारतीय दर्शन पर नैराश्यवाद का आरोप किया जाता है। किन्तु वर्तमान से असतुष्ट हुए बिना सुन्दर भविष्य की कल्पना ही असम्भव है। भारत का तत्वज्ञान इस दु खबहुल ससार के वास्तविक स्वरूप तथा उससे मोक्ष पाने के उपायो की मीमासा मे प्रवृत्त है और नैराश्यपूर्ण वातावरण मे आशा का सचार करता है। ऐसे आदर्शवादी दर्शन को नैराश्यवादी कहना कहाँ तक उचित है? इसी प्रकार से अर्कमण्यता को प्रोत्साहन देने का आरोप भी नि सार है। क्योकि कर्मवाद के सिद्धान्तो को माननेवाला भारतीय दर्शन, अर्कमण्यता कैसे सिखायेगा? दु खमय वर्तमान को सुखमय भविष्य मे परिणत कर सकने की आशा दिलानेवाला भारतीय दर्शन, मानव को कर्मठ बनायेगा, अकर्मण्य नही। एवमेव शकराचार्य के मायावादी अद्वैतवेदान्त से Escapism (पलायनवाद) को प्रोत्साहन मिलता है, यह धारणा भी भ्रान्तिमूलक है, क्योकि मायावाद ने त्रिकालाबाधित ब्रह्म के साथ तुलना करने पर जगत की परमार्थिक सत्ता का विरोध किया है। व्यावहारिक दशा मे उसकी सत्ता माननी ही पडेगी और मानी जाती है।

धर्म और साधना के क्षेत्र मे, भारतीय दर्शन की सबसे महत्वपूर्ण देन जीवन्मुक्ति की धारणा है। किसी कल्पित परलोक मे नही, इसी लोक मे मनुष्य की अहन्ता शून्य असीम में स्थिति सभव है। मनुष्य तुच्छ रागद्वेष, मानापमान, हानिलाभ से परे हो सकता है। यही जीवन्मुक्ति है। आज के युग मे मोक्ष का यह आदर्श ग्राह्य हो या नही, परन्तु इसमे सदेह नही कि मानव चिरकाल तक असीम से सुखी नही रह सकता। मानव-जाति सदैव से शाश्वत और स्थायी आदर्श की खोज मे रही है। उस आदर्श का स्वरूप कैसा होना चाहिये, यह स्थिर करना दर्शन-शास्त्र का ध्येय है। अपने इस ध्येय की पूर्ति मे भारतीय दर्शन-शास्त्र सदैव प्रयत्नशील रहा है,

[मानवता : जुलाई, १९४९ में प्रकाशित]

४६. धर्म-मीमांसा

धर्म क्या है इसके विषय मे अनादि-काल से चर्चा होती आयी है; किन्तु अब भी इसके बारे मे आक्षेप और सन्देह किये जाते है। इसका एक कारण यह भी है कि धर्म शब्द का अनेक अर्थो मे शिथिल प्रयोग किया जाता है। एक ओर तो रिलिजन (Religion) या मजहब के अर्थ मे (हिन्दू-धर्म), दूसरी ओर कर्तव्य (Duty) के अर्थ मे भी इसका प्रयोग पाया जाता है। जैसे राज-धर्म, पुत्र-धर्म आदि। इस प्रकार विभिन्न अर्थो मे भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणो से धर्म शब्द के प्रयोग ने इसके अर्थ को अत्यन्त दुरूह बना दिया है। इसी कारण इसका वास्तविक अर्थ स्पष्ट नही हो पाता।

धर्म के वास्तविक स्वरूप को जानने के लिये दो पद्धतियो का अनुसरण किया जा सकता है—एक विध्यात्मक और दूसरी निषेधात्मक। पहली पद्धति मे किसी वस्तु की ओर साक्षात् निर्देश कर कहा जा सकता है कि अमुक वस्तु का यह लक्षण है। दूसरी पद्धति मे उस वस्तु से भिन्न वस्तुओ का निर्देश कर उसकी ओर सकेतमात्र किया जाता है। यह पद्धति निषेधात्मक होने के कारण वस्तु का साक्षात् ज्ञान न कराकर परोक्ष रूप से उसकी ओर इगितमात्र करती है। इसी से दुरूह और दुर्बोध वस्तुओ के सम्बन्ध मे इसी पद्धति का अवलम्बन शास्त्रकारो ने किया है। ब्रह्म के विषय मे 'नेति नेति कहि वेद पुकारा' इसी बात की सत्यता को सूचित करता है। ब्रह्म की इस परिभाषा मे 'यह नही' 'वह नही' के रूप मे निषेधात्मक लक्षण देने का प्रयत्न है। इसीलिये उपनिषदो मे अजर, अमर, अचल आदि निषेधात्मक शब्दो के द्वारा ब्रह्म के स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है। ब्रह्म के समान धर्म भी एक दुर्बोध विषय है। इसीलिये उसका निषेधात्मक पद्धति से निर्देश किया जाता है कि धर्म मे अन्ध-विश्वास और सकीर्णता नही है।

इस निषेधात्मक पद्धति का यहाँ अनुसरण करने मे एक और कारण है। भारतीय विचार-परम्परा मे स्थूणा-निखनन-न्याय नाम की एक विचार-पद्धति है। जिस तरह नये गड़े हुए खूँटे को मजबूत करने के लिए उसे बार-बार हिला कर फिर से ठोका जाता है, उसी तरह धर्म के वास्तविक स्वरूप को अच्छी तरह से समझाने के लिए तरह-तरह की सम्भावित शकाये उत्पन्न कर उनका निराकरण किया जाता है। धर्म के विषय मे अन्ध-विश्वास और सकीर्णता की शका करना उसके रहस्य को समझाने का एक विशेष प्रयत्न है।

धर्म अन्ध-विश्वास नही है, इसलिये कि धर्म मे विश्वास करना अन्धो का-सा विश्वास करना नही है। अन्धा मनुष्य किसी वस्तु के रूप को नही जान सकता। उसके लिये अमुक वस्तु का अमुक रग है, यह जानना असम्भव है। और दूसरो से सुनकर ही उसे रग का ज्ञान

होता है। वस्तु के रूप का ज्ञान उसके अनुभव का विषय नही है। उसी प्रकार क्या यह बात सच है कि धर्म मे लोगो का विश्वास दूसरो के कहने से होता है एव धर्म अनुभव-गम्य विषय नही है, यदि ऐसा हो तो धर्म अवश्य अन्धविश्वास है। किन्तु वास्तव मे ऐसी बात नही है? धर्म के इन्द्रिय-गम्य विषय मे दूसरो का ज्ञान निर्णायक नही हो सकता। अमुक वस्तु लाल है या पीली— यह अन्धा स्वय नही जान सकता और दूसरो के कहने पर वह लाल या पीली कहने लगता है। परन्तु धर्म के विषय मे दूसरे का ज्ञान तब तक उपयोगी नही हो सकता, जब तक मनुष्य स्वयं अपने आन्तरिक अनुभव मे ज्ञान प्राप्त न कर ले। परोक्ष वस्तु मे विश्वास चाहे दूसरो के कहने पर ही हो, जब होगा, तब साक्षात् अनुभव बन कर ही होगा। यदि उसमे साक्षात् अनुभव न हुआ तो वह विश्वास न कहायेगा। प्रत्यक्ष इन्द्रिय-गम्य वस्तु और परोक्ष अनुभव-गम्य वस्तु मे यह भेद अवश्य रहेगा। प्रत्यक्ष वस्तु का रूप वस्तु-निष्ठ है। धर्म वस्तुनिष्ठ न होकर बुद्धि-निष्ठ है। धर्म-विश्वास मे आत्मानुभव और स्वप्रतीति का अश इतना अधिक है कि वह अन्ध-विश्वास न होकर सज्ञान विश्वास है। अन्धविश्वास यदि अन्धा किसी वस्तु को लाल या पीली कहता है, तो इसका मतलब यह नही है कि वह स्वय उसे लाल या पीली मानता है या अनुभव करता है। अन्धे के विश्वास मे स्वानुभव या स्वप्रतीतिका प्रश्न ही नही उठता। इसके विपरीत धर्म का विषय है। उसमे प्रारम्भ मे गुरूपदेश उसके ज्ञान और अनुभव का एक अभेद्य अग बन जाता है। प्राचीन शास्त्रकारो ने स्व-प्रमेय और पर-प्रमेय—इन दो तत्वो की चर्चा मे इस विषय का पूर्ण ऊहापोह किया है।

अब प्रश्न यह उठता है कि धर्म को अन्धविश्वास कहा ही क्यो गया। पूर्व-पक्ष चाहे सत्य न हो, किन्तु शङ्का का कुछ आधार तो होना ही चाहिये। बात यह है कि धर्म की गहनता बताने के लिये व्यास जी ने यह कहा है कि . **'धर्मस्य तत्वं निहित गुहायाम्'** अर्थात् धर्म का रहस्य अन्धकारपूर्ण गुफा के कोने मे रखी हुई वस्तु के समान नही जाना जा सकता। तो प्रश्न उठा— धर्म कैसे जाना जाये? उसके जानने का क्या उपाय है? तो उत्तर दिया—**'महाजनो येन गतः स पन्थाः'** अर्थात् श्रेष्ठ लोग जो कहे और करे, वही धर्म है। इस अर्थ का अनर्थ करके पूर्व-पक्षियो ने यह कहना शुरू किया कि धर्म दूसरो के चले मार्ग पर चलना है अर्थात् 'गतानु-गतिक' एव भेड़ियाधसान है। परन्तु वास्तव मे यह कहना ठीक नही है। जिस एक के कहने या करने पर अन्य लोग भी अनुसरण करते है, उसे महान् जन कहा गया है अर्थात् उसे श्रेष्ठ विवेकी सत्पुरुष होना चाहिए और जो लोग अनुसरण करते है, उनके सम्बन्ध मे शास्त्र-कारो का यह स्पष्ट कथन है कि उन्हे धर्म को विवेक तथा तर्कको कसौटी पर कस कर ही मानना चाहिये, जो ऐसा नही करता है, वह वास्तव मे धर्म को नही जानता है. **''यः तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः''**। इससे स्पष्ट है कि धर्म मे विवेक और तर्क का आधार सर्वथा अपेक्षित है। तर्कानुगत धर्म वास्तव मे धर्म है। तर्क-विरहित-धर्म धर्म कहलाने योग्य नही। इसलिये धर्म अन्धविश्वास नही हो सकता; क्योकि अन्धविश्वास मे तर्क को स्थान नही है। अन्धा तो कही हुई बात को आँख मूँद कर मान लेता है। उसके लिए तर्क करना सम्भव ही नही है। धर्म मे तर्क से मेल होना अत्यन्त आवश्यक है, अत धर्म और अन्ध-विश्वास एक नही हैं।

अक्सर यह कहा जाता है कि धर्म अफीम का नशा है। जैसे एक अफीमची नशे मे ससार की वस्तुस्थिति से अनभिज्ञ रहता है, वैसे ही मनुष्य भी अपनी दुनिया मे सत्य से दूर रहता है। इस आक्षेप मे भी सत्य नही है। अफीम का नशा एक क्षणिक वस्तु है। वह हमेशा कायम नही रहता। नशा उतरने पर परिस्थिति बदल जाती है। धर्म के सम्बन्ध मे यह बात नही है। वह क्षणिक नशा नही है। उसका तो जीवन से अटूट सम्बन्ध है। धर्म एक शाश्वत वस्तु है। उसे ससार का आधार कहा गया है **'धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा'** 'अर्थात् धर्म जगत् की प्रतिष्ठा का आधार है। सारा विश्व धर्म के ही कारण कायम रहता है। धर्म शब्द की व्युत्पत्ति से भी यही पता चलता है कि जो जगत् को धारण करे, वह धर्म है: **"धर्मेण ध्रियते जगत्" "धारणाद्धर्म इत्याहुः"**। मानव के लिए विलासिता तथा स्वार्थपरता अधोगति के मुख्य कारण है। इनके चक्कर मे पडकर अधोगति के गर्त मे गिरते हुए मनुष्यों को जो धारण करता है, पकड लेता है, वह धर्म है। यदि धर्म न हो, तो जगत मे अव्यवस्था और अशान्ति छा जाये। इसीलिये शास्त्रकारो ने धर्म की महत्ता पर इतना जोर दिया है। अन्ध-विश्वास का लोक मे प्रसिद्ध प्रचलित अर्थ सुपरस्टेशन, शकुन या टोटका होता है। जैसे घर से निकलते समय यदि बिल्ली रास्ता काट जाये तो कार्य विफल होने की शका की जाती है। ससार के प्रत्येक देश मे और भिन्न-भिन्न समाजो मे इस तरह के अनेक अन्धविश्वास प्रचलित है। वे मनुष्य के मानसिक विकास की पूर्वावस्था के द्योतक है। किन्तु धर्म को उन अन्धविश्वासो की कोटि मे रखना उचित नही है। क्योकि धर्म और इस प्रकार के अन्धविश्वासो मे महान् अन्तर है। अन्धविश्वास मे दो आकस्मिक घटनाओ के बीच मे कार्य-कारण-भाव मान लिया जाता है। यदि बिल्ली के रास्ता काट देने पर कभी किसी का अभीप्सित कार्य सिद्ध नही हुआ, तो इसका यह मतलब नही कि विफलता का कारण बिल्ली का रास्ता काटना है या ऐसा हमेशा होगा। बिल्ली का रास्ता काटना उस विशिष्ट समय मे एक केवल पूर्ववर्ती घटना थी। कारण बनने के लिये उस घटना को नियत रूप से पूववर्ती होना चाहिये. **'नियत पूर्ववृत्ति कारणस्य लक्षणे।'** धर्म-विश्वास इस प्रकार का अन्धविश्वास नही है। क्योकि धर्म की कल्पना मे कार्य-कारण-भाव सम्बन्ध है। मानव ने अपने विस्तृत जीवनेतिहास से सामाजिक आवश्यकताओ को ध्यान मे रखकर समाज मे व्यवस्था और अनुशासन कायम रखने के लिये जिन उदात्त नियमो की कल्पना की है; वे सब धर्म मे अन्तर्भूत है। विस्तृत कालखण्ड मे सैकडो वर्ष तक अनेक प्रयोग और परीक्षणो के अनन्तर अहिसा और सत्य आदि धर्म के मौलिक रूपो की कल्पना समाज मे आयी है। इसलिये इन नियमो को अन्ध-विश्वास कहना उचित नही है। लोक-प्रचलित अन्ध-विश्वास सामाजिक विकास की पूर्वावस्था की वस्तु है और धर्म की कल्पना उस विकास के चरम उत्कर्ष का परिचायक है।

यहाँ पर हमे श्रद्धा और अन्धविश्वास के बीच का भेद भी समझ लेना चाहिये। धर्म मे श्रद्धा हो सकती है, अन्धविश्वास नही। अन्धविश्वास मे बुद्धि और हृदय का निर्णय न होकर केवल अनुसरणमात्र रहता है। श्रद्धा मे हार्दिक सवेदना प्रधान है। श्रद्धा उदात्त भावनाओ की ओर सकेत करती है, जो अन्धविश्वास मे नही पाया जाता। ज्ञान-क्षेत्र मे हृदय

और बुद्धि के समन्वय के बल पर श्रद्धा का जन्म होता है, किन्तु अन्धविश्वास अज्ञानमूलक और तर्कहीन विचारसरणि का फल है। श्रद्धा सरोवर का पुष्प है, तो अन्धविश्वास कीचड है। दोनो की उत्पत्ति एक ही स्थान से है, किन्तु उनके विकास के प्रकार और परिणाम मे महान् अन्तर है। अन्धविश्वास ऐहलौकिक विषयो के सम्बन्ध मे ही जकडा रहता है। श्रद्धा मे ऐह-लौकिक स्तर से उठकर उदात्त एव शाश्वत मूल्यो की ओर सकेत है, अत धर्म-विषयक श्रद्धा को अन्धविश्वास कहना असूक्ष्मदर्शिता का परिचायक है।

अब यह विचार करना है कि धर्म सकीर्णता नही है। सकीर्णता और धर्म मे महान् विरोध है। धर्म एक ऐसी उद्दीप्त और व्यापक भावना है, जिसके प्रभाव से सकीर्णता नष्ट होनी चाहिये। सकीर्णता तो धर्म-हीनता का परिचायक है। मनुष्य सकीर्ण मनोवृत्ति का क्यो होता है? इसलिये कि वह 'स्व' को 'पर' से भिन्न मानता है। धर्म मनुष्य 'स्व' और 'पर' के भेद को मिटाता है। धर्म के व्यापक प्रभाव मे आकर मनुष्य सकीर्णता को त्यागकर विश्ववन्धुत्व की ओर अग्रसर होता है। छोटे-छोटे भेद और उपभेदो का अस्तित्व उसके सामने लुप्त हो जाता है। वह समष्टि के कल्याण मे अपना कल्याण देखता है। समष्टि और व्यष्टि के हित मे समन्वय करना ही तो धर्म का वैशिष्ट्य है। धर्म को अन्धविश्वास या सकीर्णता न कहकर धर्म की उदात्त भावनाओ को ऊपर उठाना मानव-जीवन का चरम लक्ष्य है। ससार के किसी भी तथा-कथित धर्म मे धर्म के महान् गुणों का निर्देश नही है, यह बात नही है, किन्तु उन गुणो को भुलाकर जब अन्य प्रकार की दुर्भावनाओ और सकीर्ण मनोवृत्ति को महत्त्व मिलने लगता है, तब धर्म का दुरुपयोग होता है। इस युग मे जो अनेक महाभ्रम प्रचलित हो गये हैं, उनमे से एक यह भी महाभ्रम है कि लोग धर्म और साम्प्रदायिक मत को एक मान लेते है। वस्तुत धर्म और साम्प्रदायिक मत मे बडा अन्तर है। धर्म मनुष्य-मात्रके हित की दृष्टि से प्रवर्तित होता है, अतएव मनुष्यमात्र के लिए धर्म एक ही हो सकता है और वह धर्म मानव-धर्म या मानवता है। **यही सनातन धर्म है**। हिन्दू, बौद्ध, जैनो की धर्म-पुस्तको मे धृति, क्षमा, सत्य, इन्द्रिय-सयम आदि दस उदात्त मानव-गुणो को धर्म बताया गया है। ईसाई धर्म के Tene command (दश आदेश) मे भी इन्ही गुणो पर जोर दिया गया है। मानव-समाज मे व्यवस्था और नीति स्थापित करने के लिए धर्म की भावना उत्पन्न हुई है। उसका उद्देश्य मानव को ऊपर उठाकर देव बनाना है। मानव-कार्य कभी बीच मे राक्षसी वृत्ति की ओर झुक पड़ता है, किन्तु समष्टि रूप से मानव देवत्व की ओर आगे बढ रहा है। विश्व के इतिहास मे धर्म-ग्लानि के बाद पुन-पुन. धर्म-सस्थापन हुआ है। इसी तथ्य की ओर निर्देश कर गीता मे कहा गया है कि

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मान सृजाम्यहं!

भगवान् श्रीकृष्ण के धर्म-सस्थापन मे जिस धर्म का निर्देश है, वह अन्धविश्वास और संकीर्ण नही है। वह तो मानव का देवत्व की ओर बढने के लिए विवेक पर अवलम्बित एक उत्कृष्ट साधन है।

[वेंकटेश्वर समाचार-पत्र : १९५२ में प्रकाशित]

४७. महाकवि कालिदास की प्रबुद्ध राष्ट्रीय चेतना

वर्तमानयुगीन राजनयिक मान्यताओ मे राष्ट्रीयता को अभिशाप गिना जाता है, क्योकि इसकी कट्टर विवेकहीन, एकाकी, अन्धभक्ति ने अनेक कटुताओ, सघर्षो और विवादो की सृष्टि की है तथा विषाक्त वातावरण यदाकदा बनाया है। किन्तु यह स्थिति तो आदर्शच्युत विकृत मस्तिष्क की उपज है। राष्ट्रीयता को यदि विश्वशान्ति और बन्धुत्व का सोपान माने, तो यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि व्यक्ति की पाशविकता तथा क्षुद्रता का परिमार्जन कर मानवीय सहयोग के सहारे समष्टिगत ऐक्य का लक्ष्य निर्धारित करनेवाली ओजस्वी राष्ट्रीयता सामाजिक विकास मे कभी भी बाधक नही रही। प्रत्युत इसने श्रमनिष्ठ सहकार, शान्ति और समृद्धि का मार्ग प्रशस्त किया है। प्रजाति की एकता, भौगोलिक सामीप्य, आध्यात्मिक आदर्श, भौतिक समानता, शान्तिपूर्ण सहजीवन, व्यावहारिक सुविधा, सास्कृतिक परम्परा, ऐतिहासिक विकासक्रम और उदात्त जीवनदर्शन को आज राष्ट्रीयता के उपादान मानते हैं, किन्तु इनसे भी अधिक एक ऐसी सामञ्जस्यपूर्ण समन्वयात्मक दृष्टि का होना अनिवार्य है, जो विघटन, विभेद या विलगाव को दूर कर, सुख-दुख मे, उत्थान-पतन मे और स्थिति-परिवर्तन मे एक-सी संतुलित जीवन-प्रणाली द्योतित करती हो। निश्चय ही यह आदर्श एक वस्तुनिष्ठ चेतना-सम्पन्न यथार्थ है, जो वैविध्य मे भी ऐक्य की उद्भावना करता है।

राजनैतिक क्षेत्र मे प्रारम्भ से ही भारत इस तात्विक एकता का प्रतीक रहा है और इतिहास की क्रूरतम विनाशकारी भेदसूचक समस्याये भी इसे खण्डित करने मे असमर्थ रही है। राष्ट्रीयता का यह स्वरूप किसी धर्मान्ध, रूढ मतवाद का शिकार नही था, क्योकि ऐसा होने से तो शीशे के घर की तरह यह कब का चूर-चूर हो गया होता। इसके पीछे इस भूक्षेत्र की सचित ज्ञानराशि है, सुनियोजित सकल्प है, परम्परावलम्बन की वृत्ति स्वावलम्बन के साथ है, सहिष्णुता-औदार्य और सहकार का समिश्रण है, और इससे बढकर एक बलवती दुर्दम्य, दुष्प्रधर्ष आकाक्षा है साथ रहने और अच्छे पडोसी बनने की, जीने और जीने देने की। यही भारतीयता का उत्स है और किसी प्रकार की साम्प्रदायिकता, संकीर्णता, विघिघता या विभेद इसका पथ अवरुद्ध नही कर सके। इस दिशा मे कालिदास के वर्णित सदर्भो मे हमे स्पष्ट सबल प्रमाण मिलते है और हजारो वर्षो की इस प्राचीन सस्कृति के सामूहिक गौरव की पुष्टि होती है। भारतीय जनमानस सदैव मातृ-भूमि की जिस मूर्ति की कल्पना सवारता-सजाता आया है, उसका पर्याप्त परिचय कालिदास ने दिया है। भारतीय-वाङमय के मूर्धन्य शिल्पी, स्रष्टा, विचारक

महाकवि कालिदास राष्ट्रीयता के अनन्य उपासक हैं और अपनी कृतियो मे पुण्यभूमि की रसात्मक सुनियोजना कर सके है।

कालिदास के इस पक्ष का अध्ययन भौगोलिक, सास्कृतिक, भौतिक, मनोवैज्ञानिक या भावात्मक और व्यवहारवादी दृष्टिकोण से किया जा सकता है।

मेघदूत, रघुवश, कुमारसम्भव, शाकुन्तल, ऋतुसहार आदि ग्रन्थो मे ऐसे स्थल उल्लेखनीय है। एक बात विशेष विचारणीय है कि केवल नद, नदी, ह्रद, सागर अथवा पर्वत, घाटी। पथ-प्रान्तर, रजकण ही देश नही है—देश तो यह सब है, लेकिन सबसे ऊपर उसमे रहनेवाले धरती-पुत्रो और श्रम-शिल्पियो का आवास है, उनके सुख-दुख की ही एक अनवरत शृखला है। इस दृष्टि से हम निश्चयपूर्वक कह सकते है कि भौगोलिक, जनपदीय तथा सामाजिक वर्णन मे कालिदास की रचनाये सोद्देश्य और सप्राण है। यो तो कालिदास की कृतियो मे भारत की सास्कृतिक चेतना का साकार प्रतिबिम्ब है, फिर भी मेघ-सदेश मार्ग, रघु का दिग्विजय-पथ, राम का दक्षिणपथ-भ्रमण तथा अयोध्या आगमन, अज-इन्दुमती स्वयवर इन वर्णनो मे देश की क्षेत्रीय विशेषताओ का उद्घाटन किया गया है। एक प्रकार से यह तीर्थाटन या देश-दिग्दर्शन ही है। भारत की भौगोलिक परिकल्पना के अनुरूप वैदिककालीन परम्परागत विवेचन मे सप्तसिन्धु, सप्तनदी, सप्तागराज्य, सप्तपर्वत, सप्तनगरी, सप्तद्वीप आदि के उल्लेख है—गगा, यमुना, गोदावरी, सरस्वती, सिन्धु, नर्मदा, कावेरी ये सात नदियाँ, महेन्द्र, मलय, सह्य, शुक्तिमान्, ऋक्ष, विंध्य, पारियात्र ये सात पर्वत, अयोध्या, मथुरा, माया, काशी, काची, अवन्ती, द्वारावती ये सात नगरियाँ, अग, बग, पाचाल, कलिग, केरल, महाराष्ट्र, काश्मीर ये सप्तदेश तथा कौटिल्य, मनु, कामन्दक आदि के मत से स्वामी, अमात्य, सुहृद्, कोष, राष्ट्र, दुर्ग और सैन्य—ये राज्य के सात अग बताये गये है। इस प्रकार भारतदर्शन का एक स्पष्ट मानचित्र तैयार मिलता है।

काव्यगत भौगोलिक विवेचन सर्वथा निर्भ्रान्त नही होता, फिर भी उसकी अपनी उपयोगिता है। भारत की भौगोलिक सीमा का विस्तार प्रारम्भ मे ही जिस रूप से दर्शाया गया है, उससे ध्वनित होता है कि भूखण्ड का यह भाग अपनी विविधता, विचित्रता और विशालता के बावजूद एक सगठित इकाई के रूप मे अवस्थित रहा है। पाँच हजार वर्षो के द्वन्द्वात्मक अतीत और ऊहापोह ने इस अवधारणा की पुष्टि ही की है। भारत की सीमा का प्रारम्भ पृथ्वी के मानदण्ड और कार्मुक की तरह गुणयुक्त पर्वतराज हिमालय से होता है। हिमाद्रि का विस्तार पूर्व और पश्चिम की उत्तरी सीमा निर्धारित करता है और वह पूर्वसागर, रत्नाकर, महोदधि आदि समुद्रीय प्रक्षेप तक चलता गया है। पश्चिम मे हिन्दुकुश, किरथार, सुलेमान की पर्वत-शृखला पारसीक देश की सीमा छूती है और कई दर्रे, गुहामार्ग, सँकरे और तग रास्ते आवागमन के इसमे है।

यूनानी आक्रमण से लेकर यूची, शक, हूण, वाल्हीक, पठान, कबायली, मोगल सभी इसी मार्ग से भारत आये और यहाँ आकर सबने अपने-अपने कृत्यो का परिचय दिया। एक सास्कृतिक विरासत बनाने मे योगदान किया। पूर्व मे कोशल, मगध, सुह्य, अग-बग जनपदो को अभिसिंचित

करती हुई गगानदी बगाल सागर मे मिलती है और उसी जगह हिमालय की परिक्रमा करने-वाली लोहिताग या लौहित्य (ब्रह्मपुत्रा) असम देश मे कामरूप और प्राग्ज्योतिष की परिक्रमा करती हुई आ मिलती है। मध्यभारत की भूमि-रचना विषम तथा उच्चसमभूमि का मिश्रण है। विभिन्न जनपदो, कान्तारो, पर्वतश्रेणियो और आदिवासियो द्वारा अधिष्ठित यह मध्यदेश निश्चय ही महिमामण्डित है। कलिग की दुर्दम्य शक्तियाँ इतिहास प्रसिद्ध रही है, जिनकी विजय-वैजयन्ती उन्मत्त हस्तिपीठो पर निरन्तर लहराती रही है। दक्षिण के शासक पाण्ड्य अपने वाणिज्य-वैभव और कलात्मक सौन्दर्य-प्रसाधन के लिये विख्यात थे। मोती, मूँगे, सीप, मसाले, पूगीफल, नारिकेल, तालीवन आदि के लिए विख्यात केरल देश विद्या, कला का भी केन्द्र था। दक्षिण की ताम्रपर्णी भारत की सीमा बनाती है। अपरान्त देश पश्चिमी घाट से लगा मरुकच्छ और सौराष्ट्र के उत्तर तक फैला था समुद्र के समानान्तर पृष्ठभूमि मे पर्वतो का मेरुदण्ड लिये। पारसीक देश के अश्वारोही, हूण, तातार, बर्बर, काम्बोजीय तुरगो पर खूँखार जीवन बिताने-वाली महिलाये और वक्षु या (आमूदरिया) आक्सस के तीर पर केसर का सुनहला देश था। इस तरह पार्वत्य मध्यविन्दु पामीर के दक्षिण समुद्र-पद-प्रक्षालित भारत ३ बडे प्राकृतिक विभागो मे बँटा था . हिमालय का विस्तृत पर्वतक्रोड और प्रशस्त प्रागण, मध्यदेश का सरिता-सेवित उर्वर समदेश और दक्षिण का प्रायद्वीपीय पठार। हिमालय के रजतशिखरो का उल्लेख कालिदास ने किया और यह निश्चयपूर्वक उस समय भी स्वीकार किया जा सकता था कि इन पर्वतश्रेणियो का देश के जीवन मे महत्वपूर्ण स्थान था और है। कैलास, गौरीशिखर, गधमादन, मन्दार, सुमेरु, पिगल-गिरि, हेमकूट, कुबेरशैल (रघुदिग्विजय रघुवश, ४ सर्ग, ३२-६९) आदि का यथास्थान उल्लेख है।

कैलाश (तिब्बती नाम—रवागरिन पोचे) के पास ही मानसरोवर है, जो कई नदियो का उद्गम स्थान है और पूर्वमेघ के अनुसार इसी क्षेत्र की शुभ्रता देवागनाओ का दर्पण है तथा व्योमस्पर्शी उच्चशिखरो पर शिव के दैनन्दिन अट्टहास की सचित अपार राशि है, राशीभूत· प्रतिदिनमित्रवत्र्यम्बकस्याट्टहास.—पू० मे ५८)। इसी कैलाश की गोद मे मुक्त हास-विलास-रत अलकापुरी है, जहाँ का स्वर्गिक, स्वर्णिम, सौदर्य अद्वितीय है: तस्योत्सगे प्रणयिन इव स्रस्त-मंगा-दुकूलाम्—पूर्वमेघ, ६३)। हिमालय मे क्रौचरन्ध्र और नीतिद्वार आदि बहिर्मार्गो का भी उल्लेख है, जिनमे होकर उत्तर मे चीन और तिब्बत मे प्रवेश किया जा सकता है। मेघदूत मे निर्दिष्ट दिशा-सकेत न केवल आचलिक विशेषताओ और मध्यदेशीय लोकसस्कृति का सूचक है, वरन् एक मनोरजक क्षेत्र-सक्रमण भी है। रामगिरि से उत्तर का ऋजु-कुचित मार्ग नाना प्रकार की वनस्पतियो, उपत्यकाओ, नदियो और जनपदीय कुतूहलो से युक्त है।

आम्रकूट, नर्मदा, विदिशा, वेत्रवती, दशार्ण, उज्जयिनी, दशपुर, चर्मण्वती, गगाद्वार कनखल आदि का प्रासगिक विवेचन है। इन भागो की सुरुचिपूर्ण वस्तुओ का चित्रात्मक सचयन किया गया है। दूसरी ओर राम की पदयात्रा, वनवास के रूप मे भी देश की एक-सूत्रता का परिचय देती है। लका से अयोध्या पुनरावर्तन के समय ज्योतिष्पथ का अवलोकन रोचक और हृदयग्राही है। व्योममार्ग के इस विहग-परिभ्रमण मे पाठक देश की विचित्रताओ का

सर्वेक्षण करता है और अपनी स्मृतियो मे "सैषास्थली" की अमिट छाँप अंकित कर पाता है। दक्षिणापथ, पम्पासर, गोदावरी, पचवटी, दण्डकारण्य, तपोवन, चित्रकूट, मन्दाकिनी, सरयू और साकेत की मनोहारिता सरस और सजीव है। (रघु० . १३ सर्ग, १४-५७) एक और महत्व-पूर्ण प्रसग उपस्थित है और वह है विदर्भ देश की राजकन्या इन्दुमती का स्वयवर अखिल भारतीय प्रतियोगिता के रूप मे, जिसमे विभिन्न क्षेत्रो के प्रणयाकाक्षी शासक अपनी भाव-भगिमा, प्रसाधन-पटुता और श्रृगार चेष्टा के कारण आकर्षक व्यगचित्र प्रस्तुत करते है। इस स्वयवर मे कोने-कोने से राजागण अपना भाग्य तौलने इकट्ठे हुए है—मगधेश्वर, अगनरेश अवन्तिनाथ, अनूपराज, शूरसेनाधिपति, कलिगसम्राट् हेमागद, उरगपुरेश्वर पाण्ड्यराज, उत्तर-कौसलेन्द्र अज सभी आये और इस अवसर पर सुनन्दा द्वारा दिया गया परिचय व्यग्यपूर्ण यथार्थ का द्योतक है। सचारिणी दीपशिखा की तरह इन्दुमती राजाओ को कान्तिहीन और मलिनवर्ण बनाती जाती है, किन्तु अज के सामने आकर उसे रुकना ही पडता है: नहिप्रफुल्ल सहकारमेत्य वृक्षान्तर काक्षति षट्पदाति —रघु०,६-६९। इसी तरह अन्य आकर्षक विवरण महाकवि द्वारा प्रस्तुत किये गये है, जिनका विस्तृत विवेचन सदर्भ ग्रन्थो मे किया गया है।

भारत की नदियो के व्यापक जाल का परिचय महाकवि ने आलकारिक शैली मे दिया है। ऋतु-परिवर्तन और प्राकृतिक प्रतिक्रिया का दिग्दर्शन कराते हुए जलप्रपात और निर्झरो का यथावसर विवेचन है (गगाप्रपात, महाकौशिप्रपात, हिमाद्रिनिर्झर आदि)। सिन्धु, गगा और कौटिन्य को ही उत्तरभारत की प्राणदायिनी श्रोतस्विनी माना जाता है। पामीर की अधित्यका के ही विभिन्न दिशाओ मे नदियो का प्रवाह प्रारम्भ हुआ है। गगा (मन्दा-किनी, जाह्नवी, भागीरथी) के तूफानी अवतरण का बहुश्रुत कथानक आकर्षक है, अलकनन्दा और कालीगगा की द्रुतगामिनी धाराएँ भी विख्यात है। सहायक नदियो मे यमुना (कलिन्द-गिरि-नन्दिनी या कालिन्दी), सरयू, महाकोशी (सप्तकोशी), शोणभद्र, मालिनी, तमसा, पयस्विनी, सुरभितनयाचर्मण्वती, वेत्रवती, शिप्रा, गम्भीरा, निबिन्ध्वा, गधवती आदि उल्लेख-नीय है। मन्दाकिनी का वारिवैभव कुमारसम्भव, विक्रमोर्वशी, मालविकाग्निमित्र, रघुवश, मेघदूत मे वर्णित है। दक्षिण की विशाल सरिताओ मे नर्मदा (रेवा, गौतमी, उपलविषमा, मेकलसुता), वरदा, गोदावरी, कावेरी, मुरला, ताम्रपर्णी आदि है। वनस्पतियो तथा वनसम्प-दाओ का पर्याप्त परिचय प्रसगानुकूल दिया गया है। देवदारुद्रुमाच्छादित हिमवान् तो असख्य औषधियो का आगार है। भूर्ज, वश, वट, शाल, अशोक, नमेरु, वृक्षो तथा अनेक लता-गुल्म-बल्ली का उद्यान सामने आ जाता है।

'ताम्बूलवल्ली परिणद्धपूंगारचेलालतालिंगितचन्दनासु।
तमालपत्रास्तरणासु मलयस्थलीषु ॥ (रघु, ६-६४)

पुष्पावचय की कान्तिमयी कल्पना ने हमारे सामने लोध्र, बकुल, कदम्ब, तिलक, कुटज, कुसुम, कर्णिकार, किशुक, कुरबक, यूथिका, मल्लिका आदि विविधवर्णी फूलो, कलि-काओ का अम्बार सजा दिया है। आदिम जातियो और गणराज्यो का स्पष्ट सकेत भी मिलता

है। किरात, किन्नर, यूथाचारी बानर, नाग, उत्सव संकेत गण आदि जनजातियो के क्रियाकलाप नृतत्व की सामाजिक परिधि बनाते है।

भारत का सभागीय तथा आचलिक विभाजन अपने प्राकृतिक रूप मे समय-समय पर राजनीतिक कारणो से परिवर्तित होता रहा है। फिर भी यह वर्गीकरण अतीत से अद्यावधि परम्परा-विसगत नही हुआ। जनपदो और गणो का चित्रण करते समय इस बात का पूरा ध्यान रखा गया है कि लोकाचार, लोकसस्कृति और लोकगाथा का यथावत् परिपालन हो और अतिरजना या आग्रहयुक्त विवेचन न किया जाये। क्षेत्रीयता का अनावश्यक विस्तार प्राधान्य या प्रक्षेप भी नही स्वीकार किया गया। वैसे तो भाषा, रीतिरिवाज, प्रथापरम्परा, वेशभूषा, आचार-विचार आदि का वैविध्य और वैषम्य भारत को नानावर्णयुक्त चित्रपट का रूप देता है, फिर भी जीवन के महत्वपूर्ण सस्कारो के अनुगमन मे एक अद्भुत साम्य है, जो प्रत्येक के अन्तरतम को स्नेह-पुलक-कारुण्य से अभिभूत करता है। विभिन्न जनपदो मे सह्य, अग-वग, कोशल, विदेह, प्राग्ज्योतिष, उत्कल, कलिग, केरल, मरु सुराष्ट्र आदि है। इनके सिवाय अल्पख्यात कारापत निषध, नैमिषारण्य, दण्डकारण्य, जनस्थान आदि की चर्चा भी है। पारसीक, काम्बोज, गाधार, वाल्हीक, वक्षुतर आदि सीमान्तक क्षेत्रो की विशेषताए भी बताई गई हैं।

वैचारिक दृष्टि से भारत मे पूरक और विरोधी मतवादो, दर्शनो और चिन्ताधारा का अस्तित्व सदैव रहा है। शैव, वैष्णव, बौद्ध आदि की व्यापक अनुचिन्तना होती रही है। आध्यात्मिक क्षेत्र मे समन्वय की भावना ही प्रधान रूप से व्याप्त रही। भौतिक दृष्टि से देश मे विषमता अवश्य रही और समय-समय पर विपन्न स्थिति, आतक या ईतियो का सामना करना पड़ा; किन्तु राज्य के सामने लोकमगलकारी लक्ष्य हमेशा रहे।

नृपनीति वरागना न मानकर प्रजारञ्जनमेवार्थ कल्पना ही श्लाघ्यतम रही। प्रजापालन, योगक्षेमनिर्वाह, सरक्षणसवर्धन, वितरण आदि की सुनिश्चित योजना थी। राजा स्वत. पिता की तरह प्रजाहित मे सलग्न था स पिता पितरस्तासाकेवल जन्महेतव'—रघु०, १-२४। कर लेने मे इस बात का ध्यान रखा जाता था कि जनता को अधिकाधिक काम मिले—

प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीत्।
सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः॥ (१-१८ रघु०)

शासन का यह आदर्श आज के लिये भी एक सदेश है। 'आदान हि विसर्गाय सता वारिमुचामिव' इस जीवन-दर्शन का सम्यक् पालन करते हुये वही ईशावास्य वृत्ति की मान्यता दुहराई गई है, जो 'तेन त्यक्तेन भुजीथा.' की पुनीत ध्वनि से समवेत है। भोग और त्याग, अनुराग और विराग, आसक्ति और निर्लिप्ति इनका सतुलित समीकरण जीवन के लिये उपादेय है। दारिद्र्य, अभाव, स्पर्धा, सघर्ष, घृणा के बीज या सामाजिक विषवृक्ष के गुण नही थे। शान्ति, समृद्धि, आनन्द कोरे आदर्श नही थे—जीवन मुक्त, अबाध, उल्लासमय, स्वातन्त्र्य के परमाणुओ से परिव्याप्त था। लौकिक कर्मो मे विवाह, कन्यादान, जन्मोत्सव, दीक्षा, विजययात्रा, तप, यज्ञ, अध्ययन-अध्यापन आदि वैदिक वर्णाश्रम धर्मानुसार सुविहित थे और इसका मर्यादित

रूप मे पालन होता था : (वनोकसोअपि सन्तोलौकिकज्ञा वयम्—शाकु०)। लोगों को तीर्थाटन, स्नान-दान, उपासना-विश्वास, अभिव्यक्ति, धर्म आदि की स्वाधीनता थी और किसी प्रकार का दबाव या भय नही था। मानवीय मूल्यो पर आधारित यह नीति वस्तुत जननीति के अनुकूल थी। समष्टिगत व्यक्तित्व का निर्माण शिक्षा का लक्ष्य था। अपने-अपने ढग से जीवन के दैनन्दिन सघर्षो मे डूब-उतरकर लोग नियति का सामना करते थे परिश्रम और अध्यवसाय के बल पर। सेवाओ का प्रयोग विजिगीषु या चक्रवर्तीपदाकाक्षी राजाओ ने अवश्य किया, किन्तु लूटमार, आतक, बगावत के दृश्य नही थे आर्तत्राणाय व. शस्य प्रहर्तुंमनागसि—शाकु०-१-१०। अर्थशास्त्र की कूटनीतियो, जटिलताओ या औपनिषदिक गुत्थियो का सकेत नही मिलता। डॉ० राधाकृष्णन् के मतानुसार भारत एक समग्र सम्पूर्ण व्यक्तित्व की अनुभावना का प्रतीक था और उसके विभक्तीकरण की प्रक्रिया का प्रतीकार किया। जीवन के सारे स्वप्न और सकल्प, संदेह और सुनिश्चय, विचार और वितर्क, आकांक्षा और दुराशा, भक्ति और मुक्ति, जय-पराजय सभी एक ही क्रीडास्थल पर सकलित थे। यह अवश्य है कि केन्द्रस्थ नियामिका या सचालिका बाह्य शक्ति का प्रमाण नही मिल पाता। किन्तु सद्विचारो की अन्त सलिला विभेदमूलक प्राचीरों को ध्वस्त कर कण-कण मे प्रवाहित थी। कालिदास ने तत्कालीन समाज को राष्ट्रीयता की ज्योति दिखाई और उसकी रक्षा वे आजीवन करते रहे। ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धनाचार्य के शब्दो को, कतिपय सशोधन के साथ यहाँ दुहराया जा सकता है

'अस्मिन्नति विचित्रकविपरम्परावाहिनी संसारे द्वित्राः
पंचशाः वा महाकवयो गण्यन्ते किन्त्वेतेषां
राष्ट्रीयचैतन्यावधारणायान्तु कालिदासो विशिष्यते'

अतएव महाकवि का मूल्याकन करते समय यह नही भूलना चाहिये कि भारतीय राष्ट्रीयता के तीन तत्वो कृति (मनुष्य), प्रकृति (भूमि), अनुकृति (आचरण)—का समन्वय समतामूलक आदर्श की सृष्टि करता है और इनका पार्थक्य या विघटन विकृति की सभावना व्यक्त करता है, जो विनाश का ही पर्याय है।

[इन्दिरा अभिनन्दन ग्रन्थ के लिए
लिखित ८ जुलाई '७२]

४८. हमारे धार्मिक और सामाजिक लोकोत्सव

जहाँ एक ओर भारत की सास्कृतिक परम्परा बडी पुरानी है, वहाँ दूसरी ओर इस देश की एक दूसरी विशेषता यह भी है कि यहाँ के सामाजिक जीवन मे धार्मिक भावना पूर्णतया ओतप्रोत है। बल्कि यह कहा जाय कि धर्म भारतीयो के जीवन का प्राण है, तो कुछ भी अतिशयोक्ति न होगी। वेद को धर्म का प्रतीक तथा ब्रह्म को जगद्रूप मानकर धर्म की प्राणतुल्यता "यस्य नि श्वसित वेदा"—इस सयताचार्य की उक्ति मे सुन्दर ढग से कही गई है। तात्पर्य यह है कि जैसे शरीर मे प्राण है, एवमेव भारतीय जीवन मे धर्म वर्तमान है। सोते-जागते, उठते-बैठते, प्रत्येक काम मे यहाँ धर्म की पुट रहती है। दक्षिण दिशा की ओर पैर कर सोना अधर्म है, सूर्योदय से उठकर स्नान करना पुण्य है। इस प्रकार की छोटी-बडी प्रत्येक बात मे धर्म-अधर्म की दुहाई देकर उचित मार्ग का निर्देश किया जाता है। स्वर्ग और नरक की कल्पना भारतीय चिन्तको की इसी प्रवृत्ति पर आधारित है। यह करने से धर्म होगा, वह करने से अधर्म होगा—इस प्रकार से सुख का आकर्षण और दण्ड का भय दिखाकर जनता को कर्त्तव्याकर्त्तव्य के सबध मे विधिनिषेध का आदेश हमारे धर्मशास्त्रो मे किया गया है। इस प्रकार के नैतिक शिक्षण की पृष्ठ-भूमि मे मनोविज्ञान की तात्विक भूमिका है, यह हमे न भूलना चाहिये। विशुद्ध तर्कवाद का ढिढोरा पीटनेवाले बुद्धिवादियो को भी यह मानना पडेगा कि जैसे बालको को बिल्ली-कुत्ते का भय दिखाकर अनिष्ट काम से रोका जाता है, वैसे ही समाज के अपक्व मस्तिष्क वाले अग को इष्ट मार्ग पर चलाने के लिए स्वर्ग का लोभ और नरक का भय दिखाना असगत नही है। आखिर जीवन मे जैसे रोटी ही सब कुछ नही है, वैसे ही तर्क ही सब कुछ नही है; उसके साथ श्रद्धा और विश्वास का भी महत्व है। श्रद्धाविरहित बुद्धि तो हृदयरहित मस्तिष्क के समान अनाकर्षक है। अत श्रद्धा और विश्वास का सम्पूर्ण बहिष्कार मानव-जीवन की सरसता के लिये घातक सिद्ध हो तो कोई आश्चर्य नही। इसीलिये हमारे प्राचीन ऋषि-मुनियो ने समाज की आवश्यकता को दृष्टि मे भली-भाँति रखकर लोगो की श्रद्धा और विश्वास को दृढ करने के लिए पग-पग पर धर्म का कर्त्तव्य के साथ गठबन्धन कराया है और भारतीय-जीवन की धार्मिक भावना को प्रोत्साहन दिया है।

भारतीय जनता की इस धर्म प्रवणता का सबसे बढिया उदाहरण हमारे लोकोत्सव है। मानव उत्सव प्रिय है, उत्सवो के बिना जीवन दूभर है। यही तो मानव की सामाजिकता का चिह्न है कि वह उत्सवो की बाट चाव से देखे। जैसे नीरस मरुभूमि के पथिक को हरित-तृण दर्शन की उत्कठा रहती है, वैसे ही मानव को अपने शुष्क जीवनक्रम मे उत्सवो की। मानव

की इस उत्सव-प्रियता का लाभ उठाकर हमारे पूर्वजो ने धार्मिक प्रवृत्ति को बढाने का यत्न किया है, जिसका परिणाम हमे धार्मिक लोकोत्सवो मे देखने को मिलता है। हम इसी बात को यो भी कह सकते है कि मानव की उत्सवप्रियता को उच्छृखलता से बचाने के लिये हमारे पूर्वजो ने धार्मिक बन्धन लगा दिये है। इसका यही उदाहरण देखिये। उत्तर भारत के महिलावर्ग मे पहिले और कुछ अश तक अभी भी पर्दाप्रथा का काफी प्रचलन था, जिसके कारण बहू-बेटियो को घर के भीतर ही 'असूर्यम्पश्या' बनकर रहना पडता था। किन्तु यह मानव स्वभाव की प्रवृत्ति के विरुद्ध था। पिजडे मे रक्खे पशुपक्षियो की भॉति पर्दे मे रहनेवाली महिलाओ की बाहर निकलने की, थोडे समय के लिये ही क्यो न हो, इच्छा सर्वथा स्वाभाविक थी। आखिर स्वाभाविक इच्छा का पूर्ण दमन भी तो नही किया जा सकता। फलत सावन का झूला, जन्माष्टमी की झॉकी, कार्तिकमास का यमुनास्नान या माघमेला मे गगास्नान इत्यादि विविध त्यौहारो के अवसरो पर समाज के कर्णधारो ने महिलाओ का बाहर निकलना वर्ज्य नही माना गया। इन अवसरो पर महिलाये भी सामाजिक रूढि की अनुमति से सार्वजनिक स्थानो मे आ जा सकती हैं। इस प्रकार से समाज की उत्सवप्रियता को धार्मिक बन्धन से नियमित किया गया, साथ ही धार्मिक वृत्ति को प्रोत्साहन देने के लिये उत्सवो का आयोजन किया जाय। अपने व्यापक अर्थ मे धर्म और काम इन दो पुरुषार्थो का अपूर्व समन्वय हमारे धार्मिक एवविध लोकोत्सवो की अपनी विशेषता है।

अब एक दूसरा उदाहरण लीजिए। यह बात तो विदित है कि वर्णव्यवस्था की प्रथा मे अवाञ्छनीय सकुचितता बढ जाने के कारण खान-पान और स्पृश्यास्पृश्य का विचार आवश्यकता से अधिक किया जाने लगा था। भारत की धर्मभीरु जनता समाज के इस कृत्रिम भेद को सत्य न समझ सके, इसलिये समाज के हितचिन्तको ने कुछ ऐसे उत्सव चलाये, जिसमे कुछ काल के लिये छुआछूत का सारा भूत भाग जाता है। हमारा होली का त्यौहार एक ऐसा ही सार्वजनिक उत्सव है, जिसमे क्या राजा क्या रक सभी समान रूप से भाग लेते है। जगन्नाथपुरी एक ऐसा धर्मक्षेत्र है, जहाँ खानपान मे भेद-बुद्धि करना पाप समझा जाता है। वहॉ जाकर बडे से बडा आचारसम्पन्न वैदिक ब्राह्मण शूद्रो के साथ कन्धा से कन्धा मिलाकर पुजारियो द्वारा बाँटे जाते हुए 'भात' को जगन्नाथजी का प्रसाद मानकर ग्रहण करता है और अपने को कृतकृत्य मानता है। इसीलिये शास्त्रो मे कहा है कि जगन्नाथपुरी के बाहर चारो वर्ण भिन्न-भिन्न हो, किन्तु उस क्षेत्र के भीतर चारो वर्ण एक है।

निष्क्रान्ते भैरवीचक्रे सर्वेवर्णाः द्विजातयः।
सम्प्राप्ते भैरवीचक्रात्सर्वेवर्णाः पृथक् पृथक्॥

देखिये, सामाजिक साम्यवाद का धार्मिकता से कितना सुन्दर समन्वय है।

भारतवर्ष के धार्मिक लोकोत्सवों का कई श्रेणियो मे वर्गीकरण किया जा सकता है। कुछ धार्मिक लोकोत्सव राम, कृष्ण, शिव, विष्णु, गणेश, दुर्गा आदि देवी-देवताओ के नाम से प्रचलित है। इन अवसरो पर उन देवताओ के प्रसिद्ध स्थानो पर विशेष भावुक जनता की भीड,

सन्दिर की सजावट, देवप्रतिमा का शृगार एव मेला के विविध कार्यक्रम देखने मे आते है। रामनवमी का उत्सव अयोध्यापुरी मे तथा दक्षिण भारत मे श्रीरगम् मे विशेष धूमधाम से मनाया जाता है। शिव का उत्सव शिवरात्रि के अवसर पर काशी-रामेश्वरम् आदि बारह ज्योतिर्लिगो के स्थानो मे विशेषरूप से मनाया जाता है। गणेशोत्सव का जितना गौरव महाराष्ट्र या उसके आसपास के क्षेत्र मे पाया जाता है, उतना अन्यत्र नही। दुर्गापूजा का उत्सव उत्तरभारत मे, विशेषतया बगाल-आसाम मे और लक्ष्मी-पूजा गुजरात मे बडी धूमधाम से मनायी जाती है। इन उत्सवो की साज-सजावट तथा धूमधाम मे भिन्न-भिन्न प्रदेशो की अपनी विशेष ख्याति है। बम्बई की दीवाली, कलकत्ता की दुर्गापूजा, प्रयाग और मैसूर का दशहरा, पूना और नागपुर का गणपति-उत्सव, मथुरा की कृष्ण-झाँकी आदि का अखिल भारतीय महत्व है। ये उत्सव प्रादेशिक न होकर, सार्वदेशिक है और इनमे देश के विभिन्न भागो से असख्य नर-नारीगण इकट्ठा हो जाते है। दक्षिण भारत मे श्रीरगम की वैकुण्ठ-एकादशी, तिरुवन्नामलाइ का कृतिका-दीप, पालनी की स्कन्दषष्ठी विशेष महत्व के लोक-प्रिय धार्मिक उत्सव हैं। आधुनिक काल मे इन उत्सवो का एक नवीन सास्कृतिक महत्व प्रतिवर्ष बढ रहा है। पूना और नागपुर के गणपति उत्सव मे आजकल विभिन्न कलात्मक, शैक्षणिक, सास्कृतिक, मनोरजनात्मक कार्यक्रमो का १० दिन तक ताँता बँध जाता है। विभिन्न विषयो मे वर्षभर की प्रगति का इन कार्यक्रमो मे परिचय मिलता है। गणपति की स्थूलकाय विशाल प्रतिमा केवल मूषकारूढ न रहकर, नवीन-नवीन कल्पनाओ के अनुसार सायकिल, मोटर, विमान पर बैठी दिखाई देती है। १० दिन तक लगातार प्रतिदिन नगर के विभिन्न-विभिन्न भागो मे, व्याख्यान, वादविवाद, सगीत-स्पर्धा, नृत्य, गीत आदि विविध कार्यक्रम होते है। प्रयाग के दशहरा मे हाथी, घोडे, ऊट, झडे तथा विविध वाद्यवृन्दो के साथ पचासो चौकियाँ निकाली जाती हैं, जिनमे राम-सम्बन्धी तथा पौराणिक कथाओ के दृश्यो के अतिरिक्त अब समाज-सुधार सबधी तथा राजनैतिक महत्व की भी चौकियाँ निकाली जाती है। इन चौकियो मे प्रतिवर्ष न केवल सख्यावृद्धि, बल्कि साज-सजावट मे नवीनता तथा नये कृत्रिम उपकरणो का अधिकाधिक उपयोग दृष्टिगोचर होता है। भारत की राजधानी दिल्ली तथा अन्य नगरो मे भी अब ऐसी चौकियो का जुलूस निकालने की प्रथा बढ रही है। इन नगरो की जनता तथा विशेषतया बालक-बालिकाओ के लिये इन जुलूसो का सर्वांगीण महत्व है, इनमे न केवल उनकी प्रियता की तृप्ति; बल्कि कलात्मक अभिसधि तथा सास्कृतिक विकास को प्रेरणा मिलती है। जगन्नाथपुरी की रथयात्रा, बगाल की भजन-यात्रा मे भावुक जनता भक्तिविह्वल और आनन्दविभोर होकर नाचने लगती है। इनके अतिरिक्त प्रयाग, नासिक, उज्जैन तथा हरद्वार के प्रति बारह वर्ष पर होने वाले कुम्भमेला और कुम्भकोणम् का महामहिम् सच्चे अर्थ मे धार्मिक सम्मेलन हैं। इनमे असख्य धर्मप्राण जनता के अलावा बड़े-बडे साधुओ के अखाडे इकट्ठा होते है और १ मास तक धर्मचर्चा, दानदक्षिणा की धूम रहती है। इन सर्वसाधारण उत्सवो के अतिरिक्त कुछ ऐसे भी धार्मिक लोकोत्सव हैं, जिनमे विशेष वर्ग के लोगो का अधिक आकर्षण रहता है; जैसे श्रावणी का उपाकर्म, हमारी प्राचीन शिक्षा सस्थाओ के समारम और सत्र-समाप्ति का उत्सव। इस दिन गुरुकुल से जानेवाले

स्नातको का दीक्षान्त-समारोह तथा नये प्रवेश पाने वाले छात्रो के व्रतारम्भ का आयोजन किया जाता है।

श्रावणी-पर्व के सामूहिक-स्नान-समारोह मे कुलगुरु अपने समस्त शिष्यो के साथ सविधि स्नानकर गतवर्ष मे की गई गलतियो का प्रायश्चित्त तथा अगले वर्ष मे नियमो का कडाई के साथ पालन करने की दृढ प्रतिज्ञा करते है। एवमेव हमारे महिलावर्ग के भी निजी खास धार्मिक त्यौहार है। भाद्रपद की तृतीया को हरितालिकाव्रत—प्रत्येक कुमारी और विवाहिता के लिये अनिवार्य है। इस दिन कुमारियाँ अपने अभीप्सित वर की प्रार्थना के लिये और विवाहित महिलायें अखण्ड सौभाग्य के लिये शकर-पार्वती की पूजा करती है तथा उपवास रहती हैं। इसी प्रकार सन्तान का दीर्घायुष्य तथा पुत्र-पौत्रादि की प्राप्ति के लिए व्रत और पूजा के अनेक दिन महिलाओ के लिये निर्दिष्ट है। वस्तुस्थिति तो यह है कि भारतीय हिन्दू के जीवन मे सारा वर्ष धार्मिक उत्सवो की लडी से सुशोभित है। ससार मे विरला ही ऐसा कोई राष्ट्र या जाति होगी, जिसके सासारिक जीवन को सरस बनाने के लिये धार्मिक और सामाजिक उत्सवो की योजना इतनी दूरदर्शिता और समन्वय-भावना से की गई हो, जितनी हमारे पूर्वजो ने जीवन को सुखमय बनाने के लिये हमारे लिये की है। यही कारण है कि भारतभूमि के निवासियो को धन्य कहा गया है:

"धन्यास्तु ते भारतभूमिभागे, ये सर्वदा शान्तिसुखाभिलाषितः।
लोकोत्सवैर्धर्ममयैः समृद्धम्, आनन्दपूर्णं क्षपयन्ति कालम्॥

[आकाशवाणी-वार्ता : १९५८]

४९. संकल्प-विधि का वैशिष्ट्य

भारतीय जीवन परपरा मे ऐसी अनेक मामूली सर्वपरिचित बाते है, जिनके महत्व की ओर बहुत कम लोगो का ध्यान जाता है। उनमे से सकल्प-विधि एक ऐसी प्रचलित विधि है, जिसका उपयोग प्रत्येक आस्तिक भारतीय प्रात काल करता है। न केवल प्रत्येक धार्मिक कृत्य के प्रारभ मे ही बल्कि प्रतिदिन स्नान सध्या के समय सकल्पविधि आवश्यक है। किंतु इस सकल्पविधि के वैशिष्ट और महत्व को कितने लोग जानते है? सच तो यह है कि भारतीय धर्म की परपरा अति प्राचीन और अनुभवपुष्ट है। इसके प्रत्येक रीतिरिवाज का अपना विशिष्ट गौरव है और सूक्ष विचार करने पर इसकी महत्ता को हम जान सकते है। पाश्चात्य सभ्यता के सपर्क से हमारी दृष्टि मे इतनी चकाचौध आ गई कि हम अपनी गौरवपूर्ण रीतियो को अज्ञान के कारण भुलाते जा रहे है। क्या ही अच्छा होता, यदि किसी रीति-रिवाज को उपेक्षणीय समझने के पूर्व हम उसके वैशिष्ट और महत्व को समझने का प्रयत्न कर।

आजकल तिथि और तारीख जानने के लिए हमे दीवार पर टँगे हुए केलेण्डर की ओर बार-बार देखना पडता है, किन्तु यदि प्रात काल स्नानोत्तर सन्ध्या करते समय सकल्प-विधि के प्रयोग मे नियत तिथि का नामोच्चारण मनोयोगपूर्वक कर लिया जाय तो केलेण्डर को बार-बार देखने की जरूरत नही पडेगी। सकल्प मे हम केवल विशिष्ट तिथियाँ-वार का ही निर्देश नही, अपितु वर्तमान सृष्टि के कालक्रम मे आज के दिन का जो स्थान है, उसका स्पष्टीकरण भी करते हैं, जैसे सकल्प मे हम यो कहते है कि वर्तमान सृष्टि को ब्रह्मा का दिन माना जाय तो आज ब्रह्मा के दिन का परार्ध है। ब्रह्मा के सम्पूर्ण दिन रात के ३२ कल्पो मे आज आठवा श्वेतवराह कल्प चल रहा है। प्रत्येक कल्प मे चौदह मन्वन्तर है, उनमे ७वाँ वैवस्वत मन्वन्तर है। प्रत्येक मन्वन्तर मे बृहत्तर युगचतुष्टय कृतयुग, त्रेतायुग, द्वापरयुग और कलियुग होते है उनमे आज अट्ठाईसवाँ कलियुग जारी है। कलियुग का प्रारभ युधिष्ठिर के समय से होता है, अत युधिष्ठिर सवत् का यह ५०५२वाँ वर्ष है। विक्रमादित्य सवत् के मान से आज २००८वाँ वर्ष है तथा शक सवत् के मान से १८७३वाँ वर्ष है। इस प्रकार वर्तमान वर्ष की गणना कर हम आगे बढकर यो कहते है कि आज कार्तिक मास का कृष्णपक्ष है। तिथि अमावस्या है, वार मगलवार है, आज के दिन सूर्य तुला राशि मे तथा चन्द्रमा चित्रा नक्षत्र मे है। मगल सिंह राशि मे, बुध तुला राशि मे, गुरु मीन राशि मे, शुक्र सिंह राशि मे तथा शनि कन्या राशि मे है।

सकल्प-विधि के इस काल-निर्देश मे कितनी बारीकी है। प्रतिदिन सकल्प-विधि का प्रयोग करने मे हमे न केवल मास-तिथि-वार का ही ज्ञान कराया जाता है, बल्कि मुख्य-मुख्य

ग्रहों की गतियो का भी निर्देश रहता है। सकल्प-विधि के इस सामान्य प्रयोग से कितनी बातों का एक साथ ज्ञान हो जाता है। यह विचारने की बात है कि विश्व के सतत प्रवहमान कार्यक्रम मे वर्तमान काल को जानने का कितना स्तुत्य प्रयत्न है। काल की अनन्तता का परिचय कराने के लिए यह कहा गया है कि ब्रह्म के आयु मर्यादा के प्रथम वर्ष का अभी प्रथम दिवस ही चल रहा है। उसमे भी उस दिन के बत्तीस कल्पो मे सात ही कल्प बीत चुके है। वर्तमान सातवे मन्व-न्तर के अभी ४४ युगो की चौघडी बाकी है। कलियुग को प्रारम्भ हुए पाँच हजार से थोडा ही ज्यादा समय बीता है। भगवान के दशावतारो मे आज का समय बौद्धावतार से प्रभावित है। प्रसिद्ध सम्राट् विक्रमादित्य ने आज से २००८ वर्ष पूर्व भारत मे अपना सवत् चलाया था। इस प्रकार हम देखते है कि अनन्त काल की महत्ता, ग्रहो की गति एव प्रसिद्ध इतिहास निर्माता व्यक्तियो का स्मरण भी सकल्प विधि के कालनिर्देश मे कराया गया है।

अब वर्तमान स्थाननिर्देश की दृष्टि से उपर्युक्त सकल्प विधि के निर्देश को देखना चाहिये। यह कहा गया है कि समस्त ब्रह्माण्ड के सात लोको मे एक लोक भूलोक है। इस भू-लोक में ७ महाद्वीप है। एक महाद्वीप जम्बूद्वीप है। उसमे भी अनेक वर्ष है, हमारा भारतवर्ष उनमे से एक है। भारतवर्ष मे तीन विशाल खड है, उत्तरापथ, और मध्यदेश दक्षिणापथ। दक्षिणापथ मे नर्मदा और गोदावरी नदी के बीच दण्डकारण्य भाग है। उसमे एक क्षेत्र रामक्षेत्र है। रामक्षेत्र (रामटेक) की परिधि मे नागपुर नगर है—इस प्रकार से सकल्प-विधि मे सकल्प करने वाले के विशिष्ट निवास स्थान का निर्देश होता है। वर्तमान प्रचलित भौगोलिक शब्दावली मे कहा जाय तो हम यो कह सकते है कि सौर्य जगत के एक खड भूगोल के उत्तरार्द्ध मे एशिया के एक भाग भारतवर्ष देश मे दक्षिण पठार मे नर्मदा के दक्षिण और गोदावरी के उत्तर मे दण्डकारण्य के एक भाग रामटेक नामक धार्मिक क्षेत्र के अन्तर्गत नागपुर नगर मे—आज के वर्तमान जगत मे अपना स्थान कहाँ है यह स्मरण दिलाने के लिए सकल्प-विधि कितनी उपयोगी है। सकल्प-विधि के काल निर्देश मे जैसे बीते इतिहास की स्मृति की गई है, वैसे ही स्थलनिर्देश मे भौगोलिक ज्ञान कराया गया है। सक्षेप मे सकल्प-विधि मे इतिहास, ज्योतिष-शास्त्र एव भूगोल शास्त्र की महत्वपूर्ण बातो की ओर सकेत है।

इस प्रकार से जब प्रत्येक आस्तिक भारतीय प्रतिदिन प्रात सकल्प-विधि के द्वारा काल की दृष्टि से अपने विशिष्ट स्थल का स्मरण करता है तो उसकी अहमन्यता और बडप्पन का झूठा ढोग निकल जाता है और उसके हृदय मे तुच्छता और अकिचनता की धारणा उत्पन्न होती है। विश्व कल्याण की दृष्टि से यह प्रतिदिन का स्मरण कितना लाभकारी है? कितने खेद की बात है कि प्राचीन भारतीय जीवन की इस सकल्प-विधि की इस उज्ज्वल परम्परा को हम दिनोदिन भूल रहे है।

[जयहिंद, : मार्च, १९५२ में प्रकाशित]

५०. गुरुपूर्णिमा-संदेश

पाश्चात्य देशो मे तथा कुछ समय पूर्व भारत मे भी शिक्षित और अशिक्षित के भेद का मापदण्ड 'साक्षरता' है। लोक सख्या मे प्रतिशत साक्षरो की सख्या से उस देश मे शिक्षा-प्रसार का अनुभव आजकल किया जाता है। एक निर्दिष्ट अश तक यह ठीक है। किन्तु सर्वांश मे इस मापदण्ड की उपयुक्तता मे सदेह है। हमारे देश की सस्कृति और परम्परा के अनुरूप शिक्षण का वैशिष्ट्य—अक्षर-परिचय से न होकर 'ज्ञान-परिचय' से है। अभी भी देहात मे ऐसे 'ज्ञान-वयोवृद्ध' (किन्तु अक्षर ज्ञानरहित) बूढे लोग मिलते हैं, जिनका सामाजिक और गार्हस्थ्य-जीवन सम्बन्धी ज्ञान आश्चर्यकारक है। तुलसीदास की चौपाइयो मे सन्निहित सासारिक ज्ञान उनके जीवन मे इतना घुलमिल गया है कि प्रत्येक अच्छे या बुरे कार्य की स्तुति-निन्दा मे वे चौपाइयो का उदाहरण प्रस्तुत करते है। 'अक्षर-परिचय' न होने पर भी उनके ज्ञान की परिधि कम नही है। इसीलिए कहा जाता है कि नवीन सभ्यता से अलिप्त ग्रामो मे ही प्राचीन परम्परा के सामाजिक और नैतिक ज्ञान का विस्तार दृष्टिगोचर होता है। कथा-श्रवण की प्राचीन परम्परा इन 'ग्रामवृद्धो' को इतना 'सज्ञान' बना देती है कि यहाँ का एक 'निरक्षर' मनुष्य अन्य देशो के अशिक्षित से अधिक मानव है।

इसका कारण हमारे देश की प्राचीन शिक्षण-पद्धति है। श्रुति, स्मृति और पुराण—ये तीनों यथाक्रम ज्ञान के उत्स है। नेत्रो की अपेक्षा श्रवणेन्द्रिय से प्राप्त ज्ञान का प्रभाव अधिक चिरस्थायी होता है। पुन -पुन श्रवण करने से स्मृतिपटल पर ज्ञान का अकन होता है। स्मृति की कक्ष मे आकर उपार्जित ज्ञान 'अपनी चीज' हो जाता है।

इस प्रकार से पुरातन ज्ञान श्रवण और स्मरण द्वारा हमारे लिए फिर नया बन जाता है जिसे हम 'पुराण' कहते है और जिसका अर्थ ही 'पुराना होता हुआ भी नया' है : पुरा अपि नव इव)। साराश यह है कि प्राचीन महर्षियो का वह कष्टोपार्जित ज्ञान, जिसे उन्होने गम्भीर चिन्तन और प्रयोग के बाद प्राप्त किया था, श्रुति और स्मृति की परम्परा द्वारा हमारे पुराणों में सुरक्षित हैं और उन्ही पुराणो की कथाओ का श्रवण और स्मरण कर हम उस ज्ञाननिधि को प्राप्त कर सकते हैं।

प्राचीनकाल मे प्राप्त सुविधाओ के अनुसार पुराण-कथा-श्रवण ही शिक्षा-प्रसार का उपयुक्त साधन था। वयस्क लोगो मे ज्ञान का प्रसार करने के लिए इनकी उपयोगिता आज भी है। आचार, नीति, सासारिक व्यवहार कुशलता और धार्मिकता का शिक्षण मनोरजन के साथ पुराण कथाएँ कर सकती है। चित्रपटो का उपयोग भी पुराणकथा वाचन के साथ किया

[शेषाश २३५ पृष्ठ पर

५१. प्राचीन-काल का श्रावणी दिन

आज श्रावणी का दिन है। चारो ओर रक्षाबन्धन की धूम है। इसका महत्त्व महाबली दानवेन्द्र राजा बलि के समय से चला आ रहा है। मुसलमानी शासनकाल मे तो 'राखी' ने अनेक बार राजनैतिक उथल-पुथल मचा दिया था। आज कल भी ब्राह्मणवर्ग मे श्रावणी कर्म एक विशिष्ट पर्व है और इस दिन सभी उपनीत ब्राह्मण सामूहिक स्नान मे भाग लेते है और ऋषिपूजन, नवीन यज्ञोपवीत धारण आदि क्रियाओ से साल भर के पाप का प्रक्षालन करते हैं। यह सब तो श्रावणी दिन का जनप्रसिद्ध माहात्म्य है। किन्तु प्राचीन काल मे इस पर्व का एक दूसरा ही वैशिष्ट्य था, तत्कालीन शिक्षाक्रम मे इस दिवस का एक महत्त्वपूर्ण स्थान था। यहाँ हम इस उत्सव के उसी विस्मृत रूप की ओर आपका ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं।

श्रावणी कर्म के 'उपाकर्म' और 'उत्सर्ग' ये दो अन्य नाम भी है। प्राचीन काल मे आज के दिन विद्यार्थी (उपनयन के अनन्तर) गुरुकुल मे वेदाध्ययन के लिये प्रविष्ट किये जाते थे। उपाकर्म का अर्थ 'सविनय स्वीकार' अर्थात् विद्यालय मे बाकायदा प्रवेश की अनुमति है। वर्तमान युग के शब्दो मे कहा जाय तो विद्यालय के खुलने के प्रथम दिन यथाविधि प्रविष्ट किये गये विद्यार्थियो की गुरु से प्रथम भेट और 'कालेज टर्म' का प्रारम्भ। नूतन विद्यार्थियो का प्रवेश साधारणतया वर्ष मे दो बार होता था, पौष या श्रावण मास। किन्तु बाद मे श्रावण मास का अधिक प्रचलन हुआ और यही अध्ययन वर्ष का आरंभ दिवस माना गया। नूतन विद्यार्थियो के साथ गुरु सामूहिक स्नान कर आज वेदाध्ययन प्रारम्भ करते थे और वर्ष की सक्षेम समाप्ति के लिये प्रार्थना तथा वैदिक ऋषियो के नाम का कृतज्ञतापूर्वक स्मरण कर वेदोक्त देवताओ के लिये हवन करते थे। इसी समय गुरुजी अपनी शाखा के वैदिक वाङमय के विभिन्न अगो का सक्षिप्त परिचय देते थे। आज भी श्रावणी कर्म मे वेदो के भिन्न-भिन्न खण्डो के प्रारम्भ की प्रतीके पढकर वही रस्म अदा की जाती है। तदनन्तर वैदिक ऋषियो की वशावली सुनाई जाती थी। अन्त मे गुरु-शिष्य सब साथ इडाभक्षण और एक दूसरे से सहानुभूति के साथ सस्नेह वर्तन की ओर मिलजुलकर अध्ययन समाप्त करने की प्रतिज्ञा करते थे। अध्ययन वर्ष समाप्त होने पर एकमेव गुरुशिष्य मिलकर उपर्युक्त कर्मकलाप करते थे, इसीसे इसका नाम 'उत्सर्ग' पडा। प्राचीन काल में उपाकर्म और उत्सर्ग सम्भवत. भिन्न-भिन्न दिन होते रहे होगे। किन्तु बाद मे जब वह शुद्ध परम्परा लुप्त हो चुकी, तब उसके रक्षण के लिये एक ही दिवस प्रारम्भोत्सव और समाप्त्युत्सव दोनो मनाये जाने लगे। प्रत्येक गुरुकुल मे इस उपाकर्म दिन की औत्सुक्य से प्रतीक्षा

[शेषांश २३५ पृष्ठ पर

५२. दीपावली का महत्त्व

भारतीय-सस्कृति की विशेषता 'समन्वय' है, जिसका सज्ञेय उदाहरण हिन्दू-जीवन के वार्षिक कार्यक्रम मे समय-समय पर उत्सवो की रचना है। रक्षा-बन्धन, विजया दशमी आदि महापर्वो की तरह प्रत्येक वर्ण के लोग दीपावली-महोत्सव मे सम्मिलित होते है। यद्यपि दीपावली-महोत्सव का सम्बन्ध आजकल वैश्यवर्ण से विशेष समझा जाता है, तो भी प्रत्येक वर्ण का दूसरे वर्ण के उत्सवो मे हार्दिक रूप से भाग लेना समस्त हिन्दू-जाति की एक-सूत्र-बद्धता का द्योतक है। इस महोत्सव का सम्पूर्ण भारतवर्ष मे प्रचार और समान उत्सव-विधि देश की 'अखण्डता' का स्पष्ट प्रमाण है। दीपावली का आगमन हिन्दू-जीवन मे नई स्फूर्ति लाने का प्रतीक है। उपेक्षित से उपेक्षित घरो मे आज रोशनी की जाती है और जहाँ साल भर उपेक्षा और अनादर का साम्राज्य था, वहाँ भी आज के दिन सफाई करना धर्मविधि समझी जाती है। जीवन के प्रत्येक अग मे धर्म का पुट देकर मानवजाति की सर्वाङ्गीण उन्नति करने मे भारतीय-सस्कृति का विशेष ध्यान रहा है। इसी से लक्ष्मी-पूजा के साथ-साथ आज के दिन व्यापारी-वर्ग सालभर के आय-व्यय का हिसाब कर व्यापारिक वर्ष का प्रारम्भ करता है। वर्ष भर के हानि-लाभ के विचार के अवसर को धार्मिक दृष्टि से लक्ष्मी-पूजा काल मानने मे धर्म-कर्म के समन्वय की उदात्त भावना अन्तर्निहित है। दशहरा के दिनो मे सरस्वती-पूजा के बाद दीपावली के दिन लक्ष्मी-पूजा करने की विधि चलाने मे भी विद्या और सम्पत्ति के महत्त्व का तारतम्य अभिप्रेत है।

दीपावली महोत्सव के प्रचलन के सम्बन्ध मे कई कथाये कही जाती है। राजा बलि के कारागार मे अन्य देवताओ के साथ-साथ लक्ष्मीजी भी बन्द थी, विष्णु भगवान् ने वामन-रूप धारण कर इसी तिथि को राजा बलि का गर्व चूर्ण किया और लक्ष्मी को बन्दीगृह से छुडाया। 'अतिदानाद्बलिर्बद्धः' अत्यधिक दान करने के गर्व से बलि का पराजय हुआ . इस उक्ति मे आवश्यकता से अधिक और पात्रापात्र का बिना विचार किये दान देने की लोकैषणामूलक प्रवृत्ति को अवाञ्छनीय कहा गया है। रावण को मारकर श्रीरामचन्द्र जी के अयोध्या लौटने पर देश मे जो आनन्दोत्सव मनाया गया था, उस शुभावसर की स्मृति मे दीपकोत्सव प्रचलित करने की भी कथा लोक मे प्रचलित है। जैनियो मे इस दिवस को निर्वाणोत्सव कहा जाता है, क्योकि जैनियो के अन्तिम तीर्थङ्कर महावीर स्वामी ने आज निर्वाण प्राप्त किया था। एवमेव हिन्दू-धर्म के पुनरुज्जीवन करने वालो मे प्रमुख स्वामी दयानन्द जी ने भी इसी तिथि को देहत्याग किया था। अतः यह निर्विवाद सिद्ध है कि दीपावली-महोत्सव अनेक दृष्टियो से महत्वपूर्ण है।

[शेषाश २३५ पृष्ठ पर

⊙ २३२ पृष्ठ का शेषांश]

जा सकता है। आशा है समाज-शिक्षण के कर्णधार अपने ध्येय की पूर्ति मे इस परम्परा प्राप्त साधन का—नवीन उपकरणो के साथ लाभ उठायेगे, एव नवीन ज्ञान-ज्योति को प्राचीनता के वातावरण मे जनता के सामने रक्खेगे। साथ ही परम्परा प्राप्त ज्ञाननिधि को नवीन उपकरणो के साथ जनता मे प्रस्तुत कर प्राचीन शिक्षण-परम्परा को अक्षुण्ण बनाये रक्खेगे। प्राचीन और नवीन के समन्वयात्मक मे ही पुराणो का 'पुराणत्व' है।

[१९४८ में गुरुपूर्णिमा के अवसर पर नागपुर में दिये गये ाषण का सार]

⊙ २३३ पृष्ठ का शेषांश]

की जाती थी। अपने विद्यालय मे अधिक से अधिक शिष्य पढने के लिये आये, इस बात की उत्कट आकांक्षा—आजकल की भाँति—उस काल मे गुरु लोग रखते थे। इसी से कई गृह्यसूत्रो मे ऐसे विधान आये है कि अमुक मत्र जपने से अधिक शिष्य मिलते है, या जितने तिल की आहुति दी जायगी, उतने ही शिष्य अध्ययन के लिये आवेगे। शिष्यो की सख्या और योग्यता पर गुरु की कीर्ति अवलम्बित है, अत· प्राचीन काल के अवेतनभोगी और निं स्पृह गुरुओ की यह महत्त्वाकाक्षा सर्वथा स्वाभाविक है।

सक्षेप मे श्रावणी का दिन शैक्षणिक वर्ष के प्रारम्भ होने का दिन है, अत शिक्षा-ससार मे इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है।

[१९४० में प्रकाशित]

⊙ २३४ पृष्ठ का शेषांक]

इस वर्ष दीपावली का महत्त्व विशेष अधिक है, क्योकि सम्राट् विक्रमादित्य द्वारा सस्थापित विक्रम सवत् का २०००वाँ वर्ष समाप्त हो रहा है। विश्व मे आज चारो ओर महायुद्ध की ज्वाला धधक रही है। भीषण नर-धन-सहार के अतिरिक्त दुर्भिक्ष, अकाल, बीमारी आदि का भी दौरदौरा है। ससार की स्थिति आज अमावस्या की काली रात के समान अन्धकारपूर्ण है। जैसे आज रात को दीपमालिका सजाकर हम अन्धकार का नाश कर प्रकाश फैलाते है, वैसे ही क्या हम आशा करे कि २०००वे वर्ष का अन्धकार दूर होकर आगामी तृतीय सहस्राब्दी के प्रथम वर्ष मे प्रकाश का प्रसार होगा और विश्व मे एक बार पुन विक्रमादित्य काल का सुराज्य दृष्टिगोचर होगा?

"तमसो मा ज्योतिर्गमय"

[१९४३ में प्रकाशित]

५३. वसन्तोत्सव मनाने की मनोवृत्ति

आजकल का युग 'जल्दी-जल्दी' का युग है। जीवन मे सुखमय शाति एक दुर्लभ वस्तु हो गई है। हम यात्रा करते है तो शीघ्रतम चलने वाली सवारी को महत्व देते है। उसमे भी समय के उपयोग का प्रश्न हमारे सामने बना रहता है। रेल्वे बुक स्टाल से खरीदी गई रगीन और सनसनीदार पत्र-पत्रिकाये या कहानियो के बिना समय नही कटता। दैनिक जीवन मे भी घरेलू उत्तरदायित्व और जीविकार्थ व्यवसाय से छुट्टी मिलते ही हम चित्रपट देखने को सोचते है। साराश यह कि हम जीवन का प्रत्येक क्षण किसी न किसी उपयोगी कार्य मे बिताना पसन्द करते है। हमारा स्नायु-जाल इतना उत्तेजित हो गया है कि बगैर कुछ लाभ का काम किये हमे चैन नही मिलता। हमारी बहिर्मुखी दृष्टि इतनी चचल हो गयी है कि कुछ न कुछ वस्तु हमेशा सामने होनी ही चाहिये। अन्तर्मुखी दृष्टि की ओर प्रवृत्ति का अभाव आज के वर्तमान जीवन का अभिशाप है। हमे शात चिन्ता से जीवन के लक्ष्य या मौलिक तत्वो का कुछ काल के लिये प्रतिदिन विचार करना रुचता ही नही। हम जल्दीबाजी की होड मे पडकर शाति और सतुलित जीवन के महत्त्व को भूल गये है। फलत वर्तमान युग का हमारा जीवन उतना सरस नही रह गया है।

कवीन्द्र रवीन्द्र ने कादम्बरी की भाषा की चर्चा करते हुये कहा है कि उत्तरकालीन संस्कृत-गद्य की उपमा एक मन्द-मन्द चलने वाले राजसी ठाठ के जलूस से की जा सकती है। जिसमे जल्दी-बाजी का गन्ध नही। बाजेवाले, हाथी, ऊट, घोडे, सैनिक दल और राजा का रथ—ये सब दोनो ओर खडी दर्शनोत्सुक जनता को आह्लादित करते धीरे-धीरे आगे बढते है। एक मील तै करने मे एक घटा भी लग जाय तो कोई हर्ज नही। इसी प्रकार बाण की भाषा जब किसी वस्तु का वर्णन करने लगती है, तो उसमे जल्दीबाजी नही रहती। पहिले लम्बे समासो मे स्थूल, फिर क्लिष्ट उपमाओ से अग-प्रत्यग का सूक्ष्म चित्रण, बाद मे उत्प्रेक्षाओ की भरमार और अन्त मे विरोधा-भासपूर्ण छोटे-छोटे वाक्याश—आदि अनेक तत्रो के साथ बाण का वर्णन हमारे सामने धीरे-धीरे गुजरता है। इसमे न कवि को जल्दी है न पाठको को। इतिवृत्त की प्रगति की ओर से दोनो उदासीन है। उन्हे तो वर्णन का आनन्द चखना है। रेवडी के एक-एक तिल का स्वाद लेने मे जो मजा है, वह एकदम गडप लेने मे नही। इसके विपरीत आज के वर्तमान जीवन की पोस्ट-मैन के जीवन से उपमा दी जा सकती है। उसे नियत समय के भीतर अपनी बोट की सारी डाक बाँट देनी है, अत उसके लिये जल्दी करना अनिवार्य है। हस या गज की मन्द गति का सौदर्य उसके लिए आकर्षण नही। उसे तो काम निपटाना है काम करने मे आनन्दानुभव करना नही।

प्राचीन-काल मे भारतीय सामाजिक जीवन का एक क्रम भिन्न प्रकार का था। उसका साहस्य पोस्टमैन के जीवन से नही था। उसमे राजा के जुलूस की शान थी। जल्दी-बाजी, अस्थिरता और हाय-हाय नही थी। जीवन के सरस भाग का मधुर-मधुर अनुभव समाज को रुचता था। जीवन का प्रत्येक वर्ष उसके लिए विभिन्न उत्सवो की एक माला थी। उसके लिए सावन की रिमझिम अगहन का गुलाबी जाडा और फागुन की मस्त लयार-बहार के दिन थे। यहाँ हम पाठको की जानकारी और साथ ही मनोविनोद के लिए बाण कवि के आश्रयदाता सम्राट् हर्षवर्धन द्वारा १४०० वर्ष पूर्व रचित रत्नावली नाटिका मे वर्णित वसतोत्सव की झाँकी प्रस्तुत करते है।

सस्कृत-साहित्य मे राजा उदयन की एक कलाप्रिय और रसिक राजा के रूप मे ख्याति प्रसिद्ध है। उनकी राजधानी कौशाम्बी थी, जिसका वर्तमान नाम कोशम है। वह प्रयाग से ३६ मील पश्चिम मे है विदिशा, अयोध्या, राजगृह आदि कालीन राजधानियो मे उसका प्रसिद्ध स्थान था। आजकल प्रयाग विश्वविद्यालय और केन्द्रीय पुरातत्व-विभाग के सम्मिलित उद्योग से खुदाई की जा रही है। अभी गत जनवरी मास मे वहाँ बुद्ध-भक्त घोषित द्वारा भगवान बुद्ध के निवासी के लिए निर्मित घोषिताराम के, जिसकी चर्चा बौद्ध ग्रन्थो मे अनेक बार आई है, ध्वसावशेष प्राप्त हुये हैं। प्रयाग के किले मे रखा गया अशोकस्तूप, जिसमे अशोक-स्तम्भ लेख के साथ-साथ सम्राट् समुद्रगुप्त का प्रसिद्ध दिग्विजय लेख खुदा है; इसी कोशम में पाया गया था। हाँ तो, राजा उदयन के समय मे कौशाम्बी एक अति समृद्धपुरी थी। इसके प्रसाद रथ्याये, राजकक्ष और उद्यान दर्शनीय थे। पाटलिपुत्र कुसमपुर मे गगातट पर स्थित मौर्य सम्राट के सुगाग प्रासाद की भाँति महाराज उदयन का सुयामुन प्रासाद प्रसिद्ध था। उसकी खिड-कियो से यमुना की प्रशान्त और नीलवर्ण जलराशि स्पष्ट दिखती थी; उसी सुयामुन प्रासाद पर चढकर महाराज उदयन कौशाम्बी के रसिक नागरिको का वसन्तोत्सव देखा करते थे।

सामने के विशाल राजमार्ग पर एक जुलूस धीरे-धीरे आगे बढ रहा है। उसमे कौशाम्बी के पौरजन नाचते-गाते सामने आते है। वे मृदग की ध्वनि पर तालियाँ बजाकर ताल दे रहे है। सभी लोग वसन्तोत्सवानुरूप सुधा-धवल श्वेत वस्त्र पहिने हैं, किन्तु मधुमत्त नारियो की रग-भरी पिचकारियो से उनके वस्त्र रगविरगे हो रहे है। नारियो के ककण, नूपुर और काची की मधुर ध्वनि तथा पुरुषो की तालानुरूप करतल ध्वनि से मिलकर मृदग स्वर चारो दिशाओ मे व्याप्त हो रहा है। अबीर और गुलाल के चूर्ण से सारा वातावरण जगमगा उठा हैं। आज पुर-वासीगण आमोद-प्रमोद की चरम-सीमा को पहुँच गये हैं। कौशाम्बी को देखकर ऐसा प्रतीत होता है, मानो उसने अपनी सपत्ति से कुबेर के भण्डार को पूर्ण रूप से परास्त कर दिया है। तभी तो चारो ओर वातावरण रक्त-पीतवर्ण मय दिखता है। कुकुम और गन्ध चारो ओर फैलकर लाल-पीली आभा पसार रहा है। लोगो के शरीर पर स्वर्णालकार चमक रहे हैं। उनके शिर रक्ताशोक पुष्प की माला के बोझ से दबे जा रहे है। ऐसा भ्रम होता है कि मानो सर्वत्र सोने का रग दे दिया गया है। राजप्रासाद के प्रागण का दृश्य अपूर्व है। रगीन फुहारो के लगातार चलने से सर्वत्र जल फैल गया है। प्रतिक्षण स्त्री-पुरुषो के दल के दल आने के कारण

आँगन पकिल हो गया है। रगीन पिच्छिल फर्श पर फिसलते हुए नर-नारी विविध क्रीडायें कर रहे है। लाक्षारागरचित चरणवाली नारियो का मादक नृत्य बरबस मन को मोह रहा है। आनन्द के उल्लास मे उनके गौर कपोलो मे से गिरकर सिन्दूर ने सारे फर्श को रग दिया है।

सुरसिक लोग भर-भरकर पिचकारी मार रहे हैं। वारवनिताएँ जल के स्पर्श से घबडाई-सी विलासपूर्ण ढग से 'सी-सी' कर रही है। दूसरी ओर अबीर उडाने से अन्धकार फैल रहा है। किन्तु रसिक नागरिको की गौरवर्ण देह पर मणिजटित आभूषणो की किरणो का प्रकाश भी कम नही है। आम्र-मजरी और अशोक दल से सजी हुई कामिनियाँ नृत्य करती हुई मृदग की ताल पर गा रही है—"अहा अब तो दक्षिण के मलय पवन ने बहना आरम्भ कर दिया है। मलयानिल कुसुमायुध काम का प्रिय दूत है, इनके आने पर घने पत्तो वाले आम्र-वृक्ष मुकुलित हो जाते है। मानिनियो का मान अब कम हो चला है। सुन्दर युवतियो के पादस्पर्श से अशोक खिल उठा है, उनके मधुपूर्य कुल्लो से बकुल-वृक्ष भी विकसित है। वसन्त के आने पर जन-हृदय वैसे ही मृदुल हो जाता है, और तब अवसर पाकर कामदेव अपना कुसुमबाण फेकता है—इत्यादि।

ऊपर का वसन्तोत्सव पढकर प्राचीन भारत के समृद्धशाली अतीत की स्मृति जाग्रत हो जाती है। आज युद्धोत्तर-कालीन विषम परिस्थिति के कारण हमारी दशा भौतिक दृष्टि से, शोचनीय है। किन्तु इससे अधिक शोचनीय यह है कि वर्तमान युग की चपेट मे आकर हम अपनी-प्राचीन जीवन-परम्परा से दूर हट गये हैं। आज हममे वह रसग्राहिणी वृत्ति सूख गई है, जो जीवन को सरस और आकर्षक बनाती है। किन्तु यह ध्यान रहे कि रसग्राहिणी वृत्ति भी यथासमय शोभा देती है, सर्वदा नही। प्राचीन भारत के सन्तुलित जीवन मे 'अतिरेक' और 'असमय' को स्थान नही था।

[जयहिंद : ३ मार्च, १९५४ में प्रकाशित]

५४. गांधीजी की मानवता

भारतीय-दर्शन मे ससार को त्रिगुणात्मक कहा गया है। ये तीन गुण सत्व, रजस और तमस है। जब तक इनकी साम्यावस्था रहती है, तब तक 'ससार' का अस्तित्व ही नही हो सकता। क्योकि 'ससार' या 'जगत' का अर्थ 'ससरण शील' या गमनशील है। गुणो की साम्यावस्था 'चिर शान्ति' का दूसरा नाम है और 'चिरशान्ति' 'ससार' या 'जगत' से तम और प्रकाश का सम्बन्ध है। मीमासा की परिभाषा के शब्दो मे इसे "वदतो व्याघात" कहा जाता है। पतजलि ने महाभाष्य के प्रथम आह्निक मे "वदतो व्याघात" का बडा सुन्दर उदाहरण दिया है। वहाँ पर यह प्रश्न उठाया गया है कि पाणिनि व्याकरण मे कुछ ऐसे पद साबित है, जिनका कही वाङमय मे प्रयोग नही दिखता। इनके समर्थन मे दो चार 'अप्रयुक्त' शब्दो का उल्लेख प्रश्नकर्ता ने किया था। इस पर आचार्य पतजलि परिहासपूर्वक कहते हैं कि "यह तो वदतो व्याघात हुआ", आप स्वय इन शब्दो का प्रयोग करते है, और कहते है कि इन शब्दो का प्रयोग नही होता। दूसरा प्रकार इसी बात को स्पष्ट करने का—स्कूल के विद्यार्थी परीक्षा मे दर्शाते है, जब वे किसी शब्द के प्रयोग करने के प्रश्न के उत्तर मे वाक्य रचना करते हैं कि "मुझे इस 'शब्द' का अर्थ-ज्ञात नही है।" सूक्ष्म दृष्टि से देखने मे यह स्पष्ट है कि ये दोनो उदाहरण "वदतो व्याघात" नही कहे जा सकते, क्योकि प्रश्नकर्ता के द्वारा अप्रयुक्त शब्दो का प्रयोग वास्तविक प्रयोग नही है, वह तो केवल निर्देश मात्र है। एवमेव 'मै इस शब्द का अर्थ नही जानता हूँ'—"इस वाक्य से परीक्षार्थी का उस 'शब्द' का अर्थ ज्ञान और वाक्य मे प्रयोग सूचित नही होता।

हाँ तो, इसी प्रकार क्या 'ससार' या 'जगत' और चिरशान्ति (या साम्यावस्था) ये दो भाव 'वदतो-व्याघात' है? इस प्रश्न का उत्तर भी दो प्रकार से हो सकता है—स्थूल और सूक्ष्म। स्थूल प्रकार की बात आगे देखेंगे। अभी तो सूक्ष्म प्रकार का निरूपण करना है। उन तीनो गुणो की साम्यावस्था मे भी 'गतिशीलता' या सक्रियता' की कल्पना असम्भव नही है। क्योकि साम्यावस्था मे भी तीनो गुणो की 'धारणा' तो होनी ही चाहिये, अन्यथा साम्यावस्था की स्थिति को खतरा है। तो इस तीनो गुणो की (साम्यावस्था मे) 'धारणा' क्रिया को एक क्रिया माननी ही पड़ेगी। इस प्रकार से हमे साम्यावस्था का सक्रियता से समन्वय करना है। विश्ववद्य गाधी जी मे इसी समन्वय का दर्शन होता है। उनकी चित्तवृत्ति की साम्यावस्था मे भी लोक-कल्याण के लिए तत्परता थी, अर्थात् वर्तमान सुख और दुख की घटनाओ से प्रभावित न होकर भविष्य की चिन्ता से प्रेरित होकर वे सदैव 'सक्रिय' रहते थे। दूसरे शब्दो मे वे 'ससार या जगत' मे रह कर 'सम दुख सुख' होने के कारण साम्यावस्था का

अनुभव करते थे। इसी मे गाधी जी की आदर्श साम्यावस्था की झलक मिलती है। यही उनकी 'मानवता' का अनन्य साधारण वैशिष्ट्य है।

अब हम त्रिगुणात्मिका सृष्टि का दूसरे प्रकार से निरूपण करेंगे। जब इन तीनो गुणो की साम्यावस्था किसी अज्ञात कारण से नष्ट हो जाती है, तब वैषम्यावस्था की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। उस दशा मे किसी एक गुण की प्रधानता रहती है और उसके अनुसार विविध प्राणी देखने मे आते है—अतिमानव, मानव और अपमानव (Superman, Man, Sub man) अतिमानव और अपमानव मे वैषम्यावस्था का स्वरूप उत्कट हो जाता है। किंतु 'मानव' मे साम्यावस्था का बहुत-कुछ मिलता-जुलता रूप देखने मे आता है। अपमानव बाह्य परिस्थितियो से कम प्रभावित होता है और होता भी है, तो उसकी प्रतिक्रिया 'शठे शाठ्य समाचरेत्' की रहती है। औदार्य, क्षमा, सहिष्णुता आदि उदात्त गुण उसे नही भाते। एवमेव अतिमानव मे बाह्य परिस्थितियो का प्रभाव अत्यधिक मात्रा मे होता है, साथ ही प्रतिक्रिया भी अत्यधिक होती है। यह अत्यधिकता 'अति सर्वत्र वर्जयेत्' के अनुसार वाछनीय नही है। बाह्य परिस्थितियो से उचित मात्रा मे प्रभावित होना और प्रतिक्रिया के फलस्वरूप लोक कल्याणानुरूप कार्य करना—ये 'मानव' के गुण है। बुराई का उत्तर बुराई से न देकर, बुराई करने वाले की चित्तवृत्ति को, अपने त्याग और सहिष्णुता से बदलने का यत्न करना 'आदर्श मानव' का कर्तव्य है। श्री गाधीजी न अतिमानव थे, न अपमानव। वे तो 'मानव' थे। यही उनका वैशिष्ट्य है।

[मानवता, जून १९४८ मे प्रकाशित]

५५. भारतीयकरण का तात्पर्य

आजकल हमारे देश मे 'भारतीयकरण' के अभिप्रेतार्थ पर मतभेद की एक नयी समस्या उपस्थित हुई है। भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणो से विचारशील लोग इसकी व्याख्या करते है। जनसघ के द्वारा इसका प्रथम प्रयोग होने के कारण, जनसघ को एक साम्प्रदायिक दल मानने वालो को इसमे उग्र साम्प्रदायिकता की गध दीखती है तथा देश मे फूट फैलाने की प्रवृत्ति का सकेत मिलता है। कहा जाता है कि भारतीयकरण की चर्चा देश के अहिन्दू-वर्ग का अविश्वास तथा अपमान है। दूसरी ओर भारतीयकरण को हिन्दूकरण का समानार्थी मानकर, भारतीय-करण के द्वारा हिन्दूराष्ट्र स्थापित करने का स्वप्न कुछ लोग देखते है। इस मत-द्वैध की पृष्ठभूमि मे इस शब्द का तात्पर्य निर्णीत करना असामयिक न होगा।

प्रत्येक देश की अपनी एक विशेषता होती है, जिसे 'अस्मिता' शब्द के द्वारा स्पष्ट व्यक्त किया जा सकता है। इस विशेषता का क्षेत्र व्यापक है। इसके अन्तर्गत देश की सभ्यता और सस्कृति के सभी पक्ष इस देश की अपनी विशेषता मे अन्तर्निहित माने जा सकते है। भाषा, वेष-भूषा, भोजन, रीति-रिवाज आदि मे इस विशेषता का वाह्यपक्ष दृष्टिगोचर होता है। स्थूल-रूप से इन बातो मे एकरूपता दिखने पर हम नि सकोच कह सकते हैं कि क्षेत्रीय विशेषता का वाह्यस्वरूप क्या है?

किन्तु आज के वैज्ञानिक युग मे—यातायात तथा सचार की व्यवस्था इतनी विकसित हो गयी है कि चन्द्रलोक मे जाना अब एक कल्पना नही, बल्कि अनुभवगम्य वस्तु है। इन वाह्य उपकरणो से—भाषा, वेष-भूषा, भोजनादि से—किसी देश की विशेषता वास्तविक अनुमान लगाना उचित न होगा। अब हमे सभ्यता के वाह्य उपकरणो पर ध्यान केन्द्रित नही करना चाहिए, बल्कि देश की संस्कृति के विविध पक्षो को—जैसे विचार-धारा, जीवन-दर्शन, सामाजिक दृष्टिकोण आदि का विचार करना चाहिए। इन्हे हम विशेषता का आन्तर पक्ष कह सकते है। बाह्य पक्ष चिरस्थायी नही रहता, काल-क्रम से उसमे परिवर्तन होता रहता है। आज रामायण, महाभारतकालीन भाषा, वेष-भूषा का दर्शन भारतवर्ष मे नही होता है। किन्तु उस समय के भारत-निवासी से आजकल का भारत-निवासी, यदि हम अन्तरपक्ष को ध्यान मे रक्खे तो विशेष भिन्न नही प्रतीत होगा। क्योकि आन्तर पक्ष की विशेषताओ मे विशेष अन्तर दृष्टि-गोचर नही होगा। भारत की तो एक और अपनी निजी विशेषता है, जो आन्तर पक्ष मे भी स्वतन्त्रता देती है। यह सर्वविदित है कि विचार-स्वातन्त्र्य की पराकाष्ठा भारतवर्ष मे देखी जाती है। आस्तिक-नास्तिक, ईश्वरवादी, अनीश्वरवादी, ज्ञानवादी, कर्मकाण्डवादी, शैव,

वैष्णव, बौद्ध-जैन—सभी तो प्राचीन काल से भारतवर्ष मे फूलते-फलते आये है। अत भारतीय विशेषता मे समन्वय और सह्-अस्तित्व की काफी गुजायश है।

यौगिक अर्थ से रूढ अर्थ अधिक मान्य होता है। इस कारण हम 'भारतीय' और 'हिन्दू' इन शब्दो को समानार्थी कहने का साहस नही कर सकते। भाषाविदो की दृष्टि से 'हिन्दू' शब्द का अर्थ 'हिन्द' देश का निवासी—अर्थात् सिन्धु नदी के इस पार का निवासी—है, तथा भाषा-शास्त्र की दृष्टि से 'इण्डियन'—अग्रेजी शब्द—हिन्दू शब्द का रूपान्तर है। तो भी आज रूढ परम्परा मे 'भारतीय' का अर्थ 'भारत' का निवासी (अर्थात् इण्डियन) है और 'हिन्दू' का अर्थ हिन्दू जातिवाला है, इन्डियन या भारतीय शब्द का समानार्थी नही है। हमारे देश मे आजकल एक अजीब विडम्बना है कि देश को हम 'हिन्द' (इण्डिया, अग्रेजी शब्द जो सिन्धु सस्कृत शब्द से निकला है) कहने मे संकोच नही करते, किन्तु यहाँ की भाषा को 'हिन्दी' नही कहेगे, हिन्दुस्तानी कहना चाहेगे। दूसरी ओर, यहाँ की भाषा को 'हिन्दूस्तानी' कहेगे, किन्तु देश को 'हिन्दुस्थान-हिन्दुस्तान' कहना नही चाहेगे। अग्रेज-अँग्रेजी, रूस-रूसी की भाँति 'हिन्द-हिन्दी' अथवा 'हिन्दूस्तान-हिन्दुस्तानी का युग्म प्रयोग हमारे यहाँ राजनैतिक अभिनिवेश के कारण वर्ज्य है। हिन्दी शब्द, एक विशिष्ट भाषा—जो 'उर्दू' से भिन्न है—के अर्थ मे रूढ है और हिन्दुस्तानी शब्द का रूढ अर्थ हिन्दी-उर्दू मिश्रित भाषा है। दूसरी ओर चूँकि हिन्दुस्तान शब्द से हिन्दुओ का (अर्थात् हिन्दू जाति का)—स्थान, यह अर्थ निकलता है, इसलिए देश को हिन्दुस्तान न कहकर 'हिन्द' कहेगे। हमारा घोष-वाक्य 'जय-हिन्द' है, 'जय हिन्दुस्तान' नही, हमारी भाषा 'हिन्दी' नही, 'हिन्दुस्तानी' है। ससार मे ऐसी विधि-विडम्बनाएँ होती ही रहती हैं। इसलिए सन्त कवि कबीर को रोना पड़ा था—चलती को गाडी कहै . .आदि। अस्तु, यह चर्चा प्रसङ्गवश आ गयी।

हम यह कह रहे थे कि 'भारतीय' और 'हिन्दू' शब्द पर्यायवाची नही हैं और न मानना चाहिए। 'योगाद्रूढिर्बलीयसी' से 'भारतीय' शब्द का अर्थ है—"भारत मे रहने वाला"। अर्थात् सभी हिन्दू, मुसलमान, सिख, ईसाई आदि। फलतः 'भारतीयकरण' का शुद्ध अर्थ है 'भारतीय बनाना'। अर्थात् भारतीयो द्वारा 'मैं भारतीय हूँ' (अस्मिता) ऐसा मानने मे गौरव की भावना रखना।

किसी भी देश के निवासी का अपने देश के प्रति गौरव की भावना रखने मे कोई अनौचित्य नही है। जो वस्तुस्थिति है, उसमे उल्लास और स्वाभिमान रखना है। भवितार्थ यह है कि सभी भारतीय अपने को भारतीय कहने और मानने मे गौरवान्वित समझे। भारतीयकरण का प्रचार भारतीयो के लिए है—अभारतीय अर्थात् भारतीय-भिन्नो के लिए नहीं है। हाँ, यदि कोई भारतीय अपने को अभारतीय ही मानता हो तो उसे भारतीय होने के गौरव की बात पसन्द न आयेगी। किन्तु ऐसा कोई विरला ही होगा, जो भारत-निवासी होकर भी भारतीय न कहलाना चाहे। काश्मीर के शेख अब्दुल्ला ने भी जिन्हें लोग सकीर्ण मनोवृत्ति वाले साम्प्रदायिक नेता समझते है—स्पष्टत अपने को भारतीय घोषित किया है। फिर पता नही 'भारतीयकरण' शब्द के प्रति क्या आपत्ति हो सकती है।

[शेषाश २४५ पृष्ठ पर

५६. वर्तमान सामाजिक दुरवस्था का कारण

देश मे आजकल चतुर्मुखी दुरवस्था का साम्राज्य है। सभी ओर चोरबाजारी, कामचोरी और धनलोभ का बाजार गर्म होने के कारण जनता त्रस्त एव पीडित है। एक ओर व्यापारी-वर्ग अधिकाधिक लोभ के कारण माल को रोक कर मँहगाई बढाने को उत्सुक है, तो दूसरी ओर सामान्य जनता भी जरूरत से अधिक खाद्य वस्तुए इकट्ठी कर व्यापारियो को अधिक दाम पर बेचने को तैयार है। मजदूर वर्ग मँहगाई के कारण अधिक वेतन के लिये लालायित है, किन्तु कर्तव्य पालन करने मे पहिले से अधिक ढिलाई करता है। किसी भी क्षेत्र मे देखिये, अधिकार-याचना के साथ-साथ कर्तव्य पालन का पवित्र भाव नही है। इस दुरवस्था का मूल कारण यह है कि वर्तमान युग मे कर्म की अपेक्षा अर्थ को अधिक महत्व दिया जाता है। प्राचीन काल की धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की पुरुषार्थ-चतुष्टय की कल्पना मे इस बात का ध्यान रक्खा गया था कि समाज-व्यवस्था मे 'समतोल' बना रहे। अर्थ और काम के साथ-साथ आदि मे धर्म को और अन्त मे मोक्ष को स्थान दिया गया था, ताकि जीवन मे भौतिक दृष्टिकोण ही सर्वेसर्वा न बन जाय। आश्रम-व्यवस्था मे भी प्रथम दो आश्रमो को प्रवृत्तिमूलक और अन्तिम दो आश्रमो को निवृत्ति-मूलक मानकर जीवन मे 'समतोल' स्थापित किया गया है। प्रवृत्ति-मार्ग का सम्बन्ध स्वोन्नति सम्पादन से और निवृत्ति-मार्ग का परोन्नति सम्पादन से था। इस प्रकार प्राचीनकालीन समाज-व्यवस्था का अवलोकन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि साधारण शतवर्षीय मानव जीवन मे पूर्वार्द्ध निजी उन्नति और उत्तरार्द्ध लोकोन्नति के लिये विभाजित किया गया था। जीवन मे यह 'समतोल' या समन्वय भारतीय-सस्कृति की अपूर्व देन है। उसको भुला देने के कारण आज भारत ही नही, समस्त ससार कष्ट मे है। वर्तमान सामाजिक उथल-पुथल पर भी कानेटकरजी ने ता० २१ नवबर के 'नागपुर टाइम्स' मे "सोशल एक्वीलायज" शीर्षक के अन्तर्गत एक नये और भौतिक दृष्टिकोण से विचार किया है, उसका मथितार्थ हम अपने शब्दो मे नीचे दे रहे है।

"वर्तमान सामाजिक दुरवस्था को दूर करने के लिए यह आवश्यक है कि उसका मूल कारण समझ लिया जाय। स्वभावगत मूलरूपेण विभिन्न वृत्तियो के कारण मानव-समाज दो वर्गों मे विभाजित किया जा सकता है। प्रथम वर्ग ऐन्द्रिय-सुख और शारीरिक सुविधाओ पर अधिक ध्यान देता है, दूसरा मानवता के उच्च-आदर्शो पर। मानवेतिहास मे दूसरे वर्ग के लोगो ने ही (राम, बुद्ध, गान्धी आदि ने) समाज-कल्याण के कार्य मे प्रमुख भाग लिया है, क्योकि दैहिक सुख और विलास को पसन्द करने वाले अपने व्यक्तिगत कल्याण मे ही व्यस्त रहते है। समाज-कल्याण के इतिहास-निर्माण का कार्य तो वही कर सकेंगे, जो स्वार्थ से अधिक परार्थ को महत्त्व

देते है। समाज-जीवन मे दोनों प्रवृत्तियो के अनुयायी लोग रहते है और समाज के घटक के नाते दोनो का अपना-अपना महत्त्व है। अत समाज के प्रत्येक व्यक्ति को पूर्ण स्वातन्त्र्य है कि वह इन दो भौतिक प्रवृत्तियो मे से आत्मानुरूप एक को चुन ले और तदनुसार फल प्राप्ति की आशा करे। दैहिक सुख चुनने वालो को समाज मे प्रतिष्ठा, सम्मान या आदर की आशा न करनी चाहिए क्योकि मानव जितना ही अधिक दैहिक सुख की ओर प्रवृत्त होगा, उतना ही कम उसे सम्मान और आदर समाज मे मिलना चाहिये। दूसरी ओर, स्वार्थ का त्याग और परार्थ की ओर प्रवृत्ति की मात्रा पर सम्मान, प्रतिष्ठा या आदर की मात्रा निर्भर है। प्राचीन काल मे प्रत्येक मानव इस बात मे स्वतत्र था कि वह ऐन्द्रिय सुख के कार्यो मे ही व्यस्त रह कर शारीरिक सुविधाओ का उपयोग करे या समाज-कल्याण के लिये प्रयत्न कर जनता का आदर-पात्र बने। इसी से दोनो प्रकार के वर्गो का स्वतन्त्र अस्तित्व था और पारस्परिक स्पर्धा न होने के कारण समाज-रथ आसानी से आगे बढता था।

किन्तु आजकल समाज मे यह 'समतोल' नही रह गया है, फलत अनेक ऐन्द्रिक सुख के अभिलाषी भी समाज मे आदर और सम्मान प्राप्त करना चाहते है, और स्वार्थत्यागी और ऐन्द्रिय-सुख-निरपेक्ष-जन दरिद्रता और शक्तिहीन होने के कारण अपमान, तुच्छदृष्टि और उपेक्षा के पात्र बनते हुए देखे जाते है। आज सम्पत्ति और सम्मान—दोनो साथ साथ चलते है। त्याग और लोक-सग्रह की भावना को समाज मे मान नही है। लोग धन के पीछे पडे हैं और धन के बल पर अपने स्वार्थ-प्रेरित कुकृत्यो पर परदा डालते है। वर्तमान युग का धूर्त और कपटी धन-प्राप्ति के साथ-साथ समाज मे प्रतिष्ठा भी प्राप्त करता है। इससे समाज मे भौतिक सुख-कामी को प्रोत्साहन मिलता है और सुख-त्यागी को अपनी ईमानदारी के कारण भौतिक कष्ट सहने के साथ-साथ मूर्ख बनना पडता है। उसे भौतिक सुख और समाज-प्रतिष्ठा दोनो से हाथ धोना पडता है।"

श्री कानेटकरजी की उपर्युक्त विचार-धारा मौलिक तो है ही, साथ ही प्राचीन भारतीय सास्कृतिक परम्परा के तत्त्वो का भी निरूपण करती है। उपनिषदो मे इन प्रवृत्तियो को 'प्रेयस्' और 'श्रेयस्' का मार्ग कहा है। कठोपनिषद मे कहा है कि 'श्रेयस्' और प्रेयस्—ये दोनो विभिन्न प्रवृत्तियाँ पुरुष को अपनी-अपनी ओर खीचती है। उन दोनो मे से 'श्रेयस्' का ग्रहण करने वाला ऐकान्तिक सुख प्राप्त करता है, किन्तु 'प्रेयस्' ग्रहण करने वाला आत्यन्तिक पुरुषार्थ से वचित रह जाता है। अत विवेकी पुरुष 'प्रेयस्' के सामने 'श्रेयस्' का चुनाव करता है। नचिकेतस् के सामने यमराज ने 'प्रेयस्' मार्ग के कितने प्रलोभन—सोना-चाँदी, हाथी-घोडे, बाल-बच्चे, विशाल राज्य और भोगविलास—रक्खे, किन्तु नचिकेतस् ने इन सबो को क्षणिक और आपात-रम्य कह कर उपेक्षा की और कहता है कि "हे यमराज! ये आपके वाहन और नाच-गाने आप ही को मुबारक हो, हमे इनकी आवश्यकता नही है।" इस प्रकार ऐन्द्रिय सुखो को लात मार कर नचिकेतस् ने मानवता के शाश्वत मूल्यवाले तत्त्वो को चुना। इसी से भारतीय चिन्तको मे उसका नाम अमर है। भारत का इतिहास तत्कालीन राजा-महाराजा और धनिक-वर्ग को पूर्णतया भूल गया है, किन्तु नचिकेतस् की कीर्ति और प्रतिष्ठा आज भी अक्षुण्ण है। हमारा यह

५७. नागपुर में हिन्दी की उन्नति के कुछ संस्मरण

सन् १९२९ से निरन्तर १५ वर्ष तक मारिस-विद्यालय हिन्दी-साहित्य समिति से सम्बन्ध का सौभाग्य मुझे प्राप्त था। इस समय मे समिति के सारे कार्यक्रमो की विभिन्न स्थितियाँ—प्रारम्भिक से अन्तिम तक—मेरे साक्षात् परिचय मे आई है। अतीत की धुधली स्मृति मे केवल स्थूल और महत्वपूर्ण वस्तुए ही शेष रह जाती है। और उनमे भी व्यक्तिगत अवलोकन-शैली की विशेषताओ के कारण अवशेषो मे भी कुछ ही का स्मरण आज स्पष्ट रूप से हो रहा है।

सस्थाओ की सफलता या विफलता पदाधिकारियो के उत्साह या अनुत्साह पर निर्भर रहती है। तदनुसार उक्त १५ वर्षो मे इस हिन्दी-समिति की भी सफलता का पारा ऊँचा-नीचा चढता-उतरता रहता था। साहित्यिक भाषण, वादविवाद, निबन्ध-वाचन, वार्षिकोत्सव, कवि-सम्मेलन, नाटक, हस्तलिखित-पत्रिका-प्रकाशन तथा ग्रूप-फोटो इत्यादि कार्यक्रमो मे किसी वर्ष एक या दो, किसी वर्ष दो या तीन और किसी वर्ष सभी कार्यक्रम हुये हैं। प्रतिवर्ष उसी प्राध्यापक के निरीक्षक होने पर भी इस विषमता का हेतु क्या ? वही, पदाधिकारियो के उत्साह की मात्रा। यही कारण है कि विभिन्न वर्षो मे समिति की सफलता एकरूप नही थी। पदाधिकारी छात्रो पर ही सारा उत्तरदायित्व है तथा यश-अपयश भी उन्ही को मिलेगा यह स्पष्ट कर देने पर उनमे स्वावलम्बन का भाव तथा कुछ कर दिखाने की लगन उत्पन्न होती है। यदि पदाधिकारियो मे कुछ 'नवीन' कर दिखाने की स्फूर्ति है तो "प्रारभ्यमुत्तमजना न परित्यजन्ति" की ओर इगित करते हुये उन्हे काम करने देने मे ही सफलता की कुजी है। अतिम २, ३ वर्षों मे समिति की ओर से नाटक प्रयोग तथा हस्तलिखित पत्रिका का आयोजन इसी नीति के अनुसरण से सफल हो सके हैं। यशोलिप्सा छात्रो के लिये असाधारण बात नही है, किन्तु उसकी प्रेरणा किसी विशिष्ट कार्य करने मे उपयोगी सिद्ध हो इसका ध्यान रखना चाहिये।

हिन्दी-समिति, हिन्दी-साहित्य-समिति, हिन्दी-सघ और हिन्दी-साहित्य-मडल आदि नाम-परिवर्तन के साथ-साथ विधान मे भी अनेक मौलिक परिवर्तन हुये थे। प्रारम्भ मे मारिस और साइस—दोनों विद्यालयो के हिन्दी-प्रेमी और हिन्दी-भाषी छात्रो की यह सयुक्त सस्था थी। उन दिनो मराठी का शारदा-मडल भी एवमेव सयुक्त रूप से कार्य करता था। हिन्दी-समिति के लिये एक दृष्टि से यह वाञ्छनीय भी था, क्योकि हिन्दी-छात्रो की अपेक्षाकृत न्यूनता के कारण समिति के कार्यक्रम अधिक और उपस्थिति कम रहा करती थी। बाहर के मान्य अभ्यागतो के सामने कभी-कभी कम उपस्थिति के कारण पदाधिकारियो को सकोच भी होता था तथा बाद मे अन्य अभ्यागत भी यह सुनकर हिचकिचाते थे। अन्य अनेक कारणो मे से जिनका निर्देश

यहा आवश्यक नही है एक कारण यह सख्यान्यूनता भी थी कि बीच मे एक दो बार नागपुर के समस्त विद्यालयो की हिन्दी-समितियो का सयुक्त वार्षिक सम्मेलन किया गया था और प्रदर्शन की दृष्टि से उसे अच्छी सफलता भी मिली थी। कई वर्ष बाद जब मारिस और साइस विद्यालयो मे हिन्दी-छात्रो के उत्साह मे वृद्धि तथा हिन्दी-भाषी प्राध्यापको के सहयोग-दान मे आधिक्य दृष्टिगोचर हुआ, तब दोनो विद्यालयो की हिन्दी-समितियाँ अलग-अलग कार्य करने लगी। यह पृथक्करण कुछ ऐसा अचानक और 'स्वयस्फूर्त-सा' हुआ कि हममे से अनेको को यह मानकर सतोष करना पडा कि मानो दो वय प्राप्त भाई पचो की सहायता के बिना ही, बिना सूचना के स्वय अलग रहने लगे है और उच्च स्तर की प्रतिस्पर्धा मे वे अब पहिले से अधिक अच्छा कार्य कर सकेगे। दूसरा परिवर्तन समिति के अध्यक्ष के विषय मे था। उस समय तक छात्र ही मडल के अध्यक्ष हुआ करते थे। तथा अन्य पदाधिकारियो के साथ वे भी प्रतिवर्ष बदल जाते थे। अत मडल के कार्यो मे एकतानता लाने के लिए तथा अन्य पदाधिकारियो मे सम्भावित परस्पर सम्बन्ध विश्रृ-खलता दूर करने की भी दृष्टि से यह निश्चय किया गया कि अध्यक्ष का पद प्राध्यापक के लिये सुरक्षित रखा जाय। अन्य दृष्टियो से इस 'अकुश-विधान' के आक्षेप्य होने पर भी आज यह निस्सदेह कहा जा सकता है कि अतिम कई वर्षो की आशातीत सफलता मे इससे विशेष लाभ हुआ।

अतिन कई वर्षो की सफलता के विषय मे यह कह देना आवश्यक है कि इन वर्षो के हिन्दी-प्रेमी छात्रो का उत्साह अतीव प्रशसनीय था। हिन्दी को 'ऐच्छिक' मुख्य विषय के तौर पढने की उनकी तीव्र उत्कठा थी। प्रति-सप्ताह हिन्दी-निबन्ध-कक्षा मे वे हिन्दी-पाठन की व्यवस्था के अभाव का रोना रोते थे। प्रतिवर्ष छात्रो की ओर से प्रिंसिपल से माग की जाती थी कि 'हिन्दी' विषय पढाने का प्रबन्ध किया जाय। प्रसन्नता की बात है कि विद्यार्थियो की यह सतत माग इस वर्ष पूरी की गई है। अब इटर और बी० ए० मे हिन्दी को ऐच्छिक मुख्य विषय के रूप मे पढाने के लिये एक सुयोग्य तथा विद्वान् प्राध्यापक की नियुक्ति से वर्तमान हिन्दी छात्रो की चिराभिलाषा तृप्त हो गई है। विद्यालय के वर्तमान हिन्दी छात्रो से सानुरोध निवेदन है कि वे यह न भूले कि हिन्दी-लता के आरोपण और पुष्पोद्गम मे उनसे पूर्व की कई वर्ष-परम्पराओ के हिन्दी-प्रेमी छात्रो का हाथ है। बीज बोनेवाला स्वय फल चखे, ऐसा तो क्वचित ही होता है। किन्तु फल चखने वालो का धर्म है कि वे पूर्ववर्तियो का 'ऋण' माने तथा परवर्तियो के लिये 'कुछ' करते रहे।

सन् १९२९ मे नागपुर के विद्यालयो मे हिन्दी की दयनीय दुरवस्था थी। हिन्दी को एक मुख्य विषय के रूप मे पढाने का प्रबन्ध किसी विद्यालय मे नही था। हिस्लप कालेज छोडकर अन्य प्राइवेट कालेजो का जन्म भी नही हुआ था। उस समय नागपुर के कालेजो मे केवल हिन्दी निबन्ध (Composition paper) पढाने का प्रबन्ध था। वह प्रबन्ध भी यो ही 'कुछ' था। हिन्दी-भाषी प्रदेश मे लब्धजन्मा कोई भी प्राध्यापक—चाहे वह किसी भी विषय का प्राध्यापक क्यो न हो—हिन्दी निबन्ध-पाठन के लिये योग्य माना जाता था। किन्तु आज समय बदल गया है। जहा पहिले अन्य विषयो मे उच्च शिक्षा-प्राप्त प्राध्यापक हिन्दी भी पढा दिया

[शेषांश पृष्ठ २५३ पर

५८. शब्दारण्य-विहार

प्रधानमत्री नेहरूजी ने प्रान्तीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन-भवन की शिला-स्थापना के समारोह मे भाषण करते हुए कहा था कि अग्रेजी शब्दो के हिन्दी अनुवाद करते समय कभी कभी समाचारपत्र अपूर्व मौलिकता का परिचय देते है। ऐसी मौलिकता का उदाहरण देते हुए उन्होने इम्पीरियल प्रेफेरेस के अनुवाद 'शाही पसन्द' का विनोदपूर्ण उल्लेख किया था।

'शाही पसन्द' शब्द है भी अवश्य अपूर्व। इसमे सन्देह नही कि 'अक्षरश अनुवाद' मे ऐसी गडबडी होगी ही। 'सेंट्रल रेलवे' का 'केन्द्रीय रेल्वे' अनुवाद इसी कोटि का है। मानो पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण रेल्वे, केन्द्रीय शासन की नही है, केवल सेंट्रल रेल्वे, केन्द्रीय रेल्वे है। इस अनुवाद मे 'सेन्ट्रल' शब्द ने अनुवादक को धोखा दिया है। यदि 'मिडिल रेल्वे' ? मूल-शब्द होता तो वह अवश्य 'मध्य रेल्वे' (जो सेन्ट्रल रेल्वे के लिये उपयुक्त शब्द है) शब्द का प्रयोग करता। भाव का ख्याल न कर 'अक्षरश' अनुवाद मे अधोमुख गिरना पडेगा ही।

अब एक दूसरा उदाहरण देखिये। मध्यप्रदेश शासन ने 'रजिस्ट्रार' के लिये 'पजीयक' या 'पजीकार' शब्द निर्धारित किया है। इसी प्रकार 'रजिस्ट्रेशन' के लिये 'पजीयन', 'रजिस्टर' के लिये 'पँजी' शब्द है। यो तो इन शब्दो मे कोई 'दुर्गन्ध' नही है, किन्तु सुनते है कि विश्वविद्यालय के 'रजिस्ट्रार' के लिये 'पजीकार' या 'पजीयक' शब्द विश्वविद्यालय के अधिकारियो द्वारा 'कुछ अच्छा' नही माना जाता। इसी कारण गत उपाधिवितरणोत्सव के अवसर पर (नही नही, 'समाव्हान ?' के अवसर पर) 'रजिस्ट्रार' के लिये "कुल-सचिव" शब्द का प्रयोग किया गया था।

'कुल-सचिव' शब्द सुनकर कर्णसचिव और वात्स्यायन के 'कामसचिव' शब्द की याद आ जाती है ! ! वास्तव मे यह स्वाभाविक भी है, क्योकि आखिर 'कुल', 'कलत्र', 'कामिनी' आदि शब्द एक ही वर्ग के तो है, हाँ, 'गुरुकुल' के प्रसग मे 'कुल' शब्द अवश्य अर्थान्तर व्यक्त करता है। किन्तु प्रश्न यह है कि क्या प्राचीन भारत मे 'कुलगुरु', 'कुलपति' के समान 'कुल-सचिव' भी रहा करते थे ? 'सचिव' एक प्रशासनीय अङ्ग है। इसी से आजकल 'सेक्रेटरी' के लिये इसका प्रयोग किया जाता है जैसे शिक्षासचिव, वित्तसचिव आदि। अभी भी लोग कभी-कभी 'सेक्रेटरी' के लिये 'मत्री' शब्द प्रयुक्त करते है। इसीलिये 'सभा सोसायटियो' मे 'सभापति' और 'मत्री' के पर्यायवाची क्रमश 'प्रेसीडेट' और 'सेक्रेटरी' शब्द थे। किन्तु 'मिनिस्टर' और 'मत्री' तथा 'सेक्रेटरी' और 'सचिव' मे भाव और ध्वनि-दोनो का साम्य है। अत आजकल 'मत्री' और 'सचिव' का यह विशिष्ट अर्थ रूढ हो रहा है।

विश्वविद्यालय या उच्चतम न्यायालय के 'रजिस्ट्रार' के लिये, शायद इसी 'अरुचि' के कारण, निबन्धक शब्द रेडियो द्वारा उपयुक्त माना गया है। कार्य एक होने पर भी, उच्च-नीच पद के कारण , भेद तो करना ही पड़ता है। नही तो, गाव के शिक्षक को 'मास्टर या मुदर्रिस'

और विश्वविद्यालय के शिक्षक को 'प्रोफेसर' या 'प्राध्यापक' क्यो कहते ? वास्तव मे नाम कम महत्व की वस्तु नही है। 'नाम-रूप' की विविधता ही तो ससार है। अत उच्चपद के 'रजिस्ट्रार' के लिए पजीयक शब्द उपयुक्त न जँचे तो आश्चर्य नही।

पता नही दूसरे स्वीकृत पर्यायवाची 'निबन्धक' शब्द से क्यो नही काम चलाया गया ? इस शब्द के द्वारा 'पजीयक' से भिन्नता कायम रक्खी जा सकती थी। फिर भी, इसमे सन्देह नही कि विश्वविद्यालय के 'रजिस्ट्रार' के लिये कुलसचिव शब्द को 'ध्रुव-केन्द्र' मानकर 'डिग्री' के लिये 'कुलपद' और 'कन्वोकेशन' के लिये 'कुलससद' शब्द का प्रयोग अधिक 'तर्कानुगत' है। साथ ही 'कुलगुरु' के स्थान मे 'कुलपति' शब्द का प्रयोग भी वैशिष्ट्यपूर्ण है। क्योकि आधुनिक चासलर 'कुल' का उतना 'गुरु' नही रह गया है, जितना 'पति'! हॉ, 'डिग्री' के लिये 'कुलपद' शब्द प्रयुक्त करते समय यह ध्यान मे नही रहा कि प्रचलित 'पदवी' शब्द 'पद' शब्द से दूर का नही है। रूढ शब्द का अकारण परित्याग क्यो ? यदि 'पदवी' शब्द मे 'त्वामारूढ पवनपदवीम्' के मार्गवाचक 'पदवी' शब्द का भ्रम होता है, तो क्या 'पद' शब्द मे इसके अर्थान्तरो का भ्रम नही होता है ? आश्चर्य यह है कि लोग 'पवन-पदवी' से तो 'भयते' है, किन्तु "हस्तिपद" से नही !

'भयते' के प्रयोग से चौकने की आवश्यकता नही है। 'सारथी' के प्रथम अक मे एक प्रथित विद्वान् ने हिन्दी के क्रियापदो मे एक आवश्यक सुधार सुझाया है। 'भयते' का अर्थ 'भय करते हैं—अर्थात् 'डरते हैं' है। "भय करते है" के लम्बे द्राविडी प्राणायाम वाले प्रयोग मे पहिले कृदन्तीय सज्ञावाचक 'भय' है, बाद मे 'करना' धातु का वर्तमान-कालिक कृदन्त-विशेषण 'करते' है, और अन्त मे सर्वव्यापी सहायक क्रियापद 'है' आया है। सस्कृत मे जहा केवल 'भयन्ते (? बिभ्यति)' से काम चल सकता है, वहॉ वर्तमान हिन्दी मे तीन शब्द—'भय', 'करते' और 'हैं'—प्रयुक्त किये जाते है। भाषा को इस लँगडेपन को दूर करने के लिए यह आवश्यक है कि शुद्ध क्रियापदो का प्रयोग किया जाय। किन्तु ध्यान रहे तो भी 'है' की सर्वव्यापी लकडी का सहारा तो लेना ही पड़ेगा—'भक्षितेऽपि लशुने न व्याधि-शान्ति'!!

हिन्दी भाषा की इस प्रवृत्ति को चाहे हम प्रगति न कहे, विकास तो मानना ही पडेगा। यह देन उसे उत्तरकालीन सस्कृत से मिली है। वैदिक वाङ्मय की क्रियापद-समृद्धि का धीरे-धीरे उत्तरकालीन संस्कृत में ह्रास दृष्टिगोचर होता है। प्रत्येक धातु की विभिन्न अवस्थाओ (सामान्य, प्रयोजक, इच्छार्थक, पौन पुन्यार्थ, भृशार्थ, नाम धातु आदि) के ११ लकारो के तीनो पुरुषो के तीनों वचनो मे पृथक्-पृथक् रूप याद रखना मामूली काम नही है। फिर कही यदि धातु 'उभयपदी' हुई, तब तो शतप्रतिशत अधिक कष्ट। इसी से 'कृ, भू, अस्' आदि धातुओ के रूपो की सहायता से धातुओ के रूप बनाये जाने लगे। जैसे पाठयाम्बभूव, पाठ्यामास, पाठ्याचकार आदि 'पढ़ाया' के अर्थ मे। 'पढाया' के स्थान मे 'पाठन किया' का प्रयोग, उपर्युक्त परम्परा का विस्तार-मात्र है। कष्ट तो कम हुआ ही, साथ ही यह भी दावा किया गया कि सहायक क्रियापदो के प्रयोग से अर्थभेद स्पष्टतर हो जाता है। जैसे, 'पठति' और 'पठन् अस्ति' मे वही भेद दिखाया जा सकता है, जो अग्रेजी के गोज (Goes) और इज गोइग (Is Going) मे हैं। इसलिये कृदन्त-विशेषणो के साथ सहायक क्रियापदों का प्रयोग, न केवल 'सरलता और

सुबोधता' अपितु अर्थभेद-स्पष्टता के लिए भी वांछनीय समझा जाता है। सस्कृत भाषा के इस प्रकार के प्रयोगो की इस वर्तमान प्रवृत्ति का लाभ उठाकर आधुनिक सस्कृत-प्रचार के विद्वान् 'सस्कृत स्वयशिक्षक', 'सस्कृत मेड ईजी' आदि सरल पुस्तको मे ऐसे रूपो का अधिकाधिक प्रसार करना चाहते है। सस्कृत और हिन्दी के विद्वानो के इन विभिन्न-दिशा-गामी सुझावो को देखकर विस्मय उत्पन्न हो तो आश्चर्य नही।

इसी सम्बन्ध मे दिल्ली के साप्ताहिक 'हिन्दुस्तान' के ता० १३-१२-१९५३ के अक मे एक हिन्दी-प्रेमी विद्वान् का "हिन्दी व्याकरण" लेख ध्यान आकर्षता है(?आकृष्ट करता है)। 'राम गया' और 'सीता गई' जैसे वाक्यो मे 'गया' से 'गई' का परिवर्तन कैसे हुआ? और उसका मूल-रूप क्या था? इसके उत्तर मे विद्वान् लेखक का कहना है कि "सस्कृत मे पहिले ये वाक्य थे—'राम गतवान्' और 'सीता गतवती'। 'गतवती' शब्द से परिवर्तित होकर ही 'गई' शब्द हुआ है। यहाँ 'क्तवतु' प्रत्यय के स्त्रीलिंग 'तवती' का प्राधान्य है, जो कर्तृवाच्य मे हुआ करती है।"

उपरिनिर्दिष्ट लेख मे हिन्दी की गति एव प्रकृति का सम्बन्ध सस्कृत से स्वीकार किया गया है और हिन्दी लेखको से प्रार्थना की गई है कि हिन्दी व्याकरण के निर्माण-मार्ग मे सस्कृत व्याकरण पर दृष्टि रखनी चाहिये। किन्तु 'गया' और 'गई' के मूलरूप विवेचन मे लेखक ने जो उत्तर उपस्थित किया है, वह अभ्रान्त नही है। वस्तुत सस्कृत के व्याकरण के अनुसार 'गत' कर्तृवाच्य है, अत उसका 'गया' मे परिवर्तन हुआ। एवमेव सस्कृत स्त्रीलिंगीय रूप 'गता' का 'गई' मे परिवर्तन हुआ। पुलिगीय रूप 'गया' आकारान्त होने के कारण ('गत. के विसर्ग के प्रभाव से 'गया' आकारान्त हुआ) भेद दिखाने के लिये स्त्रीलिंगीय रूप 'गई' मे 'ई' चिह्न लगाना पडा। अन्यथा परिवर्तित रूप मे पुलिग स्त्रीलिग का भेद न रह जाता। हाँ, इस स्त्री-लिगीय 'ई' चिह्न लगाने मे 'गतवती' के ईकारान्त रूप का 'मिथ्यासादृश्य' (पापुलर एनालाजी) भी कामगर हुआ है। सस्कृत के 'गत.' रूप को कर्मवाच्य रूप मानने के कारण विद्वान् लेखक को 'गतवती' की शरण लेनी पडी है, जो आवश्यक नही है।

हिन्दी क्रियापदो मे लिगगत भेद भी सस्कृत व्याकरण की देन है। उत्तरकालीन सस्कृत मे कृदन्त विशेषणो के साथ सहायक क्रियापदो के अधिकाधिक प्रयोग से ही हिन्दी के क्रियापदो मे लिग के कारण विभिन्न रूप प्रयुक्त होते है। 'हसति' (हँसता है, या हँसती है) के स्थान मे 'हसन अस्ति' या 'हसन्ती अस्ति' का प्रयोग सस्कृत मे प्रचलित होने पर ही हिन्दी क्रिया मे लिग का पचडा आया। हिन्दी व्याकरण के नवीन सुधारक इस बात को भूल जाते है कि प्रत्येक पुत्री मे माता की प्रकृति का पाया जाना अवश्यभावी है। जब सस्कृत-जैसी व्याकरण शृखलित तथा नियमो से जकडी भाषा परिवर्तन से अछूती न रह सकी, तो उसकी ही वश-परम्परा की हिन्दी कैसे उन परिवर्तनो से बच सकती है? प्रतिदिन विकसित होनेवाली भाषा-रूपिणी नायिका नवीन वैयाकरण-रूपी लट्ठमारो की आज्ञा चाहे कुछ देर के लिये मान ले, किन्तु उन्हे अनुराग-भरी आँखो से देखे, यह तो सर्वथा अस्वाभाविक है!।

[सारथी : १६ फरवरी १९५४ में प्रकाशित]

५९. क्या दक्षिण भारतीय शब्दों की हजामत उचित है ?

हमारे सविधान मे राष्ट्रभाषा हिन्दी की लिपि के रूप मे नागरी-लिपि को मान्यता दी गई है। इसलिये रेलवे स्टेशनो के नामो को नागरी-लिपि मे लिखने की आवश्यकता है। अभी तक ये नाम रोमन-लिपि मे और क्षेत्रीय-भाषा की लिपि मे लिखे जाते थे। अब दक्षिण भारत मे, जहाँ की लिपि नागरी लिपि से सर्वथा भिन्न है, स्थानो और रेल्वे स्टेशनो के नामो को क्षेत्रीय-भाषा की लिपि मे एव नागरी-लिपि मे लिखने का उपक्रम रेलवे-अधिकारियो ने किया है। कही-कही हिन्दी-विरोधी दल नागरी-लिपि के नामो पर काला डामर लगाता है। किन्तु रेलवे-अधिकारी उसी डामर से पुते स्थान पर पुन सफेद रग से नागरी-लिपि मे नाम लिखते है। इस प्रकार नागरी-लिपि के नामो की पृष्ठ-भूमि के रूप मे हिन्दी-विरोधी दल के इस कलुषित कृत्य का उपयोग किया जाता है। इसी को प्रतिकूल स्थिति मे अनुकूल का रूप देना, कहा जाता है।

किन्तु, हमे जो कहना था, वह बात दूसरी ही है। इन नामो को नागरी-लिपि मे लिखते समय प्रश्न उठता है कि अग्रेजी उच्चारण या वहा के क्षेत्रीय उच्चारण के अनुसार ये नाम लिखे जाये ? उदाहरण के लिये Pondichery शब्द लीजिये। इसका क्षेत्रीय उच्चारण पुदुच्चेरि है, अग्रेजी उच्चारण 'पाडिचेरी' है। अब प्रश्न यह है कि Pondichery को नागरी-लिपि मे 'पुदुच्चेरी' या 'पाडिचेरी' लिखा जाय। दैनिक 'हिन्दुस्तान' मे एक दक्षिण-भारत के सज्जन ने लगभग २ दर्जन नामो का उदाहरण देकर रेलवे-अधिकारियो से प्रार्थना की थी कि नागरी-लिपि मे लिखते समय क्षेत्रीय-भाषा मे प्रचलित उच्चारण को मान्यता दी जाय।

इस उच्चारण-वैषम्य का अभिशाप उत्तर-भारत के स्थान-नामो पर भी पर्याप्त पडा है। विदेशी शासक स्थानीय नामो के उच्चारण को—सकारण या अकारण—विकृत कर देने मे सकोच नही करते थे और तदनुसार उन गाँवो को रोमन-लिपि मे लिखते थे। हम नही समझते कि इन नामो को, जिन्हे विदेशियो ने विकृत कर दिया था, कोई भी भारतीय उसी रूप मे नागरी लिपि-बद्ध कराना पसद करेगा। 'मथुरा' को 'मुत्रा' (Muttra), 'दिल्ली' को 'देल्ही' (Delhi), 'कालिकाता' को 'कलकुत्ता' (Calcutta), 'जबलपुर' को 'जुब्बुलपोरे' (Jubbulpure) 'कामठी को 'कैम्पटी'—लिखना उपहासास्पद होगा। अत यह सर्वथा वाछनीय

है कि नागरी-लिपि मे परिवर्तित करते समय अग्रेजी के विकृत रूपो को तिलाजलि देकर क्षेत्रीय उच्चारण के अनुसार ये नाम लिखे जाये।

प्रत्येक वस्तु के दो प्रश्न होते हैं। तदनुसार इस प्रश्न पर भी एक उत्तर भारतीय लेखक ने विवाद खडा किया है। उनका कहना है कि क्षेत्रीय भाषा मे इन स्थान-नामो के उच्चारण बड़े 'अडबगे' या 'अटपटे' होते है, जैसे 'तिरुवन्नामलै', 'तिरिच्चुरि, तिरेच्चिरापल्लै आदि। अत उच्चारण-सौकर्य की दृष्टि से इन नामो के अग्रेजी रूपो को ही नागरी-लिपि मे लिखना चाहिये। हम इन अग्रेजी-भक्त सज्जन से यह पूछना चाहते है कि किसका 'उच्चारण-सौकर्य' आप चाहते है? उन क्षेत्रो की जनता को तो उन 'अटपटे' रूपो मे ही उच्चारण-सौकर्य है और उसी जनता के उपयोग के लिये इन नामो का नागरी-करण किया जा रहा है। फिर इसमे आपके उच्चारण-सौकर्य का क्यो ख्याल किया जाय? Lucknow स्टेशन के नाम को यदि नागरी-लिपि मे "लुक्कनौ" लिखा जाय, तो आपको कैसा लगेगा? यहाँ आपकी यह दलील कि अग्रेजी मे Luck का उच्चारण 'लक' है 'लुक्क' नही, काम नही देगी। क्योकि यहा लिपि का परिवर्तन है, अग्रेजी भाषा के शब्द का नही। यदि रोमन-लिपि मे एक वर्ण के भिन्न-भिन्न शब्दो मे भिन्न उच्चारण है, तो इसका यह मतलब नही कि हमारी वैज्ञानिक नागरी लिपि मे लिखते समय वर्ण के उच्चारण के स्थान मे शब्द के उच्चारण को ध्यान मे रक्खा जाय।

'लखनऊ' के नाम मे Luck (शब्द) की अर्थ प्रतीति कराना अभिप्रेत नही हो सकता, क्योकि यहा लिप्यन्तर करना है, शब्दान्तर नही। शब्दान्तर के एवविध भारतीय उदाहरण देखने हो तो निम्न शब्द देखिये। जर्मन (शर्मन्) रशिया (ऋषय), फ्रास (फलाश), अमेरिका (अमरका) आदि। शब्दान्तर के उदाहरण क्या उसी प्रकार हमारी भाषा मे पच सकते हैं, जैसे जनवरी, फरवरी, अक्तूबर, सितबर, दिसबर आदि? किन्तु देशी शब्दो को विदेशी बाना पहिनाकर पचाना 'उलटी गगा बहाना' होगा। 'रायपुर' को अग्रेजी रूप के अनुसार 'रैपुर', तथा 'सागर' को 'सौगोर' लिखना जैसे अटपटा है, वैसे ही दक्षिण भारतीय के लिये 'तिरिउवाकुर' को 'टैवेकोर' 'कल्लिकोटाइ' को "कैलिकट" लिखना अटपटा है। अग्रेजो की साम्राज्यवादिता की जितनी ही कम नकल हम करे, उतना ही अच्छा। वैसे ही हिन्दीभाषियो पर साम्राज्य-लिप्सा का अकारण आरोप है। ऐसी स्थिति मे उच्चारण-सम्बन्धी कठिनाई का भूत खडाकर स्थाननामो को नागरी लिपि मे विकृत करना सर्वथा असमर्थनीय होगा।

प्रत्येक क्रिया की अपनी प्रतिक्रिया होती है। हम पर जितना ही अधिक 'अग्रेजी छाप' का आक्रमण होता है, उतना ही अधिक हम भी 'हिन्दी छाप' का बोलबाला देखना चाहते हैं। भला सोचिये, भारतीय रेडियो मे हम प्रतिदिन 'काश्मीर' को 'कैश्मियर' सुनते है। अग्रेजी शब्दो के उच्चारण मे अग्रेजी छाप ठीक है, किन्तु देशी शब्दो के उच्चारण मे यह अग्रेजीकरण क्यो? यूरोपीय क्षेत्र के लिये प्रसारित वार्ता मे क्या हमारा दिल्ली रेडियो 'London' का उच्चारण 'लन्दन' करेगा? कदापि नही। तो फिर भारतीय वेतन से पला पोसा अग्रेज रेडियो-अधिकारी हमारे देशी नाम 'काश्मीर' का विकृत उच्चारण क्यो करता है? 'सुब्रह्मण्य' या 'विजय राघवाचार्य' आदि शब्दो के उच्चारण मे तो इस रेडियो-अधिकारी का गला ही रुंध

जाता है। तथ्य तो यह है कि प्रत्येक शब्द का जो उसका असली उच्चारण है, रक्षा करनी चाहिये। विदेशीय भाषा मे प्रयुक्त होने पर उसमे उस भाषा की प्रवृत्ति के अनुसार थोडा बहुत परिवर्तन अपरिहार्य है। किन्तु स्वदेश मे ही भारतीय भाषाओ के शब्दो की 'हजामत' करना अक्षम्य है।

इस तथाकथित 'उच्चारण सौकर्य' की भावना का एक कारण हिदी भाषियो का दक्षिण भारत की भाषाओ से सर्वथा अपरिचय है। अखण्ड राष्ट्र की भावना को पुष्ट करने के लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि दक्षिण-भारत की भाषाओ का तथा उनकी उच्चारणविधि का उत्तर भारत मे अधिकाधिक प्रचार हो। सास्कृतिक और राजनीतिक एकता की पुकार को सबल बनाने के लिये देश के समस्त घटको को परस्पर अधिकाधिक सम्पर्क मे आना चाहिये। अत 'उच्चारण सौकर्य' की दुहाई देना, हिन्दी भाषियो के लिये शोभावह नही होगा।

[सारथी १ अक्टूबर १९५४ में प्रकाशित]



⊙ २४७ पृष्ठ का शेषाश]

करते थे, वहाँ आज हिन्दी विषय मे उच्च शिक्षा-प्राप्त प्राध्यापक अन्य विषयो का अध्यापन करते है। हिन्दी का यह प्रचार १८ वर्ष पूर्व कल्पनातीत था। अब तो विश्वविद्यालय मे माध्यम होने पर हिन्दी का गौरव और भी बढनेवाला है। किन्तु ध्यान रहे इस प्रगति के मूल मे उस हिन्दी समिति के भूतपूर्व कार्यकर्त्ताओ का क्रियात्मक सहयोग है जिसकी रजत-जयन्ती का आज हम उत्सव मना रहे है।

[मारिस कालेज नागपुर की हिन्दी साहित्य-समिति की रजत-जयन्ती के अवसर पर सस्मरण पत्रिका में प्रकाशित १९४६]

६०. राष्ट्रभाषा हिन्दी को संस्कृत के समीप क्यों रहना चाहिए

भारतीय सविधान मे निर्दिष्ट १४ भाषाओ मे से १२ भाषाये ऐसी है जिनके नाम से उनकी क्षेत्रीयता या प्रादेशिकता स्पष्ट प्रतीत होती है, जैसे बगाली बगाल की, गुजराती गुजरात की प्रादेशिक भाषाये हैं। तेरहवी भाषा 'उर्दू' वास्तव मे हिन्दी की एक विशिष्ट शैली है। फारसी-अरबी पढे लोगो की हिन्दी 'उर्दू' हो जाती है। उसका कोई विशिष्ट क्षेत्र नही है। अत उर्दू को छोडकर इन परिगणित भारतीय भाषाओ मे केवल सस्कृत एक ऐसी भाषा है, जिसका किसी विशिष्ट प्रदेश या क्षेत्र से सबध नही है। इस रूप मे वह समस्त देश की भाषा है। साथ ही उसका 'सस्कृत' नाम इस बात को स्पष्ट करता है कि इसका व्यवहार करने वाले लोग 'सस्कृत' थे, अर्थात् भारतीय समाज के एक विशिष्ट स्तर के लोग, जिनकी रहन-सहन तथा जीवनचर्चा मे भारतीय 'सस्कृति' प्रतिबिम्बित होती थी।

आज के 'प्रजातत्र-युग' मे यह कल्पना 'पिछडेपन' की द्योतक होगी कि समाज के एक स्तर को 'सस्कृत' और दूसरे स्तर को 'असस्कृत' कहा जाय, या यो कहिये कि किसी समाज को 'सस्कृत' और 'असस्कृत' वर्ग मे बाँटा जाय। किन्तु यह सर्वथा तथ्यहीन नही है कि समाज का वर्गीकरण 'सस्कृतता' के आधार पर किया जाय। किसी भी भाषा के लोगो को देखिये, आपको पता चलेगा कि कुछ लोग भाषा के शब्दो का शुद्ध उच्चारण करते है, तथा कुछ लोग अशुद्ध। 'बृहस्पतिवार' शब्द के साथ आपको नागपुर मे 'ब्रेहस्पतवार' या 'बेस्तर्वार' उच्चारण करने वाले भी मिलेगे। 'अनवरचट्टी' शब्द कहने पर रिक्शावाले बिना विशेष पूछताछ किये आपको 'यूनि-वर्सिटी' पहुँचा देंगे। अग्रेजी विषय लेकर एम० ए० परीक्षोत्तीर्ण भारतीय छात्र किसी अग्रेजी सैनिक की 'कॉकनी' (Cochney) अग्रेजी सुनकर भी उसे समझ नही पाते।

सस्कृत नाटको मे विभिन्न स्तर के पात्रो के लिये भिन्न भाषा का प्रयोग 'अकारण' नही किया गया है। शेक्सपियर के नाटको मे भी सभी पात्रो की भाषा एक-सी नही है। इसका कारण स्पष्ट है। नाटक मे समाज का प्रतिबिम्ब रहता है। फिर यदि समाज मे भाषा-भेद है, तो नाटक मे क्यो न रहे? साराश यह कि समाज मे सस्कृत या विकृत उच्चारण की दृष्टि से वर्गभेद अनिवार्य है। इसी प्रकार भाषा के भी, उच्चारण के अनुसार, दो भेद किये जा सकते हैं। भारत मे एव विद्या वर्गीकरण के आधार पर भाषा के 'सस्कृत' और 'प्राकृत' ये दो नाम प्राचीन काल मे प्रचलित थे।

हमारी वर्तमान प्रादेशिक भाषाये 'प्राकृत' भाषाओ का उत्तरकालीन रूपान्तर हैं। आज की प्रादेशिक भाषाओ के समान इनके नाम भी 'प्रादेशिकता' को व्यक्त करते थे, जैसे

'महाराष्ट्री', मागधी, शौरसेनी आदि। अत आजकल जो सम्बन्ध 'सस्कृत' और अन्य 'प्रादेशिक' भाषाओ मे दृष्टिगोचर होता है, वही सम्बन्ध 'सस्कृत' और 'प्राकृत' भाषाओ के बीच प्राचीन काल मे माना जाता था। एक का प्रचार सर्वदेशीय था, विशेष करके सस्कृत या शिष्ट समाज मे। दूसरी का प्रचार 'प्रादेशिक' था, विशेष करके समाज के कम शिक्षित वर्ग मे। इसमे ऊँच-नीच की भावना नही थी, बल्कि वस्तुस्थिति ही ऐसी थी। चतुर्वर्ण की व्यवस्था मे मुख, बाहु, उदर तथा पैर का उदाहरण दिया जाता है। उसमे वह ऊँच-नीच की भावना पर नही, बल्कि समाज-रूपी प्राणी के आवश्यक अगो के निरूपण पर अभिप्रेत तात्पर्य पर बल दिया गया है। यही बात 'सस्कृत' और 'प्राकृत' या 'प्रादेशिक' भाषा के नामकरण के मूल मे निहित है।

इन 'प्राकृत' भाषाओ के माध्यम से लोकजीवन की अभिव्यक्ति हुई है। कविता, कहानी, लोकगीत, सुभाषित आदि के रूप मे बहुजन समाज की वाणी इन्ही माध्यमो से निकली है, एव विद्या साहित्य का क्षेत्र भी फलत प्रादेशिक रहा है। किन्तु अखिल भारतीय कीर्ति के या दर्शन, आयुर्वेद, ज्योतिष आदि तात्रिक विषयो के ग्रन्थो की रचना 'प्राकृत' मे नही, बल्कि 'सस्कृत' मे की जाती थी। वाङमय-सर्जन की वह भारतीय परपरा आज भी यथाशक्य मानी जाती है। आधुनिक युग के 'महाकाव्य कृष्णायन' मे सस्कृत के तत्सम शब्दो का प्रयोग-बाहुल्य तथा 'वदेमातरम्' या 'जनगणमन' आदि राष्ट्रगीतो की शब्दशय्या इसी शाश्वत तथ्य को प्रतिपादित करती है। साराश यह है कि सस्कृत के सम्बन्ध मे जितना ही नैकट्य होगा, उतनी ही अधिक सभावना 'अखिल भारतीयत्व' प्राप्त करने की रहेगी।

ऊपर के तथ्य को मनन करने पर विदित होगा कि हिन्दी को राष्ट्रभाषा क्यो घोषित किया गया है। अर्थात् 'सस्कृत' से अतिनिकट होने के कारण हिन्दी राष्ट्रभाषा बनी है। किन्तु यदि कोई कहे कि नही, हिन्दी के राष्ट्रभाषा होने का कारण सस्कृत से नैकट्य नही है, बल्कि भारत के अति विस्तृत भूखण्ड मे समझी जाने के कारण वह राष्ट्रभाषा बनी है, तो हम यह प्रतिप्रश्न करेंगे कि "हिन्दी ही क्यो अति विस्तृत भूखण्ड मे समझी जाती है, अन्य भाषाएँ क्यो नही ? बगाली, मराठी, गुजराती आदि की अपेक्षा हिन्दी मे ऐसी कौन सी विशेषता है ? भारत के विशाल भूप्रदेश मे अनेक भाषाये है, फिर हिन्दी ही क्यो अधिक विस्तीर्ण क्षेत्र मे समझी जाती है ?"

कोई विद्वान उत्तर देंगे कि मुसलमानी शासन काल मे दिल्ली के आसपास की भाषा को प्रधानता मिली, क्योकि मुस्लिम शासको की राजधानी दिल्ली थी। किन्तु यह पूर्ण सत्य नही है। शासको के राजकाज की भाषा प्रचारित किये जाने पर प्रधानता पाती है, जैसे अग्रेजी शासन काल मे अग्रेजी का भारत मे प्रचार हुआ। कितु मुस्लिम शासन-काल मे राजकाज की भाषा फारसी थी, हिन्दी या हिन्दुस्तानी नही। हिन्दी के अधिक भूखण्ड मे सुबोध होने के कारण मीमासा करने मे हमे मूलगामी विचार करना चाहिये। भारतीय भाषाओ के स्वरूप-विकास तथा ऐतिहासिक परम्परा को स्पष्ट समझ लेने पर यह प्रश्न स्वय सुलझ जायेगा।

ऊपर हमने तीन 'प्राकृत' भाषाओ 'महाराष्ट्री' शौरसेनी, मागधी', का नामनिदश किया है। वास्तव मे ये तीन 'प्राकृत भाषाये' भारत की वर्तमान समस्त 'आर्य' भाषाओ की,

व्यापक दृष्टि से, जननी हैं। पूर्वीय भारत की बगाली, असामी, उडिया, मैथिली, भाषाये मागधी से, मराठी और गुजराती [कुछ अश तक] महाराष्ट्री से, तथा उत्तर भारत की भाषाये शौरसेनी से प्रभावित है। अधिक भेदोपभेद के पचडे मे न पडकर हम हिन्दी को 'शौरसेनी' प्राकृत की उत्तराधिकारिणी कह सकते है। हिन्दी की कई विभाषाये [बोलिया] है, जैसे भोजपुरी, अवधी, हरियानी, ब्रज। इनमे भी प्रत्येक की शाखा-बोलिया है, जैसे अवधी की बघेलखण्डी और छत्तीसगढी, ब्रज की बुन्देलखण्डी-मालवी, हरियानी की पजाबी, पहाडी आदि। इन सभी विभाषाओ का मूल स्रोत "शौरसेनी" प्राकृत मे है।

प्राचीन काल से ही भारतवर्ष का प्राण 'आर्यावर्त' रहा है। 'आर्यावर्त'—हिमालय और विन्ध्य पर्वत के बीच के भूखण्ड का नाम है। भारतवर्ष के तीन मुख्य विभागो का—उत्तरापथ, मध्यदेश और दक्षिणापथ का–मध्यदेश इसी 'आर्यावर्त' मे स्थिति है। मनु के अनुसार इसी प्रदेश के 'अग्रजन्माओ' का चरित्र समस्त मानव-समाज के लिये आदर्श माना जाता था। काशी-अयोध्या-मथुरा के शैवो, रामपन्थियो की इसी पावन भूमि को राम-कृष्ण प्रदेश, गगा-यमुना प्रदेश या अन्तर्वेद का गौरवपूर्ण नाम दिया गया था।

इसी मध्यदेश की भाषा भारत के प्रत्येक ऐतिहासिक युग मे सस्कृति-प्रचार की माध्यम थी। वह भाषा 'शौरसेनी' प्राकृत थी। इसी की पूर्वसीमास्थित शाखा मागधी से प्रभावित होकर बौद्धो की 'पाली' भाषा बनी। जैनो की 'अर्धमागधी' भाषा मे शौरसेनी का पुट है। तात्पर्य यह कि बौद्ध, जैन तथा पौराणिक भारत के सास्कृतिक उत्कर्ष का माध्यम बनने का गौरव 'शौरसेनी' [अर्थात् मध्यदेश की भाषा] प्राकृत को मिला था।

'शौरसेनी' प्राकृत की उत्तराधिकारिणी 'हिन्दी' के 'निजी स्वरूप' को जानने के लिये हमे 'शौरसेनी' प्राकृत का 'निजी स्वरूप' जानना चाहिये। प्राकृत भाषाओं के वैयाकरणो के अनुसार 'मागधी' मे उच्चारण विकृति, 'महाराष्ट्री' मे 'मध्यस्थ व्यजनलोप' तथा 'शौरसेनी' मे 'सस्कृत के नैकट्य'—ये विशेषताये थी। उदाहरणो से इसे यो स्पष्ट करना होगा। आज की बगाली मे व-म, श-स, एव स्वरो का [विशेषत 'अ'] का विकृत उच्चारण, मागधी प्राकृत की देन है, जैसे Vivid को भिभिड, सस्य का शस्य रदफेन (Tooth Paste) को रोदोफेन आदि। 'महाराष्ट्री' प्राकृत का प्रयोग कविता , विशेषत गीतो के लिये सस्कृत नाटको मे पाया जाता है। अत प्राकृत गाथाये और प्राकृत काव्य, 'महाराष्ट्री' प्राकृत मे लिखे गये है। गीतो मे स्वर की प्रधानता रहती है, व्यजनो की नही। व्यंजन का स्पष्ट उच्चारण न कर केवल 'अ-आ-आ' की तीन में गेयकर्म की पूर्ति हो जाती है यही कारण है कि 'महाराष्ट्री' प्राकृत में मध्यस्थ व्यंजनों का अन्धाधुन्ध लोप होता है। जैसे 'महाराष्ट्र' का 'कई' शब्द, सस्कृत का 'कवि, कपि, कति'—कुछ भी हो सकता है। किन्तु 'शौरसेनी' मे ये रूपान्तर 'कई, कबि, कदि' होगे। निष्कर्ष यह है कि शौरसेनी की अपेक्षा महाराष्ट्री मे सस्कृत-शब्दो का रूपान्तर अधिक दृष्टिगोचर होता है। महाराष्ट्री की यह विशेषता वर्तमान मराठी के शब्दो मे आज भी देखी जाती है। सस्कृत के भी तत्सम शब्दो की मराठी मे अच्छी हजामत होती है, जैसे मन्दिर का मन्दीर, नागपुर का नागपूर। पेशवाओ के समय मे आये फारसी के शब्दो का मराठी मे आत्मसात्करण

के समय 'शुद्धीकरण' प्रचुर मात्रा मे हुआ है। वक्तव्य यह है कि महाराष्ट्री मे शौरसेनी की अपेक्षा रूपान्तर करने की अधिक प्रवृत्ति है।

'शौरसेनी' मे अपेक्षाकृत कम रूपान्तर करने की प्रवृत्ति को वर्तमान हिन्दी ने पूर्णतया अपनाया है। यही कारण है कि हिन्दी मे तत्सम शब्दो की—सस्कृत के ही नही, फारसी के भी शब्दो की—अधिक रक्षा की जाती है। तत्सम शब्दो का प्रयोग बाहुल्य-हिन्दी का अपना वैशिष्ट्य है। यही इसकी अखिल भारतीय व्यापकता का रहस्य है। इतिहास साक्षी है कि जब कोई भी भारतीय भाषा 'सस्कृत' से दूर चली जाती है, तब उसकी 'अखिल भारतीयता' का नाश होता है और क्षेत्रीयता की वृद्धि होती है। गुप्तकाल मे एव उसके बाद, विशेषतया वर्तमान युग मे, जो पुन-पुन सस्कृत के तत्सम शब्दो का प्रचार-बाहुल्य हुआ है, वह सब इसी ऐतिहासिक सत्य को पुष्ट करता है। हमारी राष्ट्रभाषा हिन्दी जितना ही अधिक सस्कृत के निकट, अर्थात् सस्कृतनिष्ठ रहेगी, उतना ही उसका 'राष्ट्रभाषात्व' सिद्ध होगा, 'सस्कृत' से दूर जाने पर उसका 'भारतीयत्व' घटेगा, 'प्रादेशिकत्व' बढेगा। इस सिद्धान्त को इतिहास ने बार-बार सिद्ध किया है। हम हिन्दी को सस्कृत न बनाये, किन्तु सस्कृत से इसे अधिक दूर भी न ले जाये, यह सुबुद्धि हम में सदैव रहनी चाहिये। हिन्दी का सस्कृत से अधिकाधिक सारूप्य वाछनीय है, तिरस्कारणीय नही—यह "विशुद्ध" हिन्दी के हिमायतियो को कभी भी न भूलना चाहिए।

भाषा प्रवाहशील है। वह सदा एक-सी नही रहती। उच्चारण सौकर्य तथा प्रयत्नलाघव की प्रवृत्ति के कारण उसमे सदैव परिवर्तन होता रहता है। 'सस्कृत' का 'प्राकृत' भाषाओं मे परिवर्तन इसी नियम का फल है। इसलिए यह आशा करना कि 'सस्कृत' भाषा सदैव एक-सी रहेगी, दुराशा मात्र है। प्राचीन काल के समान आज उसे पुन "शिष्टभाषा" बनाना सम्भव नही होगा। वह स्थान तो अब भी हिन्दी भाषा को प्राप्त है। सस्कृत के क्रियापदो की जटिल प्रक्रिया तथा कारकरूपो की रचना की हिन्दी भाषा मे आज अवतारणा अशक्य है। किन्तु सस्कृत के तत्सम शब्दो के प्रयोग की बात दूसरी है। वर्तमान हिन्दी को सस्कृत की यह देन सहर्ष स्वीकार्य होनी चाहिये। हम हिन्दी को सस्कृत नही बनायें, यह मत ठीक इसी अश मे है कि हम चाहे तो भी भाषा प्रवाह को उलट कर हिन्दी को सस्कृत नही बना सकते। किन्तु इसके साथ यह भी जान लें कि सस्कृत के तत्सम शब्दो के अधिकतम प्रयोग मे हिन्दी के 'राष्ट्रभाषात्व' का कल्याण है।

हिन्दी ही नही, सभी भारतीय भाषाओ को सस्कृत के तत्सम शब्दो का मुक्तहस्त प्रयोग करना चाहिये; क्योकि तभी उनमे पारस्परिक नैकट्य बढेगा और आदान-प्रदान सुकर होगा, तथापि प्रादेशिक भाषा होने के कारण वे कुछ अश तक सस्कृत की उपेक्षा कर भी सकती हैं। किन्तु राष्ट्रभाषा के नाते हिन्दी मे सस्कृत की उपेक्षा करना उत्तरदायित्व का न निभाना होगा। मध्यप्रदेश की 'शौरसेनी' प्राकृत से हिन्दी को यह भार विरासत के रूप मे मिला है। राष्ट्रभाषा हिन्दी के सिर पर यह एक अनिवार्य 'मातृ-ऋण' है।

[सारथी : २४ अक्टूबर १९५४ में प्रकाशित]

६१. हिंदी नामों का संक्षिप्तीकरण

स्वात"य-प्राप्ति के बाद भाषा-सम्बन्धी विविध समस्याओ का सामने उपस्थित होना सर्वथा स्वाभाविक है। राजनीतिक, साहित्यिक तथा सास्कृतिक क्षेत्र मे पश्चिमीय देशो से सम्पर्क बढने के कारण आदान-प्रदान का क्रम न केवल आवश्यक, अपितु वाछनीय भी है। विश्व-युद्ध के समय और उसके बाद लम्बे नामो को सक्षिप्त करने के लिए विभिन्न पदो के प्रथमाक्षरो को जोडकर नये साकेतिक शब्द गढने की प्रथा चल पडी है। इसका श्रीगणेश (V for victory) के नारे से हुआ था। V का चिह्न देकर जनता को विजय के लिये प्रयत्नशील बनाने का प्रचार किया गया। 'वि-विजय के लिये' के रूप मे इस नारे का हिन्दी मे अनुवाद किया जा सकता है। अग्रेजी मे यूनेस्को (Unesco) का तात्पर्य [United Nations Educational, Scientific cultusal organisation] से है, जिसे यदि हिन्दी मे रूपान्तरित करना चाहे तो (सयुक्त-राष्ट्र-शिक्षा-विज्ञान-सस्कृति-सस्थान) के प्रथम अक्षरो को जोड़कर "स रा शि वि स स" कहना चाहिये। ये नये गढे साकेतिक शब्द तभी तक अर्थ-बोधक रहेगे, जब तक इन अक्षरो का साकेतिक अर्थ ज्ञात है। साकेतिक अर्थ भूल जाने पर तो ये शब्द दीर्घ काल तक केवल रूढि के बल पर अर्थबोध करा सकेगे, इसमे सन्देह है। भारत की तत्र-विद्या मे 'ऐं व्ही क्ली चा चे'—सदृश बीजाक्षरी मत्र जैसे आज दुर्बोध हो गए है, वही दशा इन नये शब्दो की भी होगी। प्रयोगलाघव तथा सौकर्य की दृष्टि से इनका प्रचार सहज है, किन्तु वह क्षणिक भी होगा, यह न भूलना चाहिये। सिन्धु-सभ्यता की मुद्राओ मे प्राप्त दुर्ज्ञेय लिपि मे लिखे शब्दो मे यही सक्षिप्तीकरण प्रवृत्ति थी, ऐसा कुछ विद्वानो का कथन है।

जो भी हो, अग्रेजी भाषा के इस नए फैशन का हिन्दी मे प्रचलित होना आश्चर्यवह नही है। पहिले एम० एल० ए० [मेबर लेजिस्लेटिव एसेबली] या एम० पी० [मेबर पार्लियामेट] मे प्रथम अक्षरों को अलग-अलग उच्चारण करते थे। उनकी ध्वनि के अनुसार सब अक्षरो का एक शब्द नही बनाते थे। अर्थात् यूनेस्को (UNESCO) के समान एम० एल० ए० और एम० पी० को 'म्ले' य 'म्प' नही कहते थे। आज North, Atlantic Organisation को 'एन० ऐंट्० ओ०' न कहकर सीधे 'नाटो' (Nato) कहते है। द्वितीय महायुद्ध-काल मे सक्षिप्तीकरण की प्रथा मे यह नवीनता आई है। इससे लाभ-हानि के प्रश्न पर विचार करना ही व्यर्थ है। क्योकि फैशन का प्रचलन लाभ हानि की दृष्टि से नही होता। किन्तु यह हमे न भूलना चाहिये कि एम० एल० ए० का जब तक उच्चारण है, तब तक 'मेबर लेजिस्लेटिव एसेबली' का सकेत दुरूह नही है। किन्तु 'म्ले' उच्चारण करने पर कब तक अर्थव्यक्ति होती रहेगी, यह

कहना उतना ही कठिन है, जितना 'झा' शब्द को सुनकर उसके मूलरूप 'उपाध्याय' ... पहिचानना ।

सौभाग्यवश हिन्दी मे अक्षरो के नाम और ध्वनि मे भेद न होने के कारण, उपर्युक्त कठिनाई हिन्दी मे उत्पन्न नही होनी चाहिये। अग्रेजी मे 'एन० ऐट्० ओ०' कहने या 'नाटो' (Nato) कहने मे भेद है। किन्तु हिन्दी मे यह बात नही है। 'सदस्य लोकसभा' को 'सलोस', 'सदस्य राज्य परिषद्' को 'सराप' कहने पर जब तक प्रत्येक अक्षर का सकेतित शब्द ज्ञात है, तब तक नया शब्द दुरूह नही होगा। अधिक उचित तो यह होगा कि 'स' का अर्थ सदस्य मानकर, सलोक [सदस्य लोकसभा], सराज्य (सदस्य राज्य परिषद्), सविधान [सदस्य विधानसभा]—आदि शब्द बनाये जाये। 'लोकसभा', राज्य-परिषद्, विधान-सभा ये समासरूप मे एक शब्द है और इनका प्रथम पद सकेत के लिये पर्याप्त होना चाहिये। 'सलोस', 'सराप' 'सविस' की अपेक्षा सलोक, सराज्य, सविधान शब्द अधिक अकृत्रिम और स्पष्ट है, तथा उतने अटपटे नही लगते। साथ ही यह भी विचारणीय है कि एवविध शब्द सक्षेप की प्रवृत्ति भारतीय भाषा के लिए सर्वथा अभूतपूर्व नही है। सस्कृत भाषा के मध्यम पदलोपी समास के मूल मे यही सक्षिप्तीकरण की प्रवृत्ति थी। शाक-पसन्द वाले पार्थिव के लिये शाक-पार्थिव शब्द का प्रयोग तथा देवपूजक ब्राह्मण के लिये देवब्राह्मण शब्द का प्रयोग इसके उदाहरण है। लोकसभा के लिये केवल 'लोक' या राज्य परिषद् के लिए केवल 'राज्य' का प्रयोग भी भारतीय भाषा का अपना प्रयोग है। 'सत्यभामा' को 'भामा', देवदत्त को 'देव' कहना अपनी पुरानी परम्परा है। तात्पर्य यह कि शब्दो के सक्षिप्तीकरण का फैशन चलाने मे हमे अपनी भाषा की प्रवृत्ति को भी ध्यान मे रखना चाहिये। अग्रेज़ी का अधानुकरण करने के पूर्व हमे अपनी परम्परा की जॉच पडताल कर लेनी चाहिये।

अग्रेजी शब्दो के हिन्दी रूपान्तर करने मे दो प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर होती है। पहिली के अनुसार अग्रेजी शब्दो की ध्वनि से मिलते-जुलते तथा अर्थ-बोधक नये शब्द गढे जाते है। जैसे Motto के लिये मूलमत्र, रजिष्ट्रेशन के लिये राज्येष्टीकरण। रजिष्टर्ड वैद्य के लिये 'राज्येष्ट वैद्य' का प्रयोग अभीष्ट अर्थ को भी नही व्यक्त करता, बल्कि ध्वनिसाम्य के कारण दूर का भी नही प्रतीत होता। हाँ यह बात ज़रूर है कि अग्रेज़ी की 'रजिस्टर' धातु से बने रजिस्टर आदि विविध शब्दो के लिए पजी का भी प्रयोग करना पडेगा। किन्तु भाषा प्रवाह को एक मर्यादित क्षेत्र से ही बहने देने का दुराग्रह, अतिरेक-कोटि मे आता है, और 'अति सर्वत्र वर्जयेत्'। दूसरी प्रवृत्ति बोलचाल के शब्दो का अधिकाधिक मात्रा मे प्रयोग है। जैसे Retrenchment के लिये छटनी, Weer and teer के टूट-फूट या घिसाई, राजनीतिक parlays के लिये साठगाठ आदि। इसमे सन्देह नही कि इन प्रचलित शब्दो मे अर्थव्यक्ति क्षमता के अलावा एक प्रकार की सजीवता है और यथासम्भव इन प्रयोगो को प्रोत्साहन मिलना चाहिये।

हिन्दी रूपान्तर मे कई ऐसे शब्द भी होते है जो इन दोनो प्रवृत्तियो के अन्दर नही आते। किन्तु मूल शब्द के लिए उनकी उपयुक्तता मे सन्देह नही किया जा सकता। जैसे कोरम (Corum) के लिये गणपूर्ति, Speech के लिए भाषण आदि। Lectur के लिए 'प्रवचन' मे कुछ ध्वनि-

साम्य भी है। Lecture को प्रवक्ता न कहकर 'प्रवचनकार' कहना अधिक उपयुक्त होगा। एक ससदीय शब्द whip है, जिसका अनुवाद 'प्रमोद' किया जाता है। कही-कही तो 'चाबुक' शब्द भी व्यवहृत किया गया है। किन्तु हिन्दी की 'सचेत करना' (सावधान करना) धातु से बनाया गया 'सचेतक' शब्द अधिक उपयुक्त होगा, इसमे सन्देह नही। विभिन्न शब्दो के लिये भिन्न-भिन्न प्रकार का अविलम्बन करना चाहिये। जहाँ जो अधिक उपयुक्त जँचे, उसे वहाँ ग्रहण करना चाहिये। पतजलि ने कहा है एक ही मार्ग का अवलम्बन करने से सर्वत्र नही पहुँचा जा सकता है। अग्रेजी से हिन्दी मे अनुवाद करने के विषय मे पतजलि की यह उक्ति अधिक सार्थक है।

[सारथी २ जनवरी १९५५]

६२. धर्म-साधना में समन्वय

भारत की सास्कृतिक परम्परा मे सम्प्रदायजात भेदो का महत्व नही है यही कारण है कि एक ही परिवार मे विभिन्न सम्प्रदायो के अनुयायी पाये जाते है। यही नही, कोई भी भारतीय एक साथ ही भिन्न सम्प्रदायो मे निष्ठा रख सकता है। 'एक सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' के अनुसार वह विभिन्न देवी-देवताओ के रूप मे विश्व की नियामक परम शक्ति की उपासना कर सकता है। निम्नलिखित श्लोक प्रसिद्ध है—

अन्तः शाक्ता बहिः शैवाः सभामध्ये तु वैष्णवाः।
नानारूपधराः कौला विचरन्ति महीतले॥

बहुधा यह श्लोक निन्दा या उपहास के लिये उद्धृत किया जाता है। किन्तु इस श्लोक मे कौल सम्प्रदाय की समन्वयात्मक प्रवृत्ति की ओर सर्वथा सत्य और भारतीय परम्परा के अनुकूल सकेत है।

प्रसिद्ध मैथिलकवि विद्यापति (१५ शताब्दी) मे ऐसी ही धर्म साधना का परिचय मिलता है। इस विषय पर भी दिनेशचन्द्र भट्टाचार्य का एक सक्षिप्त लेख 'गगानाथ झा रिसर्च जर्नल (भाग ६ अक ३) मे प्रकाशित हुआ है, जिससे साप्रदायिक उदार दृष्टिकोण के मत को पुष्टि मिलती है। अपने अमर ग्रन्थ 'पदावली' के कारण विद्यापति की कृष्णभक्ति और वैष्णव धर्म तो विदित है। किन्तु अभी यह बात उस मात्रा मे ज्ञात नही है कि वे शैव एव शाक्त भी थे। 'शैवसर्वस्वसार' मे शिवस्तुति कर उन्होने अपने शैव होने का प्रमाण दिया है। उनकी 'दुर्गा-भक्ति तरगिणी' आज भी बगाल मे वार्षिक दुर्गोत्सव की पूजाविधि पर एक प्रामाणिक पुस्तक मानी जाती है। नवद्वीप (नदिया) के एक प्रसिद्ध शाक्त परिवार मे उनके एक नवीन तत्रग्रन्थ का पता चला है। उसका नाम आगमद्वैतनिर्णय है। इस पुस्तक मे विद्यापति ने अनेक पूर्वकालीन आगम-ग्रन्थो का तथा अपने विशिष्ट सम्प्रदाय (अस्मत्सम्प्रदाय) और 'पैतृक पन्था' के मतो का निर्देश किया है।

विद्यापति के एक अन्य महत्वपूर्ण ग्रन्थ 'भूपरिक्रमण' की सम्पूर्ण हस्तलिखित प्रति कलकत्ता सस्कृत कॉलेज पुस्तकालय मे सुरक्षित है। इसमे बलराम द्वारा पापप्रक्षालनार्थ की गई भू-प्रदक्षिणा का वर्णन है। द्रुपद देश, ब्रह्मावर्त, महाप्रयाग, काशीक्षेत्र, सिद्धदेश और जनक-देश—इन ६ क्षेत्रो का रोचक वर्णन इसमे किया गया है। विद्यापति के इस ग्रन्थ का उपयोग सस्कृत मे लिखे गये अनेक उत्तरकालीन भूगोलसम्बन्धी ग्रन्थो मे पाया जाता है, जैसे भविष्य

पुराण का ब्रह्म काण्ड, देशावली, विवृति , दिग्विजय प्रकाश आदि। इन ग्रन्थो मे अनेक दन्त-कथाए अतथ्य घटनाएँ एव काल्पनिक भौगोलिक नाम बाद मे भर दिये गये है। तो भी उनके मूल मे ऐतिहासिक सामग्री का अस्तित्व नि सन्दिग्ध है। कलकत्ता सस्कृत कालेज पुस्तकालय की भविष्य पुराण की प्रति मे विद्यापति की जीवनी का रोचक वर्णन आया है। उनके विषय मे कहा गया है कि वे "तीर भुक्ति" (तिरहुत) प्रदेश के शृगार-रस का वक्ता, वावदूक, सिद्धयश, परम धार्मिक, आद्यादेवी के प्रसाद से प्राप्त कवित्व शक्तिवाले थे। उनके जन्म के विषय मे कहा है कि वे गर्भाधान से तेरहवे मास मे जन्मे थे। इस विधान मे सत्यता का कितना अश है, यह कहना कठिन है। अस्तु—उपर्युक्त अनेक ग्रन्थो के आधार पर यह तो निश्चित है कि विद्यापति की धार्मिक-साधना समन्वयात्मक और उदार-दृष्टि-पूर्ण थी।

[भारती : मई १९५० में प्रकाशित]

६३. 'रासो' शब्द की व्युपत्ति

'पृथ्वीराज-रासो' हिन्दी मे वीरगाथा काल का एक प्रसिद्ध प्रबन्ध काव्य है। इसका नाम 'रासो' कैसे पडा, यह एक विवादास्पद विषय है। म० म० हरप्रसाद शास्त्री ने 'राजयश' शब्द से 'रासो' की व्युत्पत्ति मानी है। प० राचन्द्र शुक्ल के अनुसार रासो 'रसायन' का अपभ्रश है। तासी नामक फ्रेच विद्वान् ने इसे 'राजसूय' शब्द से निकाला है। काशीप्रसाद जायसवाल रासो को 'रहस्य' शब्द से जोडते हैं। किन्तु अधिकाश मे प्रचलित मत 'रासो' का मूलरूप 'रास' या 'रासक' मानता है। गगानाथ झा रिसर्च जर्नल (भाग ६ अक ३) मे श्री शैलेन्द्रनाथ घोठसाल ने इस विषय पर अच्छा प्रकाश डाला है।

विश्वनाथ कृत साहित्यदर्पण (६ परिच्छेद) मे 'रासक' का, एक उपरूपक के भेद के रूप मे, उल्लेख है। उसकी विशेषताओ मे निम्नलिखित उल्लेखनीय है। पाच पात्र, अनेक भाषाओ और विभाषाओ का उपयोग, सूत्रधार का अभाव, एक अक, नृत्य, ताल, लय का आधिक्य। इस उपरूपक के उदाहरण आज भारतीय वाङमय मे उपलब्ध नही है। विश्वनाथ ने केवल 'मेनकाहित' नामक 'रासक' का नाम लिया है। वह किस कवि का है, या उसमे क्या कथावस्तु थी, इसका जिक्र भी नही किया है। तो भी 'रासक' नामक उपरूपक के निर्देश से मध्ययुगीन अपभ्रश काव्यो के विकास पर प्रकाश पडता है।

'रास' शब्द भागवत और हरिवश मे आया है। वहा इसका अर्थ 'गोपियो के साथ कृष्ण का नृत्य' है (रास-रसयति, आनन्द देनेवाला, शृगार रस का उद्रेक करनेवाला)। शारदी पूर्णिमा की रात्रि के विशिष्ट 'कृष्णनृत्य' की 'क' प्रत्यय लगाकर 'रासक' कहा गया है: शृगार-रस को अभिव्यक्त करने मे नृत्य के साथ गीत का भी प्रयोग किया गया होगा। तब से 'रासक' का द्विविध विकास हुआ। नृत्य पर अधिक महत्व देने से 'रासक' का रूपान्तर अभिनयात्मक 'कृष्ण लीला' मे हुआ। नृत्य और अभिनय का घनिष्ठ सम्बन्ध तो 'नाटक' (नृत्-नट् धातु से बना) के नामकरण से ही स्पष्ट है। आगे चलकर 'रासक' एक स्वतत्र उपरूपक बन गया। साराश यह कि शृगाररस प्रधान, नृत्यप्रचुर, अनेक भाषान्वित, कलापूर्ण एकाकी (लगातार, बिना विच्छेद के) अभिनय को 'रासक' उपरूपक कहा गया। 'रासक' नृत्य और 'रासो' काव्य के बीच का सम्बन्ध जानने के लिये उपर्युक्त 'रासक' उपरूपक का जानना आवश्यक है। एक ओर तो 'रासक' नृत्य का विकास 'रासक' उपरूपक मे हुआ, दूसरी ओर उसका विकास 'रासो' काव्य मे हुआ। नृत्य के स्थान मे गीतो का प्रचलन अधिक होने से कालातर मे नृत्य (अभिनय) को गौण स्थान देकर गीतो को प्रधानता दी गई। 'रासक' के इन गीतो मे प्रकृति, ऋतु, प्रेम आदि

का वर्णन रहता था इससे 'रासक' मे दृश्यात्मकता के स्थान मे श्रव्यात्मकता आ गई। 'दृश्य' रासक अब 'काव्य' हो गया। देश की राजनैतिक परिस्थिति के अनुसार 'रासक' के गीत शृगार-रस की अपेक्षा वीररस को अधिक महत्व देने लगे, या यो कहिये कि शृगाररस को वीररस का अनुयायी बना दिया गया। फलत 'पृथ्वीराज-रासो' ऐसे वीर गाथा काल के प्रबन्ध-काव्यो का उदय हुआ। रासक रासउ, रासो —इस क्रम के अनुसार भागवत का रासक मध्ययुग का रासो कहलाने लगा। साहित्य-दर्पण मे उल्लिखित 'रासक' उपरूपक मे रासक (दृश्य) और रासक-रासो (काव्य) का समन्वय है। पूर्णतया 'दृश्य' भागवत का रासक पहिले तो 'दृश्य-काव्य मिश्रित' 'रासक' उपरूपक बना, और फिर कालान्तर मे पूर्णतया 'काव्य' रासो (प्रबन्ध-काव्य) मे उसकी परिणति हुई।

[भारती : मई १९५० मे प्रकाशित]

६४. उच्च शिक्षा का माध्यम

स्वातन्त्र्य-सग्राम के समय मे देश की सास्कृतिक और राजनीतिक एकता की भावना ने देशवासियो को एक सूत्र मे बाँध दिया था। उसी के परिणाम-स्वरूप सम्पूर्ण देश मे राष्ट्रीय जाग्रति की विशाल लहर ने अग्रेजो को यहाँ से चले जाने को विवश किया था। किन्तु खेद की बात है कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के इस शुभ अवसर पर अहिन्दी-प्रान्तो के निवासियो मे सकुचित प्रान्तीयतावाद—राष्ट्र-हित की अवहेलना कर —जोर पकड रहा है। अग्रेजी के प्रति विरोध-भावना अब राष्ट्र-भाषा के विरोध मे प्रवृत्त की जा रही है, जिसका फल यह होगा कि विश्व के रगमच पर भारत की सास्कृतिक, भौगोलिक और राजनीतिक राष्ट्रीय एकता को तिलाजलि मिल जायगी। भारत मे भाषाओ की विभिन्नता नई वस्तु नही है, किन्तु इसके कारण सास्कृतिक एकता के अस्तित्व पर सन्देह नही किया जा सकता। भाषानुसार प्रान्तो का पुर्नविभाजन एक सर्वमान्य सिद्धान्त है। परिस्थिति और समय की सुविधा से एक दिन प्रान्तो का पुर्नविभाजन आवश्यक है। किन्तु हमे यह न भूलना चाहिए कि विभाजन के बाद भी तो देश की राजनीतिक और सास्कृतिक एकता अक्षुण्ण रखनी है। इसके लिए भिन्न-भिन्न भाषा-भाषी प्रान्तो मे अन्तर्प्रान्तीय व्यवहार और उच्च बौद्धिक स्तरो मे ज्ञान का परस्पर आदान-प्रदान की सुविधा उत्पन्न करनी होगी।

आज हमारे स्वप्रान्ताभिमानी अहिन्दी-भाषी देशवासी अपनी प्रान्तीय भाषा के प्रति उचित से अधिक अभिनिवेशात्मक आग्रह के कारण अगरेजी और राष्ट्र-भाषा को समान समझते है और अगरेजी के विरोध को राष्ट्र-भाषा पर भी लागू कर रहे है। उनकी दृष्टि मे प्रान्त-भाषा के अतिरिक्त अन्य सभी भाषाएँ—भारतीय या विदेशी—समान है। उनका तर्क है कि प्रान्त-भाषा मे ही सारा शिक्षण—प्राथमिक से लेकर विश्वविद्यालय की अत्युच्च श्रेणी तक—दिया जाना चाहिए और यदि दूसरी भाषा पढ़नी ही है तो विश्व-प्रचलित अग्रेजी ही क्यो न पढी जाय। कहने की आवश्यकता नही कि यह तर्क कितना निस्सार और देशद्रोह का परिचायक है। भारत की किसी भी प्रान्तीय भाषा से राष्ट्र-भाषा हिन्दी का सम्बन्ध अगरेजी की अपेक्षा अति निकट का है। वास्तव मे राष्ट्र भाषा हिन्दी की अंगरेजी से तुलना की कल्पना ही हास्यास्पद है। देश के दुर्भाग्य से हमारी केन्द्रीय सरकार का शिक्षा-विभाग भी इस सम्बन्ध मे निर्दोष नही है। अभी हाल ही मे एक सरकारी विज्ञप्ति निकली है कि "विश्वविद्यालयो की उच्च शिक्षा प्रान्तीय भाषा या राष्ट्र-भाषा मे दी जानी चाहिए तथा राष्ट्र-भाषा का एक गौण विषय के रूप मे अध्ययन—बी० ए० परीक्षा तक—आवश्यक रहेगा, किन्तु उसमे प्रावीण्य या अप्रावीण्य का

डिग्री परीक्षा के फल पर प्रभाव नही पडना चाहिए।" हमारे मत से उपर्युक्त सरकारी नीति सकुचित विचार-धारा से अत्यधिक प्रभावित हुई है। मिशनरी शिक्षण सस्थाओ मे आज कल के बायविल-क्लास के समान राष्ट्र-भाषा के अध्ययन की अनिवार्य किन्तु अपरिणाम-कारिणी व्यवस्था का सुझाव कितना उपहासास्पद है? पता नही, राष्ट्र-भाषा के अध्ययन की इस हास्यास्पद व्यवस्था से किस प्रकार हमारे शिक्षाधिकारी भारत मे सुसगठित दृढ केन्द्रवाले राष्ट्र के निर्माण का कार्य कर सकेंगे। प्रान्तीय भाषा या राष्ट्र-भाषा के माध्यम का विकल्प देकर केन्द्रीय सरकार पार्थक्यवादी प्रान्ताभिनिवेशियो को अनुचित प्रोत्साहन दे रही है। इसका पर्यवसान देश के भाषानुसार विकेन्द्रीकरण मे होगा, क्योकि प्रान्तीय भाषा के प्रति अविवेकपूर्ण अनुरागातिरेक के कारण उच्च शिक्षा के छात्र राष्ट्र-भाषा से उदासीन रहेगे। विश्वविद्यालय और उच्च न्यायालय (हाईकोर्ट) ये देश की सास्कृतिक और राजनीतिक एकता के मूल स्तम्भ है। यदि इनमे राष्ट्र-भाषा का माध्यम न रखा गया तो देश की अखण्डता और एकात्मकता की कल्पना कल्पना ही रहेगी। आज की स्थिति मे आन्तर्प्रान्तीय विचार-विनिमय एव भिन्न-प्रान्तीय विद्वानो का परस्पर सम्मिलन अत्यावश्यक है। अगरेजी के द्वारा यह कार्य अवाछनीय और कृत्रिम रूप मे ही सही, आज तक भली भॉति होता आया है। अगरेजी के स्थान मे प्रान्तीय भाषाओ का उच्च शिक्षा के क्षेत्र मे प्रवेश उस दुरवस्था और विश्रृखलता को जन्म दे सकती है, जो राष्ट्र-निर्माण मे घातक सिद्ध होगी।

राष्ट्र-भाषा की सर्वमान्यता के लिए आवश्यक है कि उसका स्वरूप प्रान्त-भाषाओ से अधिकाधिक मिलता-जुलता हो। इस सम्बन्ध मे प्रान्त-भाषाओ की मूलभाषा (सस्कृत भाषा) का जितना अधिक आश्रय लिया जायगा, उतना ही प्रान्तीय भाषाएँ एक दूसरे के निकट आयेंगी। प्रान्तीय भाषाओ को परस्पर निकट लानेवाली सस्कृतनिष्ठ हिन्दी आगे चलकर विकास क्रम से सम्पूर्ण देश की एक प्रतिनिधि भाषा का स्थान ग्रहण कर सकेगी। प्रान्तीय भाषाओ को परस्पर निकट लाने के लिए देवनागरी लिपि का प्रयोग भी वाछनीय होगा। वर्तमान काल मे दक्षिण-भारत की भाषा-सम्बन्धी क्षुब्ध स्थिति को ध्यान मे रखकर कुछ समय के लिए वहाँ की प्रान्तीय भाषाओ (तेलगू, तमिल, कर्नाटक, और केरल) का प्रश्न छोड भी दिया जाय तो अनुचित नही। किन्तु उत्तर और मध्यभारत मे प्रान्तीय भाषाएँ देवनागरी लिपि का प्रयोग तुरन्त और आसानी से कर सकती है। बगाली (उडिया और आसामी सहित) और गुजराती लिपि का देवनागरी लिपि से भेद नगण्य है। किन्तु इस लिपि-भेद के कारण आज बगाली आदि का समृद्ध साहित्य अन्य प्रान्तवासियो के लिए अगम्य है। यदि देवनागरी लिपि का प्रयोग सभी प्रान्तीय भाषाएँ करने लगे तो कवीन्द्र रवीन्द्र और उपन्यास-सम्राट शरच्चन्द्र की अनुपम कृतियाँ, मूल रूप मे भी समस्त देश की निधि बन जायँगी। गुजराती लिपि से देवनागरी लिपि का भेद और भी कम है। केवल शिरोरेखा और दो चार अक्षरो का ही प्रश्न है। अत देवनागरी लिपि को समस्त भारत की लिपि बनाने की ओर भी केन्द्रीय सरकार से प्रेरणा मिलनी चाहिए। आज भी विभिन्न प्रान्तो के निवासी सस्कृत भाषा के ग्रन्थो को देवनागरी लिपि मे ही पढते है। सस्कृतनिष्ठ हिन्दी के समान देवनागरी लिपि

मे भी समस्त भारत को एक सूत्र मे बाँधने की क्षमता है। यह एक अकाट्य ऐतिहासिक सत्य है।

देवनागरी लिपि के समान, सम्पूर्ण देश मे एक समान पारिभाषिक शब्दावली का प्रचार भी विभिन्न प्रान्तो को एक सूत्र मे बाँध सकता है। इन सम्बन्ध मे भी केन्द्रीय सरकार की नीति अभी निश्चित नही हुई है। यहाँ प्रचलित शब्दो के बहिष्कार का प्रश्न नही है। लोक-प्रचलित विदेशी शब्दो का सामान्य जनभाषा मे बहिष्कार न तो सम्भव है, न वाछनीय ही है। किन्तु भारतीय वाड्मय की बुध भाषा मे—जो जन-भाषा से ऊँचे स्तर की होगी—ऐमे अनेक शब्दो का निर्माण करना पडेगा, जिनके अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए हमारे विज्ञान-शास्त्री आज यूरोप-प्रचलित लैटिन शब्दावली का प्रयोग करते है। मनुष्य स्वभावत रूढिप्रिय होता है। अत आज की पीढी के भारतीय वैज्ञानिक पारिभाषिक शब्दो के भारतीयकरण के विरुद्ध है तो कोई आश्चर्य नही। किन्तु हमे तो समस्त देश की समष्टि-उन्नति के विशाल दृष्टिकोण से विचार करना है। हमारी नवनिर्मित भारतीय पारिभाषिक शब्दावली वर्तमान पीढी के विद्वानो के लिए नही है, वह तो आगामी सन्तति के लिए है, जिसका शिक्षण प्रान्त-भाषा और राष्ट्र-भाषा के माध्यम से हुआ है। अगरेजी माध्यम से ज्ञानार्जन करनेवाले छात्रो के लिए सस्कृतनिष्ठ पारिभाषिक शब्द भले ही दुरूह हो, किन्तु प्रान्तीय भाषाओ के माध्यम के छात्र उन शब्दो को आसानी से समझ सकेगे। यहाँ हम विज्ञान के उच्च क्षेत्र मे सशोधन करनेवाले वैज्ञानिको की पारिभाषिक शब्दावली की चर्चा नही कर रहे है क्योकि उनके लिए आज की तरह भविष्य मे भी जर्मन, रूसी, फ्रेच भाषा का ज्ञान अपेक्षित रहेगा। यहाँ तो प्रश्न विश्वविद्यालयो के छात्रो का है जिनका ध्येय उच्च सशोधन नही, बल्कि सशोधन कार्य के लिए अपेक्षित ज्ञान का अर्जन है। विज्ञान और शास्त्रो के अध्ययन के उच्चतम स्तर मे तो अधिक-से-अधिक विदेशी भाषाओ से परिचय होना चाहिये।

दुर्भाग्यवश आज हमारे शिक्षा-विशारदो मे अधिकाश सस्कृत भाषा से परिचित नही है। अत वे सस्कृत भाषा को—विभिन्न उपसर्गों और उनकी सहायता से—धातु-निर्मित सैकडो शब्दो के निर्माण की क्षमता को नही समझ सकते है। सस्कृतनिष्ठ राष्ट्र-भाषा और प्रान्त-भाषा के माध्यम से पढे हुए छात्रो के लिए सस्कृत भाषा कामधेनु है। सभी अभीप्सित अर्थो के लिए शब्दो को वे सस्कृत-भाषा से पा सकेगे। पारिभाषिक शब्दावली के निर्माण के लिए केन्द्रीय सरकार की ओर से योजना बननी चाहिए, ताकि उसका सब प्रान्तो मे समान प्रयोग किया जा सके। राष्ट्र के अभ्युत्थान मे शिक्षा का महत्व सर्वविदित है। अत शिक्षा-योजना की स्थूल किन्तु सैद्धान्तिक रूपरेखा केन्द्रीय सरकार की ओर से निश्चित की जानी चाहिए। हम चाहते है कि केन्द्रीय सरकार का शिक्षाविभाग शीघ्र इस ओर ध्यान दे और राष्ट्र-लिपि, राष्ट्रभाषा का स्वरूप और क्षेत्र, प्रान्तीय भाषाओ का क्षेत्र, विभिन्न स्तरो मे शिक्षा का माध्यम, पारिभाषिक शब्दावली आदि विषयो पर अपनी निश्चित नीति की घोषणा करे। प्रान्तीय सरकार और विश्वविद्यालयो को यह आदेश देना चाहिए कि अन्तरिम काल मे मूलगामी परिवर्तन न किये जायँ, एव केन्द्रीय सरकार की नीति की प्रतीक्षा की जाय।

प्राथमिक शिक्षा के माध्यम के सम्बन्ध मे मतभेद नही है। माध्यमिक (Secondary) और उच्च (University) शिक्षा के सम्बन्ध मे प्रान्त-भाषा और राष्ट्र-भाषा के भिन्न क्षेत्रो की सीमा स्पष्ट रूप से निर्धारित की जानी चाहिए।

माध्यमिक शिक्षा

प्राथमिक शिक्षा के बाद की माध्यमिक शिक्षा मे (जिसमे वर्तमान मिडिल और हाई स्कूलो की शिक्षा सम्मिलित है और जो १० से लेकर १६ वर्ष तक ७ वर्षों मे आजकल के इण्टर-मीडिएट तक की योग्यता सम्पादित करेगी) प्रान्त-भाषा का माध्यम अनिवार्य रहे और अन्तिम ३ या ४ वर्षो मे राष्ट्र-भाषा सिखाई जाय। प्रान्त के निवासियो मे समरसता लाने के लिए और उनमे प्रान्त के हिताहित मे स्वीय की भावना उत्पन्न करने के लिए यह आवश्यक है कि प्रान्त के सभी निवासी प्रान्त-भाषा पढे और उनमे नैपुण्य सम्पादन करे। विदेशी-शासन काल की यह कृत्रिमता अब समूल नष्ट कर देनी होगी, जिसके अनुसार महाराष्ट्र प्रान्त मे यावज्जीवन रहकर भी बगाली या पजाबी भाई प्रान्त-भाषा मराठी से अपरिचित रहते थे। आजकल के अगरेजी की तरह राष्ट्र-भाषा हिन्दी के ज्ञान से ही उन्हे अब सन्तोष न मानना चाहिए। राष्ट्र-भाषा के ज्ञान से उन्हे समस्त राष्ट्र से आत्मीयता होगी, किन्तु विशिष्ट प्रान्त से हित सम्बन्ध और आत्मीयता उत्पन्न करने के लिए उन्हे प्रान्त-भाषा भी अवश्य पढना चाहिए। जिन प्रान्तो मे राष्ट्र-भाषा ही प्रान्त-भाषा है (जैसे युक्तप्रान्त, मध्य-प्रान्त, बिहार आदि) वहाँ के बालको को माध्यमिक शिक्षा मे एक अन्य प्रान्त-भाषा (राष्ट्र भाषा के स्थान मे) पढनी चाहिए। यूरोप मे लोग प्राय. दो या तीन देश भाषाएँ अवश्य जानते है। वही परम्परा हमे अपने देश मे प्रचलित करनी है। एक लिपि और मूल भाषा सस्कृत होने के कारण प्रत्येक भारतवासी को दो-तीन भाषाएँ जानना कठिन न होगा।

उच्च-शिक्षा

विश्वविद्यालयो की उच्च-शिक्षा साधारणतया १७वे वर्ष मे प्रारम्भ होगी। हाई स्कूलो मे मातृ-भाषा माध्यम होने के कारण इण्टरमीडिएट तक की योग्यता स्कूलो मे ही हो जायगी, एव विदेशी भाषा-माध्यम से जो आजकल शक्ति और समय का अपव्यय होता है वह नही होगा। अत विश्वविद्यालयो मे २ या ३ वर्ष के अध्ययन से ही बी० ए० डिग्री मिल सकेगी तथा सम्पूर्ण शिक्षाक्रम मे कम-से-कम एक वर्ष का बहुमूल्य समय बच जायेगा। किन्तु खेद है कि उच्च शिक्षा के माध्यम के विषय मे मतभेद है। एक ओर प्रान्त-भाषाभिमानी अहिन्दी-भाषी सकुचित प्रान्तीयतावाद और सम्पूर्ण स्वतन्त्रता की भावना से प्रेरित होकर उच्च शिक्षा मे भी प्रान्त-भाषाओ को ही माध्यम बनाना चाहते है तथा राष्ट्र की राजनीतिक और सास्कृतिक एकता पर कुठाराघात करने पर तुले हैं दूसरी ओर इस नवीन अनिष्ट मनोवृत्ति से डरकर कुछ विद्वान् अगरेजी माध्यम को उच्च शिक्षा मे भी प्रचलित रखना चाहते हैं। किन्तु इस व्यवस्था से देश की सास्कृतिक उन्नति तो दूर रही, वैदेशीय सस्कृति का बन्धन अधिक दृढ हो जायगा।

इस मतभेद के स्थिति में यह आवश्यक है कि एक ऐसे मध्यम मार्ग का अवलम्बन किया जाय, जिससे राष्ट्र की एकता भी बनी रहे, साथ ही प्रान्त-भाषाएँ भी अपने-अपने क्षेत्र मे विकास पाएँ। हमारी राय मे वह मध्यम मार्ग निम्नलिखित होगा —

देश के प्रत्येक प्रान्त मे उच्च शिक्षा का माध्यम राष्ट्र-भाषा रहे और जहाँ प्रान्त-भाषा और राष्ट्र-भाषा एक है, वहाँ एक अन्य प्रान्त-भाषा का साहित्य पढाया जाय। प्रान्त-भाषाओ के साहित्य का अधिकाधिक प्रसार के लिए यह सर्वथा वाछनीय होगा कि उच्च शिक्षा के सभी छात्र प्रान्त-भाषा के साहित्य की गतिविधि से परिचित हो। इससे प्रान्त-भाषाभिमानियो को असन्तोष का अवकाश नही रहेगा। साथ ही, शिक्षा-माध्यम एक होने के कारण राष्ट्र की सास्कृतिक और बौद्धिक एकता भी अक्षुण्ण बनी रहेगी। प्रान्त-भाषाभिमानियो का यह भय निर्मूल है कि राष्ट्र-भाषा का उच्च शिक्षा के माध्यमरूप मे प्रयोग प्रान्त-भाषा के विकास मे बाधक होगा। प्रान्त भाषा का अपने क्षेत्र मे स्थान सुरक्षित है। प्रश्न केवल राष्ट्र-भाषा और प्रान्त-भाषा के क्षेत्रो की सीमा निश्चित करने का है। सम्पूर्ण राष्ट्र के ऐक्य की सुरक्षा के लिए यह आवश्यक है कि राष्ट्र के बौद्धिक क्षेत्र के उच्च स्तर मे राष्ट्र-भाषा का स्थान सर्वमान्य किया जाय।

[विशाल भारत : नवम्बर १९४८ मे प्रकाशित]

६५. शिक्षा का माध्यम

१५ अगस्त १९४७ के अनन्तर भारतवर्ष मे जो नई विषम समस्याएँ उत्पन्न हो गई है, उनमे शिक्षा-माध्यम का प्रश्न कम महत्वपूर्ण नही है। विदेशीय शासनकाल मे विदेशी अग्रेजी भाषा के प्रति उत्कट द्वेषभाव का होना दासतापाश-बद्ध भारतीयो के हृदय मे सर्वथा स्वाभाविक था और उसकी प्रतिक्रियास्वरूप , अपनी मातृभाषा की वृद्धि और अधिकाधिक प्रयोग के लिए प्रयत्नशील होना भी समुचित था। किन्तु आज की स्थिति मे—जबकि अग्रेजी का प्रभाव शीघ्र ही अस्त होने को है—कुछ ऐसी तीव्र और राष्ट्रीय दृष्टि से अवाछनीय मनोवृत्तिया दृष्टि-गोचर हो रही है, जिनमे विवेकबुद्धि की अपेक्षा सकुचित प्राताभिनिवेश की भावना अधिक जागरूक है। कहने की आवश्यकता नही कि इस मनोवृत्ति को प्रोत्साहन देना अदूरदर्शिता का परिचायक है।

स्वातत्र्य-सग्राम के समय मे देश की सास्कृतिक और राजनैतिक एकता की भावना ने देशवासियो को एक सूत्र मे बाँध दिया था। उसी के परिणामस्वरूप सम्पूर्ण देश मे राष्ट्रीय जागृति की विशाल लहरो ने अग्रेजो को यहाँ से चले जाने को विवश किया था। किन्तु खेद की बात है कि स्वातत्र्य प्राप्ति के इस शुभ अवसर पर अहिन्दी-प्रान्तो के निवासियो मे सकुचित प्रान्तीयतावाद राष्ट्रहित की अवहेलना कर जोर पकड रहा है। अग्रेजी के प्रति विरोध-भावना अब राष्ट्रभाषा के विरोध मे प्रवृत्त की जा रही है, जिसका फल यह होगा कि विश्व के रगमच पर भारत की सास्कृतिक, भौगोलिक और राजनैतिक एकता को तिलाजलि मिल जायेगी। भारत मे भाषाओ की विभिन्नता नई वस्तु नही है, किन्तु इसके कारण राष्ट्रीय और सास्कृतिक एकता के अस्तित्व पर सदेह नही किया जा सकता। भाषानुसार प्रान्तो का पुनर्विभाजन एक सर्वमान्य सिद्धान्त है। परिस्थिति और काल की सुविधा से एक दिन भारत मे प्रान्तो का पुनर्विभाजन आवश्यक है। किन्तु हमे यह न भूलना चाहिए कि विभाजन के बाद भी तो देश की राजनैतिक और सास्कृतिक एकता अक्षुण्ण रखनी है। इसके लिए भिन्न भाषा-भाषी प्रान्तो मे अन्तर-प्रातीय व्यवहार और उच्च बौद्धिक स्तरो मे ज्ञान का परस्पर आदान-प्रदान की सुविधा उत्पन्न करनी होगी।

पाकिस्तान-निर्माण के फलस्वरूप देश की अखण्डता को चाहे आघात पहुँचा हो और भारतीयो को घोर विपत्तियाँ झेलनी पडी हो किन्तु यह तो अब विवादातीत है कि राष्ट्र-भाषा और राष्ट्र-लिपि के रूप मे दो भाषाओ और लिपियो के वैकल्पिक प्रयोग का पचडा अब सदा के लिए मिट गया है। अब सास्कृतिक हिन्दी को राष्ट्रभाषा, और देवनागरी लिपि को राष्ट्रलिपि

मानना सर्वथा उचित हो गया है। किन्तु इसके साथ एक नई समस्या उत्पन्न हो गई है। हिन्दी को राष्ट्रभाषा का मान तो दिया जाता है, किन्तु उसे राष्ट्रभाषा के समस्त अधिकार नही मिलते है। राष्ट्रभाषा और प्रातभाषा के अलग-अलग क्षेत्र है, यह भूलकर राष्ट्रभाषा के अधिकारो पर प्रान्तीय भाषाये आक्रमण कर रही है। अहिन्दी-भाषी प्रान्त भाषा के क्षेत्र मे सम्पूर्ण स्वाधीनता की घोषणा कर 'कूपमण्डूक-वृत्ति' का प्रदर्शन करने लगे है। आज दक्षिण भारत के तमिल प्रान्त मे एक आन्दोलन चल पडा है और उसके लिए 'सत्याग्रह' किया जा रहा है कि वैकल्पिक रूप मे भी राष्ट्रभाषा हिन्दी को हाईस्कूलो मे स्थान न दिया जाय। उधर बगाल मे प्राथमिक से लेकर विश्वविद्यालय की उच्चशिक्षा तक बगाली ही को माध्यम करने का प्रयत्न हो रहा है। एक ओर हमारी विधान सभा राष्ट्रभाषा के प्रश्न पर हिन्दी के अनुकूल निर्णय देने मे अकारण देरी कर रही है, दूसरी ओर हिन्दुस्तानी के पक्षपाती राष्ट्रलिपि के रूप मे फारसी लिपि की स्वीकृति को असम्भव मानकर, देवनागरी लिपि के अनुकूल बढते हुए जनमत के भय के ईर्ष्यावश रोमन लिपि को ही राष्ट्रलिपि बनाने का उद्योग कर रहे है। उनके साथ कुछ अहिन्दी-भाषी प्रात भी वहाँ की भाषा और लिपि समस्त देश की राष्ट्रीय आवश्यकताओ की पूर्ति करने मे असमर्थ होने के कारण अखिल भारतीय प्रसार के योग्य नही है —अवैज्ञानिक और अभारतीय रोमन लिपि का समर्थन करते है। देवनागरी सदृश पूर्ण वैज्ञानिक और भारतीय लिपि के रहते रोमन लिपि की ओर पक्षपात क्या उस मनोवृत्ति का द्योतक नही है, जिसमे राष्ट्र के समष्टि-कल्याण-कामना की अपेक्षा "अपनी नही तो दूसरो की भी नही" की उक्ति के अनुसार अपनी अक्षमता का बदला लेने की भावना अधिक है।

आज हमारे प्रान्ताभिमानी अहिदी-भाषी देशवासी अपनी प्रातीय भाषा के प्रति उचित से अधिक अभिनिवेशात्मक आग्रह के कारण अग्रेजी और राष्ट्रभाषा को समान समझते है और अग्रेजी के विरोध को राष्ट्र भाषा पर भी लागू कर रहे है। उनकी दृष्टि मे प्रात भाषा के अतिरिक्त अन्य सभी भाषाए—भारतीय या विदेशी—समान है। उनका तर्क है कि प्रातभाषा मे ही सारा शिक्षण—प्राथमिक से लेकर विश्वविद्यालयो की अत्युच्च श्रेणी तक—दिया जाना चाहिए और यदि दूसरी भाषा पढनी ही है तो विश्वप्रचलित (?) अग्रेजी ही क्यो न पढी जाय। कहने की आवश्यकता नही कि यह तर्क नि सार और देशद्रोह का परिचायक है। भारत की किसी भी प्रातीय भाषा से राष्ट्रभाषा हिन्दी का सम्बन्ध अग्रेजी की अपेक्षा अति निकट का है। वास्तव मे राष्ट्रभाषा हिन्दी की अग्रेजी से तुलना की कल्पना ही हास्यास्पद है। देश के दुर्भाग्य से हमारी केन्द्रीय सरकार का शिक्षा-विभाग भी इस सबध मे निर्दोष नही है। अभी हाल ही मे एक सरकारी विज्ञप्ति निकली है कि "विश्वविद्यालयो की उच्च शिक्षा प्रातीय भाषा या राष्ट्रभाषा मे दी जानी चाहिए। राष्ट्रभाषा का-एक गौण विषय के रूप मे अध्ययन, बी० ए० परीक्षा तक आवश्यक रहेगा, किन्तु उसमे प्रावीण्य या अप्रावीण्य का डिग्री परीक्षा के फल पर प्रभाव नही पडना चाहिए। हमारे मत से उपर्युक्त सरकारी नीति प्रातीयतावाद की सकुचित विचारधारा से अत्यधिक प्रभावित हुई है। मिशनरी शिक्षण सस्थाओ मे आजकल के बायबिल-क्लास के समान राष्ट्र भाषा के अध्ययन की अनिवार्य किन्तु अपरिणामकारिणी व्यवस्था

का सुझाव कितना उपहासास्पद है? पता नही राष्ट्रभाषा के अध्ययन की इस हास्यास्पद व्यवस्था से किस प्रकार हमारे शिक्षाधिकारी भारत मे सुसगठित दृढ केन्द्रयुक्त राष्ट्र के निर्माण का कार्य कर सकेगे? प्रातीय भाषा या राष्ट्रभाषा के माध्यम का विकल्प देकर केन्द्रीय सरकार पार्थक्यवादी प्राताभिनिवेशियो को अनुचित प्रोत्साहन दे रही है। इसका पर्यवसान देश के भाषानुसार विकेन्द्रीकरण मे होगा। क्योकि प्रातीय भाषा के प्रति अविवेकपूर्ण अभिनिवेश के कारण उच्च शिक्षा के छात्र राष्ट्र-भाषा माध्यम से उदासीन रहेगे। विश्व विद्यालय और उच्चन्यायालय (हाईकोर्ट)—ये देश की सास्कृतिक और राजनैतिक एकता के मूलस्तम्भ है। यदि इनमे राष्ट्रभाषा का माध्यम न रक्खा गया तो देश की अखण्डता और एकात्मता की कल्पना आकाश-कुसुम की कल्पना होगी। अन्य राष्ट्रो के समान भारत मे भी अन्तरप्रातीय विचार-विनिमय एव भिन्न प्रातीय विद्वानो का परस्पर परिचय अत्यावश्यक है। अग्रेजी के द्वारा यह कार्य अवाछनीय और कृत्रिम रूप मे ही सही, आजतक भलीभाति होता आया है। अग्रेजी के स्थान मे तुरन्त प्रातीय भाषाओ का उच्चशिक्षा के क्षेत्र मे प्रवेश उस दुरवस्था और विश्रृखलता को जन्म दे सकता है जो नूतन राष्ट्रनिर्माण मे घातक सिद्ध होगी। आकस्मिक परिवर्तन वाछनीय नही होता है। अभी तो यही उचित होगा कि निकट भविष्य मे ७ वर्ष तक—अग्रेजी के साथ-साथ राष्ट्रभाषा को भी माध्यम रक्खा जाय और उसके बाद राष्ट्रभाषा उच्चशिक्षा की एकमात्र माध्यम बने।

दक्षिण भारत मे कुछ अधिक समय तक राष्ट्र भाषा के साथ अग्रेजी को माध्यम रक्खा जा सकता है। किन्तु उच्च शिक्षा मे अन्तिम ध्येय राष्ट्रभाषा माध्यम का ही होना चाहिए। जर्मनी, रूस आदि सघात्मक देशो मे उच्च शिक्षा का माध्यम एक ही भाषा है। प्रातीय भाषाओ का माध्यम रूप मे क्षेत्र, विश्वविद्यालय नही हैं। विश्वविद्यालयो मे माध्यम की विभिन्नता पार्थक्यवाद की अराष्ट्रीय वृत्ति को जन्म देगी।

राष्ट्रभाषा की सर्वमान्यता के लिए आवश्यक है कि उसका स्वरूप प्रातभाषाओ से अधिकाधिक मिलता जुलता हो। इस सम्बन्ध मे प्रान्त भाषाओ की मूल भाषा (सस्कृत भाषा) का जितना अधिक आश्रय लिया जायगा उतना ही प्रातीय भाषाये एक दूसरे के निकट आयेगी। प्रातीय भाषाओ को परस्पर निकट लानेवाली सस्कृत-निष्ठ, हिन्दी आगे चलकर विकासक्रम से सम्पूर्ण देश की एक प्रतिनिधिक भाषा का स्थान ग्रहण कर सकेगी। प्रातीय भाषाओ को परस्पर निकट लाने के लिये देवनागरी लिपि का प्रयोग भी वाछनीय होगा। वर्तमान काल मे दक्षिण भारत की भाषा-सम्बन्धी क्षुब्ध स्थिति को ध्यान मे रखकर कुछ समय के लिये वहा की प्रातीय भाषाओ (तेलगू, तमिल, कर्नाटक और केरल) का प्रश्न छोड भी दिया जाय तो अनुचित नही। किन्तु उत्तर और मध्यभारत मे प्रातीय भाषाये देवनागरी लिपि का प्रयोग तुरन्त और आसानी से कर सकती हैं। बगाली, उडिया, आसामी और गुजराती लिपि का देवनागरी लिपि से भेद नगण्य है। किन्तु इस लिपि-भेद के कारण आज बगाली आदि का समृद्ध साहित्य अन्य प्रातवासियो के लिये अगम्य है। यदि देवनागरी लिपि का प्रयोग सभी प्रातीय भाषाये करने लगे तो कवीन्द्र रवीन्द्र और उपन्यास-सम्राट शरच्चन्द्र की अनुपम कृतियां, मूलरूप मे भी समस्त देश की निधि

बन जायेगी। गुजराती लिपि से तो देवनागरी लिपि का भेद और भी कम है। केवल शिरोरेखा और दो चार अक्षरो का ही प्रश्न है। अत. देवनागरी लिपि को समस्त भारत की लिपि बनाने की ओर भी केन्द्रीय सरकार से प्रेरणा मिलनी चाहिए। आज भी विभिन्न प्रान्तो के निवासी सस्कृत-भाषा के ग्रन्थो को देवनागरी लिपि मे ही पढते है। सस्कृतनिष्ट हिन्दी के समान देवनागरी लिपि मे भी समस्त भारत को एक सूत्र मे बाँधने की क्षमता है। यह एक अकाट्य ऐतिहासिक सत्य है।

देवनागरी लिपि के समान सम्पूर्ण देश मे एक समान पारिभाषिक शब्दावली का प्रचार भी विभिन्न प्रातो को एक सूत्र मे बाँध सकता है। इस सम्बन्ध मे भी केन्द्रीय सरकार की नीति अभी निश्चित नही हुई है। यहाँ प्रचलित शब्दो के बहिष्कार का प्रश्न नही है। लोक प्रचलित विदेशी शब्दो का सामान्य जनभाषा मे बहिष्कार न तो सभव है, न वाछनीय ही है। किन्तु भारतीय वाङमय की बुधभाषा मे—जो जनभाषा से ऊचे स्तर की होगी—ऐसे अनेक शब्दो का निर्माण करना पडेगा, जिनके अर्थ की अभिव्यक्ति के लिये हमारे विज्ञान-शास्त्री आज यूरोप-प्रचलित लैटिन शब्दावली का प्रयोग करते है। मनुष्य स्वभावत रूढिप्रिय होता है। अत यदि आज की पीढी के भारतीय वैज्ञानिक, पारिभाषिक शब्दो के भारतीयकरण के विरुद्ध है तो कोई आश्चर्य नही। किन्तु हमे तो समस्त देश की समष्टि उन्नति के विशाल दृष्टिकोण से विचार करना है। हमारी नव-निर्मित भारतीय पारिभाषिक शब्दावली वर्तमान पीढी के विद्वानो के लिये नही है। वह तो आगामी सन्तति के लिये है, जिसका शिक्षण प्रान्तभाषा और राष्ट्रभाषा के माध्यम से होगा। अग्रेजी माध्यम से ज्ञान लाभ करने वाले छात्रो के लिये सस्कृतनिष्ठ पारिभाषिक शब्द भले ही दुरूह हो, किन्तु प्रान्तीय भाषाओ के माध्यम के छात्र उन शब्दो को आसानी से समझ सकेंगे। यहा हम विज्ञान के उच्च क्षेत्र मे सशोधन करने वाले वैज्ञानिको की पारिभाषिक शब्दावली की चर्चा नही कर रहे है। क्योकि उनके लिये, आज की तरह भविष्य मे भी , जर्मन, रूसी, फ्रेंच भाषा का ज्ञान अपेक्षित रहेगा। यहा तो प्रश्न विज्ञानविद्यालयो के छात्रो का है, जिनका ध्येय उच्चसशोधन नही, कार्य के लिए अपेक्षित ज्ञान का अर्जन है। विज्ञान और शास्त्रो के अध्ययन के उच्चतम स्तर मे तो अधिक से अधिक विदेशी भाषाओ से परिचय होना चाहिए।

दुर्भाग्यवश आज हमारे शिक्षा विशारदो मे अधिकांश सस्कृत भाषा से परिचित नही है। अत वे सस्कृत भाषा की-विभिन्न उपसर्गों और प्रत्ययो की सहायता से धातुनिर्मित सैकडो शब्दो के निर्माण की क्षमता को नही समझ सकते है। सस्कृतनिष्ठ राष्ट्रभाषा और प्रातभाषा के माध्यम से पढे हुये छात्रो के लिए सस्कृत भाषा कामधेनु है। सभी अभीप्सित अर्थों के लिए शब्दो को वे सस्कृत भाषा से पा सकेंगे। पारिभाषिक शब्दावली के निर्माण के लिए केन्द्रीय सरकार की ओर से योजना बननी चाहिए, ताकि उसका सब प्रातो मे समानरूप से प्रयोग किया जा सके। व्यापक दृष्टिकोण, दूरदर्शिता और देश की एकता मे दृढ़ विश्वास की इस समय परम आवश्यकता है। तभी हम भावी पीढी के लिए उपयुक्त राष्ट्रीय शिक्षा की योजना को सफल कर सकेंगे। राष्ट्र के अभ्युत्थान मे शिक्षा का महत्व सर्वविदित है। अत शिक्षा-योजना

की स्थूल किन्तु सैद्धान्तिक रूपरेखा केन्द्रीय सरकार की ओर से निश्चित की जानी चाहिए। हम चाहते है कि केन्द्रीय सरकार का शिक्षा विभाग शीघ्र इस ओर ध्यान दे और राष्ट्रलिपि, राष्ट्रभाषा का स्वरूप और क्षेत्र, प्रातीय भाषाओ का क्षेत्र, विभिन्न स्तरो में शिक्षा का माध्यम, पारिभाषिक शब्दावली—आदि विषयो पर अपनी निश्चित नीति की घोषणा करे। प्रातीय सरकारो और विश्वविद्यालयो को यह आदेश दिया जाना चाहिए कि अन्तरिम काल मे मूल-गामी परिवर्तन न किये जाय। केन्द्रीय सरकार की नीति की प्रतीक्षा की जाय। केन्द्रीय सरकार की घोषणा मे स्थूलमान से निम्नलिखित नीति मान्य की जानी चाहिये।

प्राथमिक शिक्षा

देश मे प्राथमिक शिक्षा (६ से ९ वर्ष तक चार वर्षों मे, प्रान्तभाषा या मातृभाषा द्वारा दी जावे। 'प्रातभाषा' शब्द के बाद मातृभाषा शब्द का प्रयोग जान बूझकर किया गया है, उसका कारण निम्नलिखित है। देश मे ऐसे अनेक बडे स्थान हैं (और राष्ट्रोन्नति के साथ तथा शरणार्थियो के पुनर्वासन के कारण उनकी सख्या अधिक बढेगी), जहाँ केन्द्रस्थान होने के कारण प्रातभाषा से भिन्न भाषा के भाषी परिवार भी अच्छी सख्या मे निवास करते है। मनोविज्ञान के सिद्धात के विरुद्ध उन परिवारो के कोमलमति बालको को प्रातीय जीवन मे भाग लेने के लिए आगे चलकर प्रातभाषा तो पढनी ही पडेगी, क्योकि प्रातभाषा जाने बिना वे प्रात के हिताहित से समरस न हो सकेंगे, किन्तु ९ वर्ष से पूर्व की उम्र मे यदि वे 'मातृभाषा' पढेगे तो उनका वशानुक्रमगत वैशिष्ट्य बना रहेगा, और उनके कोमल मस्तिष्क का उचित विकास होगा। किन्तु इसके साथ दो बाते समझ लेनी चाहिये। प्रथम यह है कि आगे की कक्षाओ मे प्रान्त भाषा का अनिवार्य माध्यम होने के कारण प्राथमिक शिक्षा मे मातृभाषा (प्रान्तभाषा से भिन्न) का माध्यम वही परिवार स्वीकार करना चाहेगे, जो उन बालको को आगे की पढाई के लिये अपने मूलप्रात मे भेज सकते है। दूसरी बात यह है कि उस स्थान की जनसख्या में २० प्रतिशत या अधिक सख्यावाले भिन्न भाषाभाषियो के लिये ही 'मातृभाषा' माध्यम की सुविधा रहेगी एव स्थानीय सरकार की आर्थिक सहायता परिमित ही रहेगी। आर्थिक दृष्टि से स्वय पूर्णता होने पर ही प्रातभाषा से भिन्न मातृभाषा के माध्यम को स्वीकृति मिलेगी। वास्तव मे यह एक रियायत या कंसेशन माना जाना चाहिए। प्रांतभाषा का माध्यम नियम रूप से रहेगा और विशेष अपवाद के रूप मे ही भिन्न मातृभाषा-माध्यम की सुविधा दी जायगी।

माध्यमिक शिक्षा

प्राथमिक शिक्षा के बाद की माध्यमिक शिक्षा मे (जिसमे वर्तमान मिडिल और हाईस्कूलो की शिक्षा सम्मिलित है और जो १० से लेकर १६ वर्ष तक ७ वर्षों मे आज कल इंटरमीडिएट तक की योग्यता सपादित करेगी) प्रातभाषा का माध्यम अनिवार्य रहेगा और अन्तिम ३ या ४ वर्षो मे राष्ट्रभाषा सिखाई जायेगी। प्रात के निवासियो मे समरसता लाने के लिए और उन प्रात के हिताहित मे स्वीय की भावना उत्पन्न करने के लिये यह आवश्यक है कि प्रांत

के सभी निवासी प्रातभाषा पढे और उसमे नैपुण्य सपादन करे। विदेशी शासनकाल की यह कृत्रिमता अब समूल नष्ट कर देनी होगी, जिसके अनुसार महाराष्ट्र प्रात मे यावज्जीवन रहकर भी बगाली या पजाबी भाई प्रातभाषा मराठी से अपरिचित रहते थे। आजकल की अग्रेजी की तरह, राष्ट्रभाषा हिंदी के ज्ञान से ही उन्हे अब सन्तोष न मानना चाहिये। राष्ट्र-भाषा के ज्ञान से उन्हे समस्त राष्ट्र से आत्मीयता किन्तु विशिष्ट प्रात से हित-सम्बन्ध और आत्मीयता उत्पन्न करने के लिए उन्हे प्रातभाषा भी अवश्य पढना चाहिये। जिन प्रातो मे राष्ट्र-भाषा ही प्रातभाषा है (जैसे युक्तप्रात, मध्यप्रात, बिहार आदि) वहा के बालको को माध्यमिक शिक्षा मे एक अन्य प्रात-भाषा (राष्ट्र-भाषा के स्थान मे) पढनी चाहिये। यूरोप मे लोग प्राय दो या तीन देश-भाषाये अवश्य जानते है। वही परम्परा हमे अपने देश मे जारी करनी है। एक लिपि और मूलभाषा सस्कृत होने के कारण प्रत्येक शिक्षित भारतवासी को दो तीन प्रात भाषाये जानना कठिन न होना चाहिये।

उच्च शिक्षा

विश्वविद्यालयो की उच्चशिक्षा साधारणतया १९वे वर्ष मे प्रारभ होगी। हाई स्कूलो मे मातृभाषा माध्यम होने के कारण, इटरमीडिएट तक की योग्यता स्कूलो मे ही हो जायगी, एव विदेशी भाषा माध्यम से जो आजकल शक्ति और समय का अपव्यय होता है वह नही होगा। अत विश्वविद्यालयो मे २ या ३ वर्ष के अध्ययन से ही बी० ए० डिग्री मिल सकेगी तथा सम्पूर्ण शिक्षा क्रम मे कम से कम एक वर्ष का बहुमूल्य समय बच जायेगा। किन्तु उच्च शिक्षा के माध्यम के विषय मे तीव्र मतभेद है। एक ओर प्रात भाषाभिमानी अहिन्दी-भाषी जन सकुचित प्रान्तीयतावाद और सम्पूर्ण स्वतत्रता की भावना से प्रेरित होकर उच्च शिक्षा मे भी प्रान्त भाषाओ को ही माध्यम बनाना चाहते है तथा राष्ट्र की राजनैतिक और सास्कृतिक एकता पर कुठाराघात करने पर तुले है। दूसरी ओर इस नवीन अनिष्ट मनोवृत्ति से डर कर कुछ विद्वान् अग्रेजी माध्यम को उच्च शिक्षा मे भी जारी रखना चाहते है। किन्तु इस व्यवस्था से देश की सस्कृति का बन्धन अधिक दृढ हो जायगा। इस मतभेद की स्थिति मे वह आवश्यक है कि एक ऐसे मध्यम मार्ग का अवलम्बन किया जाय, जिससे राष्ट्र की एकता भी बनी रहे साथ ही प्रात भाषाये भी अपने-अपने क्षेत्र मे विकास पाये। हमारी राय मे यह मध्यम मार्ग निम्नलिखित होगा। 'देश के प्रत्येक प्रात मे उच्चशिक्षा का माध्यम राष्ट्रभाषा रहे और साथ ही प्रात भाषा के साहित्य का अध्ययन अनिवार्य रक्खा जाय। जिन प्रान्तो मे राष्ट्रभाषा और प्रात-भाषा एक है, वहा एक अन्य प्रात भाषा का साहित्य पढाया जाय।" प्रात भाषाओ की साहित्यिक श्री वृद्धि के लिये तथा प्रात भाषाओ के साहित्य का अधिकाधिक प्रसार के लिए यह सर्वथा वाछनीय होगा कि उच्चशिक्षा के सभी छात्र प्रात भाषा के साहित्य की गतिविधि से परिचित हो। इससे भाषाभिमानियो को असन्तोष का अवकाश न रहेगा। साथ ही, शिक्षा माध्यम एक होने के कारण राष्ट्र की सास्कृतिक और बौद्धिक एकता भी अक्षुण्ण बनी रहेगी। प्रात भाषाभिमानियो का यह भय निर्मूल है कि राष्ट्रभाषा का उच्चशिक्षा के माध्यम रूप मे प्रयोग प्रात भाषा के विकास

[शेषाश पृष्ठ २८२ पर

६६. संस्कृत–एक विश्व-भाषा

विश्व सस्कृत परिषद् (प्रयाग) के अधिवेशन मे यह उचित होगा कि विदेशो मे सस्कृत-प्रभाव की चर्चा की जाय। विश्व सस्कृत परिषद् के नाम मे ही यह सूचित है कि सस्कृत एक देश की नही बल्कि विश्व की भाषा रही है, तथा समस्त विश्व के चिन्तको ने जीवन तथा ज्ञान की समस्याओ के समाधानो मे इस वाङमय से समय-समय पर समुचित लाभ उठाया है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण तो यही है कि इस भाषा का नाम किसी विशिष्ट देश या क्षेत्र (जर्मन, हिन्दी, बगाली की भाँति) के नाम पर आधारित नही है। बल्कि सस्कृत शब्द से यह स्पष्ट झलकता है कि यह सभी सस्कृतो की अर्थात् सस्कार-सम्पन्नो की भाषा है, जिसे किसी देश या क्षेत्र की परिधि मे नही बाँधा जा सकता है। साथ ही सस्कृति और सस्कृत शब्द परस्पर सम्बद्ध होने के कारण विश्व की सस्कृति की प्रतिमा सस्कृत-वाङमय मे प्रतिविम्बित दिखाई देनी चाहिए।

विश्व के विभिन्न वाङमयो के अनुशीलन से यह मत सर्वसम्मति से स्वीकार्य माना जाता है कि वेद, न केवल भारतवर्ष अपितु विश्व के वाङमय मे सर्वप्रथम ग्रन्थ है। क्षण भर के लिए भारतीय विचार-धारा की अनवरत सातत्य के कारण हम वेद-सम्बन्धी अनादि तथा अपौरुषेय-विषयक मत पर जोर नही भी दे, तो भी यह निर्विवाद तथा सर्वमान्य तथ्य है कि १,५०० सौ वर्ष ईसा पूर्व से आज तक—अर्थात् कम से कम गत ३,५०० सौ वर्षो मे ज्ञान प्रसार—माध्यम की एक अविच्छिन्न परम्परा की कडी के रूप मे सस्कृत वाङमय ने विश्व के मनीषियो और चिन्तको को अपनी चतुर्मुखी गरिमा से प्रभावित किया है। तभी तो २,००० वर्ष पूर्व भारतवर्ष की धर्म एव नीति-व्यवस्था के प्रतिष्ठापक मनु ने घोषित किया था कि पृथ्वीतल के समस्त मानव, भारत के सास्कृतिक दूतो से अपने आचार-विचार की शिक्षा ग्रहण करे। अत आश्चर्य नही, आज की दुनिया के पश्चिमार्द्ध तथा पूर्वार्द्ध—दोनो मे सस्कृत का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है।

इसी तथ्य के कुछ उदाहरण यहाँ उपस्थित किए जा रहे है। अमेरिका—विशेषत मेक्सिको मे भारतीय सस्कृत के नाम, भाषा, रीति-रस्म, स्थापत्यादि के चिह्न शोध-विद्वानो ने ढूढ निकाले है। आज भी मध्य एशिया मे सस्कृत-ग्रन्थो की अमूल्य पाण्डुलिपियाँ गुहाओ मे सुरक्षित पाई गई है। यूरोप के सभी देशो की भाषाएँ उस परिवार की मानी जाती है, जिसमे सस्कृत एक सर्व प्राचीन तथा अमर घटक रही है। यही कारण है कि इन देशो की भाषागत अनेक समानताएँ एव विशेषताएँ सस्कृत भाषा के सम्पर्क के आधार पर व्याख्यात होती है।

प्राचीन ईरान की अवेस्ता-भाषा तो वैदिक सस्कृत की कुछ ध्वनि-परिवर्तनो के साथ रूपान्तर-मात्र प्रतीत होती है। ससार का प्राचीन कथा-साहित्य, पञ्चतन्त्र तथा जातक कथाओ का ऋणी है। ज्योतिष, आयुर्वेद तथा गणित शास्त्र का भारत मे ही प्रथम उद्गम हुआ तथा अरबो के द्वारा पश्चिम मे फैला। बाद मे आदान-प्रदान की प्रक्रिया के अनुसार प्रभावित होकर भारतवर्ष मे पुन पल्लवित हुआ। सख्याओ मे शून्य के आगे-पीछे सन्निवेश से दशगुनी चढाव-उतार की पद्धति का आविष्कार, भारतीय मस्तिष्क की ही देन है।

आधुनिक काल मे भाषाशास्त्र तथा पुराणविद्या का जो अभूतपूर्व उद्भव और विकास हुआ है, उसमे पाश्चात्यो द्वारा सस्कृत विद्या का अध्ययन मौलिक रूप मे प्रेरक रहा है। पूर्व की ओर तिब्बत, चीन, जापान, इडोनेशिया आदि देशो मे भारतीय ग्रन्थरत्नो का प्रचुर अनुवाद-वाङमय उपलब्ध है। १४०० वर्ष पूर्व अध्ययन के लिए चीनी तथा तिब्बती विद्वानो का आना-जाना सर्वविदित ही है। जावा, सुमात्रा, कम्बोडिया आदि देशो मे रामायण, महाभारत एवं पुराणो का प्रवचन एव धर्म-कर्म तथा भारतीय स्थापत्य और मूर्तिशिल्प आदि का आज भी साक्षात्कार किया जा सकता है। साराश यह कि विश्व के कोने-कोने मे सस्कृत-भाषा और सस्कृति से सम्पर्क के अकाट्य प्रमाण मिलते है। अत विश्व सस्कृत परिषद् का यह परमावश्यक कर्त्तव्य हो जाता है कि सस्कृत की इस गौरवपूर्ण परम्परा की रक्षा के लिए तथा सस्कृत के अध्ययन, शोध तथा प्रचार-प्रसार के द्वारा समस्त विश्व मे पुन: आज सस्कृत को एक अन्तर्राष्ट्रीय भाषा के रूप मे सार्वभौम माध्यम बनाने के लिए हम सब यथाशक्य प्रयत्न करे। सस्कृत का सन्देश सभी वर्ग की नर-नारियो के लिए है, जैसा कि यजुर्वेद मे भगवती श्रुति स्वय कहती है कि "मैंने विश्व की कल्याण-कारिणी इस दवी वाणी को सर्वजन के लिए—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, आर्य-अनार्य, नगरवासी-अरण्यवासी, अपने-पराये सबके लिए निर्माण की है। तभी तो हमारे पूर्वज 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' का नारा लगाते हुए समस्त विश्व की कल्याण-कामना करते थे—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्॥

इन शब्दो के साथ मैं आज के अधिवेशन का उद्घाटन करता हूँ।

[विश्वसंस्कृत परिषद्, माघमेला
प्रयाग में उद्घाटन भाषण, १९७१]

६७. विधि शास्त्रवेत्ता पतंजलि शास्त्री

देश मे सस्कृत के विद्वानो को भारत के सर्वोच्च न्यायालय के भूतपूर्व प्रधान न्यायाधीश तथा केन्द्रीय सस्कृत मडल के अध्यक्ष श्री पतजलि शास्त्री के आकस्मिक निधन से घोर दु ख होगा। वे मृत्यु के एक दिन पूर्व हिन्दू विश्वविद्यालय की कार्यकारिणी समिति की बैठक मे भाग लेकर वाराणसी से दिल्ली लौटे थे। एव मद्रास जाने वाले थे। अत उनकी मृत्यु सब कार्य मे रत एक महान् कर्मठ की स्पृहणीय मृत्यु थी।

सन् १९६० ई० मे भारत सरकार के केन्द्रीय सस्कृत मडल के पदेन सचिव के रूप मे मुझे उनकी अध्यक्षता मे कार्य करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। वे केन्द्रीय सस्कृत मडल के प्रथम अध्यक्ष थे। सस्कृत के अध्ययन की प्राचीन परिपाटी के प्रति अगाध श्रद्धा एव सस्कृत के पण्डितो की शैक्षणिक एव सामाजिक प्रतिष्ठा को उन्नत करने की तीव्र इच्छा इन दो बातो के कारण वे वर्तमान काल मे सस्कृत विद्या के प्रधान उन्नायक थे। उन्ही की प्रेरणा से नवप्रचलित माध्यमिक शिक्षा की त्रिभाषा-योजना के अन्तर्गत वर्तमान भारतीय क्षेत्रीय भाषा के आवश्यक अग के रूप मे सस्कृत भाषा को स्थान दिया गया था। इसी प्रकार प्राचीन परिपाटी से पढे सस्कृत के उच्च स्तरीय छात्रो को शासकीय छात्रवृत्ति की योजना लागू करने मे उनका बहुमूल्य मार्ग-दर्शन था। केन्द्रीय सस्कृत मडल की अन्य विविध योजनाओ मे भी उनका हाथ था—जैसे संस्कृत पत्र-पत्रिकाओ को आर्थिक सहायता, मुद्रित किन्तु दुर्लभ महत्वपूर्ण सस्कृत ग्रन्थो के पुन प्रकाशन की व्यवस्था, सस्कृत के सरलीकरण को प्रोत्साहन देने के लिये लेखको को पारितोषिक प्रदान आदि। सस्कृत के सवर्धन एव प्रसारण के लिये वे सदैव दत्तचित्त रहते थे। केन्द्रीय सस्कृत मडल को विश्वविद्यालय अनुदान के स्तर पर लाने के लिये वे सतत प्रयत्नशील रहते थे और इसके लिए शिक्षा मत्राल को प्रेरि करते थे।

वे देश के विख्यात विधि-शास्त्री थे। वे पहले सघीय न्यायालय के न्यायाधीश नियुक्त किये गये और बाद मे प्रधान न्यायाधीश का सम्मानित पद उन्हे प्राप्त हुआ। अपनी पैनी तर्कशीलता एव निष्पक्ष विचार के लिए वे प्रसिद्ध थे। नित्य सन्ध्या तर्पण करना तथा प्रतिवर्ष पितृ-श्राद्ध करना उनका अनुलघनीय नियम था। अभी कुछ ही मास पूर्व उन्होने प्रयाग मे त्रिवेणी सगम पर सभी धार्मिक कृत्यो को सविधि सम्पन्न किया था। प्राचीन भारतीय पद्धति के सभी उत्तम आदर्शों के—सरल वेशभूषा, वार्तालाप मे प्रदर्शन का अभाव, व्यवहार मे नम्रता आदि के-वे अनुकरणीय प्रतिनिधि थे।

[१९६२ में प्रकाशित]

६८. एक नैष्ठिक संस्कृत पंडित का देहावसान

प्रयाग की धर्मप्राण विद्वन्मण्डली को प० भागवतप्रसाद पाडे (नरसिह मन्दिर, बलुआ-घाट) की अनपेक्षित मृत्यु का समाचार सुनकर परम दुख हुआ होगा। स्व० पाडे जी ने मृत्यु के केवल एक दिन पूर्व तक गगा-स्नान का कठिन दैनिक व्रत-पालन किया तथा दो दिन पूर्व मगलवार की शाम को हनुमान जी को चढाने के लिए यथानियम स्वय बाजार मे पेडा खरीदने गये थे। अत' ११ दिसम्बर १९६९ गुरुवार को अपराह्न से उनकी मृत्यु सर्वथा अनपेक्षित थी।

सन् १९१६ मे जिला गोरखपुर से धर्मज्ञानोपदेश सस्कृत महाविद्यालय मे अध्ययन के लिए वे प्रयाग आये थे। बाद मे उसी महाविद्यालय मे कई वर्षों तक शिक्षक तथा कार्यभारी सहायक का अतिरिक्त कार्य भी किया था। वे स्वभाव से सत्यवादी तथा परोपकारी थे। अत. अपनी इस प्रवृत्ति को कायम रखने का आग्रह करते हुए वे महाविद्यालय से स्वय ~~सेवा~~ मुक्त हुए तथा प्रयाग मे ही निवास एव नौकरी न करने का दृढ निश्चय किया एव उन दिनो की विषम आर्थिक विपत्तियो को सहर्ष सहन किया। प्रतिदिन ग्रामीण क्षेत्रो से दूध खरीदकर शहर के हलवाइयो को निर्जल दूध बेचकर वे अपना परिवार चलाते थे और तब तक स्वेद और परिश्रम की प्रतिष्ठा को महत्व दिया, जब तक इस पञ्च-भौतिक तत्व-निर्मित शरीर ने साथ दिया। लगभग ४३-४४ वर्ष पूर्व वे अकेले एक निर्धन छात्र के रूप मे आये, किन्तु आज उनके कुटुम्बी—(भाई-भतीजे-पौत्रादि) उनके ही आश्रय मे पढकर प्रान्त के विभिन्न कार्य-क्षेत्रो—(विश्वविद्यालय-प्रस्तोता, इञ्जीनियर, इन्कमटैक्स-इन्स्पेक्टर, पोस्ट-विभाग तथा रेलवे-विभागादि के कर्मचारी के रूप मे) सफल सेवा-कार्य किया है और कर रहे हैं। इस वश-प्ररोह को प्रयागस्थ पडित-मण्डली ने अङ्कुरित, पुष्पित और फलित होते देखा है। आचार-शील, धर्म-प रायण, परिवार की शैक्षणिक उन्नति के निर्माता तथा वश के भीष्मपितामह की पकी' अवस्था मे मृत्यु शोचनीय नही है। जीवन मे उन्हे पारिवारिक तथा शारीरिक व्याधि सम्बन्धी कष्ट झेलने पडे, किन्तु अपनी आदर्शवादिता और कष्टसहिष्णुता के कारण वे तप्तकाञ्चन की भाँति दीप्तिमान रहे। सुख-दुख मे सदैव एक समान, शारीरिक क्रिया-कलाप से जीविकार्जन करने वाले, सदाचारनिष्ठ, "मनस्येकम् वचस्येकम्" का आजीवन पूर्ण निर्वाह करने वाले सस्कृत-पडित—भागवत प्रसाद पाडे का कर्मठ जीवन प्रयागवासियो को चिरस्मरणीय रहेगा।

[१८ दिसम्बर १९६९ को लिखित]

६९. परिभाषेन्दुशेखर का मराठी अनुवाद

उपर्युक्त पुस्तक के प्रकाशन से व्याकरणाध्ययन के सम्बन्ध मे एक बहुत बडे अभाव की पूर्ति हुई है। एक तो पाणिनीय व्याकरण वैसे ही कठिन शास्त्र है, उस पर नागोजी भट्ट सदृश उद्‌भट विद्वान् के रचे ग्रन्थ, आज कल के समय मे अति दुर्बोध होते जा रहे है। उन पर लिखी गयी टीकाओ—जैसे परिभाषन्दुशेखर पर भृति, विजया आदि—के विषय मे तो कहना ही क्या? उनका एकमात्र उद्देश्य नव्य न्याय की अवच्छेदकावच्छिन्नमयी छात्र-विमुखकारिणी शैली मे विषय को समझाना तो दूर रहा, उसको दुर-वगाह बनाना ही प्रतीत होता है। भाषा के आडम्बर मे अन्तर्हित होने से उन टीकाकारो के विद्वत्ता-प्रदर्शक नवीनतापूर्ण व्याख्यान का समझना तो दूर रहा, मूल ग्रन्थ का भी आशय तिरोहित हो जाता है। फल यह होता है कि दिन दिन हमारे देश से व्याकरण शास्त्र की परम्परा लुप्त हुई जा रही है। सस्कृत परीक्षाओ मे बैठने वाले विद्यार्थी किसी तरह से पक्तिया रट कर एक तिहाई अक पा जाते है और अपने को कृतार्थ समझते है। यह बात नही है कि आज देश मे व्याकरण शास्त्र के उच्चकोटि के विद्वान् नही हे। सच पूछा जाय तो अभी भी काशी मे ऐसे धुरन्धर विद्वान् विद्यमान है जो पाणिनीय व्याकरण की अव्यवच्छिन्न परम्परागत सम्प्रदाय के उल्लेखनीय उत्तराधिकारी माने जा सकते हैं। नागोजी भट्ट के मतो का खण्डन मण्डन अब भी यहा परम्परा जीवित है। यदि **'नव्यास्तु'** कहकर भट्टजी दीक्षितादि प्राचीन वैयाकरणो के मत का खण्डन किया जाता है तो, तदनन्तर, 'नव्यतरास्तु' या 'वयतु' कहकर स्वमतोपपादन मे नागोजी भट्ट के मत की भी समीक्षा की जाती है। वास्तव मे यह गर्व का विषय है कि कम से कम व्याकरण शास्त्र के क्षेत्र मे गुरुशिष्य सम्प्रदाय तथा खण्डन मण्डन परम्परा अद्यापि जीवितावस्था मे है।

पर यह सब होते हुए भी खेद के साथ कहना पडता है कि व्याकरणशास्त्र का भविष्य उज्ज्वल प्रतीत नही होता। विद्यार्थियो की सख्या दिन-दिन घट रही है और जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं, नव्य-परिष्कार की आधी मे मूलग्रन्थो की उपेक्षा की जा रही है। आवश्यकता इस बात की है कि मूलग्रन्थो के सरल अनुवाद प्रकाशित किये जाय तथा उनका पठन-पाठन साधारण शिक्षित जनता के लिये भी सुगम बना दिया जाय। उपर्युक्त पुस्तक का प्रकाशन इस दिशा मे स्तुत्य प्रयत्न का फल है।

नागोजी भट्ट के परिभाषेन्दु शेखर का पाणिनीय व्याकरण मे अनन्यलभ्य स्थान है। पाणिनिसूत्रो का अर्थ समझने के लिए तथा तदनुसार परिनिष्ठित पदो की सिद्धि के लिये जिन परिभाषाओ की नितान्त आवश्यकता पदे पदे पडती है उन सबका सग्रह इस ग्रन्थरत्न मे किया

गया है। अपने विषय मे यह ग्रन्थ अपूर्व है। सीरदेव कृत 'परिभाषावृत्ति' सदृश एक दो अन्य ग्रन्थ इस विषय पर अवश्य लिखे गये है, किन्तु विषय प्रतिपादन-शैली, मतो की प्रामाणिकता और प्रख्याति के विचार से परिभाषेन्दुशेखर अपने ढग का सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है और इस मूर्धाभिषिक्त ग्रन्थ की बराबरी का अन्य ग्रन्थ उपलब्ध नही है।

यही कारण है कि वैयाकरण पण्डित मण्डली मे इस ग्रन्थ का मान और प्रचार दिखाई पडता है। प्रस्तुत ग्रन्थ के महत्व को जानकर ही सुप्रसिद्ध यूरोपीय विद्वान् डाक्टर कीलहार्न ने इसका अग्रेजी मे अनुवाद किया था। किन्तु व्याकरण-शास्त्र से विशेष परिचय न रखनेवाले विद्यार्थी-गुरुमुख से बिना पढे ही केवल इस अग्रेजी अनुवाद की सहायता से परिभाषेन्दुशेखर के मर्म को समझ सकेंगे, इसमे हमे गहरा सन्देह है।

परिभाषेन्दुशेखर के प्रस्तुत मराठी अनुवाद के कर्ता ने इन कठिनाइयो को ध्यान मे रखकर अपने अनुवाद को यथाशक्य सरल और सुबोध बनाया है। मूलग्रन्थ के नीचे पहले अक्षरश शब्दार्थ किया है, पर केवल शब्दार्थ से भावाविष्करण असभव होने से कोष्टक में उपयोगी सदर्भ तथा प्रकरणसगति आदि भी दे दी है। मूल पक्ति के अर्थ की विशद व्याख्या, प्रक्रियोपयोगी सूत्रो के निर्देश सहित, विस्तार से दी गयी है। इतना ही नही, प्रकृत परिभाषा से सम्बद्ध रूपो की सिद्धि भी तत्तस्थल मे दिखायी गयी है। साथ ही मुख्य-मुख्य परिभाषाओ के विवरण के अन्त मे सिहावलोकन के तौर पर उपन्यस्त मतो का सक्षिप्त निर्देश तथा उनकी सारासारता पर भी प्रकाश डाला गया है। शास्त्रत्व सम्पादक परिभाषाओ के प्रकरण मे दुर्बोध पथोद्देश और कार्यकाल पक्ष के विवेचन मे भिन्न-भिन्न विषयो का पृथक-पृथक् उपस्थापन कर ग्रन्थकार ने अपनी विश्लेषणात्मक बुद्धि का प्रशसनीय परिचय दिया है।

मूल ग्रन्थ की सरल एव विस्तृत व्याख्या के अतिरिक्त, अनुवादक महोदय ने प्रारम्भ मे नागोजी भट्ट की जीवनी पर, आजकल की उपलब्ध सकल सूचनाओ का उपयोग कर, अच्छा प्रकाश डाला है। तदनन्तर 'उपोद्घात्' मे 'परिभाषा शास्त्र' का सुन्दर विवेचन करते हुए प्रकृत ग्रन्थ की परिभाषाओ के प्रकार भेद पर मार्मिक निबन्ध लिखा है, जिससे परिभाषाओ के ज्ञापक-सिद्ध, न्यायसिद्ध और वाचनिकी आदि भेद तथा उनके परस्पर सम्बन्ध के विवेचन के साथ साथ उनके वर्गीकरण-सिद्धान्त का सम्यक् बोध हो जाता है। ग्रन्थ की अन्य विशेषताओ मे एक यह भी है कि वर्णक्रमानुसार परिभाषा सूची के अतिरिक्त एक ग्रन्थानुसृतक्रमानुसार अन्य परिभाषानुक्रमणिका भी दी गयी है जिसमे प्रत्येक परिभाषा के विशिष्ट प्रकार के उल्लेख के साथ तत्प्रकार परिचायक प्रमाण का भी सक्षेप से निर्देश किया गया है। सक्षेप मे, परिभाषेन्दु शेखर के सुखावबोध के लिये सभी आवश्यक बातो का समावेश इस ग्रन्थ मे किया गया है तथा इसकी उपयोगिता बढाने मे कोई कसर नही रखी गयी है।

अनुवादक महोदय मध्यप्रान्त के एक कार्यदक्ष तथा निष्पक्ष न्यायाधीश के रूप मे सर्वविदित है और इस ग्रन्थ के प्रकाशन से इसमे अणुमात्र भी सन्देह नही कि उनकी ख्याति वैयाकरण ग्रन्थकार के रूप मे भी सुविस्तृत हो जायगी। सस्कृत वाङ्मय के मध्यप्रातीय महारथी विद्वानो

मे आप अन्यतम है। सन १९९२ मे कलकत्ता विश्वविद्यालय की सस्कृत एम० ए० परीक्षा मे आपको सर्वप्रथम स्थान मिला था। सरकारी नौकरी के काल मे भी आपका अध्ययनव्यासग अक्षुण्ण बना रहा। न्यायाधीश पद के लिये सुतरा उपयुक्त तथा आवश्यक मीमासाशास्त्र का गम्भीर अध्ययन आपने किया है और उसका उपयोग हिन्दू धर्म सम्बन्धी स्मृतिग्रन्थीय नियमो मे दक्षतापूर्वक कर सकते है। अभी दो वर्ष पहले तक नागपुर के अनेक प्रसिद्ध वकील हिंदूला की बारीक गुत्थियो के सुलझाने के लिये आपके पास दल बाध कर शिष्यरूप मे आते थे। ऐसे मीमासा शास्त्र प्रवीण न्यायाधीश के हाथ से परिभाषेन्दुशेखर के मर्म का उद्घाटन कितनी उत्तमता से हुआ होगा इसका यत्किंचित आभास इसी से मिल सकता है कि युक्तिविन्यास, विशद विवेचन तथा ऊहापोहपूर्वक तर्कपरीक्षण की दृष्टि से आपके दिये हुए न्याय के फैसले आदर्श माने जाते है। व्याकरण शास्त्र के प्रचाराभिलाषियो के लिये यह सौभाग्य का विषय है कि रावबहादुर जैसा विषयप्रतिपादनपटु तथा तर्कोपन्यासनिपुण विद्वान् व्याकरण क्षेत्र मे अवतीर्ण हुआ है। हमे दृढ विश्वास है कि सिद्धान्त कौमुदी मे प्राप्तप्रवेश कोई भी मराठीभाषी विद्यार्थी गुरु की सहायता के बिना परिभाषेन्दुशेखर की मूल पक्तियो का मर्म इस अनुवाद के द्वारा सरलता से समझ सकेगा।

[आज : १९३७ में प्रकाशित]



⊙ २७५ पृष्ठ का शेषाश]

मे बाधक है। प्रातभाषा का अपने क्षेत्र मे स्थान सुरक्षित है। प्रश्न केवल राष्ट्रभाषा और प्रातभाषा के क्षेत्रो की सीमा निश्चित करने का है। सम्पूर्ण राष्ट्र के ऐक्य की सुरक्षा के लिये यह आवश्यक है कि राष्ट्र के बौद्धिक क्षेत्र के उच्च स्तर मे राष्ट्रभाषा का स्थान सर्वमान्य किया जाय। धर्म और सस्कृति एक होते हुए भी यूरोप के राष्ट्रो के परस्पर-द्वेष मे क्या कारण है? भाषा भेद के कारण उत्पन्न सकुचित राष्ट्रीयता ही इसका मुख्य कारण है। अपने राष्ट्र के नव जागरण मे हमे यही बचाना है। तथास्तु।

[जयहिंद : दीपावली संवत् २००५ में प्रकाशित]

वैदिक वाङमय पर उनका "वेदो मे धर्म तथा दर्शन" (दो जिल्द) तथा अपने गुरुवर्य ए० ए० मैक्डानल के साथ लिखित 'वेदो मे आये विषयो और नामो की सूची' (दो जिल्द) सर्वमान्य स्वतत्र ग्रन्थ है। साथ ही ऐतरेय ब्राह्मण और कृष्ण यजुर्वेद सहिता का अग्रेजी मे अनुवाद प्रकाशित कर उन्होने वैदिक वाङमय की उत्तम सेवा की है। उत्तरकालीन सस्कृत वाङमय के विविध अगो के इतिहास का भी उन्होने विवेचनापूर्ण अध्ययन प्रस्तुत किया है। साख्य तथा कर्म मीमासा ये दो पुस्तके उन्होने भारतीय दर्शन पर लिखी है। लौकिक सस्कृत साहित्य पर उनके दो प्रसिद्ध ग्रन्थ सस्कृत नाटक—उद्भव और विकास' एव 'सस्कृत साहित्य का इतिहास' है। कीथ के ये दो ग्रन्थ, (रामायण-महाभारत तथा पुराण को छोड दे तो) सम्पूर्ण लौकिक सस्कृत वाङमय को अर्थात्—सस्कृत भाषा, काव्य शास्त्र तथा विविध अन्य शास्त्र—सभी क्षेत्रो को अपनी परिधि मे अन्तर्भूत करते है। इस सम्बन्ध मे विटरनिट्ज के "ए हिस्ट्री आफ इडियन लिटरेचर (तीन जिल्द)" का नाम—उल्लेखनीय है। जिसमे उस मनीषी ने सम्पूर्ण सस्कृत वाङमय का—वैदिक, रामायण, महाभारत, पुराण, बौद्ध-जैन दर्शन, पाली, प्राकृत आदि सभी अगो का—गवेषणापूर्वक अध्ययन कर एक प्रशसनीय सन्दर्भ ग्रन्थ प्रस्तुत किया है। उसका भी हिन्दी अनुवाद शीघ्र ही उपलब्ध होना चाहिये।

प्रस्तुत अनुवाद-ग्रन्थ की समीक्षा मे मूल ग्रन्थ के गुण-दोषो का विवेचन अपेक्षित नही है। तो भी तो इतना तो कहना ही पडेगा कि कीथ महोदय का अध्ययन अतिव्यापक तथा बहुशाखीय होने के कारण उनके लिये अपने ग्रन्थ मे अन्य पूर्णतया या कम-ज्यादा मौलिक लेखको के मर्मो का समावेश करना अनिवार्य था। इसी कारण कीथ पद्धति को कैंची-गोद पद्धति—विद्वद् गोष्ठियो मे कहा जाता है। किन्तु इसमे कोई विशेष आक्षेप्य वस्तु नही है। क्योकि सस्कृत के विशाल और बहुशास्त्रीय वाङमय का मौलिक अध्ययन करना तथा उसका आधुनिक वैज्ञानिक समीक्षा-पद्धति से एव पौर्वापर्य निर्देश तथा विकास क्रम को दृष्टि मे रखकर-इतिहास प्रस्तुत करना नितान्त दु साध्य कार्य है। अत मूलनिर्देशक के विषय मे परावलम्बन के कारण सन्दर्भ की अशुद्धिया रह जाये तो आश्चर्य नही। आश्चर्य तो वास्तव मे यह है कि एक विदेशीय विद्वान् यह दुष्कर कार्य इतने अच्छे ढग से कर सका। क्योकि इसी प्रस्तुत-अनुवाद-ग्रन्थ मे हमारे अनुवादक (भारतीय विद्वान्) के लिये यह सम्भव नही हो सका कि मूलग्रन्थ के प्रकाशन काल (१९२८) के अनन्तर उपलब्ध विभिन्न ग्रन्थ विषयक नवीन सामग्री तथा उत्तरकालीन शोध के आधार पर निर्णीत नवीन मन्तव्यो का अत्यल्प भी निर्देश अपने अनुवाद की प्रस्तावना मे कर देते। दूसरी ओर हम यह देखते है कि मूल लेखक ने मूल पुस्तक का लेखन काल (१९२६) और प्रकाशन काल (१९२८) के बीच के दो वर्षो की अल्पावधि मे उपलब्ध सारी सामग्री तथा नई आलोचनाओ का विशेष रूप से सिहावलोकन, अपने प्राक्कथन के छब्बीस पृष्ठो मे किया है। इसी एक बात से यह जाना जा सकता है कि कीथ महोदय का अध्ययन व्यासग कितना गम्भीर तथा अनन्यसाध्य है।

मूलग्रन्थ को प्रकाशित हुए आज बत्तीस वर्ष हुए। इस काल मे प्रचुर सामग्री (मौलिक तथा शोधात्मक) प्रकाश मे आई है। क्या ही अच्छा होता यदि इस अनुवाद-ग्रन्थ मे उस सामग्री

का भी अलग से विवेचन उपलब्ध होता। विशाल मूलग्रन्थ के अनुवाद करने मे अनुवादक महोदय को जो मूलग्रन्थ के विषय-विवेचनशैली, समीक्षात्मक निर्णय से जो घनिष्ठ परिचय प्राप्त हुआ था, उसका सदुपयोग इससे अच्छा क्या हो सकता था कि प्रस्तुत पुस्तक मे मूल-ग्रन्थ का अनुवाद होने के साथ एक अद्यावधिक सूचनाओ का परिशिष्ट भी जुडा होता। यह बात नही कि अनुवादक महोदय ने सर्वत्र मक्षिका स्थाने मक्षिका वाला अनुवाद किया हो। यहाँ वहाँ उन्होने मूलग्रन्थ के भ्रम का निवारण भी किया है, जैसे पृष्ठ १८९ पर सस्कृत के मूलपाठ का निर्देश कर उन्होने मूल लेखक की सस्कृतज्ञता की सीमा की ओर सकेत किया है।

जैसा कि अनुवादक महोदय ने स्वय कहा है (प्रस्तावना पृष्ठ दो) कि प्रूफ सशोधन का कार्य यथावश्यक सावधानी से नही हुआ है। इसका उदाहरण उसी प्रस्तावना के द्वितीय पृष्ठ के अत मे आई हुई दो निरर्थक पक्तिया है, जिनकी कोई सगति नही है। "६४ टि २ टीका के अनुसार वह किसी भी जाति का हो सकता है।" इनका क्या मतलब? यह सबकी समझ मे नही आयेगा। इनका तात्पर्य यह है कि ग्रन्थ के पृ० ६४ पर एक टिप्पणी न० २ छपी होनी चाहिये कि "कामसूत्र मे निर्दिष्ट नागरक-टीका के अनुसार किसी भी जाति का हो सकता है। पृष्ठ ११ पर और बाद मे भी भास के प्रसिद्ध नाटक 'स्वप्नवासवदत्त' को 'स्वप्नवासवदत्ता' कहा गया है। अग्रेजी लिपि के अनुसार 'त्त' और 'त्ता' के भेद का अभाव इस अशुद्धि को क्षम्य नही बनाता, क्योकि 'राजशेखर' के जिस श्लोक का वहाँ अनुवाद किया गया है, उससे 'स्वप्नवासवदत्त' नाम स्पष्ट है, 'स्वप्नवासवदत्ता' नही। "स्वप्नवासवदत्तस्य दाहकोऽभून्न पावक"।

इसमे सन्देह नही कि प्रस्तुत अनुवाद के प्रकाशन से हिन्दी वाङमय की श्रीवृद्धि हुई है और यह एक स्तुत्य प्रयत्न का श्रीगणेश है। एक बात और भी है कि यदि मूलग्रन्थ के जटिल, लम्बे तथा 'ननु-नच' शैली वाले वाक्याशो से पूर्ण वाक्यो का पदश या तथैव रूपान्तर न कर वाक्यार्थ के अभिप्रेत को पहले आत्मसात् कर लिया जाता और उसके बाद अपनी शैली मे— अर्थात् हिन्दी भाषा की प्रकृति के अनुरूप—उसे भाषान्तरित किया जाता तो अनुवाद की दुर्बोधता बहुत कम हो जाती। कीथ के मूलग्रन्थ इस प्रकार की दुरूह शैली के लिये विख्यात (कुख्यात) है। किन्तु यह आवश्यक नही कि अनुवाद मे भी वह दुरूहता कायम रहे। अग्रेजी भाषा मे ऐसी दुरूह शैली के ग्रन्थ दुर्लभ नही है। किन्तु हिन्दी जगत् मे यह शैली अधिक अटपटी प्रतीत होगी। तो भी इसमे सन्देह नही इस अनुवाद के प्रकाशन से सस्कृत-साहित्य के इतिहास पर एक उत्तम सन्दर्भ-ग्रन्थ उपलब्ध हुआ है। इसके लिये अनुवादक तथा प्रकाशक दोनो साधुवाद के पात्र है।

पुस्तक का बहिरग छपाई, कागज, जिल्दबन्दी आदि सभी वस्तुए आकर्षक है। सब बातो को ध्यान मे रखकर मूल्य पच्चीस रुपए सर्वथा उचित है।

[संस्कृति : सितम्बर-अक्टूबर १९६० में प्रकाशित]

७१. हिन्दी अभिनव भारती

सस्कृत साहित्य मे भरत का नाट्य-शास्त्र एक अद्भुत ग्रन्थ है। इसमे केवल नाट्य-नियमो का ही नहीं, बल्कि नाट्य से साक्षात् या परम्पराओ से सम्बद्ध सभी कलाओ का—ललित और उपयोगी—सविस्तार विवेचन है। भरत ने स्वय कहा है कि इस ग्रथ मे ज्ञान, शिल्प, विद्या, कला, योग तथा कर्म—सभी का निरूपण है। इसी कारण इस ग्रन्थ को कलाओ का विश्व-कोश कहा जाता है। इसकी उपयोगिता तथा देशव्यापी प्रचार का इसी से अनुमान किया जा सकता है कि दक्षिण भारत मे चिदम्बरम् के नटराज मन्दिर मे (तेरहवी शताब्दी मे निर्मित) नाट्य-शास्त्र मे उल्लिखित सभी १०८ करणो और अगहारो के उदाहरणस्वरूप पाषाण-चित्र श्लोक पाठ सहित खुदवाये गए थे, जो आज भी देखे जा सकते है। सन् १८२६ मे एच० एच० विल्सन ने इस ग्रन्थ की प्रथम बार चर्चा करते समय लिखा था कि भरत का नाट्य-शास्त्र—जो अनेक टीकाओ मे उद्धृत है—सदा के लिए लुप्त हो गया है। किन्तु सौभाग्य की बात है कि अनुसन्धान-शील विद्वानो की खोज के फलस्वरूप आज न केवल भरत के नाट्य-शास्त्र का मूलग्रन्थ, अपितु इस पर लिखी गई अभिनवगुप्त की प्रसिद्ध टीका 'अभिनव-भारती' भी उपलब्ध है।

अभिनवगुप्त भारतीय साहित्य-शास्त्र के प्रसिद्ध आचार्य है। साथ ही वे महान् दार्शनिक और तन्त्र-शास्त्र वेत्ता भी थे। उनके पूर्वज अन्तर्वेद (कन्नौज) के निवासी थे। आठवी शताब्दी मे काश्मीर नरेश ललितादित्य, अभिनवगुप्त के पूर्वज—अनेक पीढी के पूर्वज, अभिनवगुप्त को सम्मान के साथ अपने साथ काश्मीर ले गए थे। काश्मीर मे ही लगभग दो सौ वर्ष बाद अभिनवगुप्त का जन्म हुआ था। काश्मीर की धरती भारतीय साहित्य के विविध अगो की मूलस्रोत और केन्द्र रही है। रीति-सम्प्रदाय के प्रवर्तक वामन, अलकार सम्प्रदाय के उद्भट, ध्वनि-सम्प्रदाय के आनन्दवर्धन, वक्रोक्ति सम्प्रदाय के कुन्तक आदि काव्यशास्त्र के सभी प्रमुख आचार्य एव कैयट जैसे महान् वैयाकरण, मम्मट जैसे साहित्य-समीक्षक, कल्हण जैसे इतिहासकार—ये सभी काश्मीर की विभूति है। इसी काश्मीर मे जन्म पाकर अभिनवगुप्त ने भी साहित्य, दर्शन एव तन्त्रशास्त्र—इन तीनो विषयो पर सब मिलाकर छोटे-बडे ४१ ग्रन्थो की रचना की थी। काश्मीर का शैवदर्शन—जो प्रत्यभिज्ञा दर्शन या त्रिकदर्शन के नाम से भी विख्यात है—अभिनवगुप्त की प्रतिभा से पल्लवित हुआ है। तन्त्रशास्त्र पर अभिनवगुप्त का महत्वपूर्ण ग्रन्थ तन्त्रालोक है, जिसमे कौल-सिद्धात के अलावा अन्य तत्सम्बद्ध विषयो का भी विशद निरूपण है।

साहित्य-शास्त्र पर अभिनवगुप्त की दो कृतिया है, जिनका महत्व सर्वविदित है। प्रथम कृति, आनन्दवर्धन-रचित ध्वन्यालोक पर 'लोचन' टीका, दूसरी कृति भरत के नाट्य-शास्त्र पर 'अभिनवभारती' टीका है। भारत की वाङमय निर्माण-परम्परा मे नया मूलग्रन्थ न लिखकर

प्राचीन मूलग्रन्थो पर समीक्षात्मक टीका लिखने की परिपाटी प्रचलित थी। व्याकरण, मीमासा, न्याय, साहित्य-शास्त्र, आदि सभी विषयो पर सार्वजनिक मान्यता टीका ग्रन्थो की है। इसी परम्परा का अनुसरण कर अभिनवगुप्त ने 'अभिनव भारती' टीका के माध्यम से अपनी साहित्य-शास्त्र विषयक समीक्षाओं और मन्तव्यो को प्रस्तुत किया है। अत अभिनव भारती को टीका-ग्रन्थ होने पर भी स्वतन्त्र ग्रन्थ का सम्मान प्राप्त है। अभिनव भारती अभिनवगुप्त की साहित्यिक, दार्शनिक प्रतिभा की अभिव्यक्ति है। परवर्ती सस्कृत काव्य-शास्त्र पर तथा विशेषतया रस-सिद्धात पर इसका मूलगामी प्रभाव परिलक्षित होता है।

अभिनव भारती टीका का प्रकाशन गायकवाड ओरियटल सिरीज, बडौदा से हुआ है। सन् १९२६ से १९५४ तक की कालावधि मे इसके ३६ अध्यायो मे आदि के २७ अध्याय प्रकाशित हुए है। प्रकाशित अध्यायो मे भी सप्तम तथा अष्टम अध्याय की अभिनवभारती पाण्डुलिपियो मे भी उपलब्ध नही है। अभिनव भारती की अब तक केवल दो हस्तलिखित प्रतिया है, वे भी दक्षिण भारत मे ही मिली है तथा मद्रास और त्रावणकोर के ग्रन्थागार मे सुरक्षित है। इनमे भी जो भाग उपलब्ध है वह उतना त्रुटित एव सदोष है कि विद्वानो को यहा तक कहना पडा कि यदि एक बार स्वय अभिनवगुप्त भी स्वर्ग से उतर आयें तो वे इन प्रतियो को देखकर अपने शुद्ध पाठ का उद्धार नही कर सकेंगे। इस परिस्थिति मे समालोच्य प्रकाशन के सम्पादक आचार्य विश्वेश्वर जी का अध्यवसाय तथा साहस अत्यन्त प्रशसनीय है।

प्रस्तुत प्रकाशन दिल्ली विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग द्वारा उस योजना के अन्तर्गत निकाला गया है, जिसमे प्राचीन काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थो का विस्तृत आलोचनात्मक भूमिकाओ के साथ हिन्दी रूपान्तर मुद्रित किया जाता है। अब तक सस्कृत ग्रन्थो मे काव्यालकार सूत्र, वक्रोक्ति जीवित, काव्यादर्श, अग्निपुराण का काव्य-शास्त्र—इनके सुन्दर तथा सर्वांगपूर्ण हिन्दी रूपान्तर प्रकाशित किये जा चुके हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ—अभिनव भारती मे केवल प्रथम, द्वितीय एव षष्ठ अध्याय ही अन्तर्भूत किये गए है। पाठानुसन्धान, पाठ-समीक्षा के साथ हिन्दी-अनुवाद एव विशद व्याख्या सहित अभिनवभारती सञ्जीवन भाष्य का प्रस्तुत सस्करण एक सुसम्पादित एव सुमुद्रित ग्रन्थ है, जिसके लिए सम्पादक तथा भाष्यकार आचार्य विश्वेश्वर और ग्रन्थमाला के प्रधान सम्पादक डा० नगेन्द्र भूरि-भूरि धन्यवाद के पात्र हैं। आचार्य विश्वेश्वर जी ने जिस सूक्ष्मदर्शिनी प्रतिमा तथा अथक परिश्रम से प्रस्तुताश पर स्पृहणीय कार्य किया है, वह अन्यत्र बहुत कम देखा जाता है। पाठानुसन्धान तथा पाठ-समीक्षा मे उनका विशद तथा सर्वांगीण विवेचन अनुसन्धान-रत विद्वानो के लिए आदर्श माना जा सकता है। भूमिका मे भरत तथा अभिनवगुप्त के सम्बन्ध मे उनका सर्वागस्पर्शी विवरण एक सन्दर्भ-ग्रन्थ की प्रतिष्ठा के योग्य है। तलस्पर्शी विवेचन, सर्वांगपूर्ण प्रतिपादन तथा सर्वग्राही विवरण आदि अन्तरग, एव कागज, छपाई, गेट-अप आदि बहिरग—दोनो दृष्टियो से प्रस्तुत प्रकाशन सर्वथा स्तुत्य है। आशा है कि शेष अशो का भी एवमेव मनोरम सस्करण—जो 'मुद्राराक्षस' से अधिक अदूषित हो—प्रस्तुत कर आचार्य विश्वेश्वर जी सस्कृत-प्रेमी हिन्दी जगत् को चिर-ऋणी बना देंगे।

[संस्कृति : मार्च-अप्रैल १९६१ में प्रकाशित]

७२. संस्कृत भाषेची प्राचीनता व व्याप्ति

मनुष्याला स्वतःचे भाव प्रगट करण्याकरिताच भाषेची जरूरी असते। पशुपक्षी देखील भाव दर्शविण्याकरिता खुणाचा उपयोग करतात। पण माणसाचे भाव उन्नत व विविध असल्यामुळे त्याला त्याच्या फार पुढे जावे लागते। त्याप्रमाणे मानव जातीच्या बाल्यावस्थेत कोणती ना कोणती भाषा प्रथम शोधण्यात आली असेलच। ती कोणती व कशी होती हे निश्चितपणे सागणे अशक्य आहे। तरी जुन्यात जुनी भाषा कोणती हे सागता येते। जगात आज जितक्या भाषा ज्ञात आहेत त्यापैकी सस्कृतभाषेचे पुरातनत्व सर्वमान्य आहे। यूरोपातील "क्लासिकल" भाषा ग्रीक, लॅटिन इत्यादि सस्कृतच्या सख्या पण लहान बहिणी आहेत हे भाषाविज्ञानच सागते। आजच्या तर्कप्रधान व अन्वेषण युगामध्ये प्रमाण दिल्याशिवाय काहीही खरे मानणे अशक्य। सस्कृत भाषेच्या पुरातनत्वाचे पहिले व सगळ्यात महत्वाचे प्रमाण म्हणजे वैदिकवाङमय होय। वेदाचा काळ जरी अनिर्णीत असला तरी यापेक्षा जुने वाङमय अजून उपलब्ध नाही। साधारणपणे वेदाचा काल ख्रिस्तपूर्व २००० ते ६००० वर्षेपर्यत ओढला जातो आणि वेद तर सस्कृत भाषेत लिहिले आहेत। कोणतीही भाषा समृद्ध व विकसित झाल्याशिवाय तीत वाङमय तयार होत नाही। तेव्हा सस्कृत भाषेचा काळ वेदाच्या पूर्वीचा असला पाहिजे ह्यात शका नाही। महेजोदारो, हडप्पा इत्यादि ठिकाणी मिळालेले जुने अवशेष वाङमयात मोडत नाहीत। म्हणून त्याचा विचार करण्याचे कारण नाही।

संस्कृत भाषेचे महत्व

जसे सेवेमध्ये जुना (Senior) असेल त्याला अधिक मान, वेतन मिळते तसेच सस्कृत भाषेने मानवसमाजाची फार सेवा केली आहे, करीत आहे व पुढेही करील। तेव्हा तिचा मान मोठा असलाच पाहिजे।

आता कोणी असे म्हणेल की जी प्रचारात आहे तीच खरी भाषा। (भाष्यते इति भाषा) तिकडे सर्व लक्ष्य द्यायला नको काय? खरे आहे, पण, स्वत.चा मान-मरातब वाढविण्यास वृद्ध पितराच्याही मानास जपणे आवश्यक आहे। त्याच्यामुळे तुम्ही जन्मला व वाढला तेव्हा त्याच्या मोठेपणाचा उपयोग आपल्या उन्नतिकरिता करून घेतला पाहिजे। तसेच प्रचारात असलेल्या भाषा (हिंदी, मराठी इ.), त्याच्या उन्नतिचे मूळ कारण त्याची आई जी सस्कृत हिची उन्नति नाही असे कोण म्हणेल?

संस्कृत भाषेचे गुणविशेष

हे झाले तिचें महत्व, आता तिच्या गुणाचा-विशेषाचा-विचार करू। भाषा ही भाव-

प्रकाशक आहे, ज्या भाषेत निरनिराळे भाव व्यक्त करण्यासाठी निरनिराळे शब्द असतात ती अधिक श्रेष्ठ। एकाच शब्दाने निरनिराळे अर्थ प्रगट करणे म्हणजे एकच वस्त्र जेवताना, सभेस जाताना, फिरताना, निजताना वापरण्यासारखे दरिद्राचे अथवा कृपणाचे लक्षण आहे। सस्कृत भाषेचा हा एक ठळक विशेष आहे की भावनातील सूक्ष्म छटा (Shades of meaning) दाखविणारा शब्दसग्रह सस्कृतात विपुळ आहे। सूर्य, भानु, हिरण्यगर्भ, अशुमाली, तिग्मरश्मि, दिवाकर, ग्रहराट् इत्यादि शब्द जरी समानार्थी असले तरी विविध सूक्ष्म भाव व्यक्त करणारे आहेत। नाही तर इग्रजी भाषा वेळी अवेळी आपला एकुलता एक Sun घेऊन मिरवणार!!

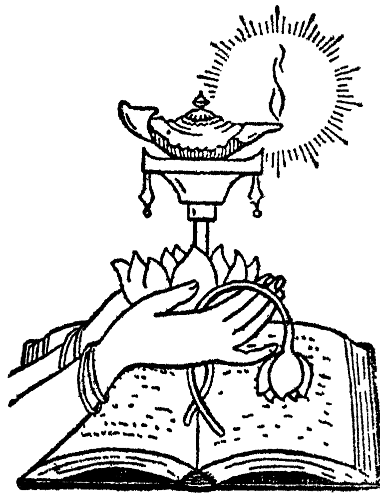
दुसरा विशेष म्हणजे हीतील अर्थाचे सामजस्य। निव्वळ सकेत ठरवून ही भाषा बनली नाही। मूलभूत धातूच्या आधारावरच नवीन शब्द तयार करण्यात आले। रूढ किवा योगरूढ शब्द सस्कृतात नाहीत असे नाही। तरी पण बहुतेक शब्द व्युत्पत्तिक्षम आहेत। ह्यालाच पोषक असा तिसरा एक विशेष सस्कृताचा आहे। तो उपसर्गकार्य होय। जसे, हृ धातूपासून हार शब्द बनवून त्याला निरनिराळे उपसर्ग लाविले असता विहार, आहार, प्रहार, उपहार इत्यादि अनेक शब्द बनू शकतात। तसेच प्रत्ययाचे, ही समजावे।

चौथा गुण रसपोषक रीति होय। रसानुकूल शब्दरचना ही संस्कृत भाषेत जितकी शक्य आहे तितकी इतर भाषेत नाही। कठोर, मृदु व्यजनाच्या उपयोगाची नियमबद्धता याच भाषेत सांपडते।

संस्कृताचें संवर्धन करा

शब्दाचे उच्चावचत्व व चमत्कृतिजनकत्व तर सस्कृतचे अतुलनीय आहे, हे शब्दालकाराची सख्या व गोडी यावरून सहज सिद्ध होण्यासारखे आहे। असे अनेक गुण ज्या भाषेत आहेत, तिचे सवर्धन करणे प्रत्येकाचे कर्तव्य आहे। इतके बोलून वक्त्यानी भाषण सपविले।

[दिसम्बर १९४० में प्रकाशित]



अंग्रेजी-निबन्धावली



Veda



Grammar

⊙

Philosophy

⊜

Literature

● २ ●

Raview

⊙

Language and Education

⊙

Reminiscences

⊙

Miscellaneous

⊙

1. AVESTIC RELIGION AS COMPARED WITH THE VEDIC

श्रीगुरुचरणौ नत्वा जरथुष्ट्रमतीयधर्मपद्धत्या ।
वैदिक धर्मेण सम तुलना कर्तुं भवामि सन्नद्ध ।।
नास्ति प्रवेश. शास्त्रेषु नास्ति मे बुद्धिवैभवम् ।
प्रवर्तेऽस्मिन् गरौ कार्ये 'चापलेन प्रचोदित.' ।।

Introduction

An intelligent comparison of different religions should not be regarded as reserved only for a narrow-minded preacher of a missionary propaganda. A comparative study of different religions is of immense help to us in ascertaining what various religions have in common and in ascertaining what beliefs are due to our special prejudices. Secondly, it acts as a check on wild preconceived theories about the age and growth of various religious and mythological conceptions Thus without the knowledge of the Vedic Mythology,[1] we would have hardly known what was the original nature of the Greek Gods, whom we meet only at a later anthropomorphic stage of development where all sorts of human vices and follies were attributed to them Similarly great value should be attached to the Avesta as a source for the proper understanding of the Vedic religions and Mythology

The credit for the deciphering and the first translation of the Avesta goes to the young French adventurous scholar Auquetil Dueperron, who in his eagerness to come to India to secure a copy of the Avesta enlisted himself as a soldier and travelled for several years for it Eugene Burnouf, the real founder of the Avestic philology, threw a flood of light on obscure

1 See Macdonell—'Comparative Religion (*Ch.* Zoroastrianism).

points by employment of Sanskrit equivalents, instead of following priestly traditions of interpretation The subsequent studies and researches have amply justified his attempt, for the ancient Persian—Avestic—language and religion are in origin more closely allied to those of the Vedas than to any other language and religion [1] "But for the reform of Zarathushtra, the ancient Persian religion would have hardly differed from the old Indian religion" Besides the surprisingly numerous agreements in mythology and rituals, the relationship of the Avestic language[2] to the Vedic is 'so close as that of the different dialects of the Greek language to each other' Professor Macdonell says that the affinity of the oldest form of the Avestic language with the dialect of the Vedas is so great in syntax, vocabulary, diction, metre and poetic style that by the mere application of phonetic laws, whole Avestan stanzas may be translated word for word into Vedic, so as to produce verses correct not only in form but in poetic spirit [3] So it is beyond doubt that in very ancient times, in, what is called, the Indo-Iranian period, the Aryans of India and the Iranians of Persia were living together as brethren and that we have historical remains of that period in what the Vedas and Avesta share in common whether in language, religion, ritual or mythology.

There is a striking similarity between the Vedic and Avestic literature The two classes of the Vedic literature Mantra and Brāhmana correspond to what we should call Avesta and Zend, Avesta standing for the sacred text and Zend for the later and still later Pahlavi comments Of the larger collections of the hymns and sayings of Zarathushtra, only five Gāthās consisting of seventeen (17) hymns have been preserved Dr. Haug says that the extant Gāthās correspond to the Sāmaveda which contains detatched verses selected from the Rigveda and intended only for being sung While the Vedic people have preserved this great

---

1 Macdonell.—Comparative Religion —(*Ch.* Zoroastrianism.)

2 Dr Haug's Essays on the Religion of the Parsis, p 69

3 Macdonell —Vedic Mythology, p. 7-8.

selection completely, the ancestors of the Parsis have irrevocably lost the other Gāthās After the Gāthās come Yasna, Vispered and Yashta in which the spirit of deviating somewhat from the high and pure monotheistic principles of Zarathushtra is apparent In these works prayers are addressed to divine beings other than Ahura Mazda Hoama, Mithra, Amesha Spenta, the general name for heavenly councillors, are not mentioned in the Gāthās These and other mythological creations we meet in the later Avestic literature. Obviously this is analogous to the later Vedic and Purānic works, where in place of the pure natural religion of the early Vedic period, new gods garbed in fantastic mythology appear and are recognized.

In the following lines, will be made an attempt to show the points of similarity in the thoughts of these two ancient peoples as regards their Pantheon, Mythology, Comogony, Eschatology, Rituals, Ceremonies and Philosophy of Life

The Pantheon

Vedic religion in its earlier phase is essentially a polytheistic religion concerned with the worship of gods that are largely personifications of the power of Nature, the fire-god, the rain-god, the Sun-god, etc, none of whom enjoyed supremacy over others Later on, developed the doctrine of Henotheism, according to which each god at the time of prayer was held to be supreme This led to the conception of polytheistic monotheism, arrived at by the end of the Rigvedic period But even here we find the pantheistic conception of the later Vedānta system, according to which a deity represented not only all the gods but Nature as well or rather more.[1] Coming to the Avesta, we find that in the time of Zarathushtra the doctrine of Monotheism had been fully established in place of the earlier polytheistic natural religion, the prevalence of which is clearly indicated by the mention of various gods in the Boghaz Koi inscription

1. *Cf* the notion of सर्वं ब्रह्मणि as distinguished from सर्वं ब्रह्म; Also, सभूमि सर्वत स्पृष्ट्वा अत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् and पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि (पुरुषसूक्ते)

The Iranian god Ahura Mazda, once very much the same as Varuna of the Rigveda, was by the reform of Zarathushtra transformed into a Monotheistic god There are sufficient proofs to warrant the conclusion that Ahura Mazda of Zarathushtra is only a developed conception of Varuna of the Rigveda, whose position in Vedic India was not only not allowed to develop, but was taken away by another god, Indra in the Rigveda as the most popular god and Prajāpati in later works as the creator and the highest god There is a very close resemblance between the attributes[1] of Varuna and Ahura Mazda The Indian Varuna has his companion in Mitra, corresponding to Mithra, the companion of the Avestic Ahura Mazda. Varuna has been very frequently given the epithet Asura, the corresponding form of which—namely Ahura, is inseparably associated with the name Ahura Mazda. The word Mazda has, according to Mr Hodiwalla,[2] its corresponding form in Mahas-da (महस्+दा=महोदा) giver of greatness, though not actually found in Rigveda has its two parts Mahah and dā separately used[3] in connection with Varuna and can be naturally formed on the analogy of सहोदा = giver of strength and भूरिदा = giver of plenty[4] All doubts about the identification of Varuna with Ahura Mazda should disappear when it is said[5] that the word Varuna survives even now as one of the 101 names of Ahura Mazda Both are called the protectors of Eternal Law, (the word for Law, ऋत corresponding to Asha of Avesta)

But while in Avesta, Varuna did not only retain his moral character,

---

1. *Cf* उरुचक्षा =Vouruchashāne (far-seeing)
विश्ववेदा =Vispa-vidhās (all-knowing)
सुदानु=Hudhānu (Bounteous)
अदब्ध:=Adhevish. (Undeceive)

2. In his 'Indo-Iranian Religions', p 29

3. *Cf* Rigveda (1—128—7 and 10—10—2 for महस् and (6—16—26) for दा·

4 Other scholars regard Ahura-Mazda as equivalent of असुर मेधा: *Cf* या मेधां देवगणा उपासते

5. Hodiwalla, p. 38.

but was raised to the position of the All-important God, the Creator, Varuna in India had a different course to run. With the geographical, climatic and ethnological changes, there would naturally come a change in the conception of gods themselves This change very well reflects the changing environment and experiences of the Indo-Aryan tribes To them, the national warrior god, Indra, appealed more than the moral Varuna Thus Varuna, the majestic and all-supreme god of the earlier period, became later only a god of lakes and pools, so completely he lost his sublime attributes of holiness and sovereignty. Now the word Varuna, leaving its older meaning "all-encompassing" came to mean "god of water, as encompassing the earth" In Iran, the moral and ethical aspect of the Zoroastrian reforms went a great length in retaining the moral and ethical position of Varuna intact

Both the Vedic and ancient Iranians reverenced the sun and fire as the purest symbol and noblest production of the divine power The usual word for the fire-god (अग्नि) in Avesta is Ātar, corresponding to the first part of the word Atharyu अथर्यु, (flaming or bŭrning), an important epithet of Agni in Rigveda 7 1-1 Or the first case singular of Ātar is Ātash, identical with the Vedic word हुताशन We will know more about the fire-god, when we come to compare the fire cult Now as regards the Sun, he is spoken of as the eye of Varuna and Mitra in the Vedas. Similarly he is the eye of Ahura Mazda in the Avesta As the Vedic people glorified the river goddess "Sarasvatī' so is reverenced the holy river Ardvi-sura. Both these rivers were situated at the borders of their respective territories,[1] for according to Mr. Chattopādhyāya[2] Sarasvati in the early Rigvedic period is no other river than the Indus (Sindhu)[3] Apām-napāt (god of lightning) bears the same name in both the literatures, the Vedic and the Avestic. The counterparts of अश्विन् are Aspins in

1 See Hodiwalla, p 76.

2. See his paper 'On the Identification of the Ṛigvedic River Sarasvati, and Some Connected Problems.'

3 The exact equivalent of Sarasvati was Harakhasti in the Vendidad.

the Avesta. The goddess dawn (उषस्) of Rigveda is Ushangh or Usha in the Avesta The Avestan Aramati (goddess of devotion or religious fervour) bears the same name in the Vedic literature A very remarkable coincidence as to the number of divine beings is seen in the thirty-three Vedic Devas and thirty-three Ratus of the Avesta A peculiar feature common to both the religions was that certain divinities were invoked in pairs and reverenced together, *e. g*, मित्रावरुणौ अग्नीषोमौ etc, of the Vedas and Ahura, Mithra, Mithra-rashun etc of the Avesta

Other parallel gods —

Ved. Vāyu=Vayu (the wind.)

Nārśamsa=Nairyosangha

. . Bhaga=Bagha

. Aryaman=Airyaman (invoked in marriage in both the cults)

Mythology

Myths are invented to explain singularly abnormal conceptions or attractive natural phenomena Surprisingly the same or similar mythological explanations were given by the Vedic and the Iranian sages. According to Pahlavi writings, Ahura Mazda through his will power produced Spenta Aramati (the earth). The father and daughter produced the first man, Gayomard The seed of Gayomard fell upon the earth (mother) from which the first human pair Mashi and Mashani were produced.[1] Here it should be noted that the union of the male and female being considered a necessary step in cosmogonical process, there is no escape possible from the next-of-kin marriage in the case of first creative pairs Accordingly we see that the union of प्रजापति (the creator) with his daughter was the cause of the origin of man. That this sort of incest was looked upon with horror by the Vedic people is clear from the statement condemning the act of प्रजापति (अकृत कृतवान्)[2] and the famous Ṛigvedic dialogue[3] between यम and यमी, wherein the sister

1. See Indo-Iranian Religion, p 118-9.
2. In ऐ० ब्रा० (13—9).
3. Rig. (10—10—2).

यमी tries to persuade his brother, यम, to marry her, but fails in her attempt, because of the refusal of Yama.

Similar is the account of the narration of the great Deluge In S'atapatha-Brāhmana (1-8-1-10) is stated that Manu was saved in a ship by a fish, which was according to the Purānas, an incarnation of God (मत्स्यावतार) In Vendidad, we read that Jamshed, (Yima of earlier period) made a Vara or enclosure as instructed by Ahura Mazda and was thus saved from the great flood Bearing in mind that Jamshed-Yima was a counter-part of Yama, the step-brother of Manu,[1] we see how closely these Vedic and Avestan legends are allied The story of the great deluge was of a very widespread circulation in ancient times, its earliest occurences being found in the Babylonian or still earlier Sumerian legends.

In Yasna (9-10), Vivanhat, the father of Yima, is represented as having first prepared the Haoma-juice, Āthwya was the second man and Thrita the third man In Rigveda we do not find this order, but Soma (Av Haoma, is called a dweller with Vivasvat) (*cf* Av Vivanghvat) (8-6-39) and Trita is said to have prepared Soma (9-34-4) In the Avestan literatures, the king Thraetaona of the Āthwyan family killed the three-headed and six-eyed Azi Dahāka With it we may compare the Vedic account that त्रित, son of आत्मा, slew the three-headed (त्रिशीर्ष), six eyed (षडक्ष) demon (वृत्र) who is also known as अहि दास (the serpent-demon), as counter-part of Azi Dahāka In Haoma Yashta, we have an account of a despotic king Kerasāni,[1] who prohibited the entry of knowledge-seekers in his kingdom He was subdued and dethroned by the prophet Haoma who introduced the Haoma ceremony With this account we may compare the story[2] about bringing Soma, wherein, an archer कृशानु is represented as guarding the Soma in heaven and as having cut off the left leg of गायत्री who disguised as a falcon attempted to bring Soma to the earth

---

1. Rig (10—17—2)
2. Indo-Iranian Religion, p. 126.
3 In ऐ० ब्रा० (III—256)

The famous इन्द्र-वृत्र myth of the Vedas has its parallel in the Tishtai-Apaosha myth in the Avesta. In both the accounts, the god presiding over rain is represented as fighting with a demon of drought.

There is a very strange phenomenon of a partial inversion in the Pantheon in the mythologies of both the religions, which cannot be justifiably overlooked entirely. The देव of the Vedas are demons (Daevas) in the Avesta[1] and the word असुर, the epithet of the highest god in the Avesta, is a synonym of the word demon in the later Vedic and classical[2] periods. Indra, the name of the most popular god of the Vedic people is a demon in the Avesta though there is an angel there bearing the distinctive epithet (वृत्रहन्) of Indra, *viz*, Veretraghna.[3] Similar is the case with the अश्विन Their epithet नासत्य is that of a demon in the Avestan form (Naonghaitya), although as Aspins they continue to receive homage The question however yet awaits final solution, though Dr. Haug's theory of the "Vedic-Iranian Schism" is no longer regarded a satisfactory explanation This problem by itself deserves a special treatment in a separate paper My aim here at present is more to show the points of agreement between the two religions

Cosmogony

Both the races were fond of indulging in cosmogonical speculations and tried to solve the problem of the origin of the universe. If the Vedic sage asked "From what source this creation arose, whether any one produced it or not"[4] the Avestic sage was equally to know "In the beginning who

---

1. Except at one or two places where the word seems to mean a god of the earlier faith. (Taraporewalla in the Religion of Zarathustra, p 12n)

2. While in the earlier parts of Rigveda it signifies "the lord of life" (असुर) and is not used in its later degraded significance.

3 Later Behrām

4 Rig · (10-129)

Cf. कुत आ जाता कुत इय विसृष्टि and इय विसृष्टिर्यत आ बभूव यदि वा दधे यदि वा न । (नासदीय सूक्त)

was the creator, who was the creator who fixed the path of sun and moon, who support earth and sky from falling down ?"[1] Prajāpati created the universe by reciting a certain mantra (निविद)[2] Similarly Ahura Mazda created the world by chanting the manthra of Ahunavairya. According to another account,[3] at first the God Viśvakarman was engendered, who afterwards created the world. This account is in conformity with the Avestan doctrine that Ahura Mazda produced the Archangel Vahumano, who completed the work of creation The conception of universe as an egg (ब्रह्माण्ड) is also found in a Pahlavi book[4] wherein it is said that "the sky, earth, water and everything else within them resemble an egg" The Vedic conception of the order of creations[5] is, Cosmic Law (ऋत) night, water, time, sun and moon, sky and earth and finally wind and light. Almost similar account is to be found in the Gāthās In the opinion of the sages of both the religions, eternal Law is the first creation.

Eschatology

The evidence of Rigveda seems to indicate that the usual method of the disposal of the dead among the Vedic people was cremation and sometimes burial. But a passage in Atharvaveda (18-2-34)[6] refers to the Parsi custom of exposing the dead bodies on high seats to the air Alberuni, the learned Arab writer of 1,000 A D, writes[7] that in ancient times, the bodies of the dead were exposed to the air, but Nārāyana prohibited this

1. Yasna (44-3-4), quoted by Hodiwalla in Indo-Iranian Religion p 95.
2. See ऐ ब्रा० (II 23).
   And (Yasna 19-8-15) quoted in Indo-Iranian Religion, p. 95.
3. In शु० यजुर्वेद (17-32)
4 Minokherd (44–8) quoted by Hodiwalla on p 98.
5 *Cf* ऋतच सत्यञ्चा (Rg. 10–190)
6 ये निखाता ये परोप्ता ये दग्धा ये चोद्धिताः। सर्वान् तानग्न आवह पितॄन् हविषे अत्तवे See the word उद्धिता=उपरि स्थापिता (high-placed)
7 Acc. to Hodiwalla (Indo-Iranian Religion, p. 105) in the book India (vol. 11, p. 167).

custom and introduced cremations. After the cremation, bones, which are now thrown into a river, were picked up, according to the evidence of Rigveda and excavated remains, and collected in earthern jar or pots and buried under the ground This custom resembled the Parsi custom of collecting bones of the dead bodies after flesh had been eaten up by vultures and placing them into Astodans or bone receptacles, which were then kept in solitary places The Vedic people used[1] to sacrifice an ox or goat with the dead body, and the orthodox Hindus even now give a cow in gift to a Brahmana, under the probable belief that the soul of the deceased went to heaven with the help of the beast The Parsis also had a custom to sacrifice a goat on the fourth day after the death of a person. Both the Hindus and the Parsees believed that after death the different parts of the body were reduced to their different elements in nature

Like their Indian brethren, the Parsees also believed in heaven (Hadnan Hadhana) (*cf* सदन used for heaven in the Vedic). The Parsis hold that after death a dead person's soul goes to the Chinvat-bridge or Bridge of Judgment, which is guarded by two four-eyed dogs and where the good and bad deeds of the person are reckoned. The idea of a formal judgment is hardly traceable in the Vedic period, but there are faint traces of this conception in later period Accordingly we find[2] that after death, a person's acts are weighed and punishment or reward given accordingly. Here also two four-eyed (चतुरक्ष and Av. Chathra-Chashma) dogs guard the पितृयान path over which the souls must pass.

The theory of transmigration is a development of later times. Accordingly there is nothing like it in the Avestic religion This theory with its corollary, Doctrine of Karma, is an outcome of purely Indian speculation. This accounts for the fact that the belief in transmigration is known to no other Indo-European religion

Rituals and Ceremonies

Fire-cult is found in both the religions. The Vedic and Persian traditions agree to some extent as to how fire was first produced. According

1. See Atharvaveda (12-2-48). 2. श० ब्रा० (11-2-7-33).

to Shahnama,[1] the king Hoshang seeing a big serpent threw a stone at him But the serpent escaped unhurt. The stone collided with a rock and produced fire With it we may compare the line यो अश्मनोरन्तरग्नि-जजान (Rig 2–12–3) (Indra generated fire from the two stones) In both the religions it was considered a sacred duty to keep fire always burning The daily अग्निहोत्र of the Vedic religion is similar to the Parsee custom of offering daily thanksgiving service to the holy fire feeding it with sandalwood As Vedic priests spread बर्हिस् grass (कुश) round the fire, so do the Parsi priests spread Barsham twigs or Barsham grass.[2] We see a wonderful similarity in name and act of the famous personages, who first installed fire, while in Rigveda, Kāvya Ushanās is credited with installing fire,[3] in Parsi scriptures Kai Ushan's (Kai Kāuś) grandson is given the honour. In the tradition of both कवि उशना (Av Kai Kāus) is said to have attempted to fly in the sky to see the heaven [4] The adoration of fire is an essential thing in almost all the ceremonies. Fire-worship is not regarded as a mere idolatrous form of worship 'Fire is the most sublime natural representation of Him who is in Himself Eternal Light.'

The object—the aim with which fire-sacrifices were performed was the same in both the rituals The Vedic priests believed that it leads to heaven, so did the Iranians It was an old Aryan belief that gods and men depended upon each other for help. So the object of sacrifice was that gods and angels might by means of the offerings and prayers get strength which led to the welfare of men.[5] To get eminent and heroic

---

1. Quoted by Hodiwalla on p. 59.
2 See Hodiwalla, p 60.
3 उशना काव्यस्त्वा निहोतारमसादयन् ।
आ यजि त्वा मनवे जातवेदसम् (Rig 8–23–17)
4 See Indo-Iranian Religion, pp 62-3
5 Indra cast down Arbuda, when, his vigour was strengthened by the libations (Rig 2-11-20).

देहि मे ददामि ते नि मे धेहि नि ते दधे (शु० य० स III-50)

'Ahura Mazda asks Zarathushtra to worship him with worthy offerings, so that he may come to assist him' ? (See Hodiwalla, p. 21)

sons is also one of the objects of performing sacrifices. It is well-known that Vivanghnat Āthwya Thrita, Paurushāspa obtained distinguished sons by the performance of the Haoma ceremony In both the cults, gift (दक्षिणा, Av Ashodād) were given to the priests (cows in Vedic ceremonies and camels and mares in the Avestic ritual) The reasons for the difference are not far to seek

The similarity between the rituals of the two religions extends even to the nomenclature that is employed The Avestic word, Yasna meaning sacrifice is यज्ञ (Yajña) of the Vedas The Vedic words for sacrifice and libation आहुति and इष्ट, are Azauti and Ishti of the Avesta The word, Zaotar of the Avesta is Hotar of the Vedic religion There are reasons to believe that होतृ in earlier times meant one who threw oblations in fire and not one who invokes gods as in the later period (*Cf* ऐ० ब्रा० 1-1-2) The Vedic word मन्त्र, Mantra, meaning sacrificial formula is Manthra in the Avesta

Similarities do not end here; severa important ceremonies of both the religions can be identified I need not enter into details Dr Haug has laboriously proved the point beyond the shadow of doubt[1] The most important Vedic ceremony, the Soma sacrifice, is clearly analogous with the Haoma ceremony of the Parsees Agreement extends even to the minutest details—in the nature of offerings, their preparation, number of chants used, the puritanic discipline obligatory to the sacrificer during the preparatory days, drinking the remnants of the offered-cup and so on. The ceremonies of the Gāhanbārs or Season festivals of the Parsees are similar to the चातुर्मास्य, four-monthly sacrifices of the Vedic ritual.

Both the Indians and the Parsees perform ceremonies in honour of their dead ancestors. Both the Zoroastrians and Vedic scriptures lay great stress on the outward and inward purity as a means to righteousness Piety in thought, speech and act was the chief precept of the Zoroastrian faith as well as of the Vedic. In both the cults water was believed to possess anti-demonic efficacy The orthodox Parsees regard cow-urine[2]

---

1 See his 'Essays on the Religion of the Parsis,' p 279-35.

2. Called Nirang in their scriptures

sacred for purification like the Hindus Dr Haug says[1] "Such remedies as cow-dung and cow-urine have been used even on the continent of Europe by peasant physicians to our own times". As the first three classes of the Brahmanical religion (*i.e* द्विज) wear a sacred thread (यज्ञोपवीत) and girdle (मेखला), so the Zoroastrians put on a sacred shirt and girdle, in the initiation ceremony when a child is admitted into the Brahmanical or Zoroastrian fold. Unfortunately, among the Hindus, girls are no longer invested with the holy thread like boys, though the Hindu girls like the Parsi girls did have the investiture in the olden days,[2] and the Zoroastrians have kept up the ancient form of the dress unchanged, while among the Hindus, the shirt has dwindled down to a mere thread and girdle is put off just after the ceremony The orthodox Parsees do not eat food, like the Hindus, cooked by a person of another religion. The four classes of peoples[3] mentioned in later Avestic literature, *viz*, priest, warrior, artisan and tiller, strikingly remind us of the four classes of the people of the later Vedic religion

Philosophy and Ethics

Now we come to the last point of our study, *viz*, Philosophy of Life

The Vedic sages as well as the Iranian sages had the tendency to religious thought and to speculative philosophy But on the whole, in the Avestic religion moral interest predominates as compared with the sacrificial and philosophical interest of the Vedic religion The Avestic religion commits itself to the doctrine of dualism The good and evil are the two primeval principles which pervade the world. The evil is as real as the good. Ahura Mazda (later Ormuzd) aided by six Angels,

---

1 See Essays on the religion of the Parsees, p 286

2 *Cf.* पुराकल्पेषु नारीणा मौञ्जीबन्धनमिष्यते (a स्मृति).

3 Atharvan (priest).
Rathaeshtâr (warrior)
Hutokhsha (workman)
Vastriosh (cultivater)
Indo-Iranian Religion p. 4.

Amesha Spenta (the personified virtues) and Angra Mianyu (later Ahriman) aided by demons stand opposed to each other There is a constant strife between the good and the evil But in spite of all this, the Avestic religion does not stoop down to pessimism The ethical conception is essentially optimistic The good will triumph in the end. The ideal of life is not to be reached by fleeing from the temptations of the world and meditation in the solitary jungle, but is to be worked in struggle and sufferings of this world Self-development is a manly virtue, renunciation is weakness To be up and doing is the philosophy of man's real life according to the path of Zarathushtra

On the other hand, the history of Vedic religion presents another course of development Its earlier phase of the practical and optimistic religion when worldly success was sought by the Vedic priests was later on forgotten Intensive speculation led the Indian to attach all possible interest to the after-life alone. This world was renounced out and out. A sort of negative ethical conception evolved here, deep meditation led to the complete abolition of the barriar between god and man and everything was to be absorbed in the Universal Self The inward life of soul completely absorbed all other faculties. Instead of "I worship god," the Indian sage came to realize "I am god.' The Indian view found its ideal in मोक्ष, the cessation of worldly existence. It seems to be a very farfetched conclusion but it is certainly the logical outcome of a keen and intensive speculation over the problems of the universe. India has been noted for its extremes and its philosophical enquiry is no exception to this rule Morality cannot be divorced of philosophy In the field of religion, the Avestic and Vedic people both have contributed their quota in ethical and philosophical conceptions, though one has gone further than the other in ethics or philosophy Life on earth should be lived and enjoyed, but duty is not to be neglected[1] Our attempt at self-development should not concern itself only with the immediate issues of the present life Our Soul is not to perish with the end of this life. There is yet a long journey to cover

1. *Cf* कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छत समा (ईशोपनिषत्)।

But I have now come to a close of my present journey The close parallelism in the Vedic and Avestic thoughts corroborate the unity of the two nations in what is called the Indo-Iranian period [1] Fortunately the descendants of the two ancient nations have again been brought together on the soil of India by the force of circumstances, as integral and component parts of one great nation—the Indian

The Parsee Dastoor, who led the first band of the Parsees, that landed on the hospitable shore of India, after the Arab conquest of Persia, said to the ruling prince of Sanjan 'We will be the friends of India (Hami Hindustānrā yār Bāshim)' and certainly, in the words of Dr J J Modi, 'the Parsee community has done its best to be true to the promise of being friendly to Hindustan [2]

[*Published in the bulletin of Allahabad University Oriental Society*, 1928—9, *Pages* 31-44]

1. The fore-fathers of both the nations were called आर्य (AV. Airya) in ancient times.

2. See Indo-Iranian Religion, p. xii, Foreward.

2. NEED FOR REWRITING PĀNINI'S GRAMMAR.

THE greatest achievement of the Indian mind is to be seen in the sphere of Grammatical Science, wherein पाणिनि's name reigns supreme पाणिनि, acknowledged as the foremost grammarian of the world, has rendered eminent services to the Science of Language. For originality of plan and analytical ability, his grammatical system is unparalleled in the history of languages Accurate and complete in its design, it is, at the same time, a "perfect miracle of condensation" In his marvellously concise work, अष्टाध्यायी, he has dealt with all the phenomena of the Vedic and classical Sanskrit so scientifically and thoroughly that he eclipses all his predecessors and successors During the last 2, 500 years, continuous attempts have been made to interpret and explain his work by a number of scholars— कात्यायन and पतञ्जलि, वामन and जयादित्य, भट्टोजिदीक्षित and नागोजीभट्ट—and his work has been studied with living interest in India by Sanskrit grammarians.

An acquaintance with the recently developed Science of Comparative Philology has influenced the modern study of the Sanskrit language. It is no longer studied by Sanskrit Pandits only. It is now studied with scientific insight by scholars trained in the Western methods of critical studies The Sanskrit language is not studied in isolation from the sister languages of the ancient world. Nor is the classical Sanskrit studied as divorced from the Vedic Sanskrit. As a result of the comparative study of ancient languages, our outlook has widened and we interpret and explain the phenomena of the Sanskrit language in the light of researches made after a close study of the Sanskrit (Vedic and classical) and other allied languages. We accept the Pāninian rules and their traditional interpretations not before a critical examination. In the following lines, we venture to examine a few points in the pāṇinian scheme of grammar that

have to be considered in meeting the modern requirements of the Sanskrit Grammar

I

On closer examination, formations of some words appear to have been wrongly accounted for by पाणिनि They have to be critically examined and corrected To elucidate the point, we will take some typical examples into consideration

(*a*) पाणिनि lays down in a सूत्र[1] that, in the conjugational tenses, the (roots) √स्था, √घ्रा, √दृश्, etc (belonging to the I conjugation) assume the form तिष्ठ, जिघ्र and पश्य, respectively Thus he accounts for the forms तिष्ठति, जिघ्रति, and पश्यति Now it will appear that the more correct and scientific way of accounting the first two forms is to regard them as the reduplicated forms of the √स्था and √घ्र (belonging to the III conjugation) As from the roots √हु and √भी, we get the reduplicated forms जुहोति and बिभेति, so we can get तिष्ठति from स्था and जिघ्रति from घ्रा The third example पश्यति is not from the √दृश् but from the √स्पश् (to see) [*cf* स्पश (watchmen, spies) in Rg] belonging to the IV conjugation, with initial स् dropped as in the word पस्पशाह्निक As नृत्यति from √नृत्, so पश्यति from √स्पश्=पश् (a Vedic root)

(*b*) The present tense form शृणोति is accounted for by पाणिनि as from √श्रु (belonging to the I conjugation) which is changed to शृ and has, as an exceptional case, नु suffix instead of अ (शप्), the usual suffix of the I conjugation [2] The simple way to explain the form is to regard it as coming from √शृ (V conjugation) As चिनोति from √चि, so शृणोति from √शृ

(*c*) दम्पती, an optional form for जायापती (wife and husband) has been regarded as an irregular formation (निपातन) by पाणिनि[3] वामन, जयादित्य and भट्टोजीदीक्षित further say that there is a substitution (आदेश) of दम् for जाया Here also we may say that the natural way of explaining

1. पाघ्राध्मा. , अष्टाध्यायी (7-3-38).
2 श्रुव· शृ च, (3-1-74)
3 राजदन्तादिषु परम् (2 2-31)

the form दम्पती is to split the form in two दम्+पती (षष्ठीसमास) = the masters of the house. The word दम, a by-form of दम्, occurs in Rg. in the sense of a house, e g, 'वर्धमान स्वे दमे (Rg 1-1-8) Also *cf* the Latin word '*Domus*' (a house).

(*d*) Now we take the example of the periphiastic future (अनद्यतन-भविष्य or the 2nd future). This is taken by पाणिनि as a separate non-conjugational tense

कर्ता, कर्तारौ, कर्तार —3rd person
कर्तासि, कर्तास्थ कर्तास्थ—2nd person
कर्तास्मि, कर्तास्व , कर्तास्म —1st person

The students of the Pāninian system of Grammar are perhaps not aware that the periphrastic future forms are simply कृदन्तीय तृच्प्रत्ययान्तीय forms in the 3rd person and they are joined to the present tense 2nd person and 1st person forms of $\sqrt{}$अस् in the 2nd and 1st person respectively कर्तासि=कर्ता+असि, कर्तास्मि=कर्ता+अस्मि Dual and plural forms are simply based on analogy

II

To give the students a scientific insight, our modern way of teaching grammar should offer 'Rationale' for grammatical changes, which can at best be inferred only in the Pāninian system

(*a*) Why is अ sound retained in अस्ति (the third person singular in the present tense of $\sqrt{}$अस्) and dropped in स्त (the dual number) ? Students should be taught *explicitly* that the difference is due to the shifting of accents In स्त, अ sound is dropped because of the shifting of the accent from अ to त (root to termination) and consequent weakening of the अ sound

(*b*) Pānini teaches[1] that $\sqrt{}$अस् has got भू form in non-conjugational tenses (*e g*, बभूव in लिट्) and अस् form in conjugational tenses (*e g*, अस्ति in लट्) But this is not wholly correct We have got अस् forms of the root in लिट् in the Vedic literature [*cf* आस (was)] Our grammar should state clearly that the non-conjugational forms of $\sqrt{}$अस् existing

1 अस्तेर्भू (2-4-52)

in the Vedic Literature have disappeared in the classical Sanskrit and we have to borrow forms from the √भू[1]

(*c*) The declensional forms of युष्मद् and अस्मद् are a conglomeration of forms from various stems (त्व—म, युव—आव, तव—मम, यूय—वय, etc). The complete declensional forms of these stems being lost, an attempt was made to complete the scheme by borrowing forms of other stems But Pāninian grammar teaches us that all the declensional forms have their stem in युष्मद् and अस्मद् !

(*d*) An important Phonetic Law, स्वरभक्ति (inserting a short vocalic sound between two conjunct consonants for ease in pronunciation) is nowhere directly hinted in the Pāṇinian system[2] (though it is known to the writers of प्रातिशाख्य's and पिंगलसूत्र's on Prosody) This Law is frequently applied in Prākrta languages (*cf* रअण → रतन → रत्न) But there are examples of the working of this Law in classical Sanskrit also The word मनोरथ (desire) can be best understood by regarding it as an example of स्वरभक्ति मनोरथ → मनोर्थ

III

In the Pānini an system of grammar, there are some so-called maxims of interpretation, which are often resorted to by commentators in interpreting or discussing the meanings of पाणिनि's सूत्र's (*e g*, अन्योन्याश्रयदोष[2] परिहार and वाक्यापरिसमाप्तिन्याय) The application of these maxims of interpretation betrays a very unfortunate ignorance of some fundamental principles on which the अष्टध्यायी is based As shown by me elsewhere,[3] the doctrines of अन्योन्याश्रयदोष and वाक्यापरिसमाप्तिन्याय cut at the very root of the grammatical system and their acceptance will lead to many complications The अष्टाध्यायी of पाणिनि is a whole inter-connected work

---

1 Only for Vedic forms पाणिनि says 'छन्दस्युभयथा' (6-4-86)—विभ्वम् or विभुवम्.

2. See सिद्धान्तकौमुदी on हलन्त्यम् (1-3-3) and नाज्झलौ (1-1-10)

3. My paper on "Homogeneity of Letters in the Pāninian System-a Critical Study", read in the All-India Oriental Conference, Baroda (1933).

Each सूत्र should be interpreted in the light of what we know from other सूत्र's and not in isolation from other सूत्र's

Thus applying this widely accepted canon of interpretation, we find that interpretations of some सूत्र's, as propounded and accepted by commentators, can be proved faulty The commentators, in these cases, instead of leading us to the most natural and simple interpretations, have gone astray In such cases, we should reject the interpretations of commentators (*See* the interpretation of पाणिनि's सूत्र 'नाज्झलौ' in my paper referred to above)

IV

There are some सूत्र's of पाणिनि, which admit of modification in their wording, as has already been suggested by various commentators For example, the सूत्र 'तस्यादित उदात्तमर्धह्रस्वम्' (1-2-32) should read 'तस्यादित उदात्तमर्धम्'[1] In many cases कात्यायन वार्तिककार has suggested additions, substitutions and dropping of words in the सूत्र's of पाणिनि In such cases, allowing the सूत्र's to remain unchanged would lead to confusion.[2] Therefore, the suggestions made by कात्यायन should be carried out in the body of पाणिनि's सूत्र's

The same remark applies to the suggested omission of those सूत्र's which are declared as useless (प्रत्याख्येय) by पतञ्जलि and other commentators.

V

Now we may refer to a point of importance, which has not been sufficiently emphasized in Pānini's work—the relation between the Vedic and the classical Sanskrit Though पाणिनि's work claims to deal with both these languages by treating the Vedic usages as exceptions to the classical, we are constrained to say that the Vedic section has been treated very haphazardly It does not cover all the groudnd of the Vedic usages with the same thoroughness as is seen in the treatment of the classical

---

1 For detail, see तत्त्वबोधिनी commentary of सिद्धान्त कौमुदी on the सूत्र.

2 See the सूत्र (2-3-17) and the वार्तिक on it

Sanskrit There is much scope for enlarging the Vedic section[1] (वैदिकी प्रक्रिया) The long rope allowed to the Vedic forms by such सूत्र's as 'बहुल छन्दसि' (occurring very frequently in the Vedic section) does not clearly indicate the relation between the Vedic and classical Sanskrit There should have been a more rational and scientific treatment of the Vedic section

Our grammar should clearly state that many classical Sanskrit forms are remnants of earlier Vedic forms The word समानधर्मा (समानो धर्मो यस्य स) possesses a remnant of the Vedic stem धर्मन् and is not formed by adding अन् in the end of the compound as पाणिनि prescribes [2]

VI

The basis of पाणिनि's Grammar is, as Dr R G Bhandarkar says, the usage of Brāhmanas and Upanishads rather than of the classical Sanskrit literature It is due to this reason that many formations accounted for by पाणिनि are not found used in the classical Sanskrit A thorough indexing of principal works written in the classical Sanskrit will give us an idea as to how many roots and formations accounted for in पाणिनि's अष्टाध्यायी are now rendered obsolete Needless to say, such roots and formations deserve no place in a grammar of classical Sanskrit

More than 2,000 years ago, this very pertinent question was raised in पतञ्जलि's महाभाष्य (I-1-1) . "Why should Grammar provide for formations which are no longer used ?" The reply given there is more hypothetical than practical "Though some forms are not found used in the extant literature, yet grammar should make provision for them Who knows they might have been used in some obscure work found in some corner of the world ? Our earth is made up of seven continents, there are three worlds, four Vedas with their auxiliary treatises, works on history, dialogues,

---

1 There is no scientific treatment of *governing compounds* in पाणिनि's अष्टाध्यायी, *e g* , धारयत्कवी=कवि धारयन्तौ (helping a sage). Even nomenclature of such a compound is wanting there

2 By the सूत्र, 'धर्मादनिच् केवलात्' (5-4-124).

traditions and Purānas How can one guarantee that a particular formation is not to be found somewhere in this extensive literature?"

Surely in the present practical age, when there is a cry for economy in all spheres of action, one would not like to overburden a grammatical treatise with rules for forming such words, the very existence of which can be reasonably questioned In our reshaping पाणिनि's अष्टाध्यायी, such सूत्र's have to be necessarily dropped

A rewritten version of अष्टाध्यायी—at some places abridged and at other places made more scientifically comprehensive—embodying the results of a comparative study of the Vedic and classical Sanskrit, will be of great help and practical use to the modern students of the Sanskrit language For, however much we may try to teach Sanskrit Grammar through the modern books (such as Bhandarkar's and Trivedi's), our students cannot be expected to have attained good grounding in and command over the Sanskrit language, unless they are taught Sanskrit Grammar by the Pāninian method

[*Published in 'Nagpur University journal'*
No 1 *December* 1935, *Pages* 5-10]

3. ON REFRENCES TO EARLIER GRAMMARIANS IN THE AṢṬĀDHYĀYĪ AND THE FORMS SANCTIONED BY THEM

THAT by its very nature of completeness, scientific arrangement and developed technique, Pāṇini's famous work, the *Aṣṭādhyāyī*, cannot be the first work on Sanskrit Grammar is conceded by all He must have had before him a sufficiently long tradition in grammatical writing to utilise for his system of Grammar Both kinds of evidence—external and internal—are abounding to indicate the existence of grammarian-writers in pre-Pāṇini period *Indra, Candra, Kāśa-kṛtsna, Āpiśali, Śākaṭāyana* as well as *Varṣa* are great figures of that period in the sphere of Grammar. The first five are mentioned as great grammarians in chronological order by Vopadeva in the *Kavikalpadruma* and the last is eulogized as reputed grammarian honoured in the court of Pāṭaliputra in the *Kāvyamīmāṁsā* of Rājaśekhara [1] But the *Aṣṭādhyāyī* so completely eclipsed the works of his predecessors that we are confronted with his monumental work as the first work in the extant grammatical literature. Besides the above external evidence, we have the internal evidence of Pāṇini himself about the long tradition of grammatical studies in India In the *Aṣṭādhyāyī*, he mentions as many as ten specific names of early grammarians and also alludes to many others by general designations There is not the least doubt about the veracity of his statements ascribed to earlier grammarians, for whenever comparison and verification are possible in the present available literature, Pāṇini's statements have been shown to have got the

1. See pp xiv-vi and xlviii of the *Survey of the Manuscript Literatures on Sanskrit Grammar, etc.* (Preface), by M M Haraprasāda Śāstrī (Calcutta, 1931)

exact counterparts[1] Our only pity is that we do not have available to us many works of pre-Pānini period and that very scanty material has survived Pānini Consequently a good many of his statements cannot be corroborated at the present state of our knowledge

The traditional interpretation of the *sūtras* containing references to earlier grammarians (*Pūrvācāryas*) regards them generally to be optional in character In one sense it is an understandable procedure The correctness or otherwise of a form is to be decided not only by the sanction of Pāṇini but of his predecessor grammarians also The third person singular of the imperfect Past of the root $\sqrt{}$*Rud* is *arodīt* according to Pāṇini (VII-iii-98), but according to *Gārgya* and *Gālava* (VII-iii-99) the form should be *arodat* The Pāninian commentators would therefore make the sūtra (VII-iii-99) optional in character and for us in the twentieth century both the forms are permissible The prevalence of such feminine bases as *Vācā*, *Niśā* and *Diśā* can be accounted for only in this way, for according to Pānini, who sanctions no feminine suffix (*tāp*) in the case of consonant-ending bases, the forms should be *Vāk*, *Nik* and *Dik* It is on the consideration of *Bhāguri's* sanction[2] that the former sets of forms have gained currency Hence there is nothing unnatural in the procedure adopted by the commentators in making the *Pūrvācārya*-mentioning sūtras optional and declaring almost everywhere that *Ācārya-grahaṇam vibhāsārtham* (*i.e*, the mention of a Pūrvācārya in a sūtra is to make the sūtra of optional application).

But the fact nevertheless remains that this procedure shows scant courtesy to the scientific accuracy in interpreting those sūtras We should not forget that Pānini refers to Pūrvācāryas only in *some* sūtras and not everywhere This very fact should convince us that there is some special significance in such mentions. When a sūtra sanctions a form in the name of a particular grammarian, the most natural interpretation would be to

1 *Indian Historical Quarterly*, Vol X, pp. 665-70; Thieme · *Pāṇini and the Veda* (Allahabad).

2 *The Siddhāntakaumudī*, II, iv, 82; see *Laghuśabdenduśekhara* on the same for a discussion of Bhāguri's view.

regard the form as correct according to that grammarian only. It is to the great credit of Pāṇini that he, moved by scientific considerations of precision, does not disavow that form altogether, but indicates its partial or limited correctness by ascribing it to a particular grammarian. That he himself did not agree with that grammarian needs no explicit mention. It is already implied there. Kātyāyana's *Vārtika—'Ācārya-desha-śīlane ca tadviṣayatā'* (on I–i–43) clearly refers to this significance in the mention of a pūrvācārya. It is therefore a clear case of the departure by the commentators from the strictly faithful interpretation. If Pāṇini had intended these *pūrvācārya*-mentioning sūtras to be only optional in character, he would have followed his usual procedure of inserting such option-indicating words as *vā*, *vibhāṣā* etc., in those sūtras. The mention of early grammarians should therefore not be equated in meaning with the optionality of a sūtra. Pāṇini mentions pūrvācāryas only in those cases where he differed from them, and though for our practical purposes it may amount to result in the optionality of such sūtras, such an interpretation is unwarranted. We have no justification in reading in such sūtras a meaning not intended by Pāṇini. The traditional interpretation lands the commentators in fresh difficulties from which they try to extricate themselves by offering unconvincing explanations. For example, there are *sūtras* (VI-i-92, IV–i–160, VI–iii–61, V–iv–112) the optional nature of which is either already expressed in the sūtra itself or can be understood through *Anuvṛtti*. In such cases, the mention of pūrvācāryas for making the sūtras optional would be quite unnecessary. So the commentators account for such mentions by saying "*Ācāryagrahaṇam pūjārtham*" (the mention of a grammarian is to bring honour to the work) [1] Another curious explanation is offered in the *Kāśikā* on the sūtra (IV–i–153),—"*Vacanasāmarthyādeva samāveśe labdhe Ācāryagrahanam—Vaicitryārtham*" (Option being understood in the sūtra itself, the mention of an Āchārya is for uniqueness). The author of the *Prauḍhamanoramā* goes still further and, failing to grasp the significance of mentioning a number of *Pūrvācāryas*

---

1. पूजार्थमित्यस्य स्वशास्त्रपूजार्थमित्यर्थ (Nāgeśa in his comment on the *Vārtika* आचार्यदेश शीलने च तद्विषयता on the sūtra, I i.43.)

on one and the same topic (for indicating optional application according to him), boldly asserts the uselessness of the *Pūrvācārya*-mentioning sūtras.[1] Needless to say that these explanations cannot be seriously urged and overlook the significance o Pānini's technique

Pānini's work has got its own technique We would not be justified in criticising his sūtras from a standpoint not consistent with his technique. Dr Batakrshna Ghosh has expressed very ably Pānini's purpose in mentioning his predecessors, "when Pānini mentions a pūrvācārya, he means exactly what he says, namely that the particular view of the pūrvācārya, is not shared by him, even though the forms concerned might not be quite unknown in the language."[2] But we do not see much cogency in his subsequent statement (deducible according to him as a corollary from the above proposition) that "the sūtras characterised by unambiguous terms like *vā* and *Vibhāṣhā* represent his own views from which others differed " In the case of the sūtras declared by Pānini to be optional (*e g*, VIII-iv-59), there is nothing to warrant the conclusion that other grammarians differed from him. The sūtra means neither more nor less than this that Pānini regarded as correct both the forms sanctioned by it In the absence of anything to the contrary, we have to presume that other grammarians agreed with him in this respect. If they differed from Pānini, we should expect him to state their dissent clearly as he does in VIII-iv-67 So long as Pānini does not record the dissent of other grammarians in a sūtra of optional application, we are not justified in regarding the above corollary as an "indirect inference from the first proposition."[3] Nor do we see any indispensability in the evidence,[3] adduced by Dr. Ghosh as a positive proof for the first proposition. He has made a close scrutiny of the sūtras (VIII-iii-18/20) and after pointing out the discrepancies and redundancies in the commentators interpre-

---

1. अनचि चेत्येव द्वित्वविकल्पसिद्धौ त्रिप्रभृतिष्वित्यादि सूत्रत्रय नारमणीयम् (बालमनोरमा on the सूत्र, VIII, iv.52.)

2. See p. 21 of *D. R. Bhandarkar Commemoration Volume* (Calcutta, 1940).

3. *D. R Bhandarkar Commemoration Volume*, pp. 22-23.

words in Pānini's sūtras. The assertion of Dr. Ghosh about the ending of pūrvācārya-mentioning sūtras, is therefore not well-founded

Pānini's mention of pūrvācāryas is of a specific and definite nature. When more than one pūrvācāryas differ from him, he mentions all of them (VII–iii–99 and VIII–iv–67) In case of disagreement with more than three, he uses the expression *Ācāryānām* (VIII–iv–52, VII–iii–49) As this expression is invariably used after mentioning a number of other grammarians, it is traditionally believed that the reference is to the great teacher of Pānini for whose respect the word has been used in plural number Lesser grammarians are referred to by the expression, *ekesām*' (VIII–iii–104) To show the agreement of all grammarians on a point (the mention of which is rendered necessary in view of the disagreement mentioned in the preceding sūtras on a similar or allied point), Pānini uses the expression '*Sarvesām.*' For indicating the dialectial varieties, he refers to the Easterners (*Prācām*) and Northerners (*Udīcām*). The former designation (*Prācām*) is used in some sūtras in the sense of 'Eastern regions [1] The latter expression (*Udīcām*) refers to northern grammarians and taken in conjunction with *Prācām* clearly shows that pānini, hailing from West, dealt with the western dialect as the standard Sanskrit and occasionally noted the departures in the Eastern and Northern dialects. The spread of Sanskrit in South occurring in post-Pāninian period, he does not take note of the southern dialects.

With these prefacing remarks, we now proceed to give below an alphabetical list of the pūrvācāryas, referred to in the *Astādhyāyī* with a brief descriptive note on the forms allowed by different grammarians

Ācārya (i) VII–iii–49 sanctions the form खट्वाका (an unknown cot), according to Pānini the form ought to be खट्विका or खट्वका

(ii) VIII–iv–52 sanctions दात्रम्, according to Pānini the form is दात्त्रम् (a cutting instrument).

Āpiśali VI-i-92 allows two forms उपार्षभीयति and उपर्ष-

1. I i.75; IV.ii.120, 123, 139, VI ii 74, 99, iii 10, VIII.iii.14, 24.

मीयति (उप+ऋषमीयति) ; according to Pāṇini, the form is उपार्षमीयति only.

Udicām (Udañch)

(i) III–iv–19 sanctions the phrase अपमित्य याचते (He exchanges after asking); according to Pāṇini the form is याचित्वा अपमयते.

(ii) IV–i–130 sanctions गौधार in the sense of son of गौधा according to Pāṇini the form is गौधेर.

(iii) IV–i-157 sanctions आम्रगुप्तायनि (son of आम्रगुप्त ; according to Pāṇini the form is आम्रगुप्ति.

(iv) VI–iii–32 sanctions मातरपितरौ (parents) , according to Pāṇini, the forms are मातापितरौ and पितरौ.

(v) VII–iii–46 sanctions क्षत्रियिका, according to Pāṇini, the form is क्षत्रियका (a क्षत्रिय lady).

(vi) IV–i–153 sanctions the forms कारिषेणि , लाक्षणि ,कौम्भकारि ; according to Pāṇini the forms are कारिषेण्य , लाक्षण्य., कौम्भकार्य

Ekesām

VIII–iii–104 sanctions अर्चिभिष्ट्वम् , according to Pāṇini the form is अर्चिभिस्त्वम् (a prose formula of *Yajurveda*)

Kāśyapa

(i) I–ii–25 sanctions two optional forms in the past absolutive from the roots √तृष्, √मृष् and √कृष् तृषित्वा, तर्षित्वा etc , according to Pāṇini, only the latter form is permissible

(ii) VIII–iv–67 shows काश्यप's opinion that an अनुदात्त following an उदात्त is changed to स्वरित, while Pāṇini restricts this change only to those cases where the अनुदात्त is not followed by an उदात्त, or स्वरित. The grammarians गार्ग्य and गालव are in agreement with काश्यप

Gārgya

(i) VII–iii–99 sanctions the form अरोदत् in the imperfect past third person singular from √रुद्; according to Pāṇini, अरोदीत् See गालव.

(ii) VIII–iii–20 permits the combination of भोस्+अत्र to be भो अत्र; according to Pānini, the form is भोयत्र शाकल्य (VIII–iii–19) agrees with गार्ग्य in this case, but शाकटायन makes the य sound in भोयत्र weaker in pronunciation (*cf* VIII–iii–18)

(iii) VIII–iv–67 See काश्यप and गार्ग्य

Gālava

(i) VI–iii–61 allows ग्रामणिपुत्र for ग्रामणीपुत्र, permissible according to Pānini.

(ii) VII–i–74 allows ग्रामण्या (adjective to ब्राह्मणकुलेन) ग्रामण्ये etc , according to Pānini the forms are ग्रामणिना, ग्रामणये etc.

(iii) VII–i–99 sanctions the form अरोदत् for अरोदीत्, permissible according to Pānini *Cf* गार्ग्य

(iv) VIII–iv–67. See काश्यप and गार्ग्य

Cākra Varmana

VI–i–130 permits the absence of प्लुत in अस्तु हीत्यब्रवीत्, according to Pānini, it should be अस्तु हिं इत्यब्रवीत्

Prācām (prāñc)

(i) III–iv–18 sanctions अल रुदित्वा, according to Pānini, it should be अल रोदनेन, or मारोदीः.

(ii) IV–1–17 गार्ग्यायणी, Pānini allows गार्गी.

(iii) IV–1–43 शोणी, Pānini permits शोणा.

(iv) IV–1–160 ग्लुचुकायनि, Pānini allows ग्लौचुकि

(v) V–iii–80 उपड:, उपक ; Pānini allows उपिय., उपिकः, उपेद्र दत्तक

(vi) V–iii–94 एकतर, एकतम, Pānini allows तर and तम suffixes from the bases किं, यद्, तद् only

(vii) V—iv–101 द्विखारम्, Pānini permits द्विखारि (खारी is a measure).

(viii) VIII–ii–86 allows the phrases, आयुष्मानेधि दे ३ वदत्त, देवद ३ त्त, देवदत्त ३. But Pānini allows only the last form.

(ix) III–i–90 allows the forms कुष्यति पाद स्वयमेव and रज्यति वस्त्रं स्वयमेव, according to Pānini

the forms are कुष्यते पाद· स्वयमेव and रज्यते वस्त्र स्वयमेव.

Bhāradwāja — VII–ii–61 sanctions by implication ययिथ (2nd person singular in past perfect), according to Pānini it isययाथ (from√या)

Śākatāyana — (i) III–iv–111 अयु (past imperfect third person plural from √या), according to Pānini, the form is अयान्

(ii) III–iv–112 अद्विषु, Pāṇini allows अद्विषन्.

(iii) VIII–iii–18 makes the य sound weaker in pronunciation, भोर्यत्र, according to Pānini, there is full pronunciation of य sound, while गार्ग्य and शाकल्य favour its dropping See गार्ग्य and शाकल्य.

(iv) VIII–iv–50 permits the form इन्द्र.; according to Pānini, it may be इन्न्द्र also

Śākalya — (i) I–i–16 वायो इति in padapāṭha of शाकल्य, Pānini allows वायविति

(ii) VI–i–127 कुमारि अत्र; according to Pānini it is कुमार्यत्र.

(iii) VIII–iii–19 permits क आस्ते and भो अत्र. But according to Pānini the forms are कयास्ते and भोयत्र. See शाकटायन and गार्ग्य also.

(iv) VIII–iv–51 allows the form अर्क only; according to Pānini the form is अर्क्क also.

Senaka — V–iv–112 sanctions उपगिरम् (near a mountain), according to Pānini, it is उपगिरि.

Sphoṭāyana — VI–i–121 permits the combination of गो+अजिनम् to be गवाजिनम्, according to Pāṇini the forms are गो अजिनम् or गोऽजिनम्.

Sarveṣām — (i) Having mentioned in VII–iii–99 that the roots √रुद् etc, have according to गार्ग्य and गालव the forms अरोदत् imperfect past from √रुद्)

as distinguished from अरोदीत् sanctioned by him, Pāṇini says in VII–iii–100 that all agree as regards the form आदत् from √अद्

(ii) Having shown the difference of opinion among गार्ग्य, शाकल्य and शाकटायन and himself about the form resulting from the combination of भोस्+अच्युत, Pāṇini says (VIII–iii–22) that all agree about the form भो देवा (भोस्+देवा).

BIBLIOGRAPHY

Chaturvedi, S. P. . *New Indian Antiquary*, **1**, 450–59, 2, 723-27

Ghosh, B K *NIA*, 2, 59-61, *Indian Culture*, **4,** 387-99; *Bhandarkar Commemoration Volume*, 20-25

Keith, A B. *Indian Historical Quarterly*, **10,** 665–70

Pāṇini . *Aṣṭādhyāyī* (with *Siddhāntakaumudī and Bālamanoramā*)

Patañjali . *Mahābhāṣya* with Nāgeśa's *Uddyota*

Shastri, H.P. . . *Survey of the MSS. on Sanskrit Grammar, etc* (Preface).

Thieme, P. . . *Pāṇini and the Veda.*

[*Published in Nagpur University gournal, No December.* 1941, *Pages,* 46-53]

4. SIGNIFICANCE OF PĀṆINI'S SŪTRA VI-i-92

In a recent issue of *Indian Culture* (Vol VIII, No. 4, p 397) Dr Batakrishna Ghosh has criticised a statement in my article (*Nagpur University journal*, 1941, No 7, p 49) "On references to early grammarians in the *Ashtādhyāyī* and the forms sanctioned by them", wherein I had remarked that his evidence "is after Drāviḍa-prānāyāma procedure" Among many other things, I showed in that article that "Pānini's purpose in mentioning names of early grammarians (Pūrvāchāryas) is not *merely* to indicate the optional nature of those sūtras, but to record the opinion of other grammarians about usages, which, despite Pānini's implied disagreement, were not unknown in the then language." This view is not materially different from that of Dr Ghosh on the subject But as regards the evidence of Dr. Ghosh for the above conclusion, I ventured to suggest that a more direct and positive evidence was available in the Sūtra (VI-i-92). He does not agree with my suggestion and thinks that the sūtra can at the best suggest but never prove the point

In a discussion of this nature it is of fundamental importance that the view-point of the Pūrvapaksha should be clearly borne in mind before adducing the evidence of the Uttarapaksha What is the Pūrvapaksha on the subject here ? As stated in my article the Pūrvapaksha is that according to the traditional interpretation, mention of the Pūrvāchāryas in the P sūtras is merely to indicate the optional character of those sūtras (*Āchāryagrahaṇam Vibhāshārtham*). Whenever a Pūrvāchārya's name is mentioned in a sūtra. the sūtra should be regarded as optional in application and thus there is no special significance attached to such mentions. Now to disprove this Pūrvapaksha view, the Uttarapaksha should point

out a sūtra wherein the Pūrvāchārya could not have been mentioned for making the sūtra optional The sūtra VI–i–92 is such an instance in which besides mentioning a Pūrvāchārya the usual word *VĀ* indicating option, is also used This sūtra is therefore a direct and positive evidence to disprove the Pūrvapaksha view. The Pūrvapaksha view being thus discredited, we can establish the Uttarapaksha that there is special significance in mentioning Pūrvāchārya's names When a sūtra sanctions a form in the name of a Pūrvāchārya, the most natural interpretation would be to regard the form correct according to that grammarian only When more than one Pūrvāchārya differs from him, Pānini mentions all of them (VII–iii–99, VIII–iv–67). The mention of early grammarians should therefore not be equated in meaning with the optionality of the sūtra—though for practical purposes of knowing generally sanctioned or unsanctioned forms, it may amount to result in the optionality of such sūtras

The real purpose then of Pānini in mentioning a Pūrvāchārya in VI–i–92 is to indicate that the *vrddhi* laid down in VI–i–91 is optional when a *Sup*-root follows in the opinion of Apishali. Thus in this sūtra, as Dr. Ghosh also says, neither VĀ nor Āpishaleḥ is redundant. But it should be noted that it is only on our acceptance of the Uttarapaksha view that we get the above natural meaning of the sūtra and appreciate the significance of the words there. Otherwise according to the Pūrvapaksha view the sūtra would mean that the *vrddhi* is optional, when *Sup*-root follows, and the mention of Apishali is merely *Pūjārtha* (*cf Āpishaligrahanam Pūjārtham. Veti hyucyata eva*—Kāshikā on the sūtra). It was in this setting of Pūrvapaksha and Uttarapaksha views that I suggested my evidence as more direct and positive than that of Dr. Ghosh. It is none of the business of the Pūrvapaksha to interpret the sūtra according to the Uttarapaksha and *then* to assert that the sūtra is not an absolute evidence in favour of the Uttarapaksha. Dr. Ghosh's contention that this sūtra can at best suggest but never prove the point is therefore not right.

I do not think it necessary to hammer again the second point referred to in Dr Ghosh's note, for he still maintains that whenever Pānini specifically mentions a Pūrvāchārya for his views on particular grammatical problems, the revered one is mentioned at the end of the sūtra concerned.

On my pointing to the S III-iv-111 as going against his theory, he is inclined to italicise the word *for* in his statement and does not try to see justification in Patañjali's interpretation of the sūtra If I draw his attention to other sūtras where Pānini mentions Pūrvāchāryas by general designations (such as Prāchām, Udīchām, etc), he may italicise the word *specifically* also in his statement. And even then if some sūtras (VI-i-12 and I-i-16) still persist to stare at his theory, Dr Ghosh will cut the former into two parts—Yogavibhāga—despite Patañjali's interpretation, and connect the word *shākalyasya* in the latter with *anārshe itau* and not with *matena* as is usually interpreted in *all* such Pūrvāchārya-mentioning sūtras It does not matter much if the word *anārshe* there is rendered redundant or the grammarians are left a-guessing about the discovery of *Ārsha itī* of Shākalya What really matters is that the theory must be made to appear as standing "on its own legs" though wooden

Publirhed in Nagpur Uniersity journal
No, 9—1943 *Pages*, 68—9

5. TECHNICAL TERMS OF THE AṢṬĀDHYĀYĪ

Among various methodological devices to secure exactness and economy, technical terms play a considerable part in Pāṇini's Astādhyāyī In their absence, it would have been well-nigh impossible to achieve that 'brevity' which makes Astādhyāyī a unique work of its type, and also that accuracy and definiteness which is indispensible for this work planned on a scientific basis

Grammatical studies in India began with the linguistic investigations of the Vedic hymns In the Brāhmana texts, we find such "discriminations of parts of speech which give us terms such as *Vibhakti* (case termination), *Vacana* (number), *Kurvant* (present tense) "[1] Yāska shows more advanced form of tecminology, when he gives a fourfold classification of words,[2] *Nāman* (noun), *Ākhyāta* (verb), *Upasarga* (preposition) and *Nipāta* (particle). Besides these we have many other technical terms in the Nirukta and the Prātiśākhya texts [3]

The chronology of the Nirukta and the Prātiśākhya texts in relation to the Astādhyāyī is not yet finally settled and doubt is, not without justification, expressed (See Indian Hist. Quarterly June, 1937 p 329-49),

---

1 Keith — *A History of Sanskrit literature* p. 422

2. See Nirukta (I-1)

3 The RK Prāt has सयोग (I-37), प्रगृह्य (I-68), सहिता (II-1) etc, The Nirukta has कृत् (I-14), तद्धित (II-2), उपधा (IV-12) गुण (X-17) etc. The Vāja. Prāti has वृद्धि (V-29), आमन्त्रित (II-17) etc.

The Atharva Prāti. has प्रातिपदिक (III-78), कर्मप्रवचनीय (IV-3) etc Similarly, the ऋक्तन्त्रव्याकरण and तैत्ति. प्राति have got many terms.

4. Goldstücker asserts that the Prāti are posterior to Pāninı. M. Mulle, holds the contrary view as far as the RK. Prāti, is concerned

whether the above works in the present form are pre-Pāninian. But it would not be far from truth to suppose that at least in their 'kernel' form, some of them represent the pre-Pāninian stage[1] in the grammatical studies of India. It does not therefore stand to reason to presume that the scheme of introducing technical terms began originally with Pānini Nevertheless, a thorough examination of the terminology, employed in the above-mentioned works, reveals that Pānini was, certainly, one of the early writers to introduce and employ a good number of grammatical technical terms.

In the Astādhyātī, technical terms are known as (Samjñā)[2]—a designation, special mark or conventional name[3] The sūtra (I–i–68) clearly lays down that 'In this system of grammer, a word stands for its form as distinguished from the object denoted by it" *e g.* the sūtra (IV–ii–33) will require us to affix *dhak* suffix to the word (form) 'Agni' and not to 'fire' (the object denoted by it) But when we come across a technical term (Samjñā), the Samjñā-word will stand for the object (words) denoted by it, and not for the form of Samjñā-word as such Thus

---

Weber and Wackernagel place Prāti, in the pre-Pāninian epoch, while Westerguard and Pischel uphold the opinion of Goldstucker See Hannes Skold (Ind Ant 1926 p 181).

(See · Hannes Skold · 'Papers on Pānini p 34)

"The theory of Yāska's priorty to Pānini is accepted on a very superficial evidence, or rather without reasoning"

1. "All existing Prāti in their present form, later than Pānini .. but all belong to a school that existed before Pāṇini invented his system"

(P. lvi, Introduction to the "Ṛk.-tantra-vyākarana" (Ed A. C. Burnell).

2 For their difference from Paribhāśās, see Goldstücker Pānini, his date etc." P. 151, 171 (in reprinted edition).

3. The word *saṁjñā* has bean used about 73 times in the Astādhyāyī But of these, only in (I–iv–1, VIII–ii–2) the term is used in the sense of a 'technical term' In the rest, it means "a name of a thing or of a class." In (I-i-68), it is used in the sense of 'a technical term of grammar'—the sense intended to be expressed in this paper.

the Sūtra (4-2-114) means that the secondary suffix *cha* should be added to the words Śālā, Mālā etc (denoted by the Samjñā ("Vrddha") and not to the form of the word 'Vrddha' as such

We can classify the Pāninian 'Samjñās' under three heads :—[1] (i) *Akrtrima*, (ii) *krtrima* and (iii) *Audāharanika* (illustrative). The Akrtrima Samjñās are self-explanatory, *e g*, Sampradāna (I-iv-32), Kartr (I-4-54), Avyaya (I-i-37), Abhyasta (6-I-5), Prātipadika (I-2-45) etc. These terms should not require any definition, for their meaning and designations are clear from the derivation of the terms[2] Still they are defined in the Astādhyāyī, for the reason, at least in some cases, either to widen, restrict or specify clearly the scope of their application (*e f*) the term *Pratyaya* in the Prāti, simply means "what follows" in respect of words and letters in a sentence, but in Pānini it means a suffix, (*cf* vi-1-79). On the other hand, there are also such self-explanatory technical terms which are not defined, but their denotations are simply enumerated *e.g.*, *Karmapravacanīya*, *Avyayībhāva*, *Taddhita*, etc[3] The only explanation for this different kind of treatment of the Samjñās seems to be that these terms were already so well known and established in tradition that Pānini could not overlook their traditional force and incorporated them in his system. In fact, many of them are known to us[4] to have been in traditional use by their occurrence in the Nirukta, and the Prātiśākhya works Now the question arises, why Pānini took trouble to define these terms, it they were self-

---

1. M D. Shastri refers to their two-fold classification (See IV Oriental Conference Proceedings P. 472) But it would be more explanatory and comprehensive to divide further the krtrima samjñās into (i) Andāharanika (illustrative) and (ii) Krtrima (purely artificial). In the RK-tantr-Vyākarana, we have some technical terms formed by mutilating real words. e.g. घु for लघु, ति for गति (See P. lii, edited by Burnell.

2. सम्प्रदीयतेऽस्मा इति सम्प्रदानम्; करोति य. स कर्त्ता, अभ्यस्यते यत्तदभ्यस्तम्, पदं पद प्रति मव प्रातिपदिकम्।

3. (I-iv-83/98, II-i-5/21, IV-i-76/V-iv-160.

4. See before, footnote No. 3.

explanatory or were current in his time. One possible and reasonable reply[1] may be that Pānini wanted to use these current terms in some modified sense. Hence the need of their definition. Another point to be borne in mind is that it was Pānini and not so much the author of the Nirukta and the Prātiśākhyas, who tried to bring about the utmost possible economy of words Consequently, we expect to see in the Astādhyāyī the absence of unnecessary definitions of such terms as were known in Pānini's time and used in the same sense as intended by him Thus we may reasonably suppose that so far as Akrtrima terms are concerned, Pānini should either leave them undefined or give definitions only when his intended sense differed from the prevalent sense.

The second type of the technical terms are *Krtrima* Samjñās They are purely arbitrary and artificial, *e g*, *Ti*, *Ghu; Gha; Bha* etc Considering their brief and meaningness forms and use to designate sounds entirely unconnected with them—, it seems probable that these were arbitrarily invented by Pānini in his enthusiasm for brevity Dr M D Shastri, in his paper referred to above, tries to show that the idea of coining wholly artificial Samjñās was not unknown to Pānini's predecessors. He gives such examples as *Tan* (for सञ्ज्ञाछन्दसो in the Mahābhāsya (II-iv-54), La (for लोप in MBH (V–2–31) and *Ghu* (for उत्तरपद in MBH. (VII-iii-3). But these examples given here do not prove the point beyond doubt, for these terms[2] cannot be shown to have been used by 'Pānini's

1. Modern critics led by Whitney would explain away these difficulties by regarding the Aṣṭādhyāyī as a loosely compiled work, and not a unitary well-planned work. See I S Pahate, The structure of the Astādhyāyī For a more rational opinion on Pāninis genins, see Faddegon . 'Studies on Pānini's grammar' (p 67/8) and Paul Thieme (I H Quarterly, June 1937, p. 342-3)

2. The terms quoted by him from the Vāja. Prāti. (सिम् मुद् and घि are not decisive, in absence of any definite opinion on the chronological relations between the Astādhyāyī and the Vāja Prāti. (See before, footnote No 4) See Paul Thieme : "on the identity of the

predecessors' They are in fact used there in the body of Vārtikas which are decidedly post-Pāninian.

Audāhāranika or illustrative terms form the third type of our classification of Sāmjñās Here one form of the class is taken by the way of illustration and is made to made to stand for the whole class, *e g Nadī* (I-iv-3)[1], *Ghi* (I-iv-7); *Bahuvrīhi* (II-ii-23), Krt (III-i-93), Krtya (II-i-95). Such terminology may have been not unknown to Pāṇini, for we find the term *Kurvant* used for the present participle forms in the Brāhmana texts [2]

Pānini lays down a sūtra (I-4-1) wherein we are told that some[3] technical terms exclude each other. For example, *Anu*, *Prati*, *Pari* etc. cannot be designated as *upasarga* (I-iv-59) and Karmapravacanīya (I-iv-90) at the same time.[4] But where such an exclusion of technical terms is not desirable and the same form is to be designated by more than one technical term. Pānini takes recourse to a special procedure by adding the word *cha* Thus the forms given above are designated both as *upasarga* and gati This is made possible by constructing and arranging Sūtras in such a way as उपसर्गाः क्रियायोगे (I-iv-59) and गतिश्च (I-iv-60).

Pānini's desire to incorporate in his work many technical terms, which perhaps could not be overlooked due to their traditional force and prevalent use, has led in some cases to much complication We may

---

Vārtikakāra' (Ind. Cult. IV-2) The Ṛ.K-tantra-Vyākarana, also has such *krtrima* terms as अण् for पादादि (71, 77), ण for पादान्तीय (148) But see Burnell (P. IV of the introduction) "There are several indications in the RK-tantra that it has been revised by Pānini's rules."

1 It should however be noted that the terms नदी and घि are only partly illustrative. They illustrate only i-ending and ī-ending stems, while according to the sūtras (I-iv-3, I-iv-7) they designate ū-ending and u-ending stems also.

2 See before.

3. Those occurring between (I-iv-1) and (II-ii-38). See the Mahābhāsya (I-iv-1) for a detailed mention and Inter-relation of these Samjñās.

4. Consequently, in the sentence 'वृक्षं वृक्ष प्रति सिञ्चति, the sūtra (VIII-iii-65) cannot be applied.

take, for example, the term *upasarjana* This term as defined in (I-ii-43) is employed for those constituent words which always form the first part of a compound (Sūtra II-ii-30) But, according to another sūtra (I-ii-44) the same term is used for those constituent words which may form the last part of the compound (*e g* in निष्कौशाम्बि the word कौशाम्बी is an *upasarjana*) Pānini himself was aware of this anomaly and therefore expressly states in (I-ii-44) that the second type of *upsaarjana* does not concern itself with the question of precedence in a compound. The use of this term appears still more complicated when we see that, in (VI-2-36, 104), Pānini terms the primary noun of a Taddhita-formation as *Upasarıana* [1]

Another technical term involving anomaly and complication is *pada* According to the Sūtra (I-v-14) it is used for a complete word-declensional (सुबन्त) or conjugational (तिङन्त) Indeclinables (अव्यय) being regarded as having dropped their case endings (II-iv-82) may also be reasonably termed as *Pada* Carrying this analogy of indeclinables further, we may term the constituents of a compound also as Pada (II-iv-71).[2] But the scope of the Samjñā is widened and complicated, when we see that it is applied to the *mere stems* of some[3] declensional endings as well as to the *finished forms* with the declensional endings affixed *e g* the word हरिभि as well as the mere stem हरि (in हरिभि) is called पद [4]

1. See Faddegon . Studies on Pāṇini's grammar p 29

The interpretation of these two sūtras presents some difficulty According to the commentators, we have to interpret the word आचार्योपसर्जनं as if it were in genetive plural (in VI-ii-36) and Locative singular (in VI-ii-104)

2 "A compound in its totality is never called पद cf (VIII-iv-1, 3) Faddegon p 35. According to (I-ii-46) is a *prātipadika*

3 Those covered by (I-iv-17).

4 Is the treatment of कविभि as कविऽभि in the Padapāṭha due to this ? But the fact that the Padapāṭha does not separate such endings from feminine stems in long vowels, nor from masculive a-ending stems, presents difficulties.

Similarly a stem before certain secondary suffixes (तद्धितप्रत्यय) and n-ending stems before certain नामधातुप्रत्यय are designated as *Pada*[1] This ambiguous use of the terms for two entirely different things is no doubt illogical and raises complications,[2] but Pānini allows this with a view to economy. Because the term has got double use,—for both stem, and complete form the Sūtra, containing this term, can be applied in both the cases (*e g* we drop न् in Nom Sing. राजा and also in Inst. dual राजभ्या by the same Sūtra (8-2-7), we change त् to द् in Nom. Sing. जगद् (optional form for जगत्) and also in Inst. dual जगद्भ्याम्. But it is obvious that except on the ground of economy लाघव (which of course, implies here ज्ञानगौरव) this procedure of employing a technical term for double designations is confusing and unscientific.

We may refer here to another difficulty in the use of some Saṃjñās. The terms, करण, सम्बुद्धि and अधिकरण are sometimes[3] employed in notechnical sense. The term नदी is defined as a feminine stem, ending in long ī and ū by the Sūtra (I-iv-3), and is used in this technical sense in (7-3-107) But in (II-i-20); it is used in its non-technical sense and stands for its own form and the names of rivers; and in (v-iv-110), it is used in its non-technical sense, but unlike (II-i-20), does not stand for names of rivers[4] In

---

1 The stem राजन् in the form राजत्वम् is a पद. Hence, न् is dropped (VIII-ii-7). Similarly, न् is dropped in the form 'राजीयति'

2. Why do we not apply (VIII-iv-1) in the form रघुनाथाभ्या regarding the stem रघुनाथ as a पद (I-iv-17) ? It was to meet such difficulties that the later commentators had to define समानपदत्व (in VIII-iv-1) as निमित्तानधिकरणनिमित्तिमत्पदाघटितत्व (that is the समानपद should not contain in itself another पद which has न् (निमित्तिन्) but not र् or ष् (निमित्त) See the comment शब्दरत्न on this सूत्र (VIII-iv-1).

3. The करण defined in (I-iv-42) is used in the sense of क्रिया (III-i-17). The सम्बुद्धि defined in (II-iii-49) is used in the sense of calling from a distance (I-ii-33). The अधिकरण defined in (I-iv-45) is used in the sense of "a substance" (II-iv-13).

4. See the comment तत्त्वबोधिनी on those sūtras

(6-i-68) the technical term, अपृक्त is used in a gender different from that of its own (see I-ii-41).[1]

With these introductory remarks about the technical terms used by Pāṇini, we propose to give a list of his technical terms, with relevant references to their occurrences, differences in meanings, if any, their consistent or otherwise employment in the Aṣṭādhyāyī, and their comparison with the terms of the Nirukta and the Prātiśākhya texts.

APPENDIX

Technical terms of the Aṣṭādhyāyī.

Abbreviations :

पा० = पाणिनि

ऋ० प्रा० = ऋक्प्रातिशाख्य (Ed by M. D. Sastri Allahabad 1931).

तै प्रा० = तैत्तिरीयप्रातिशाख्य (Ed. by Venkaṭarāma Sharmā, Vidyābhushana, University of Madras 1930)

वा. प्रा० = वाजसनेयिप्रातिशाख्य (Ed by Venkaṭarāma Sharma, Vidyābhushaṇa, University of Madras 1934).

अथ. प्रा० = अथर्वप्रातिशाख्य (Ed Vishwabandhu Sastri, Punjab University 1923)

नि० = निरुक्त (Ed. Lakshmana Swarup, Panjab University 1927)

The numbers indicate :

in पा०, अध्याय, पाद and सूत्र,
in ऋ प्रा पटल and सूत्र,
in तै प्रा, अध्याय and सूत्र,
in वा प्रा, अध्याय and सूत्र,
and in अथ. प्रा., प्रपाठक, पाद and सूत्र

अङ्ग—

पा० defines it in I-iv-13 (यस्मात्प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम्). But it is not used in its technical sense in the sūtras (III-iii-81; VI-ii-70).

1. See Pahate : 'The structure of the Aṣṭādhyāyī p 59-61

The commentators interpret the word in the sense of 'अङ्गिन्' in (II-iii-20). नि (8-10) uses the word in the sense of 'limb' (वरतममङ्गमूरू) तै प्रा. (21-1) has the word in the sense of 'a part of, not independent' व्यञ्जन स्वराङ्गम्) Its meaning is not clear in तै. प्रा (24-5)

"स्वरितोदात्तनीचत्व श्वासो नादोऽङ्गमेव च।
एतत्सर्वं तु विज्ञेय छन्दोभाषामधीयता"॥

Thus we see that पा० defined the word to give it a technical meaning, but also used the word in the non-technical sense in accordance with its usage of the time

अधिकरण—

It is defined in पा० (I-iv-45), but used in its non-technical sense (a द्रव्य) in the Sūtras (V-iii-43, II-iv-15) पतञ्जलि (I-i-23) refers to both the uses, technical and non-technical अथ प्रा (2-2-4) uses the word अधिकरण (in the compound समानाधिकरण) in the sense of a grammatical relation

अनुदात्त (उदात्त)—

These words are defined by पा० in (I-ii-29/30). वा० प्रा० (1-108/9) and तै प्रा (1-38/9) define the term in identical words, अथ. प्रा० (1-1-19, 1-1-4) uses them without defining नि० (4-25) mentions उदात्त as तीव्रार्थतर and अनुदात्त as अल्पीयोऽर्थतर ऋ प्रा (3-1) takes उदात्त as implying आयाम (वायुनिमित्तमूर्ध्वंगमन गात्राणाम्—उव्वटभाष्य) and अनुदात्त as अधोगमन, चतुरध्यायी (1-14-15) uses these words in the neuter gender; in other works, it is used in the masculine gender

अनुनासिक—

पा० defines it in (I-i-8) and it is used in the technical sense in (I-iii-2). But the mode of pronouncing the indicatory letters (इत्) as nasals being not observed, the commentators say 'प्रतिज्ञानुनासिक्या पाणिनीया.'. The सूत्र (VIII-3-4) appears to indicate that an अनुस्वार followed an अनुनासिक (?), but the commentators interpret अनुनासिकात् as अनुनासिकं विहाय. ऋ० प्रा० (1-14) uses this term for the last consonant of a वर्ग, and

uses the term रक्त (I-36, 4/80) for a nasalized vowel, तै प्रा (5.27) for the last consonant of the वर्ग and (5/31) for a nasalized Vowel also वा प्रा. (1-75) defines it as मुखनासिकाकरणोऽनुनासिक (while पा. has वचन for करण.)

अपादान—

पा defines it in (I-iv-24-31) It is an अन्वर्थसंज्ञा (self explanatory term). The separation may be physical or mental according to (पतञ्जलि) Hence the example चोराद्बिभेति can be brought under its use In all the cases, where पा० uses this term, its technical sense is kept in view

अपृक्त—

वा प्रा (1-151), and (तै प्रा 1/54) define this term एकवर्ण पदम्, but पा (I-ii-41) defines it in terms of अल्, which fits in with his scheme of शिवसूत्रs Further पा uses this term for a suffix only (प्रत्यय), but प्राति. texts use it more comprehensively (a monosyllabic word). In चतुरध्यायिका (1-79) and पा० (1-2-41), the term is used in the masculine gender, but strangely enough the सूत्र (6-1-68) uses the term in the neuter gender वा. प्रा. (1-151) also uses the word in the neuter gender

अभ्यस्त and अभ्यास—

पा. defines अभ्यस्त in (6-1-5) and अभ्यास in (6-1-4) In all the cases, the words are used in technical sense अथर्व, (3-3-14) uses the term अभ्यास as in पा०, but does not define it Cf चतुरध्यायिका (II-91, 93). नि० (2-2) uses अभ्यास as reduplication and अभ्यस्त as 'reduplicated'— while पा. uses अभ्यास for 'first' of the repeated forms and अभ्यस्त for 'both' of the repeated forms.

अवसान—

पा० defines it in (1-4-110) ऋ० प्रा० 1-15) and तै० प्रा० (14-15) use the term in the same sense, but do not define it, नि० (8-9) uses the word 'अवस्यन्ति' in the sense 'they end'.

अव्यय—

पा० (1-1-37-41) gives a definition of the term. It is an अन्वर्थसंज्ञा. Its etymological significance is shown in the lines—

"सदृश त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु।
वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम्।"

In all the cases of its occurrence, the term is used in its technical sense अथ० प्रा० (3-1-2, (3-2-7) does neither define nor enumerate it, but uses the term in the Pāninian sense The term is not seen in तै प्रा. and नि०. नि० (1-1) refers to निपातs, which are included in the list of अव्ययs by पा० (1-1-37)

आत्मनेपद (परस्मैपद)—

पा defines it in (1-4-100; 1-4-99) अथर्व० प्रा० (3-4-7) gives another variant आत्मनेभाषा and परस्मैभाषा These terms are अन्वर्थसंज्ञाs

आम्रेडित—

पा० defines it in (8-1-2) as the 'last' of the repeated forms (cf अभ्यास) वा० प्रा० (1/146) uses the word for 'both' of the repeated forms अथ० प्रा० (3-1-5) knows आम्रेडितसमास. In all the cases of its occurrence, पा० uses it in its technical sense

इत्—

Being an अन्वर्थ term (एति य. स., which disappears), it is an indicating letter and is peculiar to पा० system of grammar It should be distinguished form 'इत्' (a short इकार, as in 4-1-65) and 'इत्' (a शब्दपरक word as in 5-3-4).

उदात्त—(See अनुदात्त) .

उपधा—

पा० defines it in (1-1-65). नि० (2-1) and अथर्व० (2-1-15) use the term in the Pāninian sense, but do not define it चतुरध्यायिका (1/92) and वा० प्रा० (1-35) define उपधा in the terms of वर्णs, but पा० following his scheme of शिवसूत्रs, defines it in the terms of अल्

उपपद—

पा० defines it in (3-1-92) and always uses it in its technical sense. The term does not occur in other works.

उपसर्ग—

This term is defined by पा० in (1-4-59) and is known to नि० (1-3, 5-5), but नि० does not mention निस् and दुस्, अथ० प्रा० (1-10-12) uses the term, but does not define it. तै० प्रा० (1-15) enumerates only 11 of the उपसर्गs. पा० definition is specific, as it restricts the scope of उपसर्ग to 'क्रियायोग'.

उपसर्जन—

See the introduction for its definitions

करण—

पा० defines it in (1-4-42), but uses it in a non-technical sense ('an action') in the सूत्र (पा० 3/1/27) See महाभाष्य on (1-1-23) नि० (10-8) uses the word in its ordinary sense ('doing') तै० प्रा० (2-34) refers to it as 'येन स्पर्शयति तत्करणम्, यथा जिह्वाग्रम्' cf महाभाष्य 'तेभ्यस्तत्तत्स्थानकरणनादानुप्रदानज्ञेभ्यो वैदिका शब्दा उपदिश्यन्ते, तदद्यत्वे न तथा (I-1-1-1).

कर्तृ—

पा० defines it in (I-4-54) नि० (5/21; 3-11) uses the word in the sense of 'doer, agent' (its ordinary sense)

कर्म—

It is defined in (पा० 1-4-49), but is used in the sense of 'क्रिया' in (1-3-11, 3-3-43). See 'महाभाष्य' on the सूत्र. In the derivation of कर्मप्रवचनीय (कर्म=क्रिया प्रोक्तवन्तो ये ते कर्मप्रवचनीयाः) in I-iv-83 and in नि० (2-28, 7-8 etc.) the sense of क्रिया (function) is clearly seen.

कृत्—

An औदाहरणिक term (कृ+क्विप=कृत्) is used in अथ० प्रा० (1-1-10) and नि० (1/14, 2/3).

कृत्य—

An औदाहरणिक term (कृ+क्यप्=कृत्य).

गति—

Defined in (पा० 1-4-60) But it is used in its non-technical sense in the sūtras (1-4-52, 3-1-23) नि० (1-7, 20) uses the word in its non-technical sense 'going'. अथ० प्रा० (1-1-11) uses, however, the term in its technical sense.

गुण—

Defined in पा० (1-1-2) is used in its non-technical sense in the सूत्र (2-2-1). नि० (3/13) uses it in non-technical sense.

गुरु—

Defined in (पा० 1-4-11). But the word is used as शब्दपरक in (6-3-11)

गोत्र—

Defined in (पा०4-1-162) But it is used as शब्दपरक in (6-3-42, 82).

घ—

Defined in (पा० 1-1-22). It is used in its technical sense in (6-3-17) In (8-2-22), it is used as शब्दपरक. In (3-2-70), it is used as कृत्प्रत्ययशब्दस्वरूपपरक, while in (4-2-29) it is तद्धितप्रत्ययशब्दस्वरूपपरक.

घि—

Defined in (पा० 1-4-7), is an औदाहरणिक term so far as इकारान्त stems are concerned, but when its sphere is extended to उकारान्त stems also, it is purely an artificial term. In all the places of its occurrence, the term is used in its technical sense

घु—

Defined in (पा० 1-1-20) as a technical term, it is consistently used in its technical sense.

टि—

Defined in पा० (1-1-64) as a technical term, it is always used in its technical sense

तद्धित—

Though not defined, it is used (on account of the अधिकारसूत्र, 4-1-76) for a nominal suffix नि० (2-2, 3) and अर्थ० प्रा० (1-2-12) use the term in the technical sense

तद्राज—

Defined in पा० (4-1-174), it is used for certain nominal suffixes. The सूत्र (2-4-62) illustrates the term.

द्वन्द्व—

Defined in (पा० 2-2-29) as a technical term, it is used in अथ० प्रा० (3-4-2) also in its technical sense नि० (7-4) however, uses the word in the sense 'a pair'.

द्विगु—

Defined in पा० (2-1-23) as a technical term The word is obviously an औदाहरणिक term But the form 'द्विगु' being an example of the बहुव्रीहि compound cannot be, strictly speaking, an illustration of द्विगुसमास

धातु—

Defined in पा० (1-3-1) is used in its technical sense in नि० (1-20; 2-1, 2-2) and अथ० प्रा० (1-1-11).

नदी—

Defined in पा० (1-4-3, this term is औदाहरणिक for ईकारान्त feminine stems and कृत्रिम for ऊकारान्त. The सूत्र (1-4-6) extends its scope to feminine stems ending in short इ and उ In the सूत्र (4-4-111, 8-3-89; 5-4-110), the term is used as शब्दपरक and in (2-1-20) it is used for the words meaning 'river' or 'a river.'

निपात—

Defined in पा० (1-4-56) which is an अधिकारसूत्र, the term si mentioned in अथ० प्रा० (1-3-4/5), and नि० (1-1; 1-8; 4-17, 1-4).

निष्ठा—

Defined in पा० (1-1-26) It is neither an औदाहरणिक nor an अन्वर्थसंज्ञा, It is difficult to account for its length, if it is a purely कृत्रिमसंज्ञा

पद—

See the introduction for the two types of पदसंज्ञा. In पा० (3-3-16), the word is a root It is शब्दपरक in (3-2-23) अथ० प्रा० (1-1-18) uses it in the sense of a 'word' तै० (18-8) uses पदे in the sense of पदपाठे, but in (16-17) uses the term in the sense of 'a word' also

प्रगृह्य—

Defined in पा० (1-1-11) ff तै० प्रा० has प्रग्रह, which also means uncombinable final vowels The same in वा० प्रा० (1-92/98) Being concerned with the relation of पदपाठ to संहितापाठ, the प्रातिशाख्य texts think of the word इति coming after it नि० (2-26) does not appear to know its technical, sense.

प्रातिपदिक—

Defined in पा० (1-2-45/6) is not used by the प्राति० texts which use earlier terms denoting general grammatical functions, *e g* नाम (noun), पद (word), आमन्त्रित (Vocative).

बहुव्रीहि—

Defined in (पा० 2-2-23) is an औदाहरणिकसंज्ञा

भ—

As a कृत्रिमसंज्ञा, it is defined in पा० (1-4-18) But in (5-2-138/9) the word is a suffix of तद्धित type.

युवन—

Defined in पा० (4-1-163), the term is used in its technical sense in the सूत्रs, (1-2-65; 4-1-90). But in (2-1-61; 6-4-133; 4-1-77), the word is used as शब्दपरक also

लोप—

(लुप्, लुक्, श्लु)

An अन्वर्थसंज्ञा. It is defined in पा० (1-1-60) अथर्व० प्रा० (1-1-20, 2-1-4, 3-4-7), नि० (6-22, 3-18), तैत्ति प्रा० (1-57) and वा० प्रा० (1-141) all know and use the term It is only in वा० that a fine distinction is made for grammatical purpose between लोप and लुक्, श्लु, लुप् etc

विभक्ति—

Defined in पा० (1-4-104) the term is used in नि० (2-1) also. The अथ० प्रा० (2-1-2) also knows it.

वृद्ध—

Defined in पा० (1-1-13), the word is used as शब्दपरक in (7-4-157). According to काशिका on (4-1-166), the term in synonymous with गोत्र (another technical term).

वृद्धि—

Defined in पा० (1-1-1), the word is used as शब्दपरक in (5-1-47). It is an अकृत्रिम term, meaning 'increment' (of the मात्रा).

षट्—

Defined in (पा० 1-1-24). The word is used in the popular sense 'six' in (6-1-6, 6/2/135). तै० प्रा० uses it in the popular sense in (1-9) and as शब्दपरक in (7-2) नि० does not know its technical sense.

सङ्ख्या—

Defined in पा० (1-1-23) the term is used in the sense of 'a numeral' in पा० (5-2-41; 5/2/47).

सम्प्रसारण—

Defined in (पा० 1-1-45) is an अकृत्रिमसंज्ञा and known already in the time of पा०. Therefore, a long term was admitted by पा० in his system.

सम्बुद्धि—

Defined in (पा० 2-3-49), as a Vocative singular, the term is used in its popular sense in पा० (1-2-33) cf काशिका on (1-2-33) 'नैकवचन सम्बुद्धि.। दूरात्सम्बोधयति येन वाक्येन तत्सम्बोधनं सम्बुद्धि'।

संयोग—

Defined in पा० (1-1-7) in terms of हल्, but ऋ० प्रा० (1-37), वा० प्रा० (1-48) define it in terms of व्यञ्जनs. In पा० (5-1-38) it is used in a non-technical sense (सयोग—सम्बन्ध प्राणिना शुभाशुभसूचक:)

सर्वनामस्थान—

Defined in (1-1-42/3). Its length indicates that it was already in vogue in पा०'s times As the forms in Nom and Obj plural (neuter) and in the first 5 case-endings are strong forms (full forms, सर्वनामन्s), the term is अकृत्रिम

सवर्ण—

Defined in (पा० 1-1-9). वा० प्रा० (1-43) adds करणसादृश्य also for 'सवर्णत्व'. तै० प्रा० (14-22) uses the word in the sense of सरूप as distinguished from सवर्ग (cf: (सवर्णसवर्गीयपरक:).

संहिता—

Defined in पा० (1-4-109). ऋ० प्रा० (2-1/2) uses it in the sense of सहितापाठ अथ० प्रा० (1-1-2) does the same. वा० प्रा० (1-155) takes 'joining of the last with the initial' as सहित. पा० definition lays emphasis on continuous (unbroken) use of letters

सार्वधातुक—

Defined in पा० (2-4-2). Of all प्रातिशाख्य texts, only अथ० प्रा० (2-4-2) uses it, but without defining it. The काशिका on (7-3-95) quotes another variant of the सूत्र, where the word is used in the feminine gender.

स्वरित—

पा० defines it as समाहार of उदात्त and अनुदात्त, with the first half

as उदात्त and the remaining अनुदात्त ऋ० प्रा० (3-3/6) refers to other opinions as to the proportions of उदात्त and अनुदात्त The term is treated in तै० प्रा० (1-40), वा० प्रा० (1-110) and चतुरध्यायिका (1-16)

हेतु—

Defined in पा० (1-4-55), the term is used in the non-technical sense also, *e.g.*, in (2-3-23, 5-3-26).

[*Published in 'Proceedings and Transactions of the Ninth all India Oriental Conference; Trivendrum,* 1937 *Pages* 1191-1208]

6. PĀNINI'S VOCABULARY—ITS BEARING ON HIS DATE

"घटेन कार्यं करिष्यन् कुम्भकारकुलं गत्वाह—'कुरु घटं कार्यमनेन करिष्यामीति'। न तद्वच्छब्दान् प्रयुयुक्षमाणो वैयाकरणकुलं गत्वाह—'कुरु शब्दान्, प्रयोक्ष्य' इति"।

In the above interesting passage from the Mahābhāsya (1-1-1-1), Patañjali has referred to a fundamental principle of Philology In short, it implies that language is not a creation of grammarians The function of grammarian is to regularize, and not to create, language : (शब्दानुशासन is the term of the grammar and not शब्दशासन) Applying the same principle to the Grammar of Pānini, we may say without any fear of contradiction, that the language which is treated in Pānini's Astādhyāyī, must have been once a current language and not the creation of Pānini's imagination.[1]

Pānini is regarded as the foremost grammarian of Classical Sanskrit His treatment of Vedic Sanskrit is cursory and not so through and full as that of Classical Sanskrit This is quite obvious from the twelve-times repetition of the longreaching all—comprehensive sūtra 'बहुलं छन्दसि' Hence, we may not regard Vedic Sanskrit as the basis of Pānini's Grammar; but it would not be unreasonable to regard the Classical Sanskrit literature as the basis of his Grammar, and consequently to expect the use, in the extant classical literature, of words formed in accordance with his Grammar. But going deep into the subject-matter, we find this expectation remaining unfulfilled.

In the Dhātupātha of Pānini system, which is generally ascribed to Pānini himself, there are enumerated about 2,000 roots The words formed from these roots should be found used in the current Classical

1 See Wilson Philological lectures (chp 1) by R G Bhandarkar.

Sanskrit literature But we come across the forms of only about 850 roots in the extant Sanskrit Whitney[1] says, "The roots which are authenticated by their occurence in the literary monuments of the language, earlier and later, number between eight and nine hundred About half of these belong fully to the language throughout its whole history, some (about a hundred and fifty) are limited to the earlier or pre-classical period, some again (over a hundred and twenty) make their first appearance in the latter language "

In the same way, a good number of the primary and secondary derivatives are not seen used in the extant literature[2]

But we are not justified in drawing a conclusion, from the non-appearance of such forms, that they were not current in the time of Pāṇini also Discussing this very problem of non-use of some verbal forms in the current language, Patañjali forbids us to draw the above conclusion[3] Thus it is clear that in the days of Kātyāyana and Patañjali, many forms arrived at in Pānini's Grammar were non-current yet Patañjali simply confessed the incompleteness of the extant literature and was not inclined to doubt the very existence of such forms.

Dr R G Bhandarkar, therefore, is of opinion[4] that the basis of Pānini's Grammar is the language of pre-Mahābhārat period and, to a great extent, the Brāhmanas of the Vedic literature were written in that language In such works, as Aitareya and Śatapatha Brāhman, we find

---

1 Whitney's 'Sanskrit Grammar (2nd edition) Page 35

2 Here we are not taking notice of those artificial numerous forms which are arrived at by the over-critical and hair-splitting later commentators of Pānini's Grammar, e g., 108 Saṃdhi forms in joining (सम्+कर्ता) and 527 declensional forms of the stem (गो+अञ्च).

3. See पातञ्जलमहाभाष्य (1-1-1-1) ''महान्शब्दस्य प्रयोगविषय.। सप्त द्वीपा वसुमती, त्रयो लोका, चत्वारो वेदा साङ्गा. सरहस्या बहुविधा भिन्ना · वाकोवाक्यमितिहास. पुराण वैद्यकमित्येतावाञ्छब्दस्य प्रयोगविषय। एतावन्त शब्दस्य प्रयोगविषयमननुनिशम्य 'सन्त्यप्रयुक्ता' इति वचन साहसमात्रमेव।

4. See Wilson Philological lectures by R. G. Bhandarkar (1 and last Chapter)

abundance of Pāninian conjugational forms If such conjugational forms had been used only in Vedic language, they must have been noted as such by Pānini, e g the form देवास, in nominative plural form देव, is accounted for in the Vedic usage only, for the Classical Sanskrit, only देवा form is justified. In short, we can safely assume that in contemporary literature of Pānini—which unfortunately is not completely available these days-these apparently rare forms were in use, and, therefore Pānini made rules to account for them

There is no force in the argument that the very term 'सस्कृत' indicates that the Sanskrit language (or as a matter of fact, Pānini's language) was refined, adorned (सम्+कृ+त) one, and that it could not have been the language of the people for which the word is प्राकृत (ordinary, popular) Pānini does not use the word 'सस्कृत' for his contemporaneous language, but the word 'भाषा' (भाष्यते या सा—spoken) is used by him and it is distinguished from छन्दसि or मन्त्रे (Vedic). The word सस्कृत on the otherhand, he uses in the sense of 'cooked' 'prepared' (food). Besides this, there is another consideration, which leads us to suppose that Pānini was dealing with a current and spoken language. In referring to the view of प्राचाम् (Easterners) and उदीचाम् (Northerners) in a number of sūtras he takes notice of provincial and dialectical varieties of the language as spoken in his times.

He makes rules for lengthening (प्लुतीकरण) of the vowels in a sentence, when used for calling from a distance, "the sūtra प्रत्यभिवादेऽशूद्रे (VIII-2-83) shows that even śudras spoke in Sanskrit and answered in Sanskrit."[1] All this should conclusively show that Sanskrit (Classical) as handled by Pānini, was then a spoken language. Consequently, it would be quite reasonable to suppose that Pānini wrote his Grammar to account fot the forms, which were imaginary and created by him.

Thus, having accepted the view that Pānini handled a spoken language, we are led to presume the existence of a vast Classical Sanskrit literature, contemporaneous with Pānini, but now non-existent. This

1. See C. V. Vaidya, History of Sanskrit literature (Section III, Page 124).

presumption brings us face to face with the long-drawn controversy about the date of Pānini As is usual with other problems of Sanskrit chronology, the date of Pāṇini also has been shifted back, again and again to earlier pre-Christian centuries. Max Muller and Bohtlingk regarded Pānini to have flourished not earlier than 350 B C Macdonell in his 'History of Sanskrit literature', (P. 431) fixes the date of Pāṇini about 300 B. C Keith, in his work on the Sanskrit literature (P. 426) puts him in 350 B. C Later on, Macdonell in 'India's Past' (P. 138) regards it a good working theory to assign Pāṇini to 450 B. C, while Goldstücker and almost all Indian Indologists are definitely of the opinion that Pāṇini belongs to the pre-Buddhist period. As shown above, a number of conjugational forms allowed by Pāṇini had become non-current in the time of Kātyāyana and Patañjali. And it is obvious that there has been practically not much change in the Sanskrit-vocabulary since the time of Kātyāyana and Patañjali. From this fact, it can be easily imagined what a great interval must have intervened between the age of Pāṇini and that of Patañjali, It is true that a spoken language changes more rapidly than a literary one, still taking into consideration the very slow process of change which the Vedic Sanskrit underwent from the period of Rgveda to the begining of the classical period, it would not be very far from truth to say that an interval of 3 or 4 centuries between Pāṇini and Patañjali is not sufficient to account for change in the vocabulary If Pāṇini's language belongs, as indicated above, to the pre-Mahābhārata period, we will have to shift back the date of Pāṇini to a period earlier than the 9th century B. C. as accepted by C. V. Vaidya[1],

In support of this view, we propose to show below, by giving a list of obscure words occuring in Pāṇini's Astādhyāyī—the words used in ordinary conversation at that time, but now quite unintelligible to us on account of the great antiquity of Pāṇini's language.

We can classify the words of Aṣṭādhyāyī into two types, (i) technical terms of grammar, and (ii) popular words. A critical study of technical terms of Pānini's grammar is of great use for showing its history and development. It will shed much light as to which grammatical terms are pre-

1. See his 'History of Indian literature (Section III P. 159).

Pāṇinian, which are Pāṇini's own and which have undergone change in connotation since Pāṇini's time. But, here, we are not concerned with technical terms. The list given below will illustrate only such popular (लोकप्रयुक्त) words of his rich vocabulary, as have either undergone change in meaning or, being not used in the later Sanskrit, have become obsolete.

We have purposely avoided the inclusion of the words enumerated in Ganapatha, for, according to the accepted opinion of scholars, the Ganapaṭha of Pāṇini has not remained uncontaminated. There are clearly many words added to the list later on. Hence, only such popular words, as are directly mentioned in Pāṇini's sūtras, are noticed here.

The vocabulary of Astādhyāyī is, indeed, very rich and vast. Herein we have got a variety of words of contemporary speech. Almost all conceivable topics of the world are represented there. Technical words of sacrificial science and religious literature, literary and scientific words, words indicating various relations and things of domestic use, botanical words indicating trees, creepers, flowers and medicines, words of geographical and historical importance, such as rivers, villages, countries, royal dynasties, races, castes and tribes etc.—in short, words of almost all subjects figure in Pāṇini's vast vocabulary.

[N.B.—In C. V. Vaidya's History of Indian literature, there is an interesting note on the words of geographical and historical importance and literature mentioned in Pāṇini (Section III P. 134-145). These words, along with many other words of proper names of persons (such as छगल, चिहृण, तिक etc) have been deliberately *OMITTED* in the list.]

List of some obscure words of popular type in Pāṇini's Aṣṭādhyāyī.

WORDS	*SŪTRAS*	*MEANING*
ऐकागारिक	V—1–113	A thief
उल्लाघ	VIII-2-55	Able, recently recovered from sickness.
उपसवाद	III-4-8	To stake
आसन्दी	VIII-2-12	A seat
इन्द्रिय	V-2-93	Pertaining to इन्द्र

उपज्ञा	II-4-81	To teach or propound for the first time.
अवर	V-4-57	Not less than.
अणक	II-i-54	Insignificant or small
अतिसर्ग	III-3-163	To allow one to do what one likes.
अत्याधान	III-3-80	A wooden support on which other wooden pieces are cut.
आगवीन	V-2-14	A labourer who works in return for a cow given temporarily.
अधीष्ट	III-1-166	To employ with honour.
अनिरवसित	II-4-10	Not an outcaste, a शूद्र allowed to use utensils of higher castes
अन्तर्वत्नी	IV-1-32	Pregnant.
अन्वाजेकरण	1-4-73	To strengthen.
अपमित्य	IV-4-21	Being in debt.
अपस्कर	VI-1-149	Part of a chariot.
उपसमाधान	III-3-41	To collect.
अभ्रेष	III-3-3	Non-deviation, propriety.
अमत्र	IV-2-14	A vessel.
अम्नस्	VIII-2-70	Unawares.
अयानय	V-2-9	Particular movements of the pawns on a chess-board.
अर्म	VI-2-90	A ruined Village.
अश्लीलदृढरूपा	VI-2-42	Ugly.
आप्रपद	V-2-8	Reaching upto foot.
उद्घ	III-3-86	Praiseworthy.
उपयमन	I-2-16	To marry.
उदश्वित्	IV-2-19	Butter-milk
कुल्माष	V-2-83	Eatables.
कुलत्थ	IV-4-4	A Vegetable
क्षेत्रिय	V-2-92	An incurable disease or adulterer.
उदय	VIII-4-67	Following (letter).

उपोत्तम	VI-1-178	Last but one (letter).
शलालु	IV-4-54	A fragrant substance.
स्थाली विलीय	V-1-70	Rice fit for bailing.
प्रलम्भन	1-3-69	To make false statements to deceive.
कुलिज	V-1-55	A kind of measure
मस्कर	VI-1-150	Pipe.
प्रत्यवसान	1-4-52	To eat.
पात्रेसमित	11-1-48	One who eats, but does not work.
निष्प्रवाणि.	V-4-160	A blanket recently made.
पोटा	11-1-65	With both male and female signs.
समासमीना	V-2-12	One having delivery every year
कामप्रवेदन	III-3-153	To express one's desire.
अद्यश्वीना	V-2-13	Delivering today or tomorrow.
सामि	V-4-5	Half
कर्णेहत्य	1-4-66	To the full satisfaction.
विशिष्ट	11-4-7	Different.
विचाल	V-3-43	To unify or to divide one in many.
प्रतियत्न	1-3-32	To adopt quality of others.
भर्गाल	VI-2-137	Skull
परुत्	V-3-22	Last year

[*Published in Woolner Commemoration Volume* (1940), *Pages* 46-50]

7. PĀṆINI'S VOCABULARY AND HIS DATE[1]

Dr. A. B. Keith, in his contribution to the *Bhārata-kaumudī*[2], discusses my paper on 'Pāṇini's Vocabulary—its bearing on his date,' which was published in the Woolner Commemoration Volume (pp 46-50), and shows his disagreement with the view put forth therein It is a matter of great sorrow that Dr. Keith did not live long to see the publication of his article referred to above. As my previous article was written to commemorate the sacred memory of Dr. A C. Woolner, famous Indologist of the Punjab, it is only proper that this reply also to the criticism of that article should appear in a Collection of Papers intended for honouring another famous Indologist of the same region, Dr. Siddheshvara Varma.

In my article, a consideration of linguistic development was put forward in support of the view that P. flourished in pre-Buddhistic age. Attention of scholars was drawn to the rich and vast vocabulary of P., wherein, a good variety of words of contemporary language dealing with almost all conceivable topics of the world, is met with. Technical words of sacrificial science and religious literature, literary and scientific words; words indicating various relations and things of domestic use, botanical words indicating trees, creepers, flowers and medicines, words of geographical and historical importance, such as rivers, villages, countries, royal dynasties, races, castes, tribes etc., and words indicating different professions—in short, words of almost all subjects figure in P 's vocabulary. It is but natural, therefore, to expect that these words must have been in use in P 's contemporary language, for, P. wrote his grammar, not for

1. The abbreviations used here are : K.=Kātyāyana. P.=Pāṇini, Pat.=Patañjali.

2. The *Rādhā-kumuda Mookerjee Comm.* Vol. I 345.

its own sake, but for regularising the then prevailing language. Pat's date, more or less definitely fixed, we are fortunately in a position to start back from a fixed date (150 B C) to that of P, and arrive at tentative conclusions by comparing the contemporary languages of the three great grammarians—P, K. and Pat The *Mahābhāṣya* of Pat. is a comprehensive commentary on K's *Vārtikas*. In many places Pat, having no certain knowledge of K's intended meaning, interprets them in more than one way. This fact, taken together with the consideration of K.'s probable authorship of the *Vājasaneya-Prātiśākhya*, will necessitate a longer interval between K. and Pat. than fifty years as Keith thinks [1] According to Belvelkar,[2] the date of K should, approximately, be not later than 350 B C. Thus, a minimum interval of 200 years between K. and Pat. appears to be a reasonable hypothesis. We know that the difference in time between the periods of P and K. is much greater than that between K. and Pat. On K's own evidence,[3] we know that many conjugational forms, sanctioned by P had become non-current in his days. As established studiously by Gold-stücker,[4] many words assumed meanings in K's time, which they did not possess in the days of P; and many grammatical forms, which were current in the days of P., had become obsolete, antiquated or even incorrect. So a long interval between K. and P can be easily imagined. It is true that a spoken language changes more rapidly than a literary language, still taking into consideration the very slow process of change which the Vedic Sanskrit underwent from the time of the *Ṛgveda* to the beginning of the classical Sanskrit, an interval of 200 years (as supposed by Keith) is not sufficient To explain satisfactorily such a marked change in linguistic phenomenon, we have to assume a fairly long period of interval between K. and P. According to Bhandarkar,[5] the basis of P.'s language is the language of the pre-*Mahābhārata* period, and to a

1. *Bhārata-Kaumudī*, *op. cit.* p., 345.
2. *Systems of Sanskrit Grammar*, p. 29.
3. *Mahābhāṣya*, 1.1.1.
4. *Pāṇini and his Place* etc., p. 94.
5. *Wilson Philological Lectures*, ch. I.

great extent, the Brāhmanas were written in that language. So, if we believe, as we must, that P. in his grammar treated the language of his times, his age should not be later than the 8th century B C To corroborate this view of an early date for P, a list[1] of popular words occurring in the *Aṣṭādhyāyī* was given in the article under reference

Keith rejects the above conclusion, and regards *circa* 350 B. C as a probable date for P. He thinks that the obscure words given in the list might have been used in about 350 B C. and yet have evaded occurring in contemporary literature Here lies the difference in the viewpoints of approach to the problem. the words did not occur in the contemporary literature or speech, how they came to be treated in P.'s grammar ? Instead of giving the natural answer that they were used in the then current literature which, on account of its great antiquity, has not come down to us in entirity, he gives an evasive reply that the words evaded occurring in the same The reluctance of Western Orientalists to accept an early date for Sanskrit works is the real reason behind such evasive replies. Keith says 'It is possible to place the date further back, but it cannot be said to be at all necessary.' This remark clearly betrays the feeling of reluctance referred to above.

The use of the word *Yavana* in P IV.1.49 should give no trouble. A close study of P.IV 1 49 and IV 1 175 and the vārtika thereon clearly shows that while P. knew the Yavana people, K. knew their script and also their rulers. We know that there was a colony of Greeks (Ionions)

---

1. We, purposely, avoided the inclusion of the technical terms and of the words enumerated in the Gaṇapātha of P., for, the Gaṇapāṭha has not remained uncontaminated. There are many words added in the list in post-Pāṇinian times. So, only such words, as are directly mentioned in the sūtras, were listed there. Keith says 'Some of the references are inaccurate and the meanings assigned to them are occasionally doubtful.' While we are sorry for slight inaccuracies in the printing of 3 numerical figures, we remain unconvinced about the latter part of the remark. The meanings assigned are those as given in the comm. (Kāśikā). Unless shown to be wrong, there is no reason to doubt these meanings.

settled long before in Afghanistan. Being cut off from their mainland, they were not as advanced people as those who came to the frontiers of India in later times (325 B C). P knew the former only. Hence he could have no knowledge of the Greek script and the Greek rulers that came to be known in the days of K. Thus, the word *Yavanānī*, sanctioned by P. for 'a Yavana woman', is in favour of an early date for P. rather than a late one, as Keith thinks

Incidentally, we may point here other reasons[1] for locating P. in an early age To P. the word *Āraṇyaka* meant a forest man (cf. P.IV.2. 129), but K. 's vārtika extends its meaning to 'a book of study' (written in a forest) and 'a forest vihāra'. This clearly indicates that P. flourished in the pre-Buddhistic period before the Āraṇyaka texts and monks cells came into vogue, and K. in the post-Buddhistic period. The mention of *Parśus* (Persians) as mercenary soldiers (P.V 3 117) refers to a period before they founded their Empire in 550 B C. The word *Śaka*, in the sense of 'a śaka ruler', is known to K and not to P. (cf P IV, 1, 175 and the vārtika thereon). We infer, therefore, that P. flourished before Deioces established the Shaka kingdom about 700 B C. A similar evidence is given by the addition of the word *Vṛjigārhapata* by K. in P. VI 2.42. The Vṛjis, therefore, came to be admitted to Vedic religion, and began having *Gārhapatya* fire after P, but before K. It is well-known that the Vṛjis figure in Buddhistic history.

A highly significant proof for the pre-Buddhistic period of P. is the use of the word *Bhāsā* by him for the current language of his period. We know that this *Bhāsā* of P. is the basis of his grammar, and represents a stage preceding the rise of Prākṛtas. This Sanskrit was the current language of the people in P.'s times. But, in the days of Buddha, Pāli (a form of Prākṛita) was in currency, as he used it as a language for his preaching. The interval of time between Buddha and P. must be sufficiently long to account for the changes which took place in Sanskrit and softened and modified it to the Prākṛita form. If in spite of such

---

1. For details see the *History of Indian Literature* by C. V. Vaidya, Vol. I. Section III.

8. PĀṆINI AND THE ṚK-PRĀTIŚĀKHYA

The scholastic discussion[1] between Dr THIEME and Dr. GHOSH on the relation between Pāṇini and the *Ṛk-Prātiśākhya* has now reached a stage when it would be desirable to examine it and see if the conclusions reached by GHOSH are unavoidable and the relevant facts cannot be explained otherwise It is for THIEME to controvert comprehensively the charges and statements of GHOSH, for GHOSH "has no doubt that THIEME will again return to the fray and try to defend his position" (p 399), what I am particularly concerned with here is to weigh and analyse in detail GHOSH's "rational and intelligible interpretation" of Pāṇini's *Pragṛhya-Sūtras* by examining the alleged anomalies inherent in them Let it be pointed out at first that though in his second article,[2] GHOSH is 'really grieved' to see that he has been accused of condemning Pāṇini's Grammar and protests that 'nothing was further from his mind than to condemn Pāṇini' (p 388) the whole tenor of his first article[3] indicated nothing but the 'usual' condemnation of the ancient Indian Grammarians. I do not know if such statements as "Pān (1-1-6) has never been understood even by the ancient Indian commentators" (p. 665) "it would

---

1 See Batakrishna GHOSH : *Indian Historical Quarterly*, Vol. X, pp. 665-670; Paul THIEME · Vol. XIII, pp. 329-42; K. CHATTOPĀDHYĀYA : *ibid.*, pp. 343-49, A Berridale KEITH · *Indian Culture*, Vol. II, pp 742-44; Batakrishna GHOSH : *ibid.*, Vol. IV, pp 387-99.

Unless stated otherwise, references to GHOSH are from his second article in *Indian Culture*, Vol. IV, pp 387-99.

2. Published in *Ind Cult* Vol. IV pp 387-99.

3. Published in *IHQ*, Vol. X, pp. 665-70

reflect no glory on the author of these sūtras" (p 668), "it is very unlikely that Pānini had personal knowledge of the *Padapātha*" (p 669), "his amazing mistakes, both of omission and commission" (p 669), "Pānini has not only copied the R P, but he has copied it mechanically, perhaps without even understanding what he was copying (p 670)," imply anything else Another point worth noting at the outset is that GHOSH makes explicit statements in his second article to the effect that his chief purpose was not to prove Pānini's dependence on the R P, (p 399) and that it was not his intention to use the *Pragṛhya-Sūtras* as an instrument with which to prove P s posteriority to the R P, (p 390), but in his first article, he begins the treatment of the subject with particular reference to the specific problem of the relation between Pānini and Ṛ P and ends with that notorious sentence quoted above "He has copied the Ṛ P. mechanically and perhaps without even understanding"[1] Thus it is clear that the controversy has resulted in shifting the ground of discussion from the relation between Pānini and Ṛ P. to the interpretation of the *Pragṛhya-Sūtras* and in mitigating, to a certain extent, the sting of attack made by GHOSH against Pāṇini in his first article

Before I actually begin the examination in detail of the facts brought forward by GHOSH, it would be advisable to put forth in a concise form his main contentions on the subject GHOSH concludes (p 388) that 'Pānini's *Pragṛhya-Sūtras* prove beyond doubt that he had actually borrowed these sūtras from the R P. and that he has borrowed the first part of the sūtra (8-4-67) from the R P. (III-9) I shall take up the latter conclusion first and examine one by one the chain of arguments, which according to GHOSH leads to it.

1. "Pānini (8-4-67)—'*Nodāttasvaritodayam*' shows the unmistakable rhythm of a verse foot." (GHOSH). He 'particularly stresses' this point and thinks that the burden of his 'whole argument hinges on the metrical nature' of the sūtra. (p 388).

A serious student of the *Asṭādhyāyī* knows very well that this so-called unmistakable metrical rhythm can be "traced" in many other sūtras of P.

1. *IHQ*, Vol. X, p. 670.

The very first two sūtras viz "*Vrdhıradaıjadengunah*" may be said to form the 2nd Pāda of an Anustubh metre. One may suspect the first foot of the Anustubh metre in P (1-2-46-*Krttaddhıtasamāsāśca*) and the second foot in P. (1-1-45-*Igyanah samprasāraṇam* 1-4-100-*Tanānāvātmanepadam*) and so on. As these instances and many others similar to them cannot be traced to the R P, it cannot be said that the metrical rhythm of P. (8-4 67) is a *sure* proof of its having been borrowed from the R P. The conclusion of GHOSH appears still more implausible when we remember that this 'metrical' line is not the monopoly of the R P. only, but occurs in the *Vāj Prātiśākhya* also.[1] Thus the emphasis and 'stress' on the rhythm of the sūtra is a too insufficient evidence to prove its dependence on the R P.

(2) "The Verse-foot, '*Nodāttasvaritodayam*', second in the hemistich, occurs more than once in the Ṛ P" (GHOSH p 388) We are glad to see that GHOSH is more accurate in his second article than in the first one, where he made a sweeping remark[2] that 'this Pāda is repeatedly met in the Ṛ.P." But this subtle change in the wording does not improve the matter, for 'repeatedly' or 'more than once' *amounts* to only "twice" in the R P. (III-9; III-12). Of these, the second reference (R P. III-12),[3] being materially *only a re-statement* of Ṛ.P. III-9, cannot be construed to amount to an independent occurrence. Thus practically the solitary use of the phrase loses much of its force of being a conclusive evidence.

(3) "Pānini nowhere else uses the term *Udaya* in the sense of *para*," and "in the R P the term *udaya is regularly used in this sense*' (GHOSH p. 38)

Let us consider the latter statement first. The mere employment of the term *udaya* is not a sure argument in deciding chronological sequence, for other Prātiśākhyas also use this term.[4] And even in the R P, it is not "regularly" used, for we have many instances (e g. I-14, II-10 and many

---

1. IV-143, (published by the Madras University)

2. *IHQ*, Vol. X, p. 670.

3. References are from P. SHASTRI's edition published in Calcutta Sanskrit series.

4. See *IHQ*, Vol. XIII, p. 341.

others) where the term *para* is used. Not only that, but in some places (e g IV-6, IV-9) we come across both the terms *udaya* and *para* used indiscriminately in an identical sense in the same stanza In fact, there is much truth in the statement made by GHOHS in his first article that "Both Pāṇini and the Prātiśākhyas have largely drawn upon a common grammatical tradition, so that even the most striking similarity between the two texts cannot prove the indebtedness of one to the other."[1] As regards the use of this term by Pāṇini, it is true that this term is nowhere else used by him in the sense of *para* It may also be added that in 1-2-40 he uses the phrase '*udāttasvarita-para*' instead of '*Udātta-svaritodaya*', and this fact should make us think seriously whether the word *Udaya* in '*Udāttasvaritodaya*' in P. VIII-4-67 had been used deliberately with some significance or is merely a 'mechanical copy' from the R P That this term is used not only in the R P but also in other Prātiśākhyas has been shown above. This fact coupled with the consideration that even the R P uses this term indiscriminately along with its another synonym '*para*' and does not define it,[2] leads to the conclusion that it was a technical term of earlier grammarians and that both Pāṇini and R P have adopted it from them. In accordance with the dictum '*Vyākhyānato Viśesapratipattih nahi sandehāt alaksanam*', it is for commentators to account for the phrase '*Nodāttasvaritodayam*' in a way more reasonable and convincing than that of 'Pāṇini's inadvertence' and 'mechanical copying' as supposed by GHOSH And from this point of view the explanation of *Kāśikā* for Pāṇini's use of the word '*udaya*' as '*Mangalārtha*' is more "admirably consistent "[3]

But this is not the main and only objection to the theory propounded

---

1 *IHQ*, Vol X, p 665.

2 CHATTOPĀDHYĀYA · *IHQ*, Vol XIII, p 348 · "As Śaunaka has not defined the term in his Prātiśākhya, he too may have taken it from his own predecessors," and "It is interesting to note that Pāṇini has defined the term *Aprkta*, whereas Śaunak has not, though he has used it in the same sense One may conclude from this with greater justification than Dr GHOSH that Śaunaka was here dependent on Pāṇini "

3. See THIEME *IHQ*, Vol. XIII, p. 342.

by GHOSH, viz "that Pānini borrowed the first part of the sūtra (8-4-67) from the R P (III-9)," "which is practically identical in meaning with it" The similarity between P (8-4-67) and the R P. (III-9) in meaning and, to an extent, in form is only in the first part of the P. sūtra. There is in the R P no counterpart of the second portion of the P Sūtra, viz "*a-Gārgya Kāśyapa-Gālavānām*" The addition of this second part as a qualifying clause reveals at once the comprehensive nature of the sūtra by referring to the opinion of Gārgya, Kāśyapa and Gālava. Pānini is dealing here with the problem in a general way and his treatment can, with no stretch of imagination, be regarded as borrowed from R P. GHOSH, too, is not unmindful of the implications of the qualifying clause, for the confesses (p 389) that 'there is a real difficulty' as regards the qualifying clause And it was for this reason (the non-identity of the qualifying clauses) that he particularly "stresses" and regards the metrical form of the first half of the sūtra as the *deciding* factor (p. 389) As I have already shown above, undue emphasis on the evidence of the rhythmical nature of the P. sūtras leads nowhere and no capital should be made out of such an evidence

(4) GHOSH apparently seems to see in the R.P. something corresponding to Pānini's qualifying clause, for he refers to "qualifying clauses on each side" and even has a lurking suspicion that they might be identical in meaning, though he is forced to confess "that it is impossible to prove" (p 389) And it was due to the impossibility in reconciling the qualifying clauses on each side that he brings in with emphasis the argument of 'rhythm' in the P Sūtra But I must confess I fail to see anything in the R.P which might be regarded as a qualifying clause to '*Na cet udāttasvaritodayam*' (Ṛ P III-9) On the other hand, Uvvaṭa's comment on the Ṛ P. (III-12) [1] referring to the opinion of 'all the authorities', clearly shows the absence of any qualifying or conditioning clause in Ṛ P (III-9). Thus it is clear that the qualifying clause in Pān. (8-4-67) *a-Gārgya-Kāśyapa-Gālavānām* has not even the remotest correspondence in the R P. and the

---

1. "Sarve eva tu ācāryāh udāttodayam udattaparam svaritodayaṃ svaritapa ram ca akṣaram... . "

pious wish entertained by GHOSH to see 'the qualifying clauses on each side' reconciled has no semblance of reality.

(5) "The very grammatical structure of the word *udāttasvaritodayam* is rather anomalous Should it not have been formally *udāttasvaritodayah* or *udāttasvaritodayau*," (GHOSH p 389) It is, indeed, not possible to understand what GHOSH means by his proposed second reading of the phrase, *Udāttasvaritodayau* (Nom Dual). Apparently he has misunderstood the paraphrase of the compound by Bhattojidīksita, '*udāttaparah svaritaparaś ca anudāttah*' (quoted by him) The above paraphrase practically amounts to '*udāttasvaritau udayau (parau) yasmāt sah anudāttaḥ*' and Bhattojīdīksita following the well-known grammatical rule, '*Dvandvānte śrūyamāṇaṃ padam pratyekam abhisambadhyate*' is quite justified in paraphrasing the compound as above. But GHOSH, not understanding the rationale in the above paraphrase, suggests a form which has no meaning at all in the context, for the compound being of the *Bahuvrīhi* type, is an adjective (*Viśesyanighna*) and there is no substantive here in the dual number to be qualified by it. So the compound should never have been '*udāttasvaritodayau*.' As regards the first suggestion, *udāttasvaritodayah*, it is true that it would have been a bit happier reading, for then it should have, very well, qualified the nom substantive, *anudāttah* But we should remember that there is no such word in this or the preceding P sūtra (8-4-66) and it is only by *Vibhaktivipariṇāma* (*anudāttah* for *anudāttasya*) that the required word, *anudāttah* could have been supplied here. Or by *Vibhaktivipariṇāma* one may construe *udāttasvaritodyam* as a genitive singular qualifying *anudāttasya* Another plausible solution would be to take the compound as *Kriyā-viśeṣaṇa Bahuvrīhi*. The meaning of the sūtra then, taken in conjunction with the preceding sūtra would be "*udāttasvaritaparam yathā syāt tathā udāttātparasya anudāttasya sthāne svaritaḥ na bhavati*." This interpretation is no doubt "kliṣta" but not off the point. But one fails to see any relevancy at all in the other "kliṣta' (?) interpretation (by GHOSH) as a *dvandva* of the type *Pāṇipādam* (p. 389). To take '*udāttasvaritodayam*' as a *dvandva* compound of *Pāṇipādam* type is as ludicrously absurd as to suggest a reading with dual number, *udāttasvaritodayau*.

The words, *udātta*, *anudātta* and *svarita*, being originally qualifying

words, are used in the neuter gender also In P. 6-1-158, 8-1-18, 8-1-3, 8-1-67, 8-2-100 the word *anudātta* is used in the neuter gender, in P 1-2-32, the word *udātta* is in the neuter gender, in P 8-2-103, the word *svarita* is in the neuter gender Hence the use in the neuter gender of a compound qualifying *anudāttam* (*aksaram*) need not make the form anomalous, and 'drive' the interpreters 'to extremities' Even if one agrees with Ghosh for a moment that the form should have been '*udāttasvaritodayaḥ*', recourse to the procedure '*Vibhakti-vipariṇāma*' is indispensable, for, as shown above, the substantive qualified is *anudāttasya* (coming from the preceding *sūtra*) and not *anudāttaḥ* Thus it is clear that *udayaḥ* or . . . .*udayam* reading make no material difference and the first suggestion of Ghosh does not improve the situation

Now coming to the problem of the *pragrahya sūtra* (1-1-16), it is proper to understand first the difference between the traditional interpretation and that offered by Ghosh The author of the *Kāśikā* explains it as follows : "The *O* of Vocative is pragrhya according to Śākalya, when a non-vedic *iti* follows" Ghosh translates it as follows · "The *O* of Vocative is *pragrahya* when Śākalya's non-vedic *iti* follows" "A comparison of the two above interpretations will show that the practical difference between the two interpretations is that while according to Ghosh, this sūtra will apply only in the R̥.P. Padapāṭha, the traditional interpretation will apply the sūtra in the Padapātha, as well as in other non-vedic forms Ghosh says that his interpretation is a 'serious departure from the traditional one', but the net result of this 'departure' is that the scope of sūtra has been narrowed down to the Padapātha only It cannot be assumed even for a second that it was Ghosh who for the first time interpreted the sūtra with reference to Śākalya's Padapātha as implied by such assertions of Ghosh as "after many years of thought and study I arrived at the unhappy conclusions" (p. 390) and "the word *anārṣa* has to be interpreted in the way I suggested in my first article" (p. 392). In fact, commentators have always understood the word *anārṣa* in a sense *including* Padapātha (*anārṣa=anr̥ṣidr̥ṣṭa-a-Vaidika*) This is clear from some of the examples given by them of the sūtra, '*Vāyo iti*', '*viṣṇo iti*;' cf. : '*iti śabdaḥ padakārapraksiptatvāt avaidikaḥ*' (*Bālamanoramā* on P. 6-1-129)'. '*upasthitam nāma anārṣa itikaraṇaḥ samudāyādavacchidya*

padaṃ yena svarūpena avasthāpyate' (*Kāśikā* on P 6-1-129) The traditional interpretation extends the scope of the sūtra to all non-vedic forms (including ofcourse Śākalya's Padapātha) and seems to imply that Pāṇini took into consideration other Padapāṭhas, which did not follow the usage of *Śākalya* This conjecture is borne out by the fact that the Padapātha of *Sāmaveda* does not observe *pragṛhyatva* in such cases and that of the *Taittirīyasamhitā* only under certain specific circumstances [1] That being so, there is no reason why one should narrow down the scope of the sūtra. But this is actually done by GHOSH *merely to show* that Pāṇini "had been here borrowing from the Prātiśākhya and borrowing unintelligently." The assumption that Pāṇini had no knowledge of Padapāṭhas and that 'Padapātha is no language at all' has led GHOSH to make a rather uncharitable statement that "Pāṇini had absolutely no business to mention a phenomenon peculiar to an artificial text like the Padapātha." It is really a surprise that GHOSH still sticks to this opinion despite the fact that CHAṬṬOPĀDHYĀYA has conclusively proved the contrary.[2] GHOSH's anxiety to equate P. 1-1-16 with Ṛ P (I-28a) has also led him to overlook the 'real and formal' difference between them The R P. makes no mention at all of the condition laid down by Pāṇini, 'when followed by a non-vedic iti' Not that he does not know this difference, (for he says (p. 392) 'Have I not myself emphasized this formal difference in my first article ?'), but in his enthusiasm to make Pāṇini an 'unintelligent borrower,' he regards that a "real formal difference" (according to CHAṬṬOPĀDHYĀYA[3] and 'emphasized by GHOSH in the first article') is the same as 'merely formal' (p 392). The simple fact is that Pāṇini (1-1-16) in referring to Śākalya's opinion desires to deal with Śākalya's Padapāṭha (for the particular grammatical peculiarity is found in his Padapāṭha) and other non-vedic texts and we need not go for its source to the R.P, which, though recording the teachings of Śākalya and also of his followers,[4] is ascribed to Śaunaka and not to Śākalya.

---

1. See CHAṬṬOPĀDHYĀYA : *IHQ*, Vol. XIII, p. 346.
2. See CHAṬṬOPĀDHYĀYA : *IHQ*, Vol. XIII, p. 344.
3. *Ibid.* p. 346. 4. *Ibid.* p. 344.

words, are used in the neuter gender also In P 6-1-158, 8-1-18, 8-1-3, 8-1-67, 8-2-100 the word *anudātta* is used in the neuter gender, in P 1-2-32, the word *udātta* is in the neuter gender, in P 8-2-103, the word *svarita* is in the neuter gender Hence the use in the neuter gender of a compound qualifying *anudāttam* (*aksaram*) need not make the form anomalous, and 'drive' the interpreters 'to extremities' Even if one agrees with GHOSH for a moment that the form should have been '*udāttasvaritodayah*', recourse to the procedure '*Vibhakti-viparināma*' is indispensable, for, as shown above, the substantive qualified is *anudāttasya* (coming from the preceding *sūtra*) and not *anudāttah* Thus it is clear that *udayah* or . *udayam* reading make no material difference and the first suggestion of GHOSH does not improve the situation

Now coming to the problem of the *pragrahya sūtra* (1-1-16), it is proper to understand first the difference between the traditional interpretation and that offered by GHOSH The author of the *Kāśikā* explains it as follows : "The *O* of Vocative is pragrhya according to Śākalya, when a non-vedic *iti* follows" GHOSH translates it as follows · "The *O* of Vocative is *pragrahya* when Śākalya's non-vedic *iti* follows" "A comparison of the two above interpretations will show that the practical difference between the two interpretations is that while according to GHOSH, this sūtra will apply only in the R P. Padapātha, the traditional interpretation will apply the sūtra in the Padapātha, as well as in other non-vedic forms GHOSH says that his interpretation is a 'serious departure from the traditional one', but the net result of this 'departure' is that the scope of sūtra has been narrowed down to the Padapātha only It cannot be assumed even for a second that it was GHOSH who for the first time interpreted the sūtra with reference to Śākalya's Padapātha as implied by such assertions of GHOSH as "after many years of thought and study I arrived at the unhappy conclusions" (p 390) and "the word *anārsa* has to be interpreted in the way I suggested in my first article" (p. 392) In fact, commentators have always understood the word *anārsa* in a sense *including* Padapātha (*anārṣa=anrṣidrṣta-a-Vaidika*) This is clear from some of the examples given by them of the sūtra, '*Vāyo iti*'; '*visno iti*;' cf : '*iti śabdaḥ padakāraprakṣiptatvāt avaidikah*' (*Bālamanorama* on P. 6-1-129) . '*upasthitum nāma anārsa itikaranah samudāyādavacchidya*

padam yena svarūpena avasthāpyate' (*Kāśikā* on P. 6-1-129) The traditional interpretation extends the scope of the sūtra to all non-vedic forms (including ofcourse Śākalya's Padapātha) and seems to imply that Pāṇini took into consideration other Padapāthas, which did not follow the usage of *Śākalya* This conjecture is borne out by the fact that the Padapātha of *Sāmaveda* does not observe *pragṛhyatva* in such cases and that of the *Taittirīyasamhitā* only under certain specific circumstances [1] That being so, there is no reason why one should narrow down the scope of the sūtra But this is actually done by GHOSH *merely to show* that Pāṇini "had been here borrowing from the Prātiśākhya and borrowing unintelligently." The assumption that Pāṇini had no knowledge of Padapāthas and that 'Padapātha is no language at all' has led GHOSH to make a rather uncharitable statement that "Pāṇini had absolutely no business to mention a phenomenon peculiar to an artificial text like the Padapātha " It is really a surprise that GHOSH still sticks to this opinion despite the fact that CHAṬṬOPĀDHYĀYA has conclusively proved the contrary [2] GHOSH's anxiety to equate P 1-1-16 with R P (I-28a) has also led him to overlook the 'real and formal' difference between them The R P makes no mention at all of the condition laid down by Pāṇini, 'when followed by a non-vedic iti.' Not that he does not know this difference, (for he says (p. 392) 'Have I not myself emphasized this formal difference in my first article ?') but in his enthusiasm to make Pāṇini an 'unintelligent borrower,' he regards that a "real formal difference" (according to CHAṬṬOPĀDHYĀYA[3] and 'emphasized by GHOSH in the first article') is the same as 'merely formal' (p 392). The simple fact is that Pāṇini (1-1-16) in referring to Śākalya's opinion desires to deal with Sākalya's Padapāṭha (for the particular grammatical peculiarity is found in his Padapātha) and other non-vedic texts and we need not go for its source to the R.P, which, though recording the teachings of Śākalya and also of his followers,[4] is ascribed to Śaunaka and not to Śākalya.

---

1. See CHAṬṬOPĀADHYĀYA : *IHQ*, Vol. XIII, p. 346.
2. See CHAṬṬOPĀDHYĀYA . *IHQ*, Vol. XIII, p. 344.
3. *Ibid.* p. 346. 4 *Ibid.* p. 344.

But it would be doing injustice to GHOSH if we do not take into consideration 'the difficulties' in his way of accepting the traditional interpretation of the *pragrhya sūtras* which compel him to seek a "rational interpretation" and for pointing which (the difficulties and anomalies) he was "reprimanded by his teachers for irreverence" (p 390) According to the traditional interpretation, the word *Śākalyasya*, means, in accordance with the usual procedure of Pāṇini, 'in the opinion of Śākalya.' The self-raised difficulty of GHOSH in accepting the above interpretation is that the name of the authority '*Śākalya*', does not occur at the end of the sūtra, for he believes that 'whenever a *pūrvācārya* is mentioned in a Pāṇinian aphorism to indicate that the rule concerned is *Vaikalpika*, the name of the revered one is mentioned only at the end of that aphorism In the whole of the Grammar of Pāṇini there is not a single exception to this rule' (p. 391). It is really an ingenious argument which GHOSH has advanced in the course of the controversy. The traditional study of the *Aṣṭādhyāyī*, which is recognized as most thorough and which discusses each and every syllable of the *Aṣṭādhyāyī* in a very subtle—almost hair-splitting-manner, has not even dreamt of this methodology in the *Aṣṭādhyāyī*. Let it be stated at first that in the *Aṣṭādhyāyī*, no such hard and fast arrangement in the order of words is seen.[1] If in "*Iko yaṇ aci*" (6-1-77), *Vidheya* comes in the middle and *nimitta* in the end, we see the order reversed in '*Akaḥ savarṇe dīrghaḥ*' (6-1-101), in '*Ādgunaḥ*' (6-1-87), *Vidheya* comes in the end, but in '*Vrddhireci*' (6-1-88) it occurs in the beginning, the sūtras '*Nipāta ekajanān*' (1-1-14) and *Svarādinipātamavyayam* (1-1-37) have a different order as regards the position of the term defined; and so on. Even the particles of negation and option (e g. *na*, *Vā*, *Vibhāsā*), which are used in a good majority of cases in the beginning of the sūtras, admit of a different order in their use (e.g. 4-1-22; 7-1-29; 7-1-91, 7-2-38). Thus it would appear that it is futile to deduce any principle from the order of words in the *Aṣṭādhyāyī*. Even as regards the specific principle propounded by

1. Cf. · *Mahābhāṣya* (I-1-1), "Na iha prayoganiyamaḥ ārabhyate, kiṃ tarhi ? Samskrtya samskrtya padāni utsrjyante teṣāṃ yathestam abhi-sambandho bhavati."

GHOSH, the evidence is not so conclusive as GHOSH thinks it to be, for, besides the exception (Pān 6-1-127) which GHOSH himself mentions and discusses in the sequel, I may point out for argument's sake the sūtra, '*Lanah Śākatāyanasya eva*' (3-4-111) where the name of a *Pūrvācārya* has not been mentioned at the end That the word, '*eva*' in (3-4-111) is not an integral part of the previous word, *Śākatāyanasya*, is obvious from the fact that the word would be otherwise quite insignificant and that Patañjali and Kāśikākāra assign a quite different function to it (See Patañjali on Pān 3-4-110, and *Kāśikā* on Pān 3-4-111 and 3-4-116).

As regards the *Yoga-vibhāga*, proposed by GHOSH of the sūtra Pāṇ. 6-1-27, in which the name of the *Pūrvācārya* does not occur at the end, and which is therefore made, by the ingenious device of *Yogavibhāga* to conform to his view, there are two points which might be mentioned in passing Firstly, GHOSH's device would justify a quite new form '*cakrī atra*', which is not recognized by any Indian Grammarian. Strangely enough GHOSH does not attach importance to this objection, for he asserts that 'Pānini's not recognizing a particular case of *Pragrhya* cannot prove that it was unknown in the language,' and at once quotes '*śyetī akuruta*' (Tait. Saṁhitā; 5-5-8) and '*Mithunī abhavan*' (ibid 5-3-6) as *known* examples. But GHOSH should wait for a while, before quoting the above forms as *pragrhya*-cases, to see whether the forms occur in Śākalya's works, for according to GHOSH's own interpretation, the sūtra enjoins *pragrhyatva* in Śākalya's opinion. And since Tait Saṁhitā is not written by Śākalya, the citation of the form from the Tait Samhitā is to say the least, irrelevant. Secondly, it is difficult to see how he 'can easily get rid of an anomaly—the redundancy of *ca* (in the same sūtra)—which was noticed already by Patañjali, for even after the proposed *Yogavibhāga*, Patañjali's argument[1] for dropping *ca*, viz "*Hrasvavidhi-sāmarthyāt na svara-sandhih kimarthaḥ cakārah*,' will still hold good. Thus the *yoga-vibhāga* proposed by GHOSH is too ingenious a device to be accepted and the *only result* achieved by this step is that the sūtra "falls into line with the so-called usual (?) procedure of Pānini (mentioning the name of *Pūrvācāryas* only at the

1. On Pāṇini, 6-1, 127.

end of his sūtras) and similarly between this sūtra and corresponding rules of the R P turns out to be complete identity " (p. 196). GHOSH is certainly free to expect *such* a result, but he should not force it on others.

The second difficulty or anomaly which prevents GHOSH from accepting the traditional interpretation of the *Pragṛhya* sūtras is why Pāṇini should deal with the non-contractability of vocative *O* in relation to *iti* only and say nothing as to its behaviour when confronted with initial vowels of other words (p 393) He regards the "specific case of *iti* following upon a vocative form in *O* of infinitesimal importance from Pāṇini's point of view" and therefore finds it impossible to resist the conclusion that this is "the most eloquent proof of Pāṇini's direct dependence on the Ṛ P." (p. 393). But as the facts stand, it is not true that Pāṇini is silent as to the general problem of the final *O* before initial vowels A reference to the sūtras, *Eco' yavāyāvah* (6-1-78) and *Enah padāntādati* (p 6-1-109) will clearly show the behaviour of a final *O* before *a* and other vowels Not only that, Pāṇini goes further, and in the sūtra '*Lopah Śākalyasya*' (8-3-19) he refers to Sākalya's opinion, according to which the final *O* resolves itself to *a* (by 6-1-78 and 8-3-19) before a vowel other than short *a* and is not allowed to be joined with the following vowel (by 8-2-1). Thus the forms resulting from a general treatment of a final *O* before initial vowels are : *Vāya iha* (according to Śākalya), *Vāyaviha* (according to other Grammarians); *Vāyo'tra* (according to all Grammarians when the following vowel is a short *a*). It is only to account for such specific cases of hiatus as of a Vocative *O* before *iti* (which are not covered by the rules mentioned above but are found current e g. in Śākalya's Padapātha) that Pāṇini gives a particular rule (Pān. 1-1-16) Such being the real situation, it is not "an astonishing error" of omission on the part of Pāṇini On the other hand, his treatment of a final *O* is scrupulously comprehensive, as is seen by his references (Pān 6-1-122/3) to the condition of *O* in *Go* before a short *a* according to Sphoṭāyana and others. It is really a pity that Pāṇini should be accused of the "error of omission" because he does not give a general rule treating a Vocative *O* before initial vowels and also of the 'grave error of commission,' because he gives rules about the specific cases, which, according to GHOSH, should not have concerned Pāṇini. The

former charge—of error of omission—is untenable in view of the sūtras 6-1-78, 6-1-109 As regards the latter charge of error of commission, it would be more charitable to judge Pānini from his standpoint, before we arbitrarily narrow down the sphere of his work A complete grammar, as visualized by Pānini should not and did not exclude the Padapātha of Śākalya

Now we come to certain misstatements by GHOSH on the *uñah ūṃ* problem. He states that 'the singular behaviour of the particle *u* in '*aved v indra*' cannot be explained with the help of Pān sūtras" (p 394) Relying on WACKERNAGEL (I 270 a p 320) he thinks that in the Saṃhitā, *u* is unchangeable only after a vowel or a *y* out of *i* and quotes '*bhā u amśave*' as an example And as *u* in '*aved v Indra*' is neither after a vowel nor after a *y* out of *i*, he, regarding it as a case of singular behaviour, remarks that Pān 's sūtra cannot explain it. But all his difficulty is due to his misunderstanding (p. 394) the sūtra '*mayaḥ uñah vo vā*' (8-3-33) This sūtra he takes as enjoining *pragrhyatva* of an *u* (from *uñ*) preceded by a *may* And since there is no *pragrhratva* of *u* in '*aved v indra*', despite its following a *may* (*d* in *aved*), he comes to the above conclusion about the insufficiency of Pānini's sūtras. The fact is that the sūtra '*mayah uñaḥ vo vā*' lays down the substitution of *v* for *u* and the example given by GHOSH as unaccountable is really an example of this sūtra Thus there is no difficulty at all. Further GHOSH challenges those who maintain that Pānini wrote these sūtras after a direct observation of the R V Saṁhitā, to explain in the light of Pānini's sūtras those cases : e g *bhā u amśave* (R.V. 1-461-10); *Praty u adarśi* (R.V. 7-81-1) in which *u* does not undergo sandhi with a following vowel. But he forgets that the sūtra *Nipāta ekāc anān* (1-1-14) does easily account for the hiatus in '*bhā u aṁśave*' (I-46-10) In this way, both the examples quoted by GHOSH are accounted for by Pān.'s sūtras Instead of making an uncalled for statement that "Pānini could not have formulated his sūtras about the sandhi of *u* after a direct observation of the R V Samhitā," GHOSH should revise his study of Pān.'s sūtras and give up the wrong notion that Pān (8-3-3) is 'the only sūtra, which restricts (?) the sandhi of *u* with a following vowel "

As regards the interpretation of the sūtra, '*Īdūtau ca saptamyarthe*' (1-1-19), GHOSH makes "a new departure" in regarding the *anuvrtti* of

Śākalyasya itau anārse absolutely necessary (p. 397). The traditional interpretation regards this sūtra as unconditioned by '*Śākalyasya itau anārse*', and the examples given by the Kāśikākāra are, therefore, from both the Samhitā and Padapātha. Technically speaking, it is possible to have examples (of *i-kārānta* type) from the classical Sanskrit also, as is clear from the following statement in the *Tattva-bodhinī* commentary, "*Vātapramī atra, yayī asakta iti udāharaṇe sati api ūkārāntasya laukikodāharaṇābhāvāt ubhayoh api vede eva udāharanam uktam.*" The traditional interpretation clearly knows that the examples from the Padapātha are within the proper sphere of this sūtra, otherwise it would not quote '*priyah sūrye priyo agnā bhavāti*' as a counter example, if the word '*īdūtau*' is dropped. It is quite immaterial whether *agnā*, in the above is made *pragrhya* or not, because there is no possibility of its being joined in sandhi with *bhavāti*. So the only significance of giving *agnā* as a counter example lies in the fear that *agnā* will be followed by *iti* in the Padapātha (cf · '*ihāpi padukāle iti śabda-prayoga-prasangah sa ca aniṣṭaḥ*', Tattvabodhinī) Still the Pāṇinīyas insist on making this sūtra unconditioned by '*Śākalyasya itau*' merely to account for the hiatus in the Samhitā examples [*Gaurī adhiśritah* (R V. 9-12-3); *tanū ṛtvye* (Ṛ.V. 10-183-2)]. Ghosh is not justified in taking these examples on a par with other hundred examples 'non-contraction of vowels in which is determined in the R.V. Samhitā wholly by the exigencies of metre.' He should note that the written Samhitā text does not join in Sandhi 'Gaurī and tanū' with the following vowels, as it does in the 'other hundred' cases. Unless Ghosh explains the difference in the treatment (in the written Samhitā text) of the two types of cases—one, not joined in sandhi and pronounced separately in the Samhitāpātha, and the other, joined in sandhi *but* pronounced separately in the Samhitāpātha, he is not right in assuming that pānini did not take into account the former type as special cases of *pragṛhya* We should consider the question on the basis of existing facts. And if Pāṇini is later than the redaction of the present Samhitā text, there is no reason why Pānini should overlook the apparent *pragṛhya* cases in the Samhitāpāṭha.

[*Published in New Indian Antiquary. I*—7, (1938) *Pages* 450—59]

9. DR. GHOSH ON PĀṆINI AND ṚK-PRĀTIŚĀKHYA

In *New Indian Antiquary*, Vol. II, pp. 59-61, Dr Batakrishna GHOSH has kindly taken note of my article "*Pāṇini & the Rk-Prātiśākhya*" (*NIA*, Vol I, pp 450-59) and discussed some of the points raised by me The main theme of my article was to examine in detail the scholastic discussion between Dr. GHOSH and Dr. THIEME on the above subject and put forth my views as to the validity and conclusiveness of their arguments and conclusions Fortunately, both the scholars have, by now, expressed their views on my article (GHOSH, *NIA*, Vol II, pp 59-61 . THIEME, IC, Vol. V, pp 363-66) But while Dr THIEME feels "compelled to accept my view-point in every essential detail (*Ibid* p. 366) and reserves for future "a discussion of those delicate points on which he differs from me,"—Dr. GHOSH has confined himself to a few salient points in his discussion of my views and has kept silent on other issues wherein I have taken exception to his erroneous views and mis-statements I may be permitted to regard his silence as an illustration of *Maunam Svīkāra-lakṣanam.* In the present note I shall, therefore, refer only to those points which have been learnedly discussed by Dr. GHOSH.

In his previous article, Dr GHOSH "particularly stressed the rhythm of a versefoot in *Nodāttasvaritodayam*" (Pān. VIII-iv-67) and expressly stated that "the burden of his whole argument (about Pāṇini's borrowing from the ṚK-Prātiśākhya) hinges on the metrical nature of the *Sūtra* " But in the last note he argues "that the metrical rhythm *plus* the term *Udaya* plus the anomalous (?) grammatical construction *might* together constitute the positive proof". This clearly shows that he is no longer enamoured of the 'metrical rhythm' as the weightiest argument. It may be (and to my knowledge it is) true that none before Dr. GHOSH had detected the metrical rhythm in the *sūtra*, but the 'discovery' does not help

the matter much. As pointed out by me before, the three parts of the arguments, viz., metrical rhythm, the use of the word *Udaya* and anomalous grammatical construction, considered independently lead to no sure conclusion. It is, therefore, natural to expect from Dr. GHOSH conclusive and sound arguments and not mere "concurrent possibilities."

About the meaning of the word, *Anārsa*, Dr. GHOSH is 'astonished to see my quoting the passages from the *Kāśikā* and *Bālamanoramā* to show that the word *Anārsa* means Pada-pāṭha. But he has missed the real purpose of my doing so. It was merely to indicate that Dr. GHOSH was not the first scholar to interpret Pāṇ. I-1-16 with reference to Śākalya's Padapātha (as implied in his statement on p. 390, vol. IV of Indian Culture). I never contended that the word does not mean Padapātha, on the other hand I quoted the above commentators to show clearly that Śākalya's Padapātha was not understood as falling outside the scope of Pān. I-1-16. The real question was and is whether the word, according to Pāṇini, meant Padapātha and Padapāṭha *only*. For deciding this question we should refer to the use of the word in Pre-Pāṇinian and Pāṇinian times. So far as P. is concerned, let it be clearly understood that he does not regard it as a technical term for Padapāṭha, as Dr. GHOSH emphatically asserts. I humbly refer Dr. GHOSH to Pāṇ. (IV-1-78), wherein the word has been used to signify "something else than the Padapātha." I may also refer to the non-technical use of the secondary formation from the word, viz., *Anārseya*, occurring in the Atharva-Veda (11-1-33). It is, therefore, correct to say that in Pāṇ. (I-1-16), Pānini is not using the word in a technical sense (Padapātha *only*). Pānini uses the word in the simple sense, viz., non-vedic, which, of course, as understood by the Pāniniyas includes Padapāṭha also. If we accept Dr. GHOSH's view that the word means *Padapāṭha only*, the counter-examples in the Kāśikā on Pān. I-i-16 would be quite unwarranted. The phrase *Gav-ity-ayam-āha* is not taken obviously from Śākalya's Padapāṭha. How can this phrase be then cited as a counter-example (*Praty-Udāharaṇa*) of the word *Sambuddhau* in the sūtra (i.e. as the possible example of the sūtra if the word *Sambuddhau* were dropped from Pān. I-1-16 ? Dr. GHOSH is not prepared

to accept the proposition that the term 'anārsa' in Pān I-i-16 refers to the non-vedic language in general, for the simple reason that in that case his contention of Pānini's borrowing from the *Rk-Prātiśākhya* would not stand.

Dr GHOSH has charged me with "having not observed a difference between a final *O* in general and that of Vocative so far as Sandhi-contraction is concerned" and takes pains to demonstrate the same. But all his trouble is uncalled for and amounts to replying a *pūrvapaksa* never suggested What I maintained was that Pānini deals with *both* the kinds of cases— with final *O* in general and Vocative *O* in relation to *iti* This does not suggest that there is no difference in their treatment. My contention was that we have no reason to suppose that Pānini should not and could not have dealt with the non-contractibility of the Vocative *O* in relation to *iti*, for I don't agree with Dr GHOSH that Pānini had no personal knowledge of Padapātha and that he had no business to dabble with the rules of Sandhi observed in Padapātha. There is, therefore, no justification for narrowing down arbitrarily the sphere of his work. Pānini's is a well-planned and comprehensive grammar and naturally therefore he deals with the cases of Vocative *O* in relation to *iti* as well as those of final *O* It may be borne in mind that Pānini's treatment of the subject is just the same as warranted by the actual usage in the language. If, in Śākalya's Padapātha the vocative *O* remains unjoined in Sandhi with the following *Iti*, it is provided for in the sūtra (I-i-16), while the cases of final *O*, which are joined in Sandhi, are provided for by the sūtras (VI-i-78, VI-i-109). Exceptions to the above rules in the *prose* Mantras and in the *metrical* mantras are provided for in the sūtras (VI-i-117 ff; VI-i-115-6) respectively. There could be no better, and yet at the same time brief, treatment. But Dr GHOSH, anxious to find defects in Pānini's treatment, quotes three (3) cases from the *Taittirīya* Samhitā and asserts that they are not covered by Pānini I may point out that Pāṇini's plan has not left the above 3 cases unattended The first two examples, cited by Dr. GHOSH, *sūno asi* (TS. 1-3-14-7) and *Pito ā* (TS. 5-7-2-4) are not joined in Sandhi, because—as occurring, in the body of a *metrical* mantra (*Sa no mayobhū pito ā viśasva* and *vadmā hi sūno asy-admasadmā*)—

they are covered by Pān. (VI-i-115) Dr. GHOSH's third example *Śatakrato' nu* (TS 2-5-12-15) occurs in a *prose* mantra and therefore the general rule (VI-i-109) prevails and Sandhi is made I wonder how the strict and careful application of (Pān. VI-i-115) to the above examples escaped Dr. GHOSH's vigilant notice.

Before I pass on to other topics, I may allude to two mis-statements made in this connection in his note by Dr GHOSH. He thinks that Patañjali misunderstood Pāṇ. I-i-115, for the example given by him, *āho iti* is from Padapāṭha If Dr. GHOSH had read further the remarks of Patañjali on the same sūtras, he would have clearly seen that Patañjali did not regard the sūtra applicable to Padapāṭha only (vide *ado'bhavat,* given as an example of the Vārtika *Otāśca vipratisedhah*) on the same sūtra. In fact, Patañjali takes the sūtra as enjoining the particle *O* to be unchangeable in general. And this is in full conformity with the state of things. But the difficulty of Dr GHOSH is that he does not like Pāṇini or his commentator to refer to Padapātha, which according to him is reserved for the author of the *Ṛk-Prātiśākhya* The other statement of Dr. GHOSH open to objection is that he thinks that cases of real non-sandhi are dealt with by P. in VI-i-115 ff, where the word is *prakṛtyā* and not *pragṛhya.* According to Dr. GHOSH, the *pragṛhya* cases should belong to Padapāṭha only. But the Pāninian scheme does not justify the above assumption. Does Dr. GHOSH mean to say that the *pragṛhya* cases (provided for in Pāṇ. I-i-11-12; 15) occur in Padapāṭha only and not in the general literature ?

About the 'ingenious' suggestion regarding Pāṇ VI-i-27, Dr. GHOSH says without giving reasons that he is still unconvinced. This, of course, I cannot help. But when he further asserts that, in case the sūtra (VI-i-127) is split into two parts, the particle *ca* would not be redundant, but would serve the purpose of connecting the two parts and quotes an analogous case of Pāṇ. VII-ii-98, I must say that he has missed my argument. In Pāṇ. (VII-ii-98) the particle *ca* is really *anukarṣaṇārtha* of the word *eka-vacane* which otherwise would not be obtained, for the following of a *pratyaya* or an *uttarapada* does not necessarily imply the *eka-vacanatva* of the preceding *Yuṣmad* and *Asmad.* But in the present case (VII-i-127), the state of things is different. Here the very fact that the long vowels ī, ū,

etc. are shortened before a dissimilar vowel, clearly implies that no further *yan-sandhi* should take place (*Hrasva-vidhi-sāmarthyāt na svarasandhih*) Hence there is no necessity of assigning *pragrhyatva* to the examples of Dr. GHOSH's second part of the sūtra and the particle *ca* would therefore remain redundant.

Regarding his novel theory that in a Pān rule the name of an *Ācārya* invariably comes in the end, I have shown in my last article that no such principle can be deduced from the order of words in the *Aṣṭādhyāyī* and finally quoted the sūtra (III-iv-111) as going against Dr. GHOSH's theory In reply, Dr GHOSH *says* that he was not oblivious of that sūtra and considers the word *eva* in (III-iv-111) as truly redundant As Dr. GHOSH disregards my reference to Patañjali (on Pān III-iv-110), where the significance of *eva* has been indicated, I can't decide whether he remains unconvinced by the argument or has missed the point as in the above case of *ca*. The latter is, indeed, the case with his another statement in which he still persists to regard *śyeti akuruta* (TS 5-5-8) and *mithuni abhavan* (*ibid*, 5-5-6) as the known examples of Dr. GHOSH's first part of the sūtra (VI-i-127). The facts are quite simple and clear. As the first part of the sūtra records the opinion of *Śākalya*, its examples should, according to Dr. GHOSH, be given from Sākalya's work (Padapātha) as in the case of other Pān. Sūtras quoting Śākalya The examples from the TS would be, according to him, unwarranted and irrelevant As regards the *Uñah ūm* problem, Dr GHOSH is 'mystified to see that I discussed only that side of problem which may be turned to support *my* theory and completely ignored the rest. But how am I to convince him that I have no theory to advance. I was concerned with examining his mistatements on the *uñah ūm* problem. Dr GHOSH had stated (IC, Vol. IV pp 394-95) that Sandhi in *avedv-indra* and its absence in *bhā u-amśave* cannot be explained by Pān On this, I pointed out the Pān sūtras (VIII-iii-33 and I-i-14), which fully cover the above examples. But instead of admitting the cogency of my reply, he insists to remain unconvinced. As regards his reasons for remaining unconvinced, he has none to offer with reference to *bhā u-amśave*, and about *avedv-indra* he gives an illuminating (?) reason that the sūtra (VIII-iii-33) is an optional rule. What a good reason !

As regards the last paragraph of Dr. GHOSH's note, I can't help wishing that I would rather like to remain ununderstood "as to what I intended to convey" than to be misunderstood For, the misunderstanding of my remarks seems to have exasperated Dr GHOSH and induced him to take pains to explain in detail an 'obvious' thing, viz. contraction or non-contraction in Samhitā has nothing to do with *pragṛhyatva* I pray Dr. GHOSH to re-read the last paragraph of my article before attributing to me the views I did not express My view-point in brief was this that if P had before him the present redaction of the *written* Samhitā text, it was within the scope of his work to account for the cases of non-sandhi as found in written Samhitā text. It is a different question whether the Sandhi allowed in Samhitā text has to be actually resolved or not *metri causa* in recitation, what P was concerned with is that the cases of Sandhi or non-Sandhi as occurring in the *written* Samhitā text should be covered by his rules I have above referred to the sūtra (VI-i-115) which explains the non-sandhi of final *O* in 'hundreds' of the written Samhitā text cases. P. was, therefore, quite justified in taking the cases of non-sandhi in *Gaurī adhiśritah* (RV. IX 12-3) and *tanū ṛtvaye* (Rv. X-183-2) into account (vide the sūtra I-i-19). This sūtra is not put in the section of *prakṛtyā* (Pān. VI-i-115, ff.) P. puts it purposely in the *pragṛhya* section (Pān. I-i-11 ff.) in order to give it an additional significance of indicating the peculiar treatment of its examples in the Padapātha. This is the *rationale* of the traditional interpretation, which does not permit the *anuvṛtti* of the phrase *Śākalyasya itau anārse* in the sūtra. If Dr GHOSH had his say in the matter, he would drag back the above phrase even in Pān. I-i-11-115 also, for there also the vowel declared to be *pragṛhya* is followed by *iti* in the Padapātha.

Before taking leave of Dr. GHOSH, let me make it clear that it is far from us—the Pāṇinīyas—and as a matter of fact from Acārya Pāṇini himself—to claim infallibility and omniscience for Pāninian Grammar. What we insist on is that we should make every honest effort to study closely Pāṇini and his commentators before rushing to a hasty conclusion. For we believe that, despite a very valuable and solid work done in the sphere of Sanskrit Grammar, there is still much in Pāṇini which has escaped

the attention of modern scholars, and a patient and sympathetic study of P would reveal things unknown so far It is, therefore, a matter of regret that such a veteran Philologist as Dr. GHOSH—whose opinions are entitled to our great respect—should indulge in such cheap and undignified remarks as 'Pānini copied mechanically without understanding,' that 'he had no personal knowledge of Padapātha', and that 'he had no business to deal with Padapātha '

"कृत्स्न व्याकरण प्रोक्त तस्मै पाणिनये नम "

[*Published in New Indian Antiquary.*
II—11 (1940) *Pages* 723—27]

10. SCHOLASTIC DISQUISITION IN THE PĀṆINIAN SYSTEM OF GRAMMAR

We propose to draw the attention of the scholars, engaged in the researches on Indian Linguistics, to a branch of study in the Pāninian system of grammar which has been altogether neglected so far. We do not mean to say that there have not been commendable attempts to tackle various problems concerning Pāṇini's grammar Many Indian and Western scholars have, in fact, done valuable work on Pāṇini's grammar The textual study of the *Astādhyāyī* and its exposition have been handled with no little success by Otto Böhtlingk (*Pāṇinis acht Bücker Grammatischer Regeln* : 2 Vols. (1840, Bonn) and S. Basu (English translations of the *Siddhāntakaumudī* (1904-1907) and of the *Kāśikā* (1891-98) *Pāṇini* Office, Allahabad). Weber, Bhandarkar, Kielhorn (vide their articles in *Indian Antiquary*)' and Goldstücker [*Pāṇini; His place in Sanskrit Literature*, 1914 (reprint)] have discussed in the course of a long-drawn controversy many historical and allied problems pertaining to Pānini and his earlier commentators. Burnell (*Aindra School of Sanskrit Grammarians*, 1875), Belvalkar (*Systems of Sanskrit Grammar* 1915), Liebich (in his edition of *Candra-Vyākarana* and *Ksīratarangiṇī* 1930), H. P. Shastri (*Survey of the Manuscript Literature on Sanskrit Grammar* etc. (1931, Calcutta) and S C Chakravarti (Preface to *Bhāṣā-vṛtti* and *Kāśikā-Vivarana-Pañjikā*, Varendra Research Society, Bengal) have written on the chronological and historical aspect of the subject and have collected together valuable information on the chronology of Sanskrit grammarians from internal and external evidences P C Chakravarti's *Philosophy of Sanskrit Grammar* (Calcutta University publication) gives to the modern world a glimpse of the discussion of the fundamental ideas and principles of Sanskrit grammar dealt with in Bhartrhari's *Vākyapadīya* and Nāgojī Bhaṭṭa's *Laghu-Mañjūṣā*. In recent years,

the scholarly world has welcomed with admiration the important contributions of Hannes Skold (*Papers on Pāṇini*, 1929) Thieme (*Pāṇini and the Veda*, 1936, Allahabad 1937) Pawate (*Structure of the Aṣṭadhyāyī*, 1937), Faddegon (*Studies on Pāṇini's Grammar* 1936) and Buiskool (*Pūrvatrāsiddham*, 1934) to the esoteric side of Pāṇini's grammar. But, with the exception of Kielhorn's translation of the *Paribhāṣenduśekhara* (1868), there has appeared no other work to bring into light the indigenous tradition in which the Pāṇinian grammar has been continuously—without a break—studied, taught and discussed by our learned grammarians (*Vaiyākaraṇas*) in India. The scholarly world of the linguists is still unacquainted with its scholastic criticism and subtle reasoning employed in discussion

Pāṇini and Kātyāyana handled Sanskrit as a 'living' language and concerned themselves with the practical aspect of grammar Kātyāyana's *Vārtikas* supply supplementary rules for forming words—not accounted for by Pāṇini and therefore not improbably unknown to him—and also for restricting the scope of Pāṇini's rules with a view to avoid undesirable words—fallen into disuse in Kātyāyana's times. Thus Pāṇini and Kātyāyana never lost touch with 'changing' aspect of the language. But the case was somewhat different with Patañjali, author of the great commentary, the *Mahābhāṣya*. He takes into consideration the rules of both the earlier *Ācāryas*, viz. the *sūtras* and *vārtikas* both, and, discussing their meaning and significance threadbare, decides their advisability, applicability, scope and limitations, keeping always in view the forms of the language accepted as correct by the cultured—*Śiṣṭas*—of his time. Patañjali, being an impartial and never-sparing critic of Pāṇini and Kātyāyana, is therefore the first grammarian to begin the scholastic interpretation of Pāṇini's rules. In fact, his influence on the development of the Pāṇinian system of grammar is unquestioned. The later commentators view with one another in referring to him as authority for the views propounded by them. The maxim, '*Yathottaram Munīnāṃ prāmāṇyam* (the authoritativeness of Pāṇini, Kātyāyana and Patañjali increases in ascending order), accepted by the later commentators, is a clear proof of the exceptional authority assigned to him.

To the orthodox grammarians of the later period, the above three *ācāryas* have said the last word (cf. *Trimuni Vyākaranam*). Any attempt to improve the *sūtras*, *vārtikas* or *iṣṭis* of the *Munitrayī* for readjusting them to the 'changed' condition of the language (e g. as done in *Candra-vyākaraṇa*) could not be acceptable to them On the other hand they tried to invent new devices of interpretation to show that such improvements were unnecessary in view of the fact that they were already implicitly provided for by the earlier grammarians Their laborious and searching analysis of the works of the *munitrayī* may be branded in modern times as an unhistorical procedure, but the superiority of their intellectual power and capacity for industrious research and analysis cannot be questioned. In their time, Sanskrit had become a classical language It had ceased to be influenced by the current speech Its forms were fixed and stereotyped. The need for a revised edition of Pāṇini's rules had disappeared. The only task before them was to discuss the interpretation of the *sūtras*. There was no occasion for them to suggest modifications of the Pāṇini's rules for accounting the 'new' forms or avoiding the 'antiquated' ones. The forms of words for them were definitely fixed and not to be questioned. But this fact did not restrict their freedom to bring the rules of Pāṇini under the fire of scholastic criticism and interpret them to suit their views. It in only in this way that we can explain the difference in the method of approach of the later commentators to the grammar of Pāṇini.

We find therefore in the works of the later commentators hair-splitting discussion, concerning chiefly (1) interpretation of the meaning of particular *sūtras*, (2) the implications and significations deduced from them, (3) superfluity or otherwise of a whole *sūtra* or some words in it, (4) the validity or otherwise of a grammatical maxim or canon of interpretation and so on. The grammarians of the post-*Kāśikā* period, commenting on Pāṇini's text, its commentaries or sub-commentaries, exhibit commendable originality in discussing some or all the points mentioned above. They soared high in intellectual flight and brought often fresh outlook to bear on these topics. Endowed as they were with critical insight and speculative genius, they contributed their own quota to the discussion and criticism. In fact, a succeeding generation of the com-

mentators was always critical of the preceding generation and was in its own turn criticised later on. Thus, generation after generation, the Indian grammarians have kept alive the study of 'Higher' grammer, and even to-day in Benares—the seat of Sanskritic learning—we see the torch of scholastic criticism and subtle argumentation kept ablaze. The nature of the subject-matter and the way it is discussed by the commentators make it extremely difficult to demonstrate fully in a non-Sanskrit version typical samples of the same. Scholars are requested to turn to the originals and study them in the traditional way, for otherwise they will miss much of the fine shades of the interestingly subtle discussion.

The well-known scholiasts of the post-*Kāśikā* period may be chronologically classified after their traditional designations, as (i) older (प्राचीनतरा.) (ii) old (प्राञ्च) (iii) new (नव्या) and (iv) Ultra-new (नव्यतरा.) grammarians (वैयाकरणाः). The following authors belong to the first category. They are generally criticised by Bhaṭṭojīdīsita (belonging to the 2nd category) and referred to as प्राञ्चः but frequently their names are specifically mentioned. All these writers follow in their works the order of the sūtras as given in the *Aṣṭādhyāyī*.

(i) Vāmana with Jayāditya (c. 650 A.D) is the author of the *Kāśikā*. It is a fine summary of the conclusions arrived at by his predecessors. It comments on all the *sūtras* of Pāṇini with illustrations and incorporates all the *Vārtikas* of Kātyāyana surviving the criticism of Patañjali. It modifies also the sūtras of Pāṇini in the light of the remarks of Kātyāyana and Patañjali.

(ii) Jinendra-buddhi (c. 750 A.D) is the author of *Kivaraṇa-pañjikā* or *Nyāsa*—a very extensive commentary on the *Kāśikā*. He invariably and studiously rejects the Vārtikas and shows that whatever had been supplied by Kātyāyana with vārtikas could be independently formed and justified by the sūtras of Pāṇini and thus believes in the saying सर्वं सूत्रे प्रतिष्ठितम्. [Edition of *Nyāsa*; p. xxii].

(iii) Haradatta (c. 1100 A.D.) wrote another learned and big commentary, the *Padamañjarī*, on the *Kāśikā* and, being a Brahmanical writer, he is never sparing in criticising Jinendrabuddhi, a Buddhist writer, mentioned above.

(iv) Kaiyaṭa (c. 1050 A.D.), a Kashmirian, wrote a very valuable commentary (*Pradīpa*) on Patañjali's *Mahābhāṣya*. The credit for reviving the study of the *Mahābhāṣya* is due to him, who by his lucid comments has explained the significance of Patañjali's pithy passages and, by collating and scrutinizing different passages, gives us a synthetic view of the ideas of Patañjali. His predecessor (Bhartrhari) comments on the *Mahābhāṣya* but unfortunately his commentary is preserved incompletely in manuscripts only. But even Kaiyaṭa is not spared by later grammarians and specially by Nāgojībhaṭta, his own commentator.

The grammarians of the 2nd category (to be mentioned below) do not follow in their works the order of the sūtras in the *Aṣṭādhyāyī*, but re-arrange them according to their usefulness in the formation of forms which are dealt with under different topics (as Sandhi, Declension, Conjugation etc). The first writer of note in the 2nd category is Rāmacandra (1425), whose *Prakriyākaumudī* is a commentary on the sūtras of Pāṇini re-arranged differently. He makes a change in the forms of the illustration of the sūtras, by substituting those referring to God's names from Hindu theology in place of the colourless illustrations given in the *Kāśikā*. He also accepts, as correct, forms recognised by other systems of grammar and for this unorthodox act, he along with his commentator Viṭṭhalanātha (author of *Prasāda* commentary) is taken to task and very frequently criticized by Bhaṭṭojīdīkṣita (c. 1630 A D.). The latter wrote the well-known work, *Siddhānta-Kaumudī*—the standard commentary on Pāṇini. In the *Prauḍha-manoramā*, a scholastic commentary on his work *Siddhānta-kaumudī*, Bhaṭṭojīdīkṣita has very frequently criticized the opinions of previous commentators mentioning not unoften their names, Vāmana-Jayāditya (Vrttikāra), Nyāsa-kāra, Haradatta, Prakriyākāra and Prasādakāra etc. His third important but incomplete work (upto IV-1-1 *Āhnikā* only), the *Śabda-kaustubha*, imitating *Mahābhāṣya* in following the order of the *Aṣṭādhyāyī*, is a work of encyclopaedic nature and gives a masterly criticism of his predecessors.

The grammarians of the third category do not comment directly on the sūtras of Pāṇini, but write commentaries (to be called sub-commentaries) on the commentaries of their predecessors. These sub-

commentaries are not explanatory ones, but are written with an express purpose of criticising the previous commentaries. In fact, to call them commentaries is a misnomer. They should be regarded as independent *critiques.* Nāgojī Bhaṭṭa (c. 1750 A.D.), the greatest grammarian of the modern period, wrote a sub-commentary on Kaiyata's *Pradīpa* and Bhattojīdīksita's *Siddhāntakaumudī*. Of his two other works, the *Paribhāsenduśekhara* is a scholastic commentary on the *Paribhāsās* (canons of interpretation) and the *Laghu-Mañjūsā* is an important work dealing with the philosophy of grammar and its fundamental principles. The earlier works of the same nature, Bhartrhari's *Vākyapadīya* (c 750 A D) and the *Bhūsana* of Kaundabhatta (c 1675 A D.) pale into insignificance before the comprehensive treatment of this masterly work. Another commentator of repute in the third category is Vaidyanātha Pāyagunde, a disciple of Nāgojī-Bhaṭṭa. He has written sub-commentaries on almost all the grammatical works of his preceptor.

The fourth category of grammarians comprises of many recent writers, who also in imitation of the fashion of the previous writers, have written sub- or sub-commentaries on the works of their predecessors. The *Paribhāsenduśekhara* has been commented by Tatya Shāstrī (in the *Bhūti*) and Pandit Jayadeva Mishra (in the *Vijayā*). The *Laghu-śabdenduśekhara* has been commented by Sadāshiva Bhatta, Rāghavendra etc. Besides these and other published critiques, there are manuscripts (*Krodapatras*) with the Pandits of Benares, wherein the art of scholastic disquisition is brought to perfection. The modern scholars will be simply puzzled to see the keen intellectual acumen displayed in the disquisition of these *vaiyākaranas.* The most unique characteristic of these writers is the employment of the *Navya-nyāya* style in the discourse and treatment of the criticism, which make the subject-matter still more abstruse and beyond the comprehension of an average Sanskrit-knowing person. The later a writer, the more difficult and abstruse is his style and treatment. It is on account of this complicated *Naiyāyika* style that the later grammatical works have become a preserve of a few learned *Vaiyākaranas* only and, in absence of the encouragement in the modern times, their number is dwindling fast. But a sympathetic and close study of the works of these

stalwart grammarians will not fail to impress the modern linguists and reveal the height of their intellectual and reasoning power. May we hope that in these days of specialization, this branch of study also will receive due attention at the hands of the Sanskrit linguists ?

[*Published in journal of Bharatiya Vidya Bhawan, II—i,* (1940), *Pages* 60—63]

11. THE UNIQUENESS OF THE MAHĀBHĀṢYA IN SANSKRIT LITERATURE

The Mahābhāsya is a unique work in the Sanskrit world from the following five view points. (1) Unlike other great works of Ancient India, its date is more or less certain (C 150 B C). (2) The Mahābhāsya is regarded as a mine of information on the literary, social and religious tradition of the then India—which is rarely expected in a work on Grammar. (3) Its style and manner of treatment are such as not seen in other works of similar kind. The technique employed in his discussion of the subject matter is a wonder of literary presentation, conferring on the work the title MAHĀBHĀSYA, when similar works of great writers, including Śankarācārya, are known as BHĀṢYA only (4) Its author is respected in the Indian tradition as author of standard works on three different sciences, Yoga, Medicine and Grammar. (5) Though twice aclipsed temporarily in its continuous studies (in 7th and also in 11th C A D.), its genius and merit reasserted. It has enjoyed immence popularity in Indian Literary tradition, which boldly proclaims "Either be the ruler of a vast empire or enjoy reading of the Mahābhāsya (Sāmrajyam Vā Sasanīyam, Mahābhāsyam Vā Pathanīyam). Such is the high esteem and praise which Indian mind has showered on PT.

(Continued)

12. PATAÑJALI—HIS DATE AND BIRTH PLACE

Patañjali is now definitely believed to have flourished in the times of PUSYAMITRA SENAPATI, the founder of Shunga dynasty. There are references in MBH to the fact that PT officiated as the priest in the Asvamedha sacrifice performed by PUSYAMITRA and to the invasion of Northern India (i e SAKETA and MADHYAMIKA by a YAVANA, who as we know, was no other than the Greek Menander (175-142 B C.) in the 2nd century B C It is interesting to note that these historical allusions are given in illustrating the grammatical rules in such contexts as to admit of the only interpretation leading to the above historical allusions In explaining the use of LAṬ Lakāra (present tense) for such actions, which have already begun, but not yet ended, PT gives the illustration, PUṢYAMITRAṂ YĀJAYĀMAH which clearly shows that the person who uttered this illustration was still engaged in the act (sacrifice) which was going on at that time [PRAVRTTASYĀVIRAME-III-ii-123]. Similarly, in explaining the usage of LAN Lakāra (imperfect past), PT expressly says that LAṄ should be used in connection with such events in the past that took place in speaker's own times, but which might not have been actually seen by him [See MBH on III-ii-111, ARUNAT & SAKE TAṂ YAVANAH. Thus we can definitely say that PT. lived in about 150 B C. when PUṢYAMITṘA, the first ruler of Shunga dynasty rose to power after the last ruler BṚHADRATHA of the Maurya dynasty, and when the Greek Commander (Menander known as Milinda in the Buddhist literature) besieged Ayodhya (SAKETA) which is

---

Abbreviation, (1) Pt. =Patañjali
(2) MBH.=Mahābhāshya.
(3) AST. =Aṣṭādhyāyī.

not very far from PT's own birth place (Gonda). The spirit of the culture and life of the people indicated by the numerous references in MBH, fully agree with the above date (C. 2nd century B.C.) of PT.

Birth Place

In the MBH, the words GONIKAPUTRA and GONARDĪYA occur [I—iv-5 and III-i-92] They are taken to refer to PT's mother and birth place that the two names, GOṆIKAPUTRA and GOṆARDĪYA are mentioned as writers on Kamasastra by Vatsyayana in his work, shows that such names were popular during that period The word GONARDĪYA meaning 'hailing from Gonarda' in PRACYA DEŚA. The place name Gonarda is identified with Gonda—a district place in U. P situated to the north of the river Sarayū. There are evidences to suggest that PT lived in the Eastern part of U. P. The cities Pataliputra, Kaushambi, Saketa, Srughna as well as Mathura with the high roads connecting them are frequently mentioned in MBH. The proper names of persons e g., DEVADATTA and names of food articles, Saktu, Śāli, Vrīhi, Nīwāra, Dadhimantha, Gudadhānā etc., details of agricultural operation mentioned in MBH and reference to curd-eating is auspicious [DADHIBHOJANAM ARTHASIDDHERĀDIH. support the above suggestion The usage of the root $\sqrt{}$Kr in phrases "PRSṬHAM KURU', PĀDAU KURU (VI-i-9) in the sense of messaging and washing respectively is still seen current in the dialect of Eastern region of U. P The explicit references in Pāṇini [I-i-75] to Eastern regions for variations in grammatical usages, are therefore presumed to anticipate the grammatical differences at the time of PT, some centuries later.

(Continued)

13. PATAÑJALI—HIS LIFE AND TIMES

According to tradition, biographical informations about PT. is contained in a 16th C. work PATAÑJALI CHARITA by Ramabhadra Dīkshīta The account given therein makes PT. an incarnation of Grand Serpent (ŚEṢANĀGA), who descended on earth to see the Tāndava Dance of Lord ŚIVA. The latter advised him to compose and propagate a commentary on Pāṇini. So PT. taught his grand commentary to a horde of disciples. The disciples were not expected to see their teacher in the physical form, lest they should get frightened by the gigantic one thousand hoods of ŚEṢANĀGA. But unfortunately the over curiousity of a disciple disturbed the scheme by removing the curtain between the teacher and a taught. The students were reduced to ashes by the fierce look of the teacher. The ŚEṢANĀGA, when calmed down realised the great loss. Ultimately he entrusted the task of propagating his great work to a disciple who had escaped being burnt on account of his absence from the scene. The disciple was instructed to teach the great work only to a qualified person, passing the test of showing his intimate knowledge of Pāṇini's sūtras The prospective learners were asked the question "What is the form of the root PAC. in the past participle (PACEH:KTE KIM RŪPAM ?). Many failed to mention the correct answer (PAKVAH:), a special form of the root PAC. sanctioned by PĀṆINI'S sūtra (PACO VAH:) (VIII-ii-52). Only one student proved his worth and passed the test. So he was taught the MBH. But his leaf manuscripts were partly eaten up by a goat. Thus the work has come down to us in part and not in entirity.

This traditional account, imaginary as it is, aims at emphasizing two points, (i) the great work is of an extraordinary author (ii) and the work, available to us, is incomplete from the very beginning. It also

fits well with the grammatical derivation of the world 'PATAÑJALI' (fallen from palm) AÑJALEH PATITAH and connects the word with the traditional account of PT's birth by falling from the palm of his mother-GOṆIKĀ That PT's name was associated with the great serpent (ŚESANĀGA) is supported by the references to PT as NĀGANĀTHA, PHANIN, AHIPATI by Bhartrhari (7th C.) Bhojarāja and Kaiyata (11th C A.D.).

Parentage

In accordance with the contemporary tradition, wherein persons were named after their mother's name (Cf DAKSIPUTRA Pānini) PT's mother's name was GONIKĀ as he is referred to as GONIKĀPUTRA in the MBH itself [I–iv–5] PT mentions in the beginning of MBH the initial verses of all the four Vedas in the order of ATHARVA VEDA, RGVEDA, SAMAVEDA and YAJURVEDA. As he mentions the ATHARVAVEDA as the first VEDA, in preference to the RGVEDA, as should have been done according to tradition, it is presumed that PT belonged to the ATHARVAVEDA. But this presumption failed to carry conviction, because the published edition of the SHAUNAKA Sakha has the MBH-quoted verse as the sixth hymn and not as the initial hymn. Later on, however, with the discovery of the KAUTHUMA version of ATHARVAVEDA wherein the verse occurs as the initial verse, the doubt has been removed PT belonged to the Paippalāda Sakha of the ATHARVAVEDA.

The author of AST. Pāṇini hailed from North-West of India. He dealt with the sanskrit language in his work, as illustrated in the Vedic literature and in the current speech of the educated (Sistas) in his times. He makes occasional references to the language-variations among the Northerners and Easterners (UDĪCĀM and PRĀCĀM). Thus we may say that his grammar was based on the speech prevalent in North-Western India. It is not unlikely that his grammar did not cover all the contemporary usages Some usages may have been left out or escaped his notice. Besides, by the passage of time many forms may have become obsolete and new forms may have come into existance. The stream of

language is ever flowing and it is neither possible, nor it is expected to check its growth. Consequently, soon after Pāṇini or even in his life-time, the need must have arisen to revise and modify his grammatical rules.

It is reasonable to presume that Pāṇini's epock-making work, AST drew the country-wide attention. Then came to the fore-front a number of Grammarians, anxious to amend the Pāninian rules in light of their own knowledge of the contemporary linguistic material. Foremost among them was KĀTYĀYANA, whose Vārtikas are discussed and commented in the MBH. There are in the MBH, other vārtikas also whose authors are not known to us. PT. mentions a VĀRTIKA-KĀRA named Sunaga. The Vārtikas of some others were summed up by the PT. in the SLOKA-VĀRTIKAS, scattered here and there in MBH. All these Vārtikas were the fruits of the efforts made in the direction of amending and perfecting the Pāṇini's sūtras. Kātyāyana hailed from South, as we know from PT himself (vide his remark PRIYA-TADDHITĀH DĀKṢI ṆĀTYĀH.. Therefore it is natural to presume that Southern India took a leading part in proposing amendments to Pāṇini's rules. There was an additional reason for the upsurge of the Vārtikas in Southern India. Being away from the basic region of Pāṇini's vocabulary, more variants were expected in the speech-forms prevailing in South. Naturally therefore a plethora of Vārtikas sprang up as amendments to Pāṇini's sūtras. We can visualise a state of things, when all round in the country Pāṇini's sūtras were discussed in learned circles and the whole atmosphere was surcharged with the comments and amendments to the Pāṇini's sūtras.

Now appears on the grammatical stage the great grammarian PT. As we have seen before, he hailed from Eastern U.P. To him, many Vārtikas proposed by KĀTYĀYANA and others must have appeared irksome, unnecessary and far-fetched. Hailing from a region nearer Pāṇini's, PT. was in a better position to assess the propriety of Pāṇini's sūtras. It was in this back-ground of grammatical activity that PT came forward with this own comments. He raised the status of the Pāṇinian system of grammar by writing his grand work, MBH. In MBH, a large number of Vārtikas of Kātyāyana and others have been commented, but

there must have been other Vārtikas also, which were not taken note by PT and therefore they do not find place in MBH. We may also note that the Vārtikas found in the Kāśikā commentary (7th C A D) on AST and in the later commentary SIDDHANTA-KAUMUDĪ (17 C A D) on AST are only a part of the total number (C 2000)of Vārtikas discussed by PT. Only such Vārtikas as were indispensable after the thorough screening by PT. have survived, and are finally accepted It goes to the credit PT that there was an end to the prevalent tendency of amending of Pānini's sūtras. It is also worth knowing that different parts of India (North, South, Central and East) took active interest and participated in the ever interesting discussion of grammatical rules Pānini, Kātyāyana with other unknown Vārtika-kāras and Patañjali—all these together put before us a vigorous All India activity, going on in the field of grammar-unknown elsewhere in the contemporary literary world.

(*Continued*)

14. MAHĀBHĀṢYA—ITS AIM AND ACHIEVEMENTS

The three great Ācharyas-Pāṇini, Kātyāyana and Patañjali were SŪTRA-KĀRA, VĀRTIKA-KĀRA and BHĀSYA-KĀRA respectively. They together are called MUNITRAYĪ and the well-known phrase, TRIMUNI VYĀKARAṆAM (formed according to Pāṇini's sūtra (II–1–19) definitely emphasizes the point that the Sanskrit grammar owes its origin and popularity to the efforts of these three MUNIS. Similarly we have another well-known maxim YATHOTTARAM MUNĀṂ PRĀMĀNYAM (i e among these three MUNIS, the later MUNI is more authoritative than the earlier) This maxim recognized in the Pāṇinian grammar is just in accordance with the principle universally accepted that in case of conflict, the later authority should prevail It may appear rather queer that the great Ācharya PĀṆINI whose work (AST) is regarded a wonder in the intellectual world for its comprehensive range, scientific insight and systematic planning with its resultant brevity should rank below Kātyāyana and Patañjali. But when we take into consideration the approach and the purpose of their works and the practical use thereof there will be every justification for the soundness of this principle

The Sūtra-kāra Pāṇini made a very systematic study of the vedic and his contemporary Sanskrit and wrote its grammar in the form of aphorisms, arranged skillfully with his original devices to attain the utmost brevity. Being a manual of grammatical rules, the AST was sufficient and up-to-date for his own times. But the language is not a static thing. With passage of time it was natural that the grammatical rules remained in their own places and the language moved further. The language and grammar are related in a unique way. Grammar tries to regulate the language. But by the time, the regulating rules are formulated and

In fact, PT in his discussion and examination often gives the plea that a particular form is not recognised and consequently should not be provided in a grammatical treatise (NAHY EKMUDĀHARANAM YOGĀ-RAMBHAM PRAYO JAYATI }-MBH on VII-i-96] Thus we see the soundness and jusufication of the maxim, accepted in the Pāninian system "YATHOTTARARAM MUNĪNĀM PRĀMĀNYAM"

ACHIEVEMENTS

The grammatical activity of creative type was confined to (MUNI-TRAYI, Pānini, Kātyāyana and Patañjali), and as said before, PTs was the last word on disputable points The grammarians after PT. were merely imitators The non-Vedic grammarians aimed at an easier and simpler treatment of grammar (Cf. KĀTANTRA, CHANDĀRA, SĀKA-TĀYANA systems of grammar) The grand and comprehensive approach (covering Vedic and Classical Sanskrit) and the ingenious systematic technique seen in the AST. are no longer seen in post-Patañjali period. Thus PT may be regarded to sum up and conclude the grammatical enterprise. Even PT's own commentators and critics would not dare to flout his opinion and they often silenced further discussion on a point by saying that it is to be ignored as it is against MBH. (BHĀṢYA-VIRODHAD UPEKSYAM). Anything contrary to PT's expressed or implied view was ignored.

Equally important is PT's impartial and critical attitude towards Pānini and Kātyāyana. For both of them he had great regards He strains his nerves to understand them and then only arrives at a dicision from common-sense point of view. He boldly asserts that a single rare example should not necessitate making a separate rule for providing it.

The highest place in authoritativeness of PT. was due to his practical view point in interpreting a sūtra or Vārtika with regard to its usefulness His was a practical approach of a LAKSYAIKA-CAKSUSKA and not a LAKSAṆAIKA-CAKṢUṢKA grammarian He focussed his attention on the usage (LAKṢYA) and not on grammatical rules (LAKSAṆA). He was IṢTIJÑA, as distinguished from PRĀPTIJÑA (cf. The dialogue between a grammarian and driver given before). To him a sūtra was

of no utility if it did not accommodate the current usage. A grammatical rule should provide for desired (ISTA) forms only and not for providing undesired (ANISTA) forms (ISTANVAKHYANAM KHALU API BHAVATI). MBH. in I Āhnika.

Another great contribution of PT. to the grammatical disquisition was his insistence on discussing and arguing a point and not giving it up because of doubt He says, "a rule will not cease to be a rule, simply because a doubt is raised about it, we should discuss again and again to arrive at the solution (VYĀKHYĀNATO VIŚEṢA-PRATIPATTIH. NAHI SANDEHĀD ALAKṢAṆAM). This is a revolutionary principle in the sphere of reasoning and establishes the importance of rationality over the spirit of defeatism and despondence. PT refers to this maxim time and again before closing a long drawn discussion of un-yielding nature, e. g. MBH. in I & II Āhnika.

The most remarkable contribution of PT. in the field of grammatical discussion PT are his lucid treatment and extraordinarily simple language and interesting dialogue style. He never avoided repetition, if it helped understanding the subject matter. Thus what Pānini achieved through brievity and conciseness, was underlined by PT. through his verbosity and elaboration Side by side, to sustain interest in such an abstract subject as grammar, he introduces frequently in his discussion lively comments, illustrations and bits of important historical and cultural information. He thus makes his MBH a pleasant reading and enjoyable. It was for this unusual achievement that Bhartṛhari describes it Vākyapadīya II-486 "ALABDHAGĀDHE GĀMBHĪRYĀD UTTĀNAIVA SAUSTHAVĀT."

In serious scholastic speculations, its depth is unfathomed, but in clarity and lucidity its surface is open and clear. Herein lies the rare significance of prefixing the word MAHĀ to the name of PT's Bhāshya and calling it Mahābhāsya-an unparalleld tribute to a writer.

[*Nos.* 11, 12, 13, 14 *form the basis of the extra-Curricular Post graduate Lectures delivered in Sanskrit Department in Allahabad University, in* 1965-6]

15. NOTES ON A VĀRTIKA (?) AND ITS MISPLACED OCCURRENCE IN THE MAHĀBHĀṢYA

In the text of the *Siddhānta-Kaumudī* on the Sūtras (II-iii-26/7, षष्ठी हेतुप्रयोगे and सर्वनाम्नस्तृतीया च, there occurs a statement referred to by the author of the *Tattvabodhinī* Commentary as a *Vārtika*,[1] निमित्तपर्यायप्रयोगे सर्वासां प्रायदर्शनम्. A doubt arises about the wording of this *Vārtika*. One would naturally expect to have the *Vārtika* as हेतुपर्यायप्रयोगे For the Vārtika, besides allowing all case-endings, proposes to substitute हेतुपर्यायप्रयोगे for हेतुप्रयोगे in the Sūtra (II-iii-26) and (by anuvṛtti) in (II-iii-27) This incongruity in the wording of the *Vārtika* leads to a suspicion about the genuineness of the *vārtika* as composed by *Kātyāyana*. On referring to p. 503 of "*Word-index to Pāṇini's Sūtra-pātha and its Pariśiṣṭas*" (published by Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona, 1935) and according to Kielhorn's edition of the Mahābhāsya (Vol. I.p.454) we know that there are no *Vārtikas* on the Sūtras (II-iii-23/7). The above suspicion thus receives the necessary confirmation.

Now enquiring further into the question we find that *Patañjali's* statement (Iṣṭi) on the same subject under (II-iii-23) differs materially from the so-called *Vārtika*. While the *Vārtika* admits *all* the synonyms of हेतु, Patañjali's *Iṣṭi* admits only the *three* specified words, viz निमित्त, कारण and हेतु. This is another incongruity and we are tempted to hold the author of the *Siddhānta-Kaumudī* responsible for widening still further the scope of the *Pāṇini-sūtras* (II-iii-26-7). But a reference to the *Kāśikāvṛtti*

1. See the statement on the same sūtra,
'एतद्वार्तिकेन' 'षष्ठी हेतुप्रयोगे' 'सर्वनाम्नस्तृतीया च' इति सूत्रद्वय गतार्थमिति बोध्यम।

on (II-iii-27), which quotes the *Isti* in the same way as a *Vārtika* is quoted, reveals the fact that the admitting of *all* the synonyms is suggested by the *Kāśikā-vrtti* in the course of the interpretation of the *Vārtika*, to accommodate the usages of the post-Patañjali period. KAIYAṬA (on II-iii-23), however, refers to both the views, viz. admitting all the synonyms of हेतु or only the three specified words, as coming from अन्ये तु and केचित्तु[1] and does not commit himself. But NĀGEŚA (in the *Uddyota* Commentary on II-iii-23) does not look with favour on the non-committing attitude of Kaiyata and, strictly adhering to Patañjali's phraseology, restricts the scope of the *Isti* to the cases of the three specified words only.[2]

The above serves as one of the many instances to show that (i) the statements in the post-Patañjali Commentaries make no distinction between Kātyāyana's *Vārtikas* and Patañjali's *Istis* and mention both of them as *Vārtikas*, (ii) the so-called *Vārtikas* incorporate the modifications suggested in the post-Patañjali period, and (iii) Nāgeśa is not prepared to go even an inch beyond Patañjali's statements in accommodating the usages of the later period.

As regards the place of occurrence of the above *Isti*, we find it placed under (II-iii-23) in the present editions of the *Mahābhāṣya* and we know positively that it was there even in Kaiyaṭa's time[3] who unlike the author of the *Kāśikā-vrtti*, tries to justify rather unconvincingly its occurrence there. But a close scrutiny of the illustrations[4] of the two Sūtras (II-iii-23 and II-iii-26) will show clearly that the *Isti* is wrongly placed under (II-iii-23). For the latter does *not* enjoin the particular case-ending in the word हेतु itself and its accompanying word. The Sūtras (II-iii-26) and

1. पर्यायोपादान केचित्पर्यायान्तरनिवृत्त्यर्थमिच्छन्ति।
अन्ये तूपलक्षणार्थमिच्छन्त. प्रयोजनादिप्रयोगेऽप्येतद्विभक्तिविधान मन्यन्ते।
(कैयट on II-iii-23)

2. अन्ये त्विति मतेऽनुग्राहकाभावोऽरुचिबीजम्। (उद्योत on II-iii-23)

3 असर्वनाम्नोऽपि विधानार्थमत्र सूत्र इदं पठितम्, नतु वृत्तिकारवत्—नागेश सर्वनाम्नस्तृतीया चेत्यत्र। (कैयट on II-iii-23)

4. The Sūtra (II-iii-23); धनेन कुलम्, कन्यया शोकः, विद्यया यशः।
The Sūtra (II-iii-26); अन्नस्य हेतोर्वसति।

(II-iii-27) (by anuvṛtti) enjoin it. And, as is quite clear from its illustrations,[1] Patañjali's *Iṣṭi also* enjoins the case-endings in the words निमित्त, कारण and हेतु and their accompanying words. The proper place, therefore, of Patañjali's *Iṣṭi* is the Sūtra (II-iii-26/7) and not (II-iii-23). Here we have thus got a clear case of a *Mahābhāṣya* passage found misplaced even in the time of Kaiyaṭa (c. 1050 A.D.)

[*Published in KĀNE Volume of Studies in Indology,* (1941). *Pages* 82—3]

1. किं निमित्तं वसति, केन निमित्तेन वसति, कस्मै निमित्ताय, कस्मान्निमित्तात, कस्य निमित्तस्य, कस्मिन् निमित्ते वसति. Similarly in the case of कारण and हेतु words also, Patañjali (II-iii-23) gives examples in all the case-endings.

16. ON PĀṆINI'S SŪTRA VII-I-90—WRONG WORDING OR CORRUPT READING ?

The commentators of *Pāṇini* (=P) have proposed in many cases amendments in the wording of the P. Sūtras with a view to include the desired and exclude the undesired forms in the then current Sanskrit language. But sometimes their proposed amendments are off the mark : what they amend is not really an incorrect statement, but only a corrupt reading, for which P. cannot be reasonably held responsible To substantiate the above remark, an attempt is made below in connection with P. 7-1-90.

The P. Sūtra (*gato ṇit.* 7-1-90) as read in the current text, lays down the strengthening of *o* into *au* in the first five forms (three in the nominative and two in the objective) in the declension of *go* (cow)—stem. The P. Sūtra (*autom-śasoḥ* 6-1-93) changes *o* of an *o*-ending stem into *ā*, if the affixes *am* and *śas* follow it. Accepting the present reading of the above two Sūtras as correct, a number of difficulties arise and they are discussed by *Patañjali* (=Pat). The application of P. 6-1-93 in such conjugational forms a *acinavam* (first person singular, imperfect–*laṅ*-tense from the root *ci*- togather) will have to be avoided *either* by limiting this sūtra to *go*-stem only (i e , by reading *ā gotah* in place of *autah*=*ā*+*otah*) *or* by bringing the natural *anuvṛtti* of *supi* in this sūtra from the preceding sūtra (6-1-92). The *am* in *acinavam* not being a *sup* (a declensional affix), the sūtra 6-1-93 is not applicable there. But there arises another difficulty The general sūtra 6-1-93 (being applicable in the case of all *o*-ending stems) would be in natural course suppressed (*bādhita*) by the particular (*viśeṣa*) sūtra 7-1-90; and consequently the sūtra 6-1-93 cannot be applied in *gām* (the objective case singular form *go*-stem) and the undesired form *gāvam* would result. To avoid this difficulty, Pat. suggests that the sūtra 7-1-90 should

read as *oto nit* and that the sūtra is then applicable to all *o* stems and not to *go* stem only The P 6-1-93 (*ā-otom śasoh*) consequently becomes a *viśesa* sūtra (being applicable in fewer cases) in relation to the amended sūtra (=S) *Oto nit* Hence the apprehension, that S 7-1-90 would suppress the S 6-1-93, disappears and the desired form *gām* is obtained The amendment of the S 7-1-90 is desired for other purposes also, for this S would cover the case of *dyo* stem also; and such forms as *dyām* (in '*dyām gaccha*' and "*dyām te dhūmo gacchatu*") and *dyāvah* (in "*yad dyāva indra te śatam*") would be easily justified The other solution for avoiding the application of the sūtra (6-1-93) to *go* stem only by adopting the reading *a gotomśasoh* in place of *automśasoh* is thus rendered futile and becomes an *ekadeśībhāsya*, for otherwise the above forms from *dyo* (*dyāvaḥ* and *dyām*) would remain unaccounted for.

The correct reading, then of the S (7-1-90) as suggested by Pat. and explicitly stated by Kāśikākāra and other commentators is *oto nit*. When Pat suggests the amendment of the S 7-1-90, he proposes an amendment in the wording of the S and is not correcting a misreading. Not only Pat but all other commentators take the P. sūtra 7-1-90 to be *goto ṇit* and comment accordingly

But we should make a distinction between a corrupt reading and a wrong wording. That the S. 7-1-90 in the current form is corrupt text can be established beyond doubt If the reading *goto nit* has P's. sanction, the other S also must have read as *a gotomsasoh;* otherwise the form *gām* would be unjustified. If on the other hand the present reading of S. 6-1-93 is necessary to account for the form *dyām* from *dyo*, as said by Pat. the other S 7-1-90 also must be read as *oto nit* to account for the form *dyāvah* (plural nominative from *dyo*) It is inconceivable that P should provide for the form *dyām* and keep silent over the other form *dyāvah* from the same stem. Thus *either* both the sūtras (6-1-93 and 7-1-90) have the reading *otaḥ or* both have *gotaḥ*. It should be remembered that both these forms (*dyām* and *dyāvaḥ*) are quoted by Pat. from Vedic literature As it would be doing injustice to the genius of Pāṇini to regard that both the sūrtas dealt with the forms of *go*-stem only and that he ignored the forms of the stem *dyo* (occurring in the Vedic lit.), it can be easily inferred

that both the sūtras had the reading *otah* and that the present reading of the S. 7-1-90 is merely a corrupt reading

Another evidence can be brought forth in support of the above conclusion. There is no sense and rationale in adding *t* to *go* in *gotah.* The *tapara-karana* according to P. 1-1-70 is for the specific purpose of restricting the scope of letters indicated by the accompanying *an* (vowel). And as *go* in *gotaḥ* is not a vowel, but a consonant-plus-vowel, the S. 1-1-70 cannot be applied in the present case[1] Pat's attempt to explain *gotah* in that light is clearly an uphill task and proceeds on the assumption of the corrupt text as a genuine reading It is due to this assumption that Pat. ignores[2] the natural and most reasonable *anuvrtti* of *an* in the S. 1-1-70 from the preceding S 1-5-69. Thus it is not unreasonable to suppose that the use of *t* in *gotah* is against Pāninian technique The reading of the S. must therefore have been in original P. text, *oto nit* and not *goto nit.* A slight corruption in the reading of the S. has been taken to be a genuine reading by the commentators The proposed amendment of the S. 7-1-90, therefore, is really speaking, uncalled for.

[*Published in Annals of the Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona. Vol. XXIII,* 1942, *Pages* 77-9]

---

1. Cf. The Kāśikā on the S. 6-1-93
   वर्णनिर्देशेषु हि तपरकरण प्रसिद्धम् ।
2. Cf. Nāgeśabhaṭṭa in his *Uddyota* on the S. 7-1-90
   तपरस्तत्कालस्येत्यत्रणिति नानुवर्तनं इत्यनणोऽपि तत्कालस्य ग्रहणम् ।

17. SOME ASPECTS OF THE TECHNIQUE OF THE ANUVṚTTI PROCEDURE IN THE AṢṬĀDHYĀYĪ

Among many devices adopted by Pāṇini (P) in the Aṣṭādhyāyī (Aṣt), the device of the Anuvṛtti procedure is of great importance In fact, it was due to the use of this device that P. has been able to secure the brevity unparallelled elsewhere. The Anuvṛtti procedure aims at avoiding the repetition of the same word in one or more successive Sūtras. The technique in its employment is not so easy as it may appear. To enter into P.'s mind and discover the principles underlying the Anuvṛtti procedure is a complicated problem which is made still more complex by the interpretations of the later commentators and the changes in the order[1] of some sūtras. It is also likely that some sūtras are later interpolations[2] and consequently they disturb the original scheme of P.

For serving his aimed brevity, P. employs two means, Adhikāra and Anuvṛtti. The former refers to a key-word, which is used only once in the beginning and is taken to the successive sūtras. It covers a large number of sūtras and goes often to more than one Pāda or even Adhyāya.[3] In fact, the cope of an Adhikāra covers a whole topic. The Anuvṛtti is, on the other hand, concerned with a small group of sūtras, sometimes of even two sūtras. In Anuvṛtti, the aim is not division of topics and subjects, but economy of words and avoidance of repetition. Different words in a sūtra have, if so necessary, different spheres of their Anuvṛtti.

---

1. Cf. Mahābhāṣya, Kāśikā and Laghuśabdenduśekhara about I.2 29/40 and VIII 4.53/57.

2. Cf. I.2 53/5.

3. The Adhikāra of III 1 1 and 2 goes up to the end of the fifth Adhyāya.

The word, īdūdet' in I 1.2. goes up to I i 12. only, while the word 'Pragrhyam' in the same sūtra goes up to I 1.19. Thus, in short, the Adhikāra, based on the consideration of homogeneity and similarity of grammatical treatment, stands for a real subject-wise division or classification of sūtras, the Anuvṛtti is an artificial device to effect an economy of words

The part of a compound word in a sūtra is not separated for Anuvṛtti. The word 'sthāne' in I.1 49, being a part of the compound 'sthāneyogā', is not available to the sūtra following it. Hence the word 'sthāne' is used again in I 1 50. Similarly the word 'sic', a part of the compound 'linsicau' in I 1.12/13 is not available in I.i 14. Exceptions to this rule (e g the Anuvṛtti of the word 'strī' in I 2.49 from the previous sūtra, where the compound 'gostriyoh' is used) have to be explained by recourse to Vyākhyāna (See below).

In the same way, a word syntactically connected, though not actually compounded, with another word, is not treated as an independent word for Anuvrtti. The word 'bahuvrīhau' in I.1 28 is not available in I.1 29, as in the former it is connected in meaning with the word 'diksamāsa' and, in the latter, it refers to the general type of 'bahuvrīhi'. The word 'Karma' in I 4.46/8 has got the sense of Ādhārakarma. Hence the need for repeating the word same Karma in I.IV.49.

In the sphere of their Anuvrtti, words go to all the sūtras in sequel and do not skip over. Frog-jumping (Maṇḍūka-Pluti acc. to commentators) is a far-fetched procedure and does not commend to the P.'s scheme. It may be that in some sūtras the Anuvṛtta word is not necessary, as it serves no practical purpose. But this does not mean that the sūtra is skipped over or it must be avoided (cf. प्रयोजनाभावेऽपि अनुवृत्तिरुत्तरार्था.). The word 'Ātmanepadesu' in I.ii.11 goes up to the sūtra I.ii.17, though its presence in I.ii.14 is not necessary, for even without it, the result would be the same [1] Some apparant exceptions to this rule (e.g. the word 'ekaśruti' skipping over I.2 38) can be very well explained by Vyākhyāna

1. cf. काशिका on I.1.14 "आत्मनेपदग्रहणमुत्तरार्थमिहानुवर्तते। इह तु परस्मैपदे हन्तेर्वधभावस्य नित्यत्वात्कित्वस्य प्रयोजन नास्ति।"

(that is, joining I.ii.37 and 38 in one sūtra, which is more natural[1] and understandable) In the Aṣṭā. there are Sūtras which might be termed as 'associated digressions' or 'sūtras in parenthesis.' The above apparent exception is one of many such exceptions in the Aṣṭā.

A word in the course of Anuvṛtti may undergo change in number, if it suits the context The word 'anudāttānām' in I.2.39 becomes 'anudāttasya' in I 2 40. The word 'it' in I 3 2 becomes 'itah' in I 3 5 and 'itau' in I 3 7. Sometimes a change in case-ending also is suggested, by commentators. 'Nah', a Pañcamyanta word in 8 3.30 is assumed to be a saṣṭhyanta word in 8 3 31, but this is not necessary. In reality, in all these sūtras, the word 'Nah' should be taken as saṣṭhyanta. The commentators, anxiety on this point is due to their misinterpretation of the sūtra I 1.46.[2]

The use of the conjunctive particle 'ca' and its Anuvṛtti are also complicated. Even without 'ca', the required word can be brought by Anuvrtti from previous sūtras Then what is the propriety in using 'ca' for the same purpose ? The difference lies in the relationship of the sūtras concerned By the word 'ca' in a sūtra that part of a previous sūtra which is needed to complete the sense of the subsequent sūtra is made available Thus the sūtras brought together by 'ca' form part of a composite whole. They belong, as if, to one family. They refer either to a common affix, or common stem or common function etc.[3] The sūtras with 'ca' are, therefore, of a supplementary nature But sūtras brought together by Anuvrtti are not so. Their functions may be divergent, they may have nothing intrinsically in common. Their unity is artificial. The only aim in Anuvṛtti is avoidance of repeating a word or words and *not* supplementing a sūtra. The point of difference can be made clear by

---

1. The sūtra I ii.37/8 should read as "न सुब्रह्मण्यायां स्वरितस्यतूदात्त: देवब्राह्मणयोरनुदात्त. ।"

2. The sūtra "आद्यन्तौ टकितौ" simply means that a टित् आगम will be आद्यवयव of the पर letter and a कित् आगम, अन्त्यावयव of the पूर्व letter. The आगम necessarily implies the presence of पर and पूर्व letters.

3. cf. 4 1 136; 4.2 28; 1.1 5 respectively.

referring to the sūtras I 1.3/4 and I i 4/5.[1] The particle 'ca' has been used in a variety of ways in the Astā. In a group of sūtras joined by 'ca', the particle is sometimes in the second sūtra (e.g in I 1 4/6 and I 1 32/6) and sometimes in the closing sūtra (e.g I 32/36) In some cases, where we should have expected it, it is not used at all (e.g. I 1 42/43). In other cases, its use is superfluous (Mukhasukhārtha) and the sūtra containing it has nothing in common with the previous sūtra (1 3 21). In view of the above various uses of 'ca', there is not much force in the undue emphasis laid by Pawate,[2] that the bringing of a word by using 'ca' should be expected to end with the sūtra containing 'ca' (cf. चानुकृष्ट नोत्तरत्र in the परिभाषेन्दुशेखर No. 79). That this Paribhāsā is *not* universal and admits of exceptions is recognised by Nāgeśa Bhaṭṭa himself and he quotes (II 3 2/4) wherein this Paribhāsā is violated In fact, much of the incongruity in the use of 'ca' can be removed by transposing the order of sūtras of a group governed by the sphere of 'ca' (e g. if in the group [I 73/5], the sūtras 74 and 75 are transposed, चानुकृष्ट नोत्तरत्र is not violated) We reserve the consideration of this aspect of 'ca' for another occasion

There are two kinds of sūtras. Some are obligatory (Nitya), others are optional (Vaikalpika.). The words 'Vā' Vibhāsā or Anyatarasyām are used in a sūtra to indicate its optional nature Even these words indicating option have Anuvrtti and go to the subsequent sūtras. The result is that there is confusion between those subsequent sūtras, which are to be taken as optional by virtue of the Anuvṛtti of 'Vā' etc and the other sūtras, which are to be taken as obligatory as they are not expected to have its Anuvṛtti. To avoid this confusion and to indicate the end-limit of such Vā-Anuvrttis and the commencement of obligatory sūtras, various devices have been used in the Aṣṭā. The clearest device is the use of the word 'Nityam' in the sūtra wherein 'Vā' etc. (option—indicating

1. इको गुणवृद्धी। न धातुलोप आर्धधातुके and न धातुलोप आर्धधातुके। क्ङिति च। In the former group there is no common function. In the latter, both the sūtras have the same function of negating गुणवृद्धी।

2. In the "Structure of the Aṣṭādhyāyī" p. 78.

words) stop coming by Anuvrtti (e g I i 2.72; I 2 63). Change of topic is another device (e.g I i 32/36 are optional; but I i 37 is obligatory as it begins a new topic) In many cases, we have to take recourse to inference (e g in I 2.14/15 the word 'Vā' does not come from I 2 13, because the word indicating option [Vibhāsā] is used in the subsequent sūtra I 2 16.) Sometimes the option—indicating words have no Anuvrtti in the subsequent sūtra. Consequently these subsequent sūtras are obligatory (e g. I 2 3 is optional, but the subsequent sūtra I 2 4 is obligatory) In all such cases, inference or interpretation to suit the purpose (Laksyānusāri Vyākhyāna) is the only help and we cannot do without it There is no hard and fast rule to allow us to have a smooth sailing in understanding the P. sūtras. Pānini's technique is dictated by the commonsense view. He is not slave to the rigidity of his technique, he is not logical at the cost of clarity and reasonableness.

If some of the sūtras do not conform to the hypothetical principles, we should not rush to the conclusions unfavourable to P.'s genius The reason for the apparent inconsistancies should be investigated. In many cases such a close examination (Vyākhyāna) leads us to know the real implication such as "associated digression" or "sub-ideas in parenthesis" How truly has patañjali said :

"व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्न हि सन्देहादलक्षणम्"

—महाभाष्य on महेश्वरसूत्र No. 6.

[*Published in Proceedings and Transactions of* 13*th. All India Oriental Conference, Nagphur* (1946) *Pages* 109-112]

18. ON THE ORIGINAL TEXT OF THE AṢṬĀDHYĀYĪ

The *Astādhyāyī* of Pānini holds an almost unrivalled position in Indian literature It has thrown into oblivion the earlier grammatical works and has found its place in the list of the *Vedāngas* Its methodology, scientific treatment and comprehensiveness have made us forget the older vedānga texts on grammar, and, being the oldest text on grammar it is the only work referred to as 'Vyākarana' the most important among the six *Vedāngas*.[1] Consequently it is invariably included by the *Śrotriyas* in their recitation (*Mantra-jāgara*), no matter to which *Veda* or to which *Śākhā* thereof they belong. Thus, the *Aṣṭādhyāyī* forms an essential part of the vast sacred vedic literature.

But this fact has not been an 'unmixed blessing' to the *Aṣṭādhyāyi*, for it is responsible for causing an artificial recitation of the text The *sūtras* are read by the *Śrotriyas* not separately but continuously as in *Samhitāpātha* That this process of combining *sūtras* in a continuous reading could *never* have been Pānini's intention goes without saying, for it strikes at the very root of the Pāṇinian scheme. The different *sūtras* are laid down by Pāṇini for different purposes. Some give positive injunctions (*Vidhisūtras*), others are negative (*Niṣedha*); some are used in interpreting a sūtra (*Paribhāsā*), others are meant for being handed down in the succeeding sūtras (*Adhikāra*); others are merely definitions of technical terms[2] (*Samjñā*). It would serve no purpose at all and would be only a travesty of facts, if we were to suppose that the sūtras of a *pāda* (a sub-section of

---

1 Cf मुख व्याकरण स्मृतम्।
(Pāninīya Śikṣā; St. 42)

2 Cf सज्ञा च परिभाषा च विधिर्नियम एव च।
अधिकारोऽतिदेशश्च षड्विध सूत्रलक्षणम्॥

an *adhyāya*) form one continuous word-group. But as this peculiar way of recitation is found among the Vedic reciters who seldom pay attention to the meaning of the text, there is not much to wonder at it But the real matter for surprise faces us when we find the commentators taking advantage of the continuous recitation and interpreting *sūtras* in their own way

This they did in two ways Firstly, a variant reading of the final word of a *sūtra* is proposed to suit a grammatical purpose and the variant is accounted for by its *sandhi* with the initial letter of the following *sūtra* Thus, the sūtra, '*Sthāne antaratamaḥ*' (I-i-50) is proposed to be read[1] as *Sthāne antaratame*, because the continuous reading of the two sūtras (I-i-50, 51), viz. *Sthāne antaratama Uran raparah*, can be dissolved as *Sthāne antaratame / uran raparaḥ* Secondly, the commentators split the continuous-read sūtras in an arbitrary manner A *sūtra* may be split into two sūtras (*Yoga-vibhāga*) and interpreted accordingly to give wider meaning to the original sūtra About eight (8) cases of such a *Yoga-vibhāga* have been suggested in the *Mahābhāṣya*[2] The later commentators carry this procedure of *Yoga-vibhāga* further to other *sūtras* and have no hesitation in resorting to it.[3] This frequent recourse to *Yoga-vibhāga* has consequently led to a discrepancy in the total number of the *Aṣṭā.-sūtras*. According to the author of the *Svara-siddhānta-candrikā*, the total number of the sūtras is 3995.[4] BÖHTLINGK gives in his critical edition 3983 sūtras[5] and refers to a post-script in the Manuscript (B) according to which the sūtras were 3896 in number[6] Tārānath TARKA-VĀCASPATI's edition of the *Siddhān-*

---

1. See *Mahābhāṣya* on (I-i-50).

   "उभयथा हि तुल्या सहिता 'स्थानेऽन्तरतम उरण्रपर' इति।"

2. See KIELHORN · *Indian Antiquary*, Vol. XVI, p 179-181
3. Cf *Siddhānta-kaumudī* on (II-i-6; II-iii-71; II-i-4 etc).
4. See section 1, st. 15.

   चतु सहस्री सूत्राणा पञ्चसूत्रीविवर्जिता।
   अष्टाध्यायी पाणिनीया सूत्रैर्माहेश्वरै. सह॥

5. See Vol. II, Einleitung, p. XIX (1840 edition)
6. *Ibid*, footnote No 2.

takaumudi contains 3965 sūtras This discrepancy in the total number of sūtras is mostly due to the *Yoga-vibhāga* procedure A question may be raised as to why the commentators resorted to it For replying this question, we have to dive deep into their minds and understand their view-point, before we think of accusing them of 'tampering' with the original text.

We have already seen above that the *Asṭā*, has long since been regarded as a part of the sacred vedic literature. In his comment, Patañjali expressly admits[1] that the *sūtras* were like Vedas and that great sanctity attaches to them as they were composed by Pāṇini, an accepted authority on the subject. Therefore, the commentators believed that the *Asṭā* was the standard grammar of the Sanskrit language for all times past as well as future. Consequently, according to them, what was not accounted for by the *Asṭā*. was wrong and also what was held correct must be justified and made to have Pāṇinian authority. It was specially the latter supposition which led the commentators to split *sūtras* in order to account for the new formations, notwithstanding the consideration whether Pāṇini knew and cared for such forms or not. The formations, which became current, even in the post-Pāṇinian age, were 'Pāṇinianized' and no scruple was felt in 'retouching' the original text to account for them Thus, what would be thought, now-a-days, as the deliberate tampering with the text was *not only* felt unobjectionable but was regarded as quite compatible with the notion of authoritativeness which the commentators associated with Pāṇini's grammar. Another evidence of retouching the original text is the proposed re-arrangement of some *sūtras* The order of the *sūtras* as given in the *Kāśikā-vṛtti*, is ordinarily accepted. But Nāgeśabhaṭṭa says[2] that the *sūtras* (I-1-29/37) should come, according to

---

त्रीणि सूत्रसहस्राणि तथा नवशतानि च।
षण्न (? ण्ण) वतिसूत्राणि पाणिनि कृतवान् स्वयम्॥

1 On (I-1-1) छन्दोवत्सूत्राणि भवन्ति।

and प्रमाणभूत आचार्यो महता यत्नेन सूत्राणि प्रणिनाय।

2. See *Laghu-śabdenduśekhara* on I-ii-32).

Patañjali (on I-ii-32), after (VIII-iv-67); while Patañjali, regards[1] them as coming after (I-ii-40)[2] Similarly, according to Patañjali, the *sūtras* (VIII-iv 58-63) should come after (VIII-iv-52) Besides these re-arrangements of the *sūtras*, the *Astā* contains quite a good number of variants in reading, interpolations from the *Vārttikas* and Patañjali's remarks and additions of one or more words[3]

The Sūtra, '*Upadeśe ac anunāsikah it* (I-iii-2), refers to the dropping of those vowels, which were nasalized (*anunāsika*) purposely to indicate their indicatory nature (*Anubandhatva*). Thus, the letter *r* of the suffix *Śatr* (P. III-ii-124) is elided, but not *a* of the suffix *Śānac* (P III-ii-124) In order to distinguish such indicatory vowels (*anubandhas*) from other vowels, Pānini proposed their nasalization, the suffix *Śatr*, therefore, was formally *Śatrm*, but *Śānac* was not *Śānamc* Hence the difference in their treatment. But unfortunately the signs of nasalization are not seen in the present text of the *Astā*, they disappeared before the age of the *Kāśikā-Kāras* (600 A D), who had therefore to give a maxim that the nasalized character of an indicatory vowel is the subject of inference and traditional interpretation (and not of actual observation)[4] Needless to say, the retention of these signs would have been helpful and made the scheme much easier.

Now, we come to the question if the *Aṣṭā.* was originally written in an accented form Though only the texts of the vedic *samhitās* and the *Taittiriya* and *Śatapatha Brāhmanas* mark accents, there are reasons to believe that other older vedic works also had originally an accented form.[5] The same may or may not be true of the *Vedāṅga* texts, but the fact remains

---

1. See comments on (I-ii-32)

2. "इत आरम्य नवसूत्राणाम् 'अ अ' इति सूत्रात्पूर्वं पाठ इति तस्यादित इत्यत्र भाष्ये इति तत्रैव ल्ड श शेखरे। परन्तु उदात्तस्वरितपरस्य सन्नतरइत्यत परत्र पाठइति स्पष्टं भाष्ये।" [*Aṣṭā.* (Bombay Edition) footnote on I-ii-129 and VIII-iv-52].

3 See Kielhorn, *Indian Antiquary*, Vol. XVI, pp. 181-184.

4. See comment on (I-iii-2)

प्रतिज्ञानुनासिक्या. पाणिनीया. ।

5. See Keith *R. V. Brāhmaṇas* (Translated), Introduction, p. 64.

that no available texts of the *Vedānga* works (including the *Astā*) have come down to us in an accented form. The vedic reciters (*Śrotriyas*), however, recite the *Aṣṭā* in the same monotonous (*Ekaśruti*) way as the *Aitareya Brāhmana* (which must have been originally accented like the *Śatapatha* and *Taittirīya*) and the manner of recitation by the *Śrotriyas* gives no help to decide the question. This question whether *Vedānga* texts were originally accented or not, assumes greater importance in the case of the *Astā*. The basis of Pānini's grammar comprised the vedic as well as the classical language, and as important vedic works were accented, he had to give accent rules[1] in order to make his grammar comprehensive. His treatment of accents (*Svara-prakriyā*) is, therefore, an important section of the *Aṣṭā.* and has been regarded fuller and more scientific than that of the section dealing with purely vedic formations (*Vaidikī-prakriyā*). The technique and fundamental principles of the language being the same, it is but natural that the application of his accent rules should be extended to the classical forms also. That the accents are common to both vedic and classical Sanskrit is clear from the fact that Pānini does not say that the word '*chandasi*' is to be supplied in the accent-rules. On the other hand, the presence of this word in some sūtras (e.g., VI-i-170, VI-ii-119; VIII-i-35 etc.) makes it quite clear that other sūtras are common to both. The sūtra '*Vibhāsā Bhāsāyām*' (VI-i-181) clearly refers to the optional operation of the accent-rule (VI-i-180) in Bhāṣā (spoken language). That Kātyāyana also did not like to confine the scope of the accent-rules to vedic Sanskrit only can be inferred by his not introducing any such *vārttika* as '*Chandasi iti vācyam*' in the accent--rules (*Svara-sūtras*). The stanza[2] '*Mantro hīnah svarato varṇato vā..* is found altered in the *Mahābhāṣya*

---

1. See *Svara-siddhānta-candrikā;* St 16-7 of the 1st section

सप्ताशीत्यधिका तेषु त्रिशती सौवरी मता।
पञ्चैकादश वा ज्ञेया. स्वरयोगा उणादिषु।।
सख्या फिट्सूत्रसूत्राणा विज्ञेयाशीतिरष्ट च।
त्रिशत्सूत्री प्रातिशाख्यात् सगृहीतात्र सौवरी।।

(Annamalai University Sanskrit series edition, 1936)

2. *Pāṇinīyaśiksā,* st 52.

(I-1-1-1) as '*Duṣṭaḥ śabdaḥ...*' This clearly shows that according to Patañjali any word—whether vedic or classical—was liable to become wrong in accent and bring harm to the user.[1] Thus, if we recognize that accents are common[2] to both vedic and classical, it should cause no surprise if Pāṇini's *sūtras* also, like *Saṃhitā* texts, bore accent marks according to his *Svara-prakriyā*.[3] We shall begin the consideration of the problem with what the commentators *expressly* say about it.

In his comment on the *Paribhāṣā* '*Abhedakāḥ Guṇāḥ*' (No 118) Nāgeśabhaṭṭa refers to the two opinions of Kaiyaṭa, (i) that the *Aṣṭā* was read as an accented text, that is, the sūtras were recited with three accents, *udātta*, *anudātta* and *svarita* (*Traisvarya-pāṭha*), or (ii) the sūtras were recited in a monotonous way (*Ekaśruti*) and that no distinction in tone was observed But Nāgeśabhaṭṭa himself does not subscribe to this non-committing opinion of Kaiyaṭa. He asserts that though reciters do not observe the distinction of accents and recite in *Ekaśruti-pāṭha*, it does not follow that the *Aṣṭā.* text had no accented form, that particular words in a sūtra may have been given for special reasons[4] in *Ekaśruti*, but the *Aṣṭā.* as a whole was handed down by Pāṇini in an accented form (*Traisvarya*).

मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह। स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात् ॥

1. The word *Indra-śatruḥ* if accented on the 1st member of the compound will have *Bahuvrīhi* compound and mean "whose killer is Indra"; but if accented on the last syllable of the compound, it will have *Tatpuruṣa* compound and mean 'Indra's killer'. This word pronounced in the accents of the *Bahuvrīhi* compound brought disaster to the *Asuras.*

2. See *Svarasiddhānta-candrikā*; Introduction (p. I i.).

3. Cf. the rules of *Sandhi* given by Pāṇini which are actually applied in Pāṇini's *sūtras* (special cases ignored).

4. The word, *Aikṣvāka*, allowed as an irregular formation (*nipātana*) by (VI-iv-174), is to be read in *Ekaśruti* to permit two forms, one with *udātta* on the first syllable in the sense of 'Son of *Ikṣvāku*' (IV-i-168), the other with *udātta* on the last syllable in the sense of 'born in the country of *Ikṣvāku*' (IV-ii-132).

But there are some difficulties in accepting the above view of Nāgeśa-bhatta. Firstly, Kaiyata, an earlier writer by 600 years, is not so definite and holds a non-committing opinion [1] Secondly, granting that the *Aṣṭā.* had *Traisvarya-pātha* the following questions arise; (i) whether the roots, stems and suffixes occurring in the *sūtras,* were marked according to their original accents, or they would be governed by the rules of the *Samhitāpātha* (where mutual influencing of accents in different words is allowed). [For example, the roots, *Vada, Vraja* (=*Vad, Vraj* which are *Udātta,* by VI-i-162) in the sūtra (VII-ii-3) would be marked as such, or the compound, '*vadavraja-halantasya*' (VII-ii-3) will have *Samāsa-svara* (VI-i-223) viz. *antodātta,* and the roots, *vada* etc. will be marked as *anudāttā*] Or (ii) whether *Yat* in (III-i-97) will have stem-accent (*Phitsvara, antodātta*) or the *svarita*-accent by (VI-i-185) A strict adherence to the method of *Traisvaryapāṭha* will, however, require compound-accent in the sūtra (VII-ii-3) and *Yat* in (III-i-97) to be marked as Udātta, for the word *Yat* in the sūtra does not actually have *t* (as the indicatory sign) as required by (VI-i-185), *yat* has *t* (as an *anubandha*) in the example-formations only, viz *ceyam, jeyam.* But this explanation does not hold good in the following case.

The heading words (*Adhikāra*), which are intended to be supplied in the following *sūtras,* are enjoined by Pāṇini to be marked with the *Svarita*-sign (*Svaritena addhikāraḥ,* I-iii-11); e.g the words, *Dhātoh* (iII-i-91), *Pratyayah* (III-i-1)—(which are supplied in the following *sūtras*) should be marked as *svarita* But a question arises whether the words, *Dhātoh* and *Pratyayah,* being *adhikāra*-words, will bear Svarita-marks or their original accents (*antodātta*), whether the word, *Aci* in (VI-i-77) should have the *Svarita* sign, because it is an *adhikāra* word and is supplied in the following sūtra (VI-i-78) or it should be marked with its own original accent (*Ādyudātta*). Really speaking, the rules of *Traisvarya-pāṭha* will have to be waived in the case of *adhikāra* words and P. *sūtras* will have to be marked in two ways, (i) the *adhikāra*-words in a *sūtra* to be marked as

---

1 Kaiyaṭa (on VI-1-1) does not only mention the above option, but regards *Traisvarya-pāṭha* as दुरवधारण

Ssarita, and (ii) the remaining words in a *sūtra* will have original accents and undergo the mutual influencing of accents as in *Saṁhitā-pāṭha*. But the present *Aṣṭā* text shows not only the absence of *Traisvarya*, but also of *Svarita*-signs, which would have indicated an *adhikāra*. The authors of the *Kāśikā-vṛtti* expressly state[1] that an *adhikāra* word is known as such by inference and traditional interpretation and not by actual marking of the *svarita*-sign, in the same way as we have seen above about the nasalization-sign of an indicatory vowel. The comments of Kātyāyana and Patañjali on (III-i-11) do not indicate[2] that they had before them an accented text of the *Aṣṭā*. In fact, the word *Svarita* in (I-i-11) does not appear to have been used in its technical sense (*Samāhārah Svaritaḥ* I-ii-31), but merely as an arbitrary[3] sign. It would be preposterous to suppose that Pānini desired the *adhikāra* words to be marked as *Svarita* in its technical sense and thus cause confusion between the *adhikāra-svarita* and the real svarita-accent.

A similar confusion is likely to arise as regards the *uddātta* and *anudātta* roots in the *Dhātu-pāṭha*. We know from (VI-i-162) that all the roots are *antodātta* (i.e. have the last vowel *udātta*); but for the purpose of indicating whether a root is *seṭ* or *aniṭ*, a distinction was made in the *Dhātupāṭha*, viz, the *seṭ* roots were marked *udātta* and *aniṭ* ones *anudātta* (Vide, VII-ii-10). Thus, the root *jñā* (to know) is formally *udātta* by (VI-i-162), but in the *Dhātupāṭha* it must be marked as *anudātta* to indicate that it is an *aniṭ* root. The only solution to clear off this tangle is to regard the *udātta* and *anudātta* lists of the *Dhātu-pāṭha* as not having the technical *udātta* and *anudātta* accents, but some arbitrary sign for indicating distinction.[4] These

---

1. On (II-1-II).

प्रतिज्ञास्वरिताः पाणिनीयाः ।

2. See a detailed interpretation of the sūtra in *Gurupūjākaumudī* (Fest-gabe zum Albrecht WEBER) 1896; KIELHORN : '*Svaritenādhikāraḥ*.'

3. Cf. *Laghuśabdenduśekhara* on (I-i-11).

स्वरितत्व चेद दोषविशेषरूपमज्झल्साधारण स्वररूपमधिक्रियमाणपदघटकाज्निष्ठं वा। तच्चानुनासिक्यवत्प्रतिज्ञागम्यम्—

4. GOLDSTÜCKER (*Reprint*, p. 41) referring to this clumsy method

arbitrary indications of a *svarita* or *anudātta* were so clumsy and unscientific (and almost un-Pānini-like) that Patañjali (on I-ii-11) pooh-poohed the idea of the *Svarita*-sign for indicating *Adhikāra* and preferred the ever-ready (and at times teasing due to its frequency) recourse to the Paribhāsā *Vyākhyānato viśesa-pratipattih na hi sandehāt a-laksanam*, ie, "The solution of the special (difficulty) results from explanation, for it does not follow that because there is a doubt there is not criterion to solve it" (p 37/8, GOLDSTUKER) Similarly, the *anit* (so-called anudātta) roots were later[1] on put together and classified on the principle of their final consonants The sūtra, *Svaritena adhikārah* (I-iii-11) is now to us of no practical *utility*;[2] but the fact remains that this sūtra served its purpose in Pānini's times, when there must have been signs to indicate an *adhikāra* word It is certain that these signs had already disappeared in Patañjali's times, for, otherwise, he would not have thought of assigning to them one after another, three different functions, (i) The *Svarita*-sign indicates a heading word, (ii) it indicates the limit to which a heading word goes, and (iii) it invests a word with greater strength or efficacy (*Adhikārah=adhikaṁ kāryam*).[3]

Now let us consider the internal evidence of Pāṇini on the subject. The sūtra (I-ii-36) gives an option to have *Traisvarya-pāṭha* or *Ekaśruti*-

---

of using the same term for indicating two different functions, writes, "Let us suppose that *anudātta* in the *Upadeśa* does not mean the spoken, but the written accent and the difficulty is solved without the necessity of impugning the ability or the common-sense of the grammarians" I will only add that such a 'double' use of a technical term is often allowed by Pānini with a view to preserve an earlier terminology (*Pūrvācāryānurodhena*) Cf the term '*Pada*' in (I-iv-14) and (I-iv-17) '*Upasarjana*' in (I-ii-43) and (I-ii-44).

1. See *Kāśikā-vrtti* and *Siddhānta-kaumudī* on the sūtra (VII-ii-10).

2. See KIELHORN · *Gurupūjākaumudī*, p. 29-32, specially the opening and last sentences.

3. For examples, see *Mahābhāṣya* on the sūtra (I-iii-11).

pāṭha in Vedic literature, implying thereby that even in his times, some vedic works were read with *Ekaśruti*, an assumption borne out by known facts This *Ekaśruti-pātha* should then be still more true of the classical Sanskrit works as testified by the existing texts. So unless we think of Pānini as writing consciously and professedly a vedic work, the question of the *Traisvarya-pāṭha* in the *Astā* need not arise. The suggestion of the latter commentators[1] to interpret the sūtra (I-ii-36) as '*Vibhāsā a-chandasi*' and allow option in Bhāsā (*a-chandas*) also is on the face of it not required (besides being unnatural and far-fetched) and arises from a misconception The later commentators, believing in the *Traisvarya-pāṭha* of the *Astā* seem to think that the sūtra, *Vibhāsā chandasi*' gives option of having *Ekaśruti* or *Traisvarya* to the vedic works only, and the *Traisvaryapāṭha* is, therefore, compulsory in non-vedic works. But then the complete absence of accentuation marks in the classical Sanskrit works remains inexplicable We should also bear in mind that the *Ekaśrutipāṭha* (and not *Traisvarya*) is suitable to the employment of the *Śleṣa* figure so frequently employed in classical Sanskrit. Besides Kaiyaṭa (see above)[2] does not preclude the possibility of the *Ekaśruti* in the *Aṣṭā*. Kātyāyanā's *Vārttikas* on (VI-iv-174) about the word *Aikṣvāka*[3] show clearly that the prevalent *Ekaśruti-pāṭha* was necessary to account for the required forms. The inference[4] from (VI-i-181) about the prevalence of accents in *Bhāṣā* (spoken language) would be valid for spoken forms[5] and not a written work[6] like the *Aṣṭā*

---

1 See *Kāśika-vrtti* on (I-ii-36) and *Śabdakaustubha* on the same (Vol. II, p. 17, p Benares edition, Fas. 5 to 10 1929).

2. Specially footnote 1 of page 147.

3. See footnote 2 of page 146.

4. C. V. VAIDYA : *History of Sanskrit literature* section III, page 133.

5. It is a well-established fact that accents—pitch or stress—play an important part in the spoken languages. Pāṇini's accent-rules applicable to the *Bhāṣā* forms also are to be explained in this way. The word '*Bhāṣā*' used in the sūtras, not dealing with accents, does however refer to both the forms of the classical Sanskrit—written and spoken

6 See THIEME : *Pāṇini and the Veda*, pp. 124, & 129-30.

It is only on the supposition that the *Astā* was written in *Ekaśruti* that the commentators[1] can justify their interpretation of the *sūtra* (I-i-70) in two ways (*Tah paro yasmāt* or *Tāt parah*, viz followed by or following *t*) Otherwise in *Traisvaryapāṭha* the accents of the *Bahuvrīhi* and *Tatpuruṣa* compounds being different [vide (VI-ii-1) and (VI-i-223)], the two interpretations of *Taparaḥ* would not have been at all possible If some grammarians, desiring to elevate the *Astā* to the status of the accented vedic *samhitās*, applied the accent-rules of Pāṇini to his own work and put forth before the vedic reciters an accented text, such a text did not survive long and like the *Aitareya Brāhmana*, the *Aṣṭā* also came to be recited in *Ekaśruti*.

[*Published in New Indian Antiquary.*
I-9, 1938, *Pages* 562—69]

1. See Patañjali on (I-i-50), *Kāśikā-vrtti* and all later commentators on (I-i-70).

19. HISTORY OF AN IMPORTANT HISTORICAL WORD IN THE PĀṆINIAN SCHOOL OF GRAMMAR

Introduction-- Grammatical studies are not altogether devoid of historical interest Grammatical rules and their examples sometimes throw considerable light on the use of words, shades of meaning attached thereto and the particular attitude of mind with which people used to think of the objects denoted by those words. Pānini's *sūtra* (II-IV-9) "*yēshām cha virōdhah śāśvatikah*" is a good example to illustrate the point. This *sūtra* means that the *dvandva* compound of words, denoting objects that are eternally (naturally) opposed or inimical to each other, is put in the singular number. The examples cited as illustrations of this *sūtra* are *mārjāra-mūshakaṃ* and *ahi-nakulaṃ*. In *mārjāra-mūshakam*, the words *mārjāra* and *mūshaka* denoting cat and mouse—the objects naturally opposed and inimical to each other—are compounded as a *dvandvasamāsa* and the whole compound is singularized *ēkavadbhāva*. Similarly, the form *ahi-nakulam* (sanke and mungoose) Now, in all the examples cited by *Patañjali* and *Vāmana-jayāditya*, the objects denoted by the constituents of such compounds are such as are opposed to each other or, in short, natural enemies. But in later grammatical works, we come across such artificial examples of this *sūtra* as *Śramanabrāhmanaṃ*. Herein, *Śramana* (a Buddhist monk) and *Brāhmana* (a Brahmanical *samnyāsi*) are supposed to be natural enemies. The citation of this example as an illustration of *Pānini's sūtra* "*yēshām cha virōdhah śāśvatikaḥ*" clearly indicates that at that time the Buddhist monks and Brāhmana *saṃnyāsis* were regarded as natural and irreconcilable enemies (having *śāśvatika virōdha*) Thus it is clear that from grammatical rules and

their examples we can sometimes get interesting items of historical information.

II

As generally known, the term *Dēvānām priyah* (in its Prakritized form *Dēvānam pi a* or its variant) is an epithet of Aśōka and occurs frequently in his inscriptions It is variously translated by translators as 'favourite of gods', 'His Holiness', or 'His Sacred Majesty' Taking it to be an honorific term, Aśōka takes pride in calling himself *'Dēvānām priyaḥ'* The other optional form *'Dēvapriyah'* is also a term of high honour. *Patañjali* in his comment on *Pāninisūtra* (II-IV-56 and (V-III-14) takes it to be an honorific term like such words as *āyushmān, dirghāyuh* and *bhavān*. Bāna also uses this word as a term of honour.[1] Even in *Śukla Yajurvēda* the term in changed order is used in a good sense (cf—*priyam dēvānām-anādhrishtam dēva yajanamasi*). But in later classical Sanskrit works the sense of the term *Dēvānām priyah* undergoes a deterioration in meaning and is thought to be a synonym for *mūrkha* (a fool) [2] This indeed is a marvellous change in meaning. Is it not a matter for surprise that the epithet *Dēvānāṃ priyah*, repeating which the most distinguished Buddhist Emperor, Aśōka, in never tired of and which he frequently uses as his glorious title, came to mean, later on, a fool and became a term of contempt ? But the reason of this strange phenomenon is quite apparent. With the decay of Buddhism, when Brahmanism reasserted itself, the honorific terms in earlier Buddhistic works became 'Untocuchables' and contemptuous meanings were attached to them. The students of Indo-Iranian religion very well know the fate of the words *Indra* and *Asura* in the Iranian and later Vedic mythology respectively. It was due to later Brahmanical prejudice against the Buddhist Emperor Aśōka, that the favourite epithet of Aś'ōka became a synonym for *mūrkha* in later Classical Sanskrit. To show this, we will discuss in

1. See R. K. Mookerji's 'Aśōka,' p. 109 (1928). A concise and masterly note is given there on the term *'Dēvānāṃpriyah'*

2. *Cf*—Mammaṭa

detail the relevant grammatical rules laid down in the Pāninian system of grammar.

III

The grammatical *sūtra* by Pānini (vi-iii-21) *shashṭyā ākrōśe*, means that the genitive case ending in a compound is *not* dropped, if the compounded form implies reproach, censure, condemnations or insult. The usual illustration of this rule is '*chaurasya kulam*' where censure or reproach is implied. But the rule does not operate in *Brāhmaṇa kulaṃ*, where no such reproach is intended; consequently the genitive case-ending is dropped (*Brāhmaṇasya kulam—Brāhmaṇa kulaṃ*). Thus according to Pānini the form *chaurasya* implies reproach and the form *chaura kulaṃ*, simply a statement of facts (a family of thieves). Pānini who flourished long before *Kātyāyana* and the Buddhist King Aśōka, had no knowledge of the would-be-coming use of the compound *Dēvānāmpriya* as a term of honour, and therefore, we can conclude nothing from his rule about the good or bad sense of the word *Dēvānāṃ priyah* which would, perhaps in Pāṇini's opinion, be an uncompounded form implying nothing more than the meaning of the constituent words. After a lapse of some centuries, the form *Dēvānāṃ priyaḥ* began to be used as an honorific term[1] so much so that Aśōka assumed this term as his title. Now, *Kātyāyana* and Patañjali, the great grammarians, who handled the Sanskrit language as a living organic language and were always alive to modify the rules of Pāṇini in accordance with the requirements of the growing Sanskrit language, added a few additional vārtikas as exceptions to Pāṇini's, rule (*sūtra*) '*shashṭyā ākrōśe*,' to account for the non-dropping of the genitive case-endings in such forms as *vāchōyuktih* (the argument of speech), *Dēvānāṃ priyah* (favourite of gods) and *Divōdāsaḥ* (servant of heaven) etc.[2] In these forms,

---

1. Kātyāyana the Vārtikakār was aware of this fact.

2. To explain these forms from Pāṇini's point of view, we may say that *vāchoyuktih*, *Devānāṃpriyaḥ*, *paśyatoharaḥ* were not in significant use in his time. The form *Śunaḥ śepha* (a sage) even then implied censures as we may guess from the story of *Śunaḥ śepha* in *Aitareya Brāhmaṇa* (VII-iii).

though no censure or reproach is implied the genitive case ending is retained. So according to Kātyāyana and Patañjali, the form *Dēvānām-priyah* is an exception to Pānini's sūtra *shashṭhyā ākrōśe* and no censure or insult is implied there. Not only that, Patañjali goes further and regards this term as honorific when he uses such sentences as *prāptiñō Dēvānām priyō natvishtiyñah*[1] (see Mahābhāsya on II-iv-56) and *tatra bhavān dīrghāyuh Dēvānāṃ priyah āyushmāniti* (V-iii-14). Vāmana-Jayāditya in *Kāśikāvritti* (C 650 A D.) holds the same view and regards the form *Dēvānāmpriyah* as an exception to the rule *shashṭhyā ākrōśe*. This is quite understandable when we know that the study of *Kāśikāvṛitti* found much favour with the Buddhist scholars, who would naturally like to take the title *Dēvānāmpriyah* as an honourable epithet of the great Buddhist King, Aśōka Same is the case with the great Jain scholar Hemachandra who in his famous work *Siddha Hemachandra Śabdānuśāsana*[2] regards the term *Dēvānāmpriyah* as an epithet of honour.

IV

But the scene changes with the advent of the later grammarians. Rāmachandra (C 1350 A.D) in his *Prakriyā Kaumudī* and Bhattojīdīkshita (C. 1600 A.D) in his *Siddhānta Kaumudī*, make a bold departure from the line of earlier grammarians They modify the exceptional *Vārttika* '*Devānāmpriya iti cha*' as '*Dēvānām priya iti cha mūrkhe*' by adding *mūrkhe* to it. According to them, the compound *Dēvānāmpriyah* retains its genitive case ending, if it means *mūrkha* (a fool); otherwise the form is *Dēvapriyaḥ* (literally, a favourite of gods) Thus, by one stroke of the pen, they have condemned the honorific epithet of the great Buddhist Emperor and have made him a laughing stock of later Sanskritists. The modern Sanskrit Pandits, acquiring their grammatical knowledge of the Sanskrit language

---

The form *Divōdāsa* Pānini may have dissolved as *divas+dāsa* and not *div+dāsa* so *Divōdāsa* is not an example of *aluk samāsa*

1. *Kaiyata's* attempt to interpret the word as a synonym of *mūrkha* is off the point. His silence on V-iii-14 is significant.

2. See the foot-note on *Tattva-bodhinī* by W. L. Pausikar.

from *Siddhānta Kaumudī* are surprised at the persistence with which the great Emperor glorifies himself by assuming the title *Dēvānāmpriyah* (a fool, according to *Siddhānta Kaumudī*).

V

But literally, the form *Dēvānāmpriyaḥ* means 'a favourite of gods.' How can it be then used in the sense of *mūrkha* ? This question, later commentators find hard to answer. Jñānendra Sarasvati, the writer of Tattva bōdhinī commentary on *Siddhānta Kaumudī*, remarks · "Gods are pleased with those who offer oblations to them. The sacrificers, who offer oblations to gods, are worldly people and do not possess the real knowledge *Brahmajñāna*. Therefore the favourites of gods (*Dēvānām priyāḥ*) are *mūrkha* (fools)." *Vāsudēvadīkshita*, the writer of *Bālamanōrama* on *Siddhānta Kaumudī* remarks : "The word *deva*, derived from root *diva* (to play), means playful fool. The favourites of fools are fools; therefore *Dēvānāṃ priyāḥ* means fools." Kaiyaṭa in his comment on *Mahābhāṣya* on II-iv-56 remarks : "Favourites of gods are devoted to pleasure. They do not care for the study of *Śāstras*, hence they are fools. Thus the term *Dēvānāṃpriyāḥ* means fools." But as we have said above, these explanations of the term *Dēvānāṃpriyaḥ* are farfetched and hence unconvincing. They are in accordance with the dictum *sthitasya gatiś chintanīyā.* The real motive of ascribing the contemptuous meaning to the term was to condemn (in meaning) the glorious title of Aśōka, who was a staunch follower of Buddhism and whom• the later Brahmanical writers viewed with disfavour.

VI

The point in question would become still clearer, when we take into consideration the following point. If any contemptuous or reproachful meaning were intended to be expressed by the term *Dēvānāṃ priyaḥ*, there was no need whatsoever for adding an exceptional *Vārttika Dēvānāṃ priya iti cha*, to Pāṇini's rule *Shashṭhyā ākrōse.* Censure or reproach being implied by the term *Dēvānām priyaḥ* it would be easily covered by the *sūtra* itself; the addition of a vārttika by Kāttāyyana

and Patañjali would be entirely unjustifiable. The exceptional Vārttika, *Dēvānāmpriya iti cha*, can be justified only when the term is used in honorific sense But the later Sanskrit grammarians, in their vehement prejudice against the Buddhist Emperor, Aśōka, overlooked this simple fact, and by adding the word *mūrkha* to the *Vārttika* stand self-contradicted.

[*Published in Mysore session Vol. of All India Oriental Conference* 1935 *Pages* .]

20. HOMOGENEITY OF LETTERS IN THE PĀṆINIAN SYSTEM–A CRITICAL ESTIMATE OF THE VIEWS HELD BY DIFFERENT COMMENTATORS.

(1.)

In the following lines, an attempt is made to show that the view on the homogeneity of letters as held by वामन जयादित्य in काशिकावृत्ति, रामचन्द्र in प्रक्रिया कौमुदी and भट्टोजीदीक्षित in his well-know work सिद्धान्तकौमुदी, is erroneous on more than one ground, but the simple and natural interpretation of the पाणिनिसूत्र's or the standpoint taken by वरदराजभट्ट in लघुकौमुदी, an abridged edition of सिद्धान्तकौमुदी, gives a correct solution of the problem. Many learned Sanskrit grammarians of Benares and other places regard that वरदराज's non-acceptance in this respect of भट्टोजीदीक्षित's view is due to his anxiety for offering a simple solution for the beginners (छात्राणां सुखबोधाय) and that from an advanced student's point of view, वरदराज's solution falls short of the Pāninian standard. But it will be seen on an impartial consideration of the question that the standpoint of वरदराज is not only simple but also the right standpoint which is at once thorough, reasonable and scientific.

(2)

The homogeneity of letters is technically called by पाणिनि as सवर्णसंज्ञा. Its knowledge is indispensable for following the Pāninian method of Sandhi formation. It is necessary to know what letters are homogenous (सवर्ण) and what are not, before we should be able to apply such Pāninian सूत्रs, as झरो झरि सवर्णे (8-iv-65).[1] This सूत्र means

---

1 हल परस्य झरो लोप स्यात्सवर्णे झरि।

that a letter contained in झर् प्रत्याहार, if preceded by a consonant, is dropped, provided it is followed by a सवर्ण (homogenous) झर्, e.g in उद्+थ्+थानम्, थ्, preceded by द्, a consonant, and followed by a सवर्ण झर्थ् of थानम्, is dropped In तर्+प्+तुम् (तृप्+तुम्) प् cannot be dropped, for it is not followed by a सवर्ण झर् (प्+त् are not सवर्ण)

Pānini defines सवर्णसंज्ञा in the सूत्र, "तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्" (I-1-9)[1] which means 'The letters which have got the *same* place of pronunciation[2]

		उच्चारण-स्थान				
		कण्ठ	तालु	मूर्धन्	दन्त	ओष्ठ
आभ्यन्तरप्रयत्न	स्पृष्ट	क्, ख्, ग्, घ्, ङ्,	च्, छ्, ज्, झ्, ञ,	ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण्	त्, थ्, द्, ध्, न्	प्, फ्, ब्, भ्, म्
	ईषत् स्पृष्ट		य्	र्	ल्	व्
	विवृत	अ, आ, आ ३ ह	इ, ई, ई ३ श्	ॠ, ऋ, ऋ ३, ष्	ऌ, ऌ ३ स्	उ, ऊ, ऊ ३
	सवृत	Short अ (vocalic sound d)				

and the same internal effort[3] are mutually homogenous (सवर्ण)'. The following table shows the *places of pronunciation* and *internal efforts* of

---

1. (आस्ये मवमास्यं- ताल्वादिस्थान, प्रयतन प्रयत्नः स्पृष्टतादिर्वर्णगुणः) ताल्वादिस्थानमाभ्यन्तरप्रयत्नश्च यस्य वर्णस्य येन वर्णेन तुल्य तन्मिथः सवर्णसज्ञ स्यात्। सि. कौ. on I-i-9.

2. By place of pronunciation (उच्चारण-स्थान) is meant the particular parts in the mouth passage wherein closing, narrowing or friction of the air-passage determines the character of the sound produced. These places are कण्ठ, तालु, मूर्धन्, दन्त and ओष्ठ

3 The internal effort (आभ्यन्तरप्रयत्न) means the various positions and situations in the air-passage, such as complete blocking (स्पृष्ट-

the various letters (as implied in पाणिनि's सूत्रs and accepted by भट्टोजी-दीक्षित)

The above table[1] would show that अ+ह्, इ+श्, ऋ+ष्, and ऌ+स् have the *same* उच्चारणस्थान and आभ्यन्तरप्रयत्न in the Pāṇinian scheme. Lest these pairs should be regarded as homogenous (सवर्ण), Pāṇini gives another सूत्र "नाज्झलौ" (I-1-10),[2] which says that letters contained in the प्रत्याहार 'अच्' have *no* relation of homogeneity with the letters contained in the हल् प्रत्याहार The letters अ, इ, उ, etc. in अच् of नाज्झलौ (I-i-10), as usual, stand for all the varieties of अ, इ, उ, etc, e g दीर्घ, प्लुत, उदात्त, अनुनासिक etc. Therefore दीर्घ आ and ह्, दीर्घ ई and श् etc. also are not सवर्ण (homogenous).

There lies the simple solution[3] of the problem (that अ, आ, etc. are not सवर्ण of ह् Similarly इ, ई, etc of श्) as given by Pāṇini But the commentators, with their hair-splitting acumen, raise further difficulties and try to solve them in fanciful ways पतञ्जलि, in his महाभाष्य on (I-i-10), offers two solutions for prohibiting the homogeneity of letters, आ and ह्, ई and श् etc.[4]

(i) The first solution does away with the सूत्र 'नाज्झलौ' (I-i-10)

---

literally 'touched'-as in क), narrowing (ईषत्स्पृष्ट–'a little touched'—as in य्) opening of the vocal passage (विवृत 'opened'—as in case of आ, इ, उ,) or contraction of the vocal passage (संवृत 'contracted' —as in case of the vocalic sound (d-called *swa* by philologist). Pāṇini by 'अ अ'– the last सूत्र of अष्टाध्यायी, prescribes that a short अ is really speaking संवृत, but it is to be taken as विवृत for grammatical purposes

1. It should be noted that such sounds as विसर्ग, अनुस्वार, composite letters as ए, ऐ, ओ, औ, and many others are omitted in the above table, being unnecessary for our present purpose

2. अच् च हल् च अज्झलौ तुल्यास्यप्रयत्नावपि अज्झलौ परस्पर सवर्णसंज्ञौ न भवतः।
—काशिकावृत्ति on पा. सू. (1-1-10)

3. But unfortunately all commentators have overlooked this simple interpretation of the सूत्र नाज्झलौ as we shall see presently.

4. The problem before पतञ्जलि is not identically this, but virtually it amounts to the same.

by adding one *more* internal effort (ईषद् विवृत) in the list of आभ्यन्तरप्रयत्नs (see below)

(ii) The second solution retains the सूत्र 'नाज्झलौ' (I-i-10) but gives rise to difficulties—imaginary though they are for the later commentators. (see below).

वरदराज accepts the first solution in his work 'लघुकौमुदी', while जयादित्य, रामचन्द्र and भट्टोजिदीक्षित adhere to the second solution and complicate the matter further.

(3)

भट्टोजीदीक्षित retains the सूत्र 'नाज्झलौ' for prohibiting the homogeneity of अ+ह् etc But on account of his accepting an unsound standpoint, he has to meet a number of difficulties His standpoint is known as वाक्यापरिसमाप्तिन्याय, which is propounded by भाष्यकारपतञ्जलि[1] and should be regarded as an एकदेशीभाष्य (and not as a सिद्धान्तपक्षभाष्य) This न्याय, in short implies that we have an order—a gradation—in various stages of our understanding the letters contained in a प्रत्याहार (e g अच्, हल् etc). Take for example, the प्रत्याहार अच् First we get the च् of अच् declared as इत् (an indicatory sign by the सूत्र 'हलन्त्यम्' (I-iii-3).[2] Then by 'आदिरन्त्येन सहेता' (I-i-71)[3], we know that अच् (अ+च्) stands for all letters from अ to च् in वर्णसमाम्नाय[4] After that we come to know by the सूत्र 'तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्'[5] (I-i-9) what letters are homogenous (सवर्ण), and *then only* the सूत्र 'अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः' (I-i-69)[6]

---

1. On the सूत्र नाज्झलौ. See महाभाष्य (I-i-3-1).

"वर्णानामुपदेशस्तावदुपदेशोत्तरकालेत्संज्ञा, इत्संज्ञोत्तरकाल आदिरन्त्येनेति प्रत्याहारः, प्रत्याहारोत्तरकाला सवर्णसंज्ञा, सवर्णसंज्ञोत्तरकालम् 'अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः' इति सवर्णग्रहणम्। एतेन सर्वेण समुदितेन वाक्येनान्यत्र सवर्णग्रहणं भवति।"

2. उपदेशेऽन्त्यं हलित्स्यात्।' वृत्ति in सि. कौ.

3. 'अन्त्येनेता सहित आदिर्मध्यगानां स्वस्य च संज्ञा स्यात्। वृत्ति in सि कौ.

4 i, e, in the माहेश्वरसूत्रs (अ इ उ ण्। ऋऌक्। ए ओ ङ्। ऐ औ च्।) for अच् प्रत्याहार।

5 See before the footnote on 2.

6. 'अण् गृह्यमाण उदिच्च सवर्णानां ग्राहको भवति स्वस्य च रूपस्य, प्रत्ययं वर्जयित्वा'।—काशिकावृत्ति on I-i-69.

tells us that 'letters contained in a प्रत्याहार (e.g. अच्) stand for themselves *and also* for their varieties (दीर्घ, प्लुत etc).'

Now, according to the rule 'अपवादविषय परित्यज्योत्सर्गः प्रवर्तते,"[1] the (उत्सर्ग) general सूत्र 'तुल्यास्यप्रयत्न सवर्णम् (I-1-9) should be interpreted in conjunction with the exceptional (अपवाद) सूत्र 'नाज्झलौ' (I-1-10). Thus, when we are interpreting the सूत्र 'नाज्झलौ+तुल्यास्यप्रयत्न सवर्णम्' (उत्सर्गापवादसूत्रवाक्यार्थबोध), (the acceptance of वाक्यापरिसमाप्तिन्याय will mean that) the सूत्र 'अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्यय. (I-1-69)– which authorizes us to take all the varieties of the letters contained in अच् प्रत्याहार—is not known and so cannot be employed. Consequently the letters contained in the प्रत्याहार अच् of 'नाज्झलौ' do not stand for दीर्घ and प्लुत forms. That is, the सूत्र 'नाज्झलौ' will prohibit the homogeneity (सवर्णसंज्ञा) of (ह्रस्व) अ+ह् only and *not* of (दीर्घ) आ+ह्. So the difficulty arises that, as the homogeneity of दीर्घ आ+ह् is not prohibited by the सूत्र 'नाज्झलौ', (दीर्घ) आ+ह् should be treated as homogenous. The acceptance of दीर्घ आ+ह् letters as homogenous will force upon us the incongruity that we should have ढ्, substituted for आ in the word विश्वपामि. by the सूत्र 'हो ढ' (VIII-ii-31).[2]

भट्टोजीदीक्षित accepts the force of this objection and meets it in his own way. He says that the सूत्र 'नाज्झलौ' should be split as न+आ+अच्+हलौ, the meaning of the सूत्र is that दीर्घ आ, अच्+हल् are not homogenous. In this way he avoids the homogeneity of दीर्घ आ+ह्; so the question of substituting ढ् for आ in विश्वपामि. does not arise.

This is the solution as regards दीर्घ आ+ह्, but what about दीर्घ ई+श्? The सूत्र नाज्झलौ, as interpreted by भट्टोजीदीक्षित in light of his readily—accepted doctrine वाक्यापरिसमाप्तिन्याय, will prohibit the homogeneity of आ&अच् with हल्; there is nothing in the सूत्र to prohibit the homogeneity of ई and श्. So there comes the objection that we should have दीर्घादेश in place of दीर्घ ई and श् in कुमारी+शेते by the सूत्र अकःसवर्णे दीर्घः.[3]

---

1. This rule means that the scope of a general rule is determined after making an allowance for the exceptional rules.

2. हस्य स्थाने ढः स्याज्झलि पदान्ते च।

3. अकः सवर्णे परे पूर्वपरयोः स्थाने दीर्घ एकादेशः स्यात्।

(VI-1-101). To meet this difficulty, भट्टोजीदीक्षित brings the अनुवृत्ति of the word 'अचि' to the सूत्र 'अक सवर्णे दीर्घः' (VI-1-101) from a previous सूत्र 'इको यणचि' (VI-1-77) by having recourse to मण्डूकानुवृत्ति[1] Thus in short, भट्टोजीदीक्षित, on account of his following the एकदेशिभाष्य (propounding वाक्यापरिसमाप्तिन्याय) on the सूत्र 'नाज्झलौ', is forced to insert आ in the सूत्र 'नाज्झलौ' and accept मण्डूकानुवृत्ति of the word अचि in the सूत्र 'अक सवर्णे दीर्घः' (VI-1-101). But as we shall see presently, all the difficulties are not yet overcome (Shall we say 'भक्षितेऽपि लशुने न व्याधिशान्ति'?)

(4)

The first serious objection against भट्टोजीदीक्षित's standpoint is his blind acceptance of वाक्यापरिसमाप्तिन्याय This doctrine cuts at the very root of the Pāninian system and its acceptance will lead to many complications The अष्टाध्यायी of पाणिनि is a whole interconnected work. For the formation of a single word, we have to apply सूत्रs from various parts of the work Each सूत्र should be interpreted in the light of what we know from other सूत्रs It is wrong to maintain that at the time of interpretation of 'नाज्झलौ+तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्' (I-1-9, 10), we cannot take help from the सूत्र 'अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः' (I-1-69), its meaning being still unknown to us according to वाक्यापरिसमाप्तिन्याय[2] When we interpret the प्रत्याहार 'अच्' in 'नाज्झलौ', we should do so as we interpret other प्रत्याहारs, in the अष्टाध्यायी. If other प्रत्याहारs in various parts of the अष्टाध्यायी stand for the letters (contained in them) as well as for their varieties, why should we make an exception about the सूत्र 'नाज्झलौ'

---

1 मण्डूकानुवृत्ति means that words can be brought (अनुवृत्त) even from those सूत्रs which are not immediately preceding,—the words leap like frogs The recourse to this solution (मण्डूकानुवृत्ति) is taken in very exceptional cases

2 Here I am reminded of a funny story about an impatient student, who is said to have pointed a gender-mistake on hearing *only the first two* words 'कश्चित्कान्ता' from the first line of the first stanza of मेघदूत, without waiting to hear the full line 'कश्चित्कान्ताविरहगुरुणा स्वाधिकारप्रमत्त (कथं कश्चित्कान्तेति ? काचित्कान्तेति भाव्यम्) !!!

only ? The प्रत्याहार 'अच्' in the सूत्र 'नाज्झलौ' means the same thing as 'अच् प्रत्याहार', as well as other प्रत्याहारs mean in other सूत्रs of the अष्टाध्यायी To accept वाक्यापरिसमाप्तिन्याय and to carry it to its logical conclusion will mean that we cannot interpret the प्रत्याहार 'ऐच्' in the very first सूत्र of अष्टाध्यायी 'वृद्धिरादैच्' (I-1-1); for the प्रत्याहारबोधकसूत्र 'आदिरन्त्येन सहेता' (I-1-71) is still to come[1] To interpret the सूत्रs of पाणिनि in this way will defeat the very essential purpose of the अष्टाध्यायी—a coherent, interconnected and self-complete work.

Secondly, the solution proposed by भट्टोजीदीक्षित will *not* solve all the difficulties By insertion of दीर्घ 'आ' in the सूत्र 'नाज्झलौ' and मण्डूकानुवृत्ति of the word 'अचि' in the सूत्र 'अक सवर्णे दीर्घ' all the difficulties are not overcome. One may ask 'what about the homogeneity of the प्लुत (आ३) and ह् ?' Are they homogenous ? If so, we should substitute ष् for स् in 'हे पिपा३सो' by the सूत्र 'आदेशप्रत्यययो' (VIII-iii-59).[2] Supposing that भट्टोजी-दीक्षित inserts a प्लुत (आ३) also in the सूत्र 'नाज्झलौ' (न+आ+आ३+अच् +हलौ), there still remains another difficulty. What about the homogeneity of दीर्घ ई+श् ? भट्टोजीदीक्षित may manage to stop दीर्घादेश (by the सूत्र 'अक सवर्णे दीर्घ.') in कुमारी शेते by having recourse to the exceptional solution, मण्डूकानुवृत्ति, which should not be ordinarily resorted to; but what about the question itself 'Are they homogenous ?' Also what about the homogeneity of ऋ+ष् ? One may say "Let them be homogenous; there is no difficulty as regards the grammatical formation of words." But that is only avoiding the issue. The very fact that ई+श् and ऋ+ष् are homogenous (सवर्ण) should be an abhorrent idea for Pāṇini's scientific mind.

(5)

It should be said in fairness to भट्टोजीदीक्षित that he is not the first commentator to misconstrue the meaning of the सूत्र 'नाज्झलौ' and thus

---

1. I may mention here that much hair—splittings on the सूत्र 'हलन्त्यम्' (I-iii-3)-the अन्योन्याश्रयदोष + सूत्रावृत्तिकल्पना-all arise from this erroneous standpoint, which I hope to show on some other occasion.

2. 'इण कुभ्यां परस्य, अपदान्तस्यादेशः प्रत्ययावयवश्च, यः सकारस्तस्य मूर्धन्यादेशः (षकारादेशः) स्यात्।—सि. कौ. वृत्ति.

expose himself to the objections referred to above जयादित्य in काशिकावृत्ति on the सूत्र 'नाज्झलौ' (I-1-10) does not raise the difficulty of ढकारादेश in the word विश्वपाभि: and consequently does not interpret the सूत्र 'नाज्झलौ', as भट्टोजीदीक्षित does, but in his वृत्ति on (VI-1-101)[1] he explicitly maintains that the सूत्र 'नाज्झलौ' does not prohibit the homogeneity of दीर्घ ई+श्. Therefore he takes help of मण्डूकानुवृत्ति of the word अचि from the सूत्र 'इकोयणचि' in the सूत्र 'अक सवर्णे दीर्घ'

Let us now come to anotner commentator, रामचन्द्र, who for the first time, makes an exhaustive attempt to classify and rearrange the सूत्रs of पाणिनि so as to suit a systematic and methodical treatment of the different subjects of grammar dealt with therein. In fact, his work 'प्रक्रियाकौमुदी' served as a model for 'सिद्धान्तकौमुदी' as regards the plan of the work and the order of the सूत्रs— so much so that भट्टोजीदीक्षित has incorporated, without acknowledgment, the very words of वृत्ति (सूत्रार्थ) of 'प्रक्रियाकौमुदी'. But, despite all originality displayed in giving a new shape to the commentary on the पाणिनिसूत्रs, रामचन्द्र in his प्रक्रियाकौमुदी[2] could not help following काशिकाकार as regards the interpretation of the सूत्र 'नाज्झलौ' and the necessity of the word अचि in the सूत्र 'अक सवर्णे दीर्घ.'.

In the previous sections, we have set forth and examined in detail the views of भट्टोजीदीक्षित, not because he is the earliest propounder of the solution offered, but because of his attempt to tackle the problem in a comprehensive manner Besides, so far as we know, he is the earliest commentator to insert दीर्घ 'आ' in the सूत्र 'नाज्झलौ' In great contrast to the overdone quibbling and yet unsuccessful attempt of these commentators, we find in वरदराज, the author of लघुकौमुदी, a simple and clear-cut solution, to which we now turn in the following sections

---

1. अक सवर्णे दीर्घ.। ..अचीत्येव। कुमारी शेते। नाज्झलावित्यत्र यत् 'अच्' इति प्रत्याहारग्रहण तत्र ग्रहणकशास्त्रस्यानभिनिर्वृत्तत्वात्सवर्णा न गृह्यन्ते इति सवर्णत्व ईकार-शकारयोरप्रतिषिद्धम्। काशिकावृत्ति.

2. He says · न निषिद्धं सवर्णत्व नाज्झलाविति दीर्घशो।
ग्रहोदितनिषिद्धत्वादन्यत्र न निषिद्धता ॥

(Page 68 of प्रक्रियकौमुदी, Bombay Sanskrit and Prakrit Series Edition).

वरदराजभट्ट, by following another line of पतञ्जलि's argument (सिद्धान्तभाष्य) cuts at the very root of the problem of the homogeneity of अच् and हल् letters Like a modern Philologist, he finds a fundamental difference in the pronunciation of अच् and शल् (श् ष् स् ह्) so far as the internal effort is concerned In pronouncing अच् letters (vowels), our vocal passage is opened (विवृत), but in case of the pronunciation of letters (श् ष् स् ह्) the vocal passage is only half-opened (ईषद् विवृत) So the letters contained in अच् on one hand and श् ष् स् ह् on the other, have not *the same* internal effort (आभ्यन्तरप्रयत्न) Therefore, they are not homogenous [vide the meaning of the सूत्र 'तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम् (I-i-9) given in the 2nd section] Consequently, no question arises about the homogeneity of vowels (अच्) and शल् (श् ष् स् ह्)

This line of argument as propounded by पतञ्जलि in his महाभाष्य on the सूत्र (I-1-10) and accepted by वरदराज, for the first time, as the solution of the problem, enables the latter to do away with the सूत्र 'नाज्झलौ' (I-1-10) in his work, लघुकौमुदी.[1] Thus वरदराजभट्ट comes out triumphant as the upholder of the famous dictum 'अर्धमात्रालाघवेन पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणाः'

Thus, to conclude, it is clear that there are *only two* ways for maintaining that the letters indicated by अच् (*including all their varieties*, दीर्घ, प्लुत, etc) on one hand, and श् ष् स् ह् on the other, are not homogenous :—

(1) Acceptance of the natural interpretation of the सूत्र 'नाज्झलौ' and discarding the doctrine of वाक्यापरिसमाप्तिन्याय

(Strange to say, no commentator of पाणिनिसूत्रs seems to have followed this natural and logical way of interpreting the Pāṇini's सूत्र, as suggested in the above solution. May we say that पाणिनि also, like many other सूत्रकारs has suffered at the hands of his commentators ?).

---

1. In लघुकौमुदी, we find :—

यत्नो द्विधा। आभ्यन्तरो बाह्यश्च। तत्र आद्यः पञ्चधा। 'स्पृष्ट' 'ईषत्-स्पृष्ट' 'विवृत' 'ईषद्-विवृत' 'संवृत' भेदात्।

(ii) Recognizing five (5) *internal efforts* (आभ्यन्तरप्रयत्नs) in place of four (4), as suggested in पतञ्जलि's महाभाष्य and accepted in लघुकौमुदी of वरदराजभट्ट

The position of भट्टोजीदीक्षित and other commentators is untenable and uncritical It neither does justice to पाणिनि, the सूत्रकार, nor bears testimony to their recognizing the fundamental difference in the pronunciation of letters.

[*Published in the Baroda Session of All India Oriental Conference Vol* (1933)]

21. ON THE ARRANGEMENT OF THE TADDHITA SŪTRAS IN THE AṢṬĀDHYĀYĪ

The method adopted by Pānini (=P) in arranging the Sūtras (=S.), prescribing TADDHITA (=T) suffixes, is in line with his genius seen in the composition of the AṢṬĀDHYĀYĪ In dealing with T. formations, he had to tackle a vast variety of words. On the one hand, a number of words required the same suffix in quite a good number of meanings, *e.g.*, the suffix अण् was prescribed for expressing a large number of meanings, including among others the following — तस्यापत्यम् (4-2-92), तस्य समूह (4-2-37); तदधीते तद्वेद (4-2-59), तदस्मिन्नस्तीति देशे तन्नाम्नि (4-2-67); तेन निर्वृत्तम् (4-3-68), तस्य निवास: (4-2-69); अदूरभवश्च (4-2-70); तत्र जात (4-3-29); तत्र भव: (4-3-53), तत आगत. (4-3-74); सोऽस्य निवास (4-3-89); तेनप्रोक्तम् (4-3-101); तस्येदम् (4-3-120); तस्य विकार (4-3-134) and many others. On the other hand, different suffixes were to be prescribed for expressing the same suffix-meaning, *e.g.* the following are the suffixes prescribed for expressing the meaning of possession (मत्वर्थीय):—मतुप् (5-2-94); लच् (. .96), इलच् (. 99); श and न (. 100), ण (101), विनि (...102); अण् (. 103), उरच् (.106), र (107); म (104), व (.. 109); ईरच् and ईरन् (.101); वलच् (. 112), इनि and ठन् (115), ठञ् (.. 118), यप् (120), युस् (. 123), ग्मिनि (. 124), आलच् and आटच् (. .125), अच् (127), ब, ति, तु, त, य, स (.. 138), म (139); and युस् (140).

. Thus we see that P. had to arrange the S , prescribing Taddhita-suffixes in *such a way* as to bring together words, ending with the same suffix (though in different suffix-meanings), and *also* those words, which (though receiving different suffixes) have the same suffix-meaning. We have, therefore, in the arrangement of Taddhita S , a double principle of classification, based on the consideration of suffixes and meanings thereof.

In the first place, general S., laying down the same suffix (in different meanings), are grouped together, and then within that group each general S. is followed by special S., laying down in the same meaning a different suffix or suffixes in connection with specific stems, e g, under the अधिकार of अण् suffix, each of the general S. (See the list of S. above), prescribing the अण् suffix in different meanings, is followed in its turn by a number of special S. which prescribe a different suffix or suffixes in the same meaning in connection with specific stems. (See specially S. 4-1-95 to 4-1-161 following the general S. 4-1-92)

But this is not all There are other complexities to be dealt with. There are special S. prescribing for specific stems a suffix in a *number* of meanings But in *some* meanings these special S. should not operate, e g, the stem नदी receives (4-2-97) the suffix ढक् in a number of meanings, such as तत्र जात (4-3-25); तत आगत (. 74), प्रभवति (. 83), सोऽस्य निवास (89), तस्येदम् (120); but *not* in such meanings as साऽस्य देवता (4-2-24); तस्य समूह (37), तदस्मिन्नस्तीति देशे तन्नाम्नि (67); अदूरभवश्च (70). To solve this difficulty, P has arranged these special S. in such a manner that they operate only in certain (desirable) suffix-meanings, and not in other (undesirable) suffix-meanings With a view to bring out clearly the method and rationale in the arrangement of TADDHITA S. we propose to give below an analysis of those S. and discuss the problem arising therefrom in the end.

A. अण suffix; 4-1-83 to 4-3-end.
B. ठक् suffix; 4-4-1 to 4-4-74.
C. यत् suffix, 4-4-75 to 4-4-end.
D. छ suffix; 5-1-I to 5-1-36.
E. ठञ् suffix; 5-1-18 to 5-1-114.
[ठक् suffix; 5-1-19 to 5-1-63.]
F. Miscellaneous groups. (For details see the end).

The S. under the अधिकार or अण् suffix may be further grouped under four heads :

1. The S. 4-1-84 to 4-1-87.
2. The S. 4-1-92 to 4-2 91.

3. The S. 4-2-92 to 4-3-24.

4 The S. 4-3-25 to 4-3-end.

The S under the sub-heads 1 and 3. prescribe special suffixes for specific stems in meanings mentioned in S (4-1-92 to 4-3-end) and (4-3-25 to 4-3-133) respectively. But the sub-heads 2 and 4 include general S, which prescribe the general suffix अण् in a good number of suffix-meanings and are followed by special S (prescribing special suffixes for specific stems), where necessary. A question may arise as to why the S under 1 and 3 are not grouped together. In answering this question we get an idea of P.'s genius A close study of these S. will reveal that P. had a special purpose in dividing them in two groups The scope of the S is not the same. The S (4-1-84 to 87) are to be distinguished from the S. (4-2-92 to 4-3-24) The former are applied in a wider range of suffix-meanings, i e, all the meanings mentioned in the S. from 4-1-92 to the end of the third quarter of the fourth chapter, while the latter are applicable in the suffix-meanings, other than those given in the S (4-1-92 to 4-2-91) Thus *e.g*, the S. (4-1-84), under the head 1 is applied in the suffix-meanings mentioned in the general S (4-2-68) *as well as* in the suffix-meaning mentioned in the general S. (4-3-116). But the S (4-2-94) under the sub-head 3, will *not* be applied in the suffix-meaning mentioned in the general S. (4-2-37). In short, the S. under 1. are applied in the suffix-meanings of the S under 2. and 4. *both* · but the S. under 3. are applied in the suffix-meanings of the S. under 4 *only*.

Similarly, there is a special significance in the location of the S. प्राक्क्रीताच्छः (5-1-1). It may be argued that this S should have been placed immediately before 5-1-4 (तस्मै हितम्), as other (अधिकार) sūtras are. Cf. the S 4-4-75 (प्राग्घिताद्यत्) placed immediately before the S. 4-4-76 (तद्वहति रथ...) the end of the अधिकार of the ठक् suffix. But this reasoning would not stand scrutiny. P. had a special purpose in allowing the S. (5-1-2 to 5-1-4) to intervene between 5-1-1 and 5-1-5. If the S. 5-1-2-4 were placed before 5-1-1 or at the end of the fourth chapter, we would not have obtained the optional suffix छ i addition to यत् in 5-1-4. One may ask how we know the suffix-meaning in 5-1-2/4, for the accepted meaning is mentioned in the following S. and no meaning

is mentioned in these sūtras. The reply to this querry is that the S. 5-1-1 is an अर्थाधिकार सूत्र and supplies to the S in sequel the suffix-meanings, *i.e.*, it lays down that the S 5-1-2/37 will prescribe the suffix छ (if no suffix is specially mentioned) in the suffix-meanings mentioned in 5-1-2/37. The suggestion that the S. 5-1-2/4 should have been placed after 5-1-5 to solve the above difficulty is not acceptable, for then these S would be applicable in the meaning of 5-1-5 only, and *not* in all meanings mentioned in 5-1-2/37. Consequently we would not have obtained the form शङ्कव्य दारु by 5-1-2 in the suffix-meaning of the S 5-1-12

In the same way, there is a special purpose in the location of the S 5-1-37 (तेन क्रीतम्). Apparently it seems that this S should have been placed before the S 5-1-18, for in fact the अधिकार of the suffix छ goes upto 5-1-18 and not upto 5-1-37. Cf the remark in the *Tattvabodhinī* commentary on 5-1-17 Besides in its present place this S serves no purpose, because all the S. prescribing for specific stems specific suffixes in the sense of तेन क्रीतम् are placed before and not after 5-1-37. But all this is only a conjecture If this suggestion were accepted, the S. 5-1-20/36 would be applicable in the meaning of तेन क्रीतम् only In the present order of these S, the S 5-1-20/36 prescribe specific suffixes in meanings mentioned in 5-1-37/63, and the meaning तेन क्रीतम् is included therein. Thus here again the specific suffixes for specific stems are shown earlier and their meanings later Cf. the S. placed in groups 1 and 3 under the अधिकार of the suffix अण्.

From 5-2-1 begins the miscellaneous group of S., having no general suffix as a rule. In different suffix-meanings, suffixes are laid down for specific stems or stems of indicated type. The S. in the later three quarters of the fifth chapter are comprised under this group, which marks the end of the TADDHITA suffixes But even here P has a plan in arranging the S. and has not put them haphazardly. The following is an analysis of these S.

A.	Miscellaneous suffixes (1)	5-2-1 to 5-2-end.
B.	विभक्तिसंज्ञक suffixes	5-3-1 to 5-3-26.
C.	Suffixes added to दिक्शब्द stems	5-3-27 to 5-3-41.
D.	Suffixes added to संख्या and other stems	5-3-42 to 5-3-69.

E	Suffixes under the अधिकार of क	5-3-70 to 5-3-95.
F	Suffixes meaning similarity (इवार्थे)	5-3-96 to 5-3-110.
G	तद्राज suffixes	5-3-112 to 5-3-end.
H	Miscellaneous suffixes (2)	5-4-1 to 5-4-end.

We shall close this cursory treatment of the TADDHITA suffixes by pointing out the reason for grouping Miscellaneous suffixes under two heads, A and H The S under the head A. are governed by the leading S 4-1-82, the operation of which extends to the end of the second quarter of the fifth chapter. The application of the S. 4-1-82 is necessary in case of the S under the head A, for otherwise it will remain undetermined whether the suffixes are to be added to the first or the other word of the analytic-statement (विग्रह वाक्य), of the complex-formation (तद्धितवृत्ति) desired to be formed. In the case of the S. under the head H. this question does not arise, as there is only one word in their analytic statement Cf The remark of Nāgeśha on the S. 4-1-82.

'स्वार्थिकेऽव्वनेक समर्थाऽसमवात् 'प्राग्दिश' इत्युत्तर न 'समर्थःपदविधि·' इत्यस्य सबन्ध इति बोद्ध्यम्।'

The operation of the leading S (4-1-82) is therefore not seen in the case of the S. after 5-2-end . Hence the two miscellaneous groups are separated by P. by inserting the third quarter between them. As each of these two miscellaneous groups occupy exactly one quarter of the AṢṬĀDHYĀYĪ, we have a fine symmetry of the miscellaneous suffixes grouped in the beginning and the end of the Miscellaneous group, mentioned earlier in our analysis of T. Sūtras.

[*Published in Bhāratakaumudī—Radha Kumnd Mukerjee Commemoration Vol, Lucknow,* (1945) *Pt-I. Pages,* 209-14]

22. ON THE TECHNIQUE OF ANTICIPATION OF A PĀṆINIAN SŪTRA-A NEW POINT SUGGESTED.

It has been humourously said that a Pāninian Sūtra is an irresestible enemy. Its claim for being applied in a grammatical form when it fulfills its necessary conditions, cannot be ignored The only circumstances in which the application of a Pāninian Sūtra can be avoided are 1· the presence of stronger Sūtra (that is an exceptional rule, अपवादसूत्र) or a negation Sūtra (निषेध सूत्र) or an optional Sūtra (विकल्प सूत्र) It is worthnoting that even in the case of an optional Sūtra, when the option of non-applying is permissible, the application of a Sūtra is preferrable to its non-application (अप्रवृत्ते अपेक्षया प्रवृत्ति समीचीनतरा), it is better to follow a rule than to take advantage of its allowed permissive option It is not necessary that the application of a Sūtra must cause some change in the particular grammatical forms Even if no change is likely to be brought-about the application of a Sūtra must take place. Patañjali says the sūtras are rain clouds (पर्जन्यवत् लक्षणप्रवृत्तिः) which rain over a dry plane as well as over a lake full of water. So the Sūtras of Pāṇini must be applied even if they are of no practical consequence.

Such being the situation, it is really, very intriguing to see that there are occasions when a sūtra, though applicable in the present condition, is not applied, because the essentional condition (in which the sūtra is applied) are likely to disappear afterwards. Thus in (सेदुषः) the objective plural from the base (सेदिवस्) equate to (सद्+क्वसु) the augment इट् (by the Sūtra (आर्धधातुकस्येड्वलादेः) does not take place for its condition (निमित्त) *i.e.,* वलादित्व is to disappear afterwards by the Sūtra (वसोः सम्प्रसारणम्). Thus we see that in anticipation of the disappearance

of its निमित्त condition a sūtra is not insisted to be applied by the followers of Pāṇini (अकृतव्यूहा पाणिनीया —निमित्त बिना सोन्मुख दृष्ट्वा तन्निमित्त कार्यं न कुर्वन्ति or as the popular saying is प्रक्षालनात् हि पङ्कस्य दूरात् अस्पर्शनम् वरम् ।)

But the matter does not end there Sometimes, this kind of anticipation does not always come in the way of a sūtra, *e*, *g*, in सौत्थिति the दीर्घ sandhi between सु and उत्थित does take place, though its निमित्त, (सवर्ण अच्त्व) is to disappear later on, when we have वृद्धि of उकार in उत्थित after affixing the तद्धित इञ् प्रत्यय. What is the reason for the difference in सेदुष and सौत्थिति ? Why in सेदुष, the इट् आगम was not allowed in view of the anticipated disappearnce of its निमित्त, when in सौत्थिति, सवर्णदीर्घ in सु+उत्थित was allowed, though its निमित्त (*i e.*, उकार, सवर्ण अच्) disappeared later on ? Probing deeper into the matter, we find that सेदुष is a primary (कृदन्त) formation (past participle from the root √सद्, with the case-ending of the objective case plural, and सौत्थिति is a secondary (तद्धितान्त) formation (सूत्थितस्यापत्यम् सूत्थित+इञ् and सूत्थित is (सु+उद्+स्था+त). The form सेदिवस्, being a base, cannot be used independently, it must have a case-ending added to it for being a finished (परिनिष्ठत) form. *cf.* the rule न केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्या, नापि केवलः प्रत्ययः or अपदं न प्रयुञ्जीत. But in सौत्थिति, the primary base सूत्थित is a finished form with a case-ending. The secondary तद्धित affix (इञ्) is not indispensable for making it finished or complete. In सेदुषः, the anticipation of the case-ending (अस्—objective case-plural or in fact, any other case-ending cannot be avoided, for a case ending *must* be added for making it a finished form—पद In case of सौत्थिति, the base सूत्थित with a case-ending becomes a complete form-पद, it is not necessary that इञ् or a alike तद्धित प्रत्यय must be added to complete the form. So the, anticipation-rule (अकृतव्यूहा पाणिनीया.) is restricted to the minimum addition of a case-ending—which is unavoidable for a primary formation.

In our opinion it is this restricted sphere that the law of anticipation works. Traditional interpreters do not seem to have noticed this essential feature of the Paribhāṣā *quoted* above, for otherwise they would not have taken this Paribhāṣā to be अनित्य, because it did not hold good according to

them in the case of सौत्थिति We may take notice of the two other *alleged* exceptions to the Parıbhāsā, on account of which ıt ıs taken to be अनित्य The first exception ıs पट्व्या (the ınstrumental singular of the feminine base of the word पटु). Hence the यणादेश takes place ın place of उकार ın पटु, though ıts निमित्त (the followıng ईकार of the feminıne base) ıs to disappear (or changed to यकार) later on, before आ the instrumental case sıngular number affix. Here again ıf we look closely into the matter, we wıll find that the case-ending आ, to be anticipated, is not added to a prımary formation The prımary formatıon is पटु and *not* पट्वी (a secondary formatıon) The designation of तद्धिता the includes स्त्रीप्रत्यय sūtras in तद्धिताधिकार. The other alleged exceptıon ıs आन (objective case plural number from the base of आन्, a primary formation In आन, the lengthenıng of अ ın root √अन् *does take* place, though its निमित्त (*ı e* , क्विप् प्रत्यय) ıs to dısappear later on But here agaın the above parıbhāsā ıs not applicable. Hence there is no reason for supposing the same to be अनित्य As stated above, a sūtra though applıcable at present, is not applied in anticıpation of the future disappearance of ıts निमित्त ın formıng a declensional form of a primary formatıon, if the disappearance of the निमित्त ıs caused by the case-ending. In the case of आन, the dısappearance of क्विप् (the निमित्त of दीर्घविधि) is not caused by the case-endıng, while in the case of सेदुष the निमित्त of इडागम (*ı e* , वलादित्व) dısappears on account of the case-endıng (शस्) by the sūtra (वसो सम्प्रसारणम्) Hence the dıfference.

If we understand the above sıgnificance of the परिभाषा, we need not assume it to be अनित्य, as is done by कैयट, भट्टोजीदीक्षित and नागेशभट्ट to explain the difference in the treatment of the cases of सेदुष and आन. कैयट takes recourse to the rule निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपाय . Instead of not applying a sūtra in anticipation of the disappearance of its निमित्त, he allows the sūtra to be applıed, but then, he makes the effect (कार्य, *i. e* , नैमित्तिक) disappear later on when its cause (निमित्त) disappears. भट्टोजीदीक्षित thinks it better not to apply the sūtrā at all, if there is possibilıty of ıts निमित्त disappearing later on cf. the sayıng 'प्रक्षालनाद्धि पकस्य दूरादस्पर्शन वरम्' (ıt ıs wıser to avoid touching the mud than to touch and then wash it). नागेश भट्ट's explanation

is more rational In पद सस्कार पक्ष, he thinks, the sūtras are applied in a complete word (पद) as *one* unit and in वाक्य सस्कार पक्ष, the sentence as a whole is treated as *one* unit In the former पक्ष, राम गच्छति is correct, but in the latter, the form *must* be रामोगच्छति, for the विसर्ग in राम can remain only when राम and गच्छति are formed independently; but when the sentence (राम + गच्छति) is taken into account, the विसर्ग in राम, must give place to रामो.

In the reason suggested by us above, the निमित्त *i e*, वलादित्व of इडागम in सेदुष is to disappear on account of case-ending (शस्), but in आन, the निमित्त of दीर्घविधि is क्विप् प्रत्यय (primary suffix) and *not* the case-ending (शस्) In the case of पट्व्या the form पटु is the original base, from which the feminine form पट्वी (a secondary formation) is made. Now from पट्वी, the secondary formation base, the form पट्व्या is made So this is different from the case सेदुष or सेदुषी, in the former the case-ending (शस्) is added to primary form (सेदिवस्), and in the latter the secondary formation itself is the base and is being formed. There is no case of adding case-ending to the base of secondary formation. In view of these subtle distinctions, the real scope of the परिभाषा is नित्य and should not admit of an exception. The view of नागेश favouring लक्ष्यानुरोधाद् व्यवस्था (*i. e.*, पदसस्कार पक्ष or वाक्यसस्कार पक्ष as the case may be), is no explanation, but an expediency We must find a rationale in the reason and search for fundamental distinctions, as पतञ्जलि says "व्याख्यानतो विशेष प्रतिपत्तिर्नहि सन्देहादलक्षणम्"।

[*Submitted to the Bombay Session of All India Oriental Conference.*]

23. A PRACTICAL APPROACH TO THE OBSERVANCE OF THE SANDHI-RULES IN SANSKRIT GRAMMAR

The observance of Sandhi-rules between two words in the body of a sentence is a natural phenomenon, as seen in the practical usages of a language But the grammarians of languages other than Sanskrit have not paid much attention to this subject The great grammarian of Sanskrit, Pāṇini, has given a number of rules about the Sandhi or its absence between two consecutive letters, coming in an uninterrupted succession (technically called '*Samhitā*'), *i e* ., the final letter of a preceding word and initial letter of a following word. These Sandhi-rules are given under five different headings in the Siddhānta-kaumudī, (1) Vowel-sandhi, (2) Hiatus, *i e*, Prakrti-bhāva, (3) Consonant-sandhi, (4) Insertion of a letter, *i. e.*. Āgama, (5) Visarga-sandhi.

In the present paper, we are concerned with the practical aspect of the observance of these Sandhi-rules, as applied in the modern printed Sanskrit texts. As the popularisation of Sanskrit in the present days, as a result of the advent of Swarājya and the consequent emphasis on the revival of Sanskrit language, will more or less depend on a final solution of the difficulties involved in observing the Sandhi-rules, we propose to discuss the subject here from a purely practical standpoint For a beginner the strict observance of these Sandhi-rules is a great obstacle. As the same word undergoes different changes in different settings, he is very much puzzled in the beginning, *e, g*, the nominative case singular form of राम and कवि assume the following forms in different settings, रामः करोति ,रामो गदति, रामष्टीकते, रामस्तनोति and कवि. करोति, कविर्गदति, कविश्चरति. (See also रामा गच्छन्ति and कवयो गच्छन्ति.)

The Sandhi-rules in Sanskrit grammar can be divided under two classes, OBLIGATORY (*i, e*, it must be applied) and OPTIONAL (*i, e*,

it may *or* may not be applied) The Sandhi enjoined by the latter need cause no difficulty, as their observance is not compulsory, though according to orthodox tradition, between observance and non-observance (both equally allowed) the former is conducive to more merit Among the obligatory rules, there are many which effect the internal formation of a word In these cases, there should be no hitch, as there is no escape from the operation of these rules It would not be correct and advisable to ignore the natural Sandhi of letters in the body of a word. We may however consider the advisability of making an exception in the case of Parasavarna-rules which enjoin the substitution of an Anusvāra by a fifth letter of one of the five Vargas, corresponding to the following letters. It is better to relax the Parasavarṇa-rule, and we need not insist on having a parasavarna inside the body of a word, *e, g,* we should not mind writing शंका for शङ्का, वंचक for वञ्चक, तुंड for तुण्ड, शांत for शान्त and लंमन for लम्मन So, on the whole, the Pada-sandhi rules, enjoining Sandhi inside a word, need not be ignored and must be applied. Here we may note that the word *Pada* should be understood in its technical and comprehensive sense *i, e,* a Compound (though consisting of more than one word in its ordinary sense) in also a WORD, and therefore the words, constituting it must be joined according to Pada-sandhi rules, *e, g,* we must use मद्ध्वरिः and व्यारकण and not मधुअरिः and विआकरण. The difficulty arises when we think of Sandhi between two words in a sentence (*i, e,* in a Vākya-sandhi). It is in Vākya-sandhi that we find the variety of forms given above with रामः and कविः. In speech as distinguished from writing, the difficulty is still more irksome, for in speaking we have to anticipate[1] the following word, before we actually use the preceding word, *e, g,* it would be, strictly speaking, wrong to say रामः गदति on the analogy of रामः करोति *or* to say रामो करोति on the analogy of रामोगदति. We find therefore that at the time of speaking, learned Pandits use words in a sentence separately, *i, e,* they do not work

1. See My paper "On the Law of anticipation in the application of Pāninian sūtras" in the Bombay session of the All India Oriental Conference).

about the rules of Vākya-sandhi. It is therefore but proper that in printed texts *also*, each word should be taken as an independent unit, no Vākya-sandhi rules are applied. We should *always* write रामः, whether it is used before करोति or गदति That this innovation is not, strictly speaking, against grammatical rules is clear from the following verse

संहितैकपदे नित्या नित्या धातूपसर्गयोः।
नित्या समासे, वाक्ये तु सा विवक्षामपेक्षते॥

Its meaning is that SAMHITĀ (closeness of letters to warrant Sandhi) is obligatory in the body of a word, in the combination of a root with its preposition and in a compound-word, but it is optional in the case of a sentence

Here we may refer to a very frequent mistake found in the Sanskrit texts printed in Bombay and its neighbourhood The printers have no scruples in using Anusvāra in place of a final M (म्), *even* when a word, with an initial vowel, follows it, or it marks the end of a sentence, *e, g,* रामं अनुकरोति instead of राममनुकरोति *or* रामं in the end of a sentence. The Pāṇini sūtra (मोऽनुस्वारः, VIII-iii-23) enjoins Anusvāra before a consonant only In other settings, *i, e,* when the Anusvāra is followed by a vowel or marks the end of a sentence, it must be retained, *i,e,* it should not be changed to Anusvāra

To sum up, for rendering Sanskrit easy to the beginners and facilitating printing, it is necessary that (1) In a sentence, each word should be treated as a separate unit and Sandhi between words in a sentence (Vākya-sandhi) should not be observed. (2) The practice of having different Parasavarnas (ङ्, ञ्, ण्, न् and म्) before different Vargīya consonants should be dropped; OR to have uniformity, we may have only म् and NOT an Anusvāra at the end of a word We should use Anusvāra in the body of a word, irrespective of the fact whether the following consonant is of this or that variety among the five Vargas. (3) The Anusvāra should be used before a consonant-beginning word only. Elsewhere the letter म् (without a vowel) should be used *or* to have uniformity, we should use म् and NOT an Anusvāra at the end of a word

It may be noted that the above suggestions are intended for prose

passages only In verses, the tradition of compulsory observance of Sandhi in a sentence (Vākya-sandhi) must be followed. In prose, the observance or non-observance of Sandhi is, from practical point of view, immaterial. But in verses, of varna-vritta type, wherein each syllable has a fixed quantity (ह्रस्व or दीर्घ), the observance of Sandhi cannot be made optional without disturbing the metre We cannot substitute, without disturbing the metre, the following 'तस्य अतिथीनाम् अधुना सपर्या स्थिता मनुष्येषु इव पादपेषु' in place of तस्यातिथीनामधुना सपर्या स्थिता मनुष्येष्विव पादपेषु ।

For a scholastic treatment of the problem of Pada-sandhi and Vākya-sandhi in light of the various interpretations by Kaiyaṭa and Nāgesha Bhaṭṭa of the Paribhāshā अकृतव्यूहाः पाणिनियाः (No. 56 in the Paribhāṣh-endushekhara of Nāgesha Bhaṭṭa), my paper 'on the Technique of ANTICIPATION in the application of the Pāṇinian sūtras' may be referred to. (See the reference given above). After a discussion of the import of the above Paribhāshā, it has been suggested there that the Paribhāshā has its usefulness, though limited, and that Nāgesha Bhaṭṭa is not justified in totally rejecting it. It may be possible to do away with the Paribhāshā by taking recourse to the PADASAṀSKĀRA-PAKṢHA (according to which a word is formed in entirety, *i, e,* the complete word declensional form and NOT merely the base form) is kept in view at the time formation. But to avoid the pitfalls of Vākya-sandhi in a verse, the usefulness of the Paribhāṣhā is unchallenged. One may argue that the recourse to the VĀKYASAMSKĀRA-PAKṢHA will obviate the necessity of this Paribhāshā in the Vākya-sandhi of the verses. But the fact remains that it is the *need* for having a desirable formation (लक्ष्यानुरोध) that we take recourse to ONE of the three Pakṣhas, (1) अङ्गसंस्कारपक्ष (2) पदसंस्कारपक्ष and (3) वाक्यसंस्कार पक्ष. We cannot afford to lose sight of the reality of the situation and the pressing need of the times.

24. PRINCIPLES OF PREFERENCE IN APPLYING PĀṆINI'S SŪTRAS

The main purpose of this paper is to study the various devices of Pāṇini (P) and his followers for ascertaining the relative strength of any two (simultaneously applicable) sūtras and thus deciding which of the two sūtras should be applied. (1) The first device is the general commonsense rule (उत्सर्गापवादन्याय) on the basis of which the AST. (ASTĀDHYĀYĪ) is, according to Patañjali, composed by P (2) An exception to this is found in case of formations under the Sūtra (III–i–94, वाऽसरूपोऽस्त्रियाम्) (3) In cases not coming under (a), P postulates the rule (I–iv–2, विप्रतिषेधे पर कार्यम्) that between two sūtras, which are of exclusive sphere, but are applicable simultaneously in a certain case, the later sūtra should be applied in preference to the earlier sūtra (4) In case the above devices are not helpful, P has hit upon a new plan. He arranges his sātras in two blocks in such a way that the sūtra under the first block are regarded as stronger than those of the second block (VIII–ii–I, पूर्वत्रासिद्धम्) and that in the second block (namely त्रिपादी) the sūtras are so arranged that in each case the *earlier* sūtra is regarded as stronger (i, e, more preferable) than the *later*. The result is that the last sūtra is the weakest of all and thereby P. has solved the complex question of the homogeneity of the closed '*A*' with open '*Ā*' This device of arranging AST sūtras into two blocks is a master-device of P. The whole structure of the AST. moves round this axle-sūtra. A detailed study of the application of this sūtra, as made by H. E. Buiskool, has brought out clearly the great genius of P. (5) Important exceptions to the above are covered by VIII–ii–2 and VIII–ii–3. (6) Still other points not covered by the above five devices are provided for by the Sūtras VI–i–85 and VI–iv–22).

The commentators of P. in course of the working of the above plan

and devices, have brought forth other considerations (such as शास्त्रासिद्धत्व and कार्यासिद्धत्व) to bear on the problem. They have postulated a number of *new rules*. These new rules have been discussed in the works dealing with Paribhāṣās (canons of interpretation). Many of these new rules are traced to Patañjali's Mahābhāṣya and have been shown by commentators to be *either* expressly mentioned *or* implicitely indicated.

A critical study of the significance and limitations of these devices, will enable us to appreciate the great acumen and intellectual greatness of Pāṇini and his followers.

25. NON-GRAMMATICAL MATTER IN THE MAHĀBHĀṢYA

The MAHĀBHĀSYA of Patañjali has been rightly acclaimed as a "mine of information" Though essentially a work on Grammar, it contains incidentally a good deal of matter of non-grammatical importance From a study of its examples of Pānini's rules and also of explanatory remarks given profusely in the course of its treatment, much valuable information can be obtained about the then India Scholars have brought to light some important events in the political history of the country Items of literary interest have been culled from the work, and they throw considerable light on the contemporary literary activities. But no attempt has so far been made to ransack comprehensively this extensive work to glean items of valuable information about various *other* aspects of Life and Literature The Mahābhāsya abounds in such illustrations and explanatory remarks, which when collected and classified will be of great interest to the students of Indology.

In this paper an attempt has been made in this direction. Illustrations and explanatory statements have been classified according to their appropriateness for various branches of learning, such as historical, legendary, literary, social, astronomical, ethical, political etc. In the end a few typical examples have been selected to illustrate the great importance of this great grammatical work *even* from a non-grammatical point of view

[*Summary of a paper, submitted to Darbhanga session of All India Oriental Conference held in* 1948].

26. MATERIALISM IN ANCIENT INDIA

"Let us eat, drink and be merry for to-morrow we die"

Some people have a notion that Indians never knew of Materialism, and that all their energy was spent on spiritualism. It will be seen from what will follow that along with the other systems of philosophy Materialism did flourish in ancient India.

I.—History of the System

There were several materialistic schools in ancient India But my endeavour here is to bring forward in summary form the chief doctrines of the school of the Chārvākas, which has been called "the crestgem of the Atheistical Schools."

The Chārvākas held no minor place among the various schools of philosophy in ancient India. It is true that it has at present practically no adherence, but as it stands, it should offer a good deal of amusement to any who may desire to know of materialism in ancient times.

(*a*) *Founder*—As for the founder of the system, nobody has been successful to determine who he was, but tradition says that the expositor of the system was Brhaspati. That such statements as are made in the existent stray lines, should have come from the Preceptor of the gods, is rather surprising; for the system savours of a good deal of infidelity This has led some people to believe that the attribution of these un-orthodox views to Brhaspati was in derision. Some even go so far as to say that he was a mythical personage; but that it is not the case is evident from the Sūtras extant in quotation under his name. And in the absence of any other suggestion, it is safer to follow the tradition and regard the system as that of Brhaspati.[1]

---

1. It is stated that Bṛhaspati founded this system for the destruction of the Rāks'asas by making them follow the wrong path.

(*b*) *Works*—Like the other systems—Nyāya, Yoga, Mīmānsā, Sānkhya etc, it has no book of collected aphorisms. Whaterver is known to us, is gathered from references made in various other systems All literature of this system has evidently been lost, except what has reached us in fragments The numerous quotations from the system, give quite a good account of themselves, and when collected, throw much light on the tenets of the system These quotations being in the form of aphorisms, it appears that Brhaspati had compiled a work on similar lines as that of Gautama and Kanāda (founders of the Nyāya and the Vaiśesika systems respectively)

(*c*) *Date*—As for the date, nothing can be said definitely on this point The date of the fourder himself being unknown, no date can be ascribed to the system All that we know is that it had its existence in ancient times, and that in respect of date, it can be placed side by side with the other ancient schools of thought "There are evidences in the Pāli literature as to the existence, during the age of Buddhism or even earlier, of a class of persons, who did not believe in the Vedas nor even in the Dharma-Śāstras—the canonical works of the Buddhists and the Jainas It is to be noted here that in its earliest days the system was known under the head of the Lokāyatas (followers of the commonsense views). This name occurs even in the Upanisads [1]

II—Source of Knowledge or Right Cognition

According to the system perception is the only means of right cognition. So whatever is not perceived has no existence.[2] The followers

---

1. The name of the Chārvākas appears very late. (For a note on meaning of the word see below).

Gunaratna explains the meaning as "those who devour (do not believe in) sin, merit, future existence of things—that are beyond sense-perception." Some have explained it as a system whose tenets are pleasant, and give a literal meaning—the doctrine of the sweet-tongued." Both interpretations are alike uncertain.

2. *Cf.* Berkley,...."As to what is said of the absolute existence of

of this school do not accept Inference as a valid proof. They say that by simply gathering a few particular cases, we cannot generalise. No Induction is possible Perception may explain to us the relation between two individuals, but this is no proof that that relation will hold valid in all cases

So for a Chārvāka generalisation or any universal proposition is impossible, and a doubt will always come to him whenever he comes to a universal judgment

However he is not a fool as to be injured by these doubts, He takes recourse to Probabilism, and says that for our daily life and all practical purposes "probability alone is sufficient" So the certain conclusion to which the other schools arrive by Inference, is practically proved by the Probabilism of the Chārvākas. The sight of smoke at the mountain-top makes the presence of fire *probable* (not certain), and for our purpose this much knowledge is sufficient. Thus is the validity of Inference denied, and much more easily the validity of proofs by Analogy and Verbal Testimony

III.—Causality

In this respect the Chārvākas have been nick-named as Svabhāva-Vādins, denying the principle of Causality and asserting the "Supremacy of the inherent or immanent *nature* (Svabhāva) of a thing. Among these too there is a division One party pronounces that investigation after causality is altogether "futile." The other party is more reasonable when it points out that even with the help of Causality, "ultimate causes are inscrutable" and inexplicable. At the end of the chain of Causality we find it failing and then we must get hold of *nature* for futher explanation. So the rejection of Causality seems to be one of the important doctrines of the Chārvākas. No Perception, much less even Inference, can prove the certain existence of Causality. Mere perception of two events does not entitle us to bind them in the chains of Causality Thus Causality

---

unthinking things without any—relation to their being perceived—that is to me perfectly unintelligible Their *esse is percipi.* यन्नोलभ्यते तन्नास्ति।

being denied it has been proved that no order exists in the world Everything stands separate and independent

A very important question is then raised that when a product was produced at a particular time, why is it that it was produced then and then only, and at no other time ?

To this the Chārvāka calmly replies that it is the *nature* of the thing to happen at such and such a time Just as a pot occupies the same space as its cause, the clay, and the pot-maker, etc , although the clay and the pot-maker are both equally causes, in the same way a product, though destitute of cause, may appear at one time and not at another.

From all this we see that "the doctrine of the Svabhāva-Vādins may be called the doctrine of unmitigated automatism, in the sense that all movements . are held to proceed from the inherent necessity of the body, rather than from an exquisite principle of efficiency, such as personal will, Adrsta " Thus voluntary actions and responsibility for performing them can never be attributed to any man Everything is done by *nature.* Will or Supernatural Agency has nothing to do with the presence or absence of things Supporting this it has been put forward by the followers of this school —

Who can be held responsible for making the thorns sharp, or endowing the birds and animals with peculiar characteristics or making the sugar-cane sweet and the Nīma-fruit bitter ? All these are due to their own nature (Bhatta Utpala's Commentary or Brhat-Samhitā).[1]

IV—Creation and Destruction

Together with Buddhists, the Chārvākas believed in only four elements earth, water, fire and air Only these four elements (excluding Ākāśa or sky, as it was not an element, but only a void) in their atomic forms are responsible for the creation of the world. Everything, the external world, the sense-organs etc., are produced by these But how does this creation take place, is something more than the Chārvākas can

---

1. कः कण्टकानां प्रकरोति तैक्ष्ण्य विचित्रभाव मृगपक्षिणाञ्च।
माधुर्यमिक्षो. कटुताञ्च निम्बे स्वभावत. सर्वमिद प्रवृत्तम्॥

explain Other systems, in such matters, appeal to Causality to come to their help and depend upon the Adrsṭa of things and Eternal Intelligence The existence of all these things being rejected by the materialists they are left with "the only alternative open to them, *viz.*, to say that this production results from the fortuitous concourse of the blind constitutive particles of matter" As for consciousness being produced in the bodies, the Chārvākas explain thus When the four elements in their early stages are put together, consciousness is produced in the thus constituted body of its own accord Thus is the body created When these elements are separated, together with the separation, the body also perishes. Thus is the body destroyed

Supporting their argument they quote from the Śruti which says that *consciousness* is produced out of the elements Earth etc., upon which its *destruction* also depends, after the *destruction* of these no *consciousness* exists [1]

V.—Life and Consciousness

For a materialist these two are synonymous. Both originate in *matter*. Objection is often raised by saying that *consciousness* is not found to inhere in the atoms, but it is not unreasonable to suppose that it shows signs of its existence, when these particles collect together in a certain particular form.[2] And moreover there is no difficulty in holding that consciousness is produced by the body. From what is seen in the practical life, we find that *consciousness* is never found to exist apart from the body And again if body were not the substratum of *consciousness*, the experience at large, in the form of I feel, I see, I am happy, I am sad, would be inexplicable Medical science too prescribes various medicines saying that when taken they cause development in Intelligence.

---

1 विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति, न प्रेत्य संज्ञास्ति" (Brhadāraṇyakopanisad).

2 यथा गुडपिष्टादयः प्रागसतीमपि मदशक्तिमासादितसुराकारपरिणामाः प्रपद्यन्ते तथा मृदाद्यवस्थायामचेतनान्यपि भूतानि शरीराकारपरिणतानि चैतन्य स्प्रक्ष्यन्ति (Nyāyā-Manjari—p. 429).

Then two important objections are put forward against the Chārvākas. Firstly that if the body be held as the agent of all actions, it should be held morally responsible for the deeds and should be made to suffer the consequences, good or bad This is not possible as the body which exists at the moment when the deed is done, does no more exist at the time when the time for suffering the consequences arrives This objection the Chārvāka puts aside saying that this question does not arise. Not accepting the doctrine of *Adrsta,* he says that the experience of pleasure or pain is not to be attributed to previous actions Pleasure and pain come by *chance,* which is not in any way subservient to the previously performed deeds

The second objection is that if a persistent entity be denied, how are *memory* and *recognition*[1] to be accounted for. The Chārvākas, like the Buddhists fall back upon Samskāra saying that the traces left by previous experiences can very well explain the two facts One action leaves its impression upon the succeeding one, and so the previous experiences may very well have their recognition in this way

VI—The Soul

About the entity of the soul there is a difference of opinion among the holders of the system themselves There are four distinct views about it

(*a*) One class identifies the Soul with the body There is no difference between the gross body and the Self This is supported by a remark from the Taittirīya Upanisad—"This is man as made up of the extract of food."[2] Besides this the daily usage of terms such as "I am fat, I am thin, I am black" etc., suggests nothing else but attributing fatness etc., to the body (*i e*, the self)

(*b*) Another class holds the identity of the Self and the various sense-organs. In the absence of the organs of sense, functions of the body cease. So these sense-organs are in reality the Soul that does everything They get support in the line of the Chhāndogyopanisad which says that "the organs of sense went to Prajāpati and asked him, "Lord which of us is the chief ?" He said, "He is the chief among you whose

1. स्मृति and प्रत्यभिज्ञा।   2. स वा एष पुरुषोऽन्नरसमय॰ ॥

departure makes the body seem useless."[1] This goes to prove that there is vitality in the organs of sense. Daily experience in the form of "I am blind, I am dumb, I am deaf" etc , teaches the same

(c) Still another class holds that the Self is the same as the vital airs, and quotes from the Taittirīya Upaniṣad. "There is another, an inner self, made of the vital airs."[2] In the absence of the vital airs, the sense-organs, all get inactive, so it is the vitals that are superior to the sense-organs and control them Daily experience in this case finds expression in such utterances as "I am thirsty, I am hungry etc "

(d) Then lastly some people go still further and indentify the Soul with the mind. It is only when the *mind* is in the working state that any work is done When it is in the state of sleep, no work is performed Thus it becomes inevitable to hold that the *mind* is *consciousness* Support of the Śruti in this case is to be had from Taittirīya Upaniṣad. "There is another an inner self, made of the *mind*"[3] Daily experience has such forms as "I doubt, I resolve etc " resolving and doubting being the functions of the *mind* this mind is nothing different from the soul.

Thus we see how step by step the Chārvākas are coming nearer the view of the orthodox schools, but do not accept it as this would make them believe in the eternal nature of the Soul, which would be the last thing that they would do.

VII -- Heaven, Hell, Supernatural Force and God

Heaven and Hell are nothing different from the worldly pleasures and pains. Pain consists of such experiences as being pricked by a thorn, or struck on the head with a stick, and pleasure consists of enjoyment in the form of having young and handsome girls, rich and delicious food and sweet drink etc. These constitute Heaven and Hell. To believe in any other sphere as Heaven and Hell where a person goes after his death is foolishness. There is no God as foolish people hold. The earthly monarch is the supreme one, and he is to be worshipped.

---

1 ते ह प्राणाः प्रजापतिमेत्य ब्रूयुः etc., 5-1-7

2 अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः 2-2-1 3 अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः 2-3-1.

An orthodox man, naturally very much "conmoved," comes forward in great fury saying "How can you believe in such nonsense as this ? The existence of all these things which you have denied is proved by Inference ?" To this the Chārvākas smilingly reply "Good Sire, you are mistaken in your views There is no such proof as independent Inference All the Inferences are based upon Perception and the things that are beyond sense-perception do not exist for us Hence your God etc , which are beyond our sense-perception, are not inferrable either, and so do not exist at all like the sky-lotus etc "

From all this it follows that the supernatural Power, *i.e* , *Adrṣta* also does not exist, since this can be proved only by Inference, not based on Perception. The opponent then says "If you do not believe in any such thing as Supernatural Agency, etc then how do you account for the cause of the various worldly phenomena ?" The Chārvākas refer him to their theory of creation and say that these phenomena can all be produced spontaneously from the very *nature* (Svabhāva) of those things The heat in fire, coldness in water, refreshment in the morning breeze, are there from their very *nature*, and are not caused by any such imaginary agent as Supernatural Power

VIII —Sumum Bonum

All other systems, even Buddhism and Jainism, hold that the Sumum Bonum, *i e* , the end for which every individual should aspire is liberation from the worldly existence (*Mokṣa* or *Nirvāna*) But when we come to the Chārvākas, we are not met with any such uncertain thing. The only end of man is the enjoyment of sensual pleasure, avoiding pain as far as he can If any one were so timid as to cast aside some pleasure at hand in fear of some future pain, he would be foolish indeed, like the man who throws away paddy, having the best and healthiest grain inside it, because it was covered with husk.

To this the orthodox man objects "If you do not believe in future happiness, then why do men perform sacrifices etc. ?" "These mean nothing," says the Chārvāka. "They are simply means of livelihood for the Brāhmāṇas. Brhaspati has rightly pointed out that besmearing the body with ashes, the performance of sacrifices and the study of the Vedas

are all means of livelihood for those that have no knowledge. There is nothing after the physical destruction or death The very dissolution of the body is salvation So he may very well say "Leaving aside discussion on salvation, stay at your home enjoying pleasures"[1]

Before concluding it would be better to give some doctrines of this system as they are found in the original —

1 If a beast slain in the Jyotiṣṭoma rite will by itself go to heaven, why then does not the sacrificer forthwith offer his own father ?[2]

2 If the Śrāddha produces gratification to beings who are dead then here too in the case of travellers when they start, it is needless to give provisions for the journey[3]

3. While life remains, let man live happily, let him feed on *ghee* even though he runs in debt,

When once the body becomes ashes, how can it ever return again ?[4]

4 The three authors of the Vedas were buffoons, knaves and demons.[5]

Such are the tenets of the system. "The mass of men in accordence with the Śāstras of policy and enjoyments, considering wealth and desire the only end of man, and denying the existence of any object belonging to a future world are found to follow the doctrine of the Chārvākas."

Most of us too may be hypocrites, objecting to the principles of the system, denouncing it as the Crest-Gem of the Atheistic school, but if we earnestly look to our inner thoughts, we will see that to say that the system has practically no adherence is not very true, and that if occasion arises the system can put forward a large number of followers, who are, for fear of being looked down upon, covered under the garb of believers in the Vedas or the Scriptures

[*Published in the Bulletin of Allahabad University Oriental Society,* 1928-29, *Pages* 44-53]

---

1. मोक्षचर्चां परित्यज्य स्वे गृहे सुखमास्यताम्—(Nyāya Majanri 515.)
2. पशुश्चेन्निहतः स्वर्गं ज्योतिष्टोमे गमिष्यति। स्वपिता यजमानेन तत्र कस्मान्न हिंस्यते ॥
3. तृप्तये जायते पुंसो मुक्तमन्येन चेत्तत। दद्याच्छ्राद्धं श्रमायान्न न वहेयुः प्रवासिनः ॥
4 यावज्जीवेत्सुखं जीवेदृणं कृत्वा घृतं पिबेत्। भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ॥
5. त्रयो वेदस्य कर्तार. भण्डधूर्तनिशाचराः ॥

27. STAGING OF SANSKRIT PLAYS-AN INNOVATION

With the advent of Independence and the consequent renaissance in our country, the Indian genius is re-expressing itself in the new set-up of things A well-marked tendency can be noticed in all spheres of Art and Literature It is, therefore, in the fitness of things that a re-interpretation and reorientation of the traditions of Sanskrit drama be attempted to serve the original purpose in a more effective way.

It is well known that drama mirrors the society in a more effective manner than any other medium of art and literature It was, perhaps, a realisation of this essential function of drama that impelled our dramatists of the old times to introduce the contemporary dialects (known as Prākrit languages) in their works All our Sanskrit dramas, including those written by such famous dramatists as Bhāsa, Kālidāsa and Bhavabhūti, have Prākrit passages put in the mouths of the characters of lower rank and also of those not supposed to be highly educated

Thus, while a king, his ministers and other characters of high rank spoke in Sanskrit, the queen, her partner, the jester and servants spoke in contemporary Prākrits. This co-existence of Sanskrit and Prākrit languages in the same work was not only recognised and popular, but was also prescribed in the authoritative works on Dramaturgy in Sanskrit literature.

The reason is obvious. These authorities desired that the Sanskrit dramas be brought closer to realities of life. If a society, in which its different members spoke in different languages suitable to their rank and taste, was to be reflected in the Sanskrit dramas, it was inevitable that besides Sanskrit the contemporary dialects should be freely used in the case of uneducated or low-ranked characters. The contemporary

audiences of Bhāsa and Kālidāsa must have immensely enjoyed this familiar spectacle, wherein their own dialects figured side by side with the all-important Sanskrit language While a dramatic work remained essentially a Sanskrit Drama, its writer, thus did not hesitate to introduce current dialects also.

The truth is that Sanskrit language was, is and will be an immortal language and therefore it has been named as the language of Gods (immortals), and used as the language of high classical literature of all-India popularity and circulation throughout the literary history of India. It is not subject to phonetic changes which affect the dialects. The dialects i.e , Prākrit languages changed in the course of their development to Apabhramsha and modern Indo-Āryan languages, but Sanskrit (literally) 'refined' and purposively called Sanskrit remained more or less unchanged, as it was handled by the learned only. This is the reason why changes occurred in the Prākrit passages—of the dramas of Bhāsa and Kālidāsa etc but the Sanskrit passages remained practically unchanged in the texts of Sanskrit dramas

The question before us is that in our laudable desire to propagate and popularise Sanskrit, when we think of staging Sanskrit Dramas, what should be the position of the unintelligible Prākarit passages occurring in Sanskrit dramas.

It is not unknown to Sanskritists that in the course of reading and teaching these Prākarit passages were rendered into Sanskrit to enable us to understand them. The editions of Sanskrit dramas give invariagly in the foot-notes the Sanskrit renderings of the Prākrit passages. This is easily understandable. We being mainly concerned with Sanskrit the Prākrit passages are overlooked and not studied Of course, for Philologists and Linguists, the Prākrit passages will continue to remain equally important and will have to be studied with closest attention.

In the background of what has been stated above, it will be desirable to make an innovation in the staging of Sanskrit dramas. While retaining the Sanskrit passages as they exist in the original text, it will bring Sanskrit drama nearer to its aim. If the Prākrit passages are replaced by our present dialects. A Sanskrit work will remain essentially a Sanskrit Work

as before inspite of this innovation But the replacement of unfamiliar Prākrit passages by the present day dialects will put life in the performance and fulfil the object which the writer of the drama had in view in introducing the Prākrit passages

This innovation will thus bring the Sanskrit drama nearer to the audience, which will take greater interest in witnessing the staging of a Sanskrit drama The introduction of the present-day dialects will remove to a large extent, the difficulties, which an ordinary spectator must necessarily experience in witnessing the staging of a Sanskrit drama with cent per cent Sanskrit passages

For this purpose in the Eastern part of Uttar Pradesh, the characters of lower-rank may speak in the presentday dialects, viz. Awadhi, Bhojapuri and Urban Hindi, while the characters of high rank speak in Sanskrit i e., the author's own language

This suggestion of mine if adopted, I feel, will go a long way towards the popularisation of the masterly creations of great Sanskrit dramatists in our presentday society And I hope, it will be seriously considered by the dramatic associations, which have a mind to stage Sanskrit dramas with the landable purpose of popularising them.

[*Contributed in Delhi Session of World Sanskrit Conference, March,* 1972.]

28. DEVELOPMENT OF SANSKRIT PROSE

The history of the evolution of Sanskrit Prose is one of continuous and gradual growth. The simple, direct and crude prose of the Brāhmanas, which are the earliest exclusively prose works, gradually developed, on the one hand, into the elegant, artifical and magnificently complex prose of the romances, and on the other into the argumentative and scientifically exact 'philosophical' prose of the technical and philosophical works. Sanskrit prose has been progressing through its successive stages of several centuries The phenomenon of growth is so gradual and continuous that one can mark its various phases in the works that have come down to us

The earliest specimens of Sanskrit composition are to be seen in the hymns of the Rgveda, the earliest literary monument of the world. The Rgveda and the the Sāmaveda, being essentially collections of hymns and songs respectively, we should not expect in them the beginnings of Sanskrit prose. But about one-half and one-sixth of the Yajurveda and the Atharvaveda respectively, is written in prose Thus the beginning of Sanskrit prose goes back to the Mantra period of Vedic literature

In the second stage of Vedic literature, viz Brāhmana Period, prose is exclusively the mode of expression The Brāhmana portions of the Black Yajurveda and the separate Brāhmana texts of the other Vedas are all written in simple but vigorous prose. The Brāhmanas contain also legendary matter which enhances their importance (See Selection No. 1) Late writers like Kālidāsa have freely used their legends in their works.

In the third stage of Vedic literature, viz. the Upanisadic period, prose reigns supreme. Almost all the principal Upanisads with some notable exceptions like the कठ are prose works. The prose of the Upaniṣads is direct, expressive and easy. It shows an admirable combination of simplicity of style with loftiness of thought. (See Selection No. 2).

With the beginning of the Sūtra period, Sanskrit prose undergoes a remarkable change In the rhythmical prose of the Mantra literature and in the charmingly simple and direct prose of the ब्राह्मणs and उपनिषदs, clearness in expression was the chief feature Words were employed to convey their sense as explicitly as possible. This anxiety to be clear and elaborate often led to the repetition of sentences, nay, even of paragraphs. But in the Sūtra literature, brevity and conciseness are the chief features The aim of the writer is to be as brief as possible This emphasis on brevity made the style enigmatic, abstruse, unintelligible, and admitting of various different interpretations.

The Sūtras, closely resembling algebraical formulae, were written with the express purpose of summarizing longer works on different subjects The two divisions of the कल्पसूत्र, which every Vedic शाखा or चरण possessed in earlier times, viz the श्रौतसूत्रs, and the गृह्यसूत्रs, (the former dealing with vedic sacrifices and the latter with domestic rites and ceremonies) are all written in the Sūtra style of sanskrit prose. (See Selection No. 3) The same may have been the case with the धर्मसूत्रs, the third division of the कल्पसूत्र, but in the texts that have come down to us, we have prose intermixed with verses In fact, in course of time, prose in Sūtra form came to be used for every kind of literature We have prose works (in Sūtra style) dealing with different systems of Philosophy, Vedic exegesis (the निरुक्त of यास्क) and Grammar (अष्टध्यायी of पाणिनि) The अर्थशास्त्र of कौटिल्य is mostly in prose with verses at the end of each Section. (See selection No 4). The कामसूत्र of वात्स्यायन resembles the अर्थशास्त्र in form and treatment This style was later on adopted by Rājaśekhara in his rhetorical work the Kāvyamīmāmsā (See Selection No. 6).

We may note here the simultaneous growth of another type of prose which represents the transition from the prose of the Brāhmanas to that of the later classical Sanskrit literature This form of prose is to be seen in the prose-portions found occasionally in the Mahābhārata. The महाभाष्य of पतञ्जलि is a monumental prose work written in an easy, elaborate and direct style. (See Selection No. 5). Here we have got many items of valuable information about several types of literature extant in the 2nd century B. C.

Mention may be made here of the canonical works of the Buddhists and Jains. Though the language employed therein is Pāli and Ardha-Māgadhī, the free use of the prose form of expression shows the popular nature of prose-writing in those times. The simple and narrative type of prose seen in these canonical works implies a corresponding type of prose in Sanskrit also, and thus these works have an important bearing on the development of Sanskrit prose style. Later on, when the Buddhists themselves began to employ Sanskrit as their medium of expression, we find such works as ललितविस्तर and दिव्यावदान written in elegant Sanskrit prose mixed with verses and thus bearing clear marks of later Sanskrit prose.

Prose is fairly represented in Pāli, Prakrit and Sanskrit inscriptions that have come to us from the time of Aśōka downwards. The Girnar Rock Inscription of रुद्रदामन् (See Selection, No 6) contains highly ornate prose of later times. The Allahabad Inscription of समुद्रगुप्त (4th century A. D.) shows clearly that by that time Sanskrit prose had already attained the artificial and elaborate style of long compounds, where complex phraseology is enlivened by flowery description and an elegant manner of narration.

As has already been mentioned, the ground works of the six philosophical systems were written in the Sūtra form. The साङ्ख्यसूत्र in its present form is a late work, but other Sūtra-works on न्याय, वैशेषिक, योग, मीमांसा and वेदान्त are works of a fairly early age. In the commentaries of these Sūtras, the prose shows traits of 'philosophical' style. The भाष्य of शबरस्वामिन् on मीमांसासूत्र, of वात्स्यायन on न्यायसूत्र, and of शङ्कराचार्य on वेदान्तसूत्र (See Selection No. 9) are standard works of the classical prose style used in technical and scientific literature. Their language is emphatic, argumentative and serious, quite in consonance with the subject-matter. This argumentative form of prose, later on, developed into that नव्यनैयायिक style of prose, where hair-splitting arguments and high-sounding verbal complexities render the comprehension of the subject-matter difficult, if not impossible. Even the literary works of later times have not escaped the influence of this philosophical style. (See Selection No. 12).

To come back to literary works, we find that prose in classical Sanskrit literature of later times is highly ornate and artificial. Simple expression of ideas is no longer in vogue. For effecting strikingness (उक्तिवैचित्र्य) the writers indulged in round-about expression. The diction employed is refined and chaste and an attempt is made to embellish the form as distinguished from the sense. The दशकुमारचरित of दण्डिन् is a fine example of this kind of prose (See Selection No 7). The prose of दण्डिन् does not suffer much from the inordinate love for extremely long strings of compounds and the excessive use of puns that we find in the कादम्बरी of Bāna (See Selection No 8). This extreme fondness for puns is carried further in the वासवदत्ता of सुबन्धु, who takes pride in having composed a work, every syllable of which contains a pun.[1] The age of दण्डिन् and बाण required a high standard of literary taste and linguistic embellishment. A poet richly gifted by nature and possessing poetic talents developed by extensive literary studies could not, in consonance with the spirit of the age, help following the dictum of the literary world that vigorous language and abundance of compounds constitute the soul of prose (ओज समासभूयस्त्वमेतद्गद्यस्य जीवितम्—काव्यादर्श). Lastly come the works, called Champū, in which prose and verse are freely used by the author as suited his purpose

In short, the prose of the early period is the natural business-like prose of every day use and moves with the rapidity, of a postal runner, to convey the intended sense while the ornate and artificial prose of the later period is like an adorned and luxuriously clad king[2] marching in a slow and stately proscession and, instead of leading the reader to the intended sense, itself becomes an object to the aimed at. How truly has Dr. Tagore said that Sanskrit prose in later literary works can be compared to a hand-fan of pea-cock feathers, which is meant more for adornment than for serving any practical purpose !

[*Published as an Introduction to Selection in Sanskrit prose.* (*Nagpur*) 1932.]

---

1. प्रत्यक्षरश्लेषमयप्रबन्धविन्यासवैदग्ध्यनिधि सुबन्ध.। वासवदत्ता.
2. Did Bāṇa have the same thing in his mind when he wrote— "भट्टारहरिचन्द्रस्य गद्यबन्धो नृपायते" ?.

29. THE ANUṢṬUBH METRE—ITS HISTORY AND VARIETIES

(I)

The *Anuṣṭubh* metre occupies a unique position in Sanskrit Prosody, in so far as it has been used in all the periods of the Sanskrit literature Many Vedic metres (like *Gāyatrī*) entirely disappear in the classical literature, while such standard metres as *Shikhariṇī*, *Mandākrāntā*, etc, which came into existence in the classical period, cannot be proved to have been used in Vedic literature It should, therefore, be of no little interest to trace the evolution of the *Anuṣṭubh* metre, to point out the changes it underwent in successive stages, to examine its various varieties, as given in different works on Sanskrit Prosody, and to find out specific conditions governing its use which will enable us to have an accurate and comprehensive definition of the metre as current in the post-Epic period.

There is yet another point of uniqueness in the *Anuṣṭubh* metre A comparative study of the metres in the Avesta and the Vedas reveal the fact that "the Vedic metres come half way between the metres of the Indo-Iranian period, in which, as the Avesta shows, the principle is the *number of syllables* only, and those of Classical Sanskrit, in which the quantity of *every single syllable* in the line is fixed."[1] Thus we see there is a gradation in the stages of the metres in Indo-Iranian literature. The Avestic metres insist on the *number of syllables* only, the Vedic metres on a quantitative rhythm of the cadence (last four or five syllables) also *besides* the number of syllables, while in the Classical Sanskrit metres the quantity of *all* the syllables in a line is determined so inalterably that a change in

1. Macdonell, *Vedic Reader*, p. xvii.

the quantity of *even one* letter disturbs the metre and involves metrical defect[1] The well-known exception in the Classical Sanskrit metres is the *Āryā* metre wherein, as in Avesta, the determining principle, with a few restrictions, is the number of *Mātrās*, and *not* the quantity of each syllable[2] Thus the Classical Sanskrit metres are divided into two kinds[3] *Mātrika* and *Varnika*. In the former, the guiding principle is the number of *Mātrās*; in the latter, the quantity of *each* syllable in the line (quarter *Pāda*) The *Anustubh* metre, as popularly understood,[4] comes somewhat between the *Mātrika* and *Varnika* metres Herein, besides the number of syllables (which is always eight) the quantity of cadence is also fixed. But, as we shall see later on, the quantity of cadence also is not rigid, but admits of alteration in specific circumstances

(II)

The word *Anuṣṭubh* itself is used in more than one sense. In wokrs on Vedic and Classical Sanskrit Prosody, the word *Anuṣṭubh* is used, not for *a particular* metre, but for *the class* of metres wherein there are four lines (*Pāda*=quarter), each *Pāda* consisting of eight syllables (*cf* *Triṣṭubh* and *jagatī*—which also are class-names of metres). The *Vrtta-ratnākara* mentions seven varieties of the *Anustubh* (called *Vaktra* also) as *Varnika* metre and eight varieties as *Mātrika* metre.[6] According to the *Shrutabodha*, the metre, as is clear from its definition, is called the *Śloka* or *Padya*—which

---

1. Known in Sanskrit as छन्दोभङ्ग दोष.
   Cf. अपि माष मष कुर्यात्, छन्दोभङ्ग न कारयेत्।
2. See the definition of the *Āryā*.
   यस्या. प्रथमे पादे द्वादश मात्रास्तथा तृतीयेऽपि।
   अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश सार्या॥
   (श्रुतबोध, 4th Stanza)
3. मात्रावर्णविभेदेन छन्द ।
   (वृत्तरत्नाकर, 1–4).
4. See below for its two meanings
5. See वृत्तरत्नाकर (II Ch.). The छन्दोमञ्जरी mentions two varieties of मात्रिक (Ch. V) and six varieties of वर्णिक type (Ch. II).

is simply a variety of the *Anuṣṭubh* class of metre. But, as if by irony of fate, the words *Śloka* and *Padya* on the one hand and *Anuṣṭubh* on the other interchange their meaning. The meaning of *Anuṣṭubh* was narrowed down with the result that the word *Anuṣṭubh* came to mean, in popular usage[1], only a particular variety (*Śloka* or *Padya*) of the *Anuṣṭubh* class metre. The words *Śloka* or *Padya* on the other hand acquired a sense still more general than the sense of the *Anuṣṭubh* class, and came to be used for a stanza of any metre or a metrical composition.[2]

The advent of the *Anuṣṭubh* metre in Classical Sanskrit is associated with the name of *Vālmīki*, who is believed to be the first poet of the Classical period (*Ādikavi*).[3] It is generally believed, on the basis of this account, that Vālmīki was the first to write in the *Anuṣṭubh* metre, the Vedic stanzas being written in such forgotten metres as *Gāyatrī*, *Uṣṇik*, etc. But, obviously, this is not correct. As we shall see presently, the *Anuṣṭubh* metre is not infrequently used in Vedic literature. Some of the examples of this metre, as seen in Vedic literature,[4] are metrically as perfect and similar to the *Śloka* or *Padya* (in its narrower sense) as the famous stanza by Vālmīki, *i.e.*, *Mā niṣāda*. ... The singnificance of the above account is that the *Anuṣṭubh* metre, as seen in the Vedic literature, is elastic and loose, and does not seem to observe in all cases any hard and fast rule,

---

1. *Cf* एतद्वक्त्रलक्षणम्। लोकेऽनुष्टुबिति ख्यातं तस्याष्टाक्षरता मता॥ छन्दोमञ्जरी (v—7).
2. *Cf.* (i) शब्दसमयोदारालङ्कृतगद्यपद्य ....
   (Girnar Inscriptions of Rudradāman)
   (ii) पद्य चतुष्पदं तत्र वृत्तं जातिरिति द्विधा
   (हलायुधवृत्ति or पिंगलसूत्र, V—i).
   (iii) एकवृत्तमयै पद्यैरवसानेऽन्यवृत्तकैः।
   (साहित्यदर्पण, VI—320).
3. See वाल्मीकिरामायण (I—ii) and उत्तररामचरित (II—55).
4. *e. g.*,

   इन्द्रियेभ्यः पराह्यर्था अर्थेभ्यश्च पर मनः।
   मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः॥
   (कठोपनिषत्, I—iii—10.)

except that there were eight syllables in each quarter But Vālmīki, rigidly following a number of restrictions, made a new departure in the employment of this metre. As in the Vedas these restrictions were not rigidly observed in all cases, the *Anuṣṭubh* as first employed by Vālmīki is called a new metre [1]

(III)

With these introductory remarks about the *Anustubh* metre, we shall now trace its history in the different periods of Sanskrit literature

About one-twelfth of the Rgveda is composed in the *Anustubh* metre.[2] It is more frequent in its later portions and *Upanisads* But, as we have said before, the *Anustubh* metre in Vedic literature is loose and elastic. Its only special feature is that it contains four quarters (*Pāda*) each *Pāda* with eight syllables [3] According to Pingalāchārya (III-23) it is a *Gāyatri* metre, with an addition of the fourth *pāda* [4] There is no restriction as regards the *quantity* of the syllables The absence of any rigid restriction will be made clearer, when we see that, in order to have the required number of syllables in each quarter, we have sometimes to pronounce a long vowed as two vowels (*Nām* as *Naām*), insert a vocalic sound in a conjunct consonant (*Rudra* as *Rudara*) and sometimes to slur over a vowel [5] Even this restriction of having four quarters, each with eight syllables, is not adhered to in some cases Considering other varieties of the metre, as given in the *Ṛk-prātishākhya* (xvi-27/30) and *Pingala chhandah-sūtra* (III-23/5), the only principle universally followed is that of having 32 syllables. This number 32 can be arrived at by lessening the number of quarters and increasing the number of syllables in the lines, *e g*, accor-

1. नूतनश्छन्दसामवतारः (उत्तरचरि०, II—Act)
2. Macdonell, *History of Sanskrit Literature* pp. 56—7.
3 द्वात्रिंशदक्षरानुष्टुप् चत्वारोऽष्टाक्षराः समा.।
(ऋक्प्रतिशाख्य, xvi—17).
4 *Cf.* also अनुष्टुबनुष्टोभनात्। गायत्रीमेव त्रिपदा सती चतुर्थेन पादेनानुष्टोभति।
(यास्क in निरुक्त दैवतकाण्ड).
5. See Macdonell, *Vedic Grammer for Students*, p. 437.

ding to *Pingala-sūtra* (III-28), an *Anusṭubh* may contain three *Pādas* and 32 syllables (=8+12+12). Sometimes the number of syllables in a line is lessened and the number of lines increased [*e g*, 5+5+5+5+5+6 (? 7)=32 syllables] (*Ṛk-prātishākhya*, xvi-30). In short the *Anuṣṭubh* metre in the early Vedic literature appears 'in a chaotic conditions'

(IV)

But, as time passed, a sort of rhythm was introduced by observing some restrictions as regards the cadence of a line The *quantity* of the first four syllables is still unfixed but a tendency is seen to have the last four syllables as— ⏑, *i.e.*, the iambic end. In Ṛgveda we have examples[1] where all the four quarters have an iambic end But in the later hymns of the Ṛgveda a further development is seen gradually coming in the use of the *Anuṣṭubh* metre In early portions all the four quarters (*Pādas*) of the metre were alike and, as we have seen above, they had the same kind of end But now a tendency is seen to differentiate between the even and odd quarters (*Sama* and *Visama*). The even quarters have more regularly an iambic end, but the odd quarters are given a trochaic ending, ⏑⏑. Herein lies the begining of that special characteristic of the *epic Anuṣṭubh* (=*Śloka*), used in the later literature, according to which the 7th syllable in the 2nd and 4th quarters must be invariabaly short.

This innovated form of the *Anuṣṭubh* metre (*epic Śloka*) becomes a predominant metre in the Epics though traces of the Vedic archaism survive in the *Mahābhārata*[2] Metrically the *Anuṣṭubh* of the *Rāmāyaṇa* is more prefect, and follows more strictly the newly introduced differentiation between the odd and even quarters (*Pāda*).[3] The famous stanza of *Vālmīki*, said to be the first *Anuṣṭubh* stanza in the Classical literature,

---

1. *e. g.*, क इम दशभिर्मम, इन्द्रं क्रीणाति धेनुभिः।
यदा वृत्राणि जङ्घनत् अथैनं मे पुनर्ददत्।
(*Ṛgveda* IV—24–10).

2. See Hopkins, *The Great Epic of India*, pp. 219-41. For examples, see pp. 446-58.

3. *Ibid.*, p. 237.

observes the restrictions about the cadence of the odd and even quarters. The metrical scanning[1] of the stanza

S । S S । S S S
मा नि षा द प्रतिष्ठा त्व-
। । S S । S । S
म ग मः शाश्वतीः समा ।
S S । । । S S S
यत्क्रौञ्चमिथुनादेक-
। । S S S । S
मवधीः काममोहितम् ॥

clearly shows that the quantity of the first four syllables is *indifferent*, the fifth is *short* and the sixth is *long* in all the *pādas*, and *odd* and *even pādas* have the *seventh* syllable *long* and *short* respectively This standardized form of the metre gave rise to the definition,[2]

श्लोके षष्ठं गुरु ज्ञेयं सर्वत्र लघु पञ्चमम् ।
द्विचतुष्पादयोर्ह्रस्वं सप्तमं दीर्घमन्ययोः ॥

(V)

In the post-Epic period the *Anustubh* metre has not got the same predominant position as in the Epic period. Later poets take delight in handling bigger metres (such as *Vamśastha*, *Mālinī*, etc) and seem to regard the *Anustubh* metre as too short to express elaborately a poetic idea Famous poets of the *Kāvya period* use the *Anustubh* metre very infrequently *Bhāravi*, *Māgha* and *Śrī-Harsa* do not devote more than two cantos to the *Anuṣṭubh* metre, and even that was, perhaps, to show their versatile genius in handling all Sanskrit metres.[3] The *Anuṣṭubh* metre is used in scientific

---

1 The method of scanning as followed by Western scholars is ⏑ (for short=लघु) and – (for long=गुरु). We follow here the Indian tradition; । (for लघु) and S (for गुरु) *cf.* वृत्तरत्नाकरः—ग् वक्रो ज्ञेयोऽन्योमात्रिको ल् ऋजुः । (1—9).

2 श्रुतबोधे (10th St.).

3 In भारवि and माघ, one of the two cantoes in the अनुष्टुभ् metre is used for showing poetic skill in चित्रबन्धकाव्य.

and philosophical works but has not found much favour with the *Kāvya*-writers The same remark is true of Prakrit literature (including *Pāli* literature) also. In its early period we have the *Gāthā*—the prototype of the *Anuṣṭubh* with its archaism—as the predominant metre. But afterwards the *Āryā* metre comes into prominence for Prakrit versification (*e g*, Hāla's *Sattasai*) Gradually, the bigger metres of Sanskrit appear in Prakrit also Rājaśekhara, a famous critic and poet, shows, in the *Karpūra-Mañjarī*, his masterly skill in handling almost all the big metres in Prakrit Thus we see that in the later Classical period, writing in the *Anuṣṭubh* metre was not in vogue with that frequency which it enjoyed in the Epic period.

(VI)

After this rapid survey of the history of the *Anuṣṭubh* metre, we shall now examine its varieties as current in post-Epic Sanskrit. As stated above, the writers on Sanskrit Prosody treat this metre as *Varṇika* (fixed syllabic) and *Mātṛka* (morametric) Of its eight *Varṇika* varieties as given in the *Vṛtta-ratnākara*,

(i) *Vidyunmālā* has all the eight syllables long, *e.g*,

S S S S S S S S

मो मो गो गो विद्युन्माला

(ii) *Samānikā* has alternately long and short syllables, *e.g*,

S I S I S I S I

रा म रा म रा म रा म

(iii) *Pramāṇikā* has alteranately short and long syllables, *e g*,

I S I S I S I S

ह रे ह रे ह रे ह रे

The above illustrations clearly indicate the artificial character of the *Varṇika* types of the *Anuṣṭubh* metre--which is *only a fixed combination* of eight syllables in a particular way and does not admit of *any freedom* about changing a short syllable for a long one, or *vice versa.* But the historical *Anuṣṭubh*, as we have seen above in the different periods of Sanskrit literature, allows freedom as regards the first four syllables of a

line[1] It is only about the *later four* syllables that some restrictions are observed Therefore, the *Mātrika* or *Vaktra* type of the *Anustubh* should be considered in the treatment of the historical *Anustubh*

One Variety of the *Mātrik Anustubh* is known as *Śloka* or *Padya*, after the type of Vālmiki's famous stanza quoted above Herein the fifth syllable is *always* short and sixth *always* long, the seventh syllable is long in *odd* quarters and short in *even* quarters This variety is the standardized type of the *Anustubh* metre, and is most frequently used in the Classical Sanskrit literature. But this does not mean that this is the only type prevalent, occasionally there are seen exceptions also, *e g*,

(i) We have the fifth syllable long,

I S I S S S S S
फ ला नु मे या प्रा र म्भा

(*Raghuvamśa*, 1–20)

and (ii) Sometimes, we have the sixth syllable short,

S I S S I I I S
भी म का न्तै र्नृ प गु णै

(*Ibid*, 1–16)

The two varieties noted as exceptions above are termed *Vipulā* and *Chapalā* in the *Pingala-sūtra*[2] In the *Vipulā* variety, the author says, there is a *Nagana* (III) after the fourth syllable, *i e.*, there are three successive short syllables after the fourth, in the *Chapalā* variety, we are told, there is a *Bhagana* (SII) *Ragana* (SIS), *Nagana* (III), *Tagana* (SSI) or *Magana* (SSS) following the fourth syllable The following are the examples given there :—

Chapalā.—Nagaṇa (III) after the fourth syllable.

I I I
क्षीयमाणा ग्र द श ना

---

1. *Cf* छन्दोमञ्जरी (V-6) :—
   पञ्चम लघुसर्वत्र सप्तमं द्विचतुर्थयो ।
   गुरु षष्ठ च जानीयात् शेषेष्वनियमो मत.॥
2. (V–16, 19).
   चपलाऽयुजो न्। and भ्रौ न्तो च।

Vipulā —

(i) *Bhagaṇa* (SII) after the fourth syllable

S I I

इय सखे च न्द्र मु खी

(ii) *Ragana* (SIS) after the fourth syllable

S I S

लक्ष्मीपतिं लो क ना थम्

(iii) *Nagana* (III) after the fourth syllable

I I I

यस्या विमा ति र म णी

(iv) *Tagana* (SSI) after the fourth syllable.

S S I

वन्दे देव सो मे श्व रम्

(v) *Magaṇa* (SSS) after the fourth syllable

S S S

सर्वार्तिरि क्त ला वण्यम्

A close perusal of the above varieties and their examples shows that the third variety of *Vipulā (Nagaṇa)* is the same as the *Chapalā* variety and need not be mentioned separately, that the fourth variety, *Tagaṇa-Vipulā* is very unusual and does not figure in the *Kāvya* literature. Besides, there is no mention of the specific conditions which are invariably present when we violate the restrictions to be observed in the *Śloka* (*Anuṣṭubh* metre).

(VII)

We propose to give below, in the form of a comment on the definition of the metre, a comprehensive statement detailing the exceptional varieties of the *Śloka* (*Anuṣṭubh*) metre with their peculiar conditions—as found in the post-Epic literature :—

(i) The metre, consisting of four quarters with eight syllables in each, is of an *Ardhasama* type, *i. e*, the first quarter agrees with the third and the second with the fourth.

(ii) If the second syllable is short, the third *must* be long. That is, the *first three* syllables cannot be successively short.

(iii) The even quarters *always* have the last four syllables alternately short and long (as ।S ।S). That is, the *Sama-pādas* always confirm to the restrictions of the *Śloka* metre [1]

It is only in the *odd quarters* (*Visama-pādas*) that the following exceptions are seen —

(iv) The fifth syllable is usually short, *but* it may be *long*, in the following conditions

(*a*) When it is preceded by a long one, *i e*, when the fourth syallable is long

(b) In the odd quarters only. [see (iii) above]

(v) The sixth syllable is usually long, *but* it may be *short* in the following conditions

(*a*) when *at least* two *long* syllables occur in the *first four* syllables

(*b*) In the odd quarters only. (See (iii) above]

(vi) As will be clear from the chart given below,

(*a*) In *many* cases, if the fifth syllable is long, the sixth and the seventh are short and thus *all the rules* about the fifth, sixth and the seventh syllables are violated

(*b*) If the sixth syllable is short, the seventh is *always*[2] short.

---

1. As laid down in the following ·

पञ्चम लघु सर्वत्र सप्तमं द्विचतुर्थयोः।
षष्ठ गुरु विजानीयात् एतत्पद्यस्य लक्षणम्॥
(श्रुतबोध, 11th Stanza)

It should be noted here that if we interpret the 3rd line of this stanza along with the 2nd, the definition is *always* true of the *even Sama quarters.* The definition given is Stanza 10, quoted before, admits of exceptions. (see below).

2. One notable exception is,

'इद तु ते भक्तिनम्रं, (कुमारसमव, VI—73.)

The other exception,

कल्लोलैरुद्गतरैर्वा (चीन तटमभिद्रुतैः [कुमारसमव, X—34.)

That is, the rules about the sixth and the seventh syllables are violated *together*.

(VIII)

The following chart is prepared from a close scrutiny of all the *Anusṭubh* (*Śloka*) stanzas in the *Kāvyas* of *Aśvaghoṣa*, *Kālidāsa*, *Bhāravi*, *Māgha* and *Śrī Harṣa* So it can approximately represent the treatment of the *Anuṣṭubh* metre in the *Kāvya* period Appendix *B* shows its treatment in the well-known *six* dramas of Sanskrit literature

Abbreviations (used in the chart) :—

A Stands for the violation of the rule that the fifth syllable must be short.

B stands for the violation of the rule that the sixth syllable must be long.

C stands for the violation of the rule that the seventh syllable in the odd quarters must be long

---

is hopelessly defective and may not be from the genuine *Kumāra-saṃbhava*, as it occurs in the 10th canto.

The word वर्चिनम् stands, according to the commentator, for अवर्चिनम्—a queer case ! Besides the word वर्चिनम् being split in two parts, is a clear proof of inferior workmanship.

The three exceptions, found in *Māgha* (see below, under example No. XV) are examples of *Chitra-bandha* types of poetry and therefore should not be considered seriously.

CHART (about odd quarters—*Visama-pādas*—only)

Author	Total No of odd quarters	No of exceptional cases	No of examples given in Appendix A
1 *Aśvaghosa*			
(*a*) Saundarananda ..	768	6—*A* only	1
		6—*A B C*	2
		73—*B C*	3
(*b*) Buddha-charita .	526	8—*A* only	4
		5—*A B C*	5
		42—*B C*	6
2 *Kālidāsa*			
(*a*) Kumāra-sambhava ..	530	12—*A* only	I
		8—*A B C*	II
		16—*B C*	III
		2—*A B*	IV
		1—*B* only	V
(*b*) Raghuvamśa ..	732	23—*A* only	VI
		10—*A B C*	VII
		22—*B C*	VIII
3 *Bhāravi*	250	2—*A* only	IX
		7—*A B C*	X
		14—*B C*	XI
4 *Māgha*	464	35—*A* only	XII
		42—*A B C*	XIII
		44—*B C*	XIV
		3—*A B*	XV
5. *Śrī Harsa*	752	2—*A* only	XVI
		1—*B C*	XVII

N. B.—The following points can be noted by a close study of the above chart :—

(i) The percentage of the departure from the normal form is:

Aśvaghosa	9%
Kālidāsa	7%
Bhāravi	9%
Māgha	27%
Śrī Harsa	·4%

(ii) *Śrī Harsa* has comparatively very few exceptions.

(iii) *Māgha* has comparatively a very high number of exceptions Is it due to his being a Westerner ? (See Jacobi, *Indian Studien*, Vol. XVII, p. 444 referred to by Hopkins, *The Great Epic of India*, p. 224). The three exceptions, wherein the rules *A* & *B* are violated by *Māgha*, occur in the *Chitra-bandha* type of poetry (see below, example No. XV), and therefore should not be taken as normal departures

(iv) With *Bhāravi*, the exception of the rule (*A only*) is really non-existent [See example No IX The first (*a*) can be taken as a '*Puranic licence*' where *i*, though long as coming before the conjunct consonant *Sw*, should be taken as short. The other example is from the *Chitra-bandha* type of poetry]

(v) The example No V (from the *Kumāra-sambhava*) does not occur in the first 8 cantos. This fact, coupled with a further evidence of its poor workmanship (see before, footnote.[1]), furnishes an additional argument for treating the later nine cantos of the *Kumāra-sambhava* as spurious. *Cf.* also the fact that the *Raghuvamśa* contains no such exceptions.

(vi) The *Buddha-charita* (in its genuine 13 cantos) devotes only *three* cantos to the *Anusṭubh* metre, while *Saundarananda* has as many as *seven* cantos in this metre. This fact coupled with a consideration of the more refined and poetic style of the *Buddha-charita* makes it probable that the *Saundarananda* is an earlier work of the poet, though the incompleteness of the *Buddha-charita* renders the inference less conclusive.

APPENDIX A

(See Column 4 in the Chart above)

No.	Examples	References
1	यामे तृतीये चोत्थाय	सौन्दरनन्द—[XIV-34)
2	अत्यन्तदु खोपरमम्	,, (XII-23)
3	राज्य दीक्षामिव वहन्	, (II-6)
4	यतश्च बुद्धिस्तत्रैव	बुद्धचरित—(XII-85)
5	वियुज्यमानेऽपि तरौ	,, (IV-61)
6	नावजानामि विषयान्	,, (IV-85)
I	तस्मिन्नुपाया सर्वे न.	कुमारसम्भव—(II-48)
II	पर्याकुलत्वान्मनस	(II-25)
III	द्रव सङ्घातकठिन	, (II-11)
IV	इद तु ते भक्तिनम्रम्	, (VI-73)
V	कल्लोलैरुद्गतरैर्वा (चीन तटमभिद्रुतै)	,, (X-34)
VI	फलानुमेया प्रारम्भा	रघुवश—(I-20)
VII	सुता तदीया सुरभे	,, (I-81)
VIII	भीमकान्तैर्नृपगुणै	,, (I-16)
IX(*a*)	तिरस्करोति स्वातन्त्र्यम्	किरातार्जुनीय—(XI-77)
(*b*)	नंनो ननुन्नो नुन्नोनो (एकाक्षरपाद)	,, (XV-14)
X	आपातरम्या विषया:	,, (XI-12)
XI	युक्त प्रमाद्यसि हितात्	,, (XI-29)
XII	यियक्षमाणेनाहूत	शिशुपालवध—(II-1)
XIII	जाज्वल्यमाना जगत.	,, (II-3)
XIV	मम तावन्मतमिदम्	,, (II-12)
XV(*a*)	सकार नाना रकास	,, (XIX-27)
(*b*)	रसाह वावा हसार (सर्वतोभद्र-चित्रबन्ध)	,, ,,
(*c*)	परानिहा हानिराप (प्रतिलोम यमक)	,, (XIX-40)
XVI	किं न प्रचण्डात्पाखण्ड	नैषधीयचरित—(XVII-102)
XVII	कृपाणीभूय हृदयम्	,, (XVI-107)

APPENDIX B.

Work	No. of odd quarters	No of exceptional cases	Examples
1. *Mālavikāgnimitra*	34	1—*A* only 2—*B C*	इमा परीप्सुदुर्जाते (Act V) महासारप्रसवयो. (Act I)
2 *Vikramorvaśīya*	60	1—*A* only 3—*B C* 1—*A B C*	अनन्यनारीसामान्य (Act III) अथ त्वां पृच्छति रथी (Act IV) वचोभिराशाजननै· (Act III)
3 *Abhijñānaśākuntala*	72	2—*A* only 1—*B C* 1—*A B C*	दिनावसाने छायेव (Act III) हुकारेणैव धनुष (Act III) प्रक्रीडितु सिहशिशुम् (Act VII)
4. *Mahāvīracharitā*	260	1—*A* only 21—*BC* 6—*A B C* 5—*A B*	तेषामिदानी दायाद (Act I) उत्पत्तिर्देवयजनात् (Act I) सज्ञप्यते वत्सतरी (Act III) सस्तूयन्ते विप्रकर्षात् (Act VII)
5 *Uttararāma-charita*	160	4—*A* only 18—*B C*	इद कविभ्य पूर्वेभ्य. (Act I) विद्याकल्पेन मरुता (Act VI)
6. *Mālatīmādhava*	22	1—*B C* 1—*A B C*	गुणै. सता न ममक (Act I) यथार्थनामा भगवान् (Act I)

N B.—The fact that Bhavabhūti makes less frequent use of the *Anuṣṭubh* metre and turns his attention to the *Prakaraṇa* type of dramatic literature in the *Mālati Mādhava, may* indicate it to be the last work of the dramatist.

It has been shown above in detail on the history of the *Anusṭubh* metre in the different periods of Sanskrit literature, its treatment in the works on Sanskrit prosody and the observance or otherwise of its restrictions by the famous poets and dramatists of the classical period The main purpose in writing the present note is to indicate the exact number and types of its current varieties (both standard and exceptional) and the restrictions and laws governing them, and thus to show the scope of the metre *more* precisely

The historical *Anusṭubh* allows freedom as regards the first four syllables of a quarter (*Pāda*), but imposes certain restrictions as regards the last four syllables. Its standardized variety (called *Śloka* or *Padya*) is defined thus .

(*a*) पञ्चम लघु सर्वत्र, सप्तम द्विचतुर्थयो ।
गुरु षष्ठ च जानीयात्, शेषेष्वनियमो मत ॥ —छन्दोमञ्जरी (v—6)
(*b*) श्लोके षष्ठ गुरु ज्ञेय सर्वत्र लघु पञ्चमम् ।
द्विचतुष्पादयोर्ह्रस्व सप्तम दीर्घमन्ययो ॥
(*c*) पञ्चम लघु सर्वत्र सप्तम द्विचतुर्थयो ।
षष्ठ गुरु विजानीयात् एतत्पद्यस्य लक्षणम् ॥ —श्रुतबोध (10-11 Stanzas)

The fifth syllable is always short, the sixth is always long and the seventh syllable is long in odd (*visama*) quarters and short in even (*sama*) quarters But we have shown[1] that each of these restrictions has been singly or jointly violated by the classical poets and that departure from that standardized form is not rare. Consequently the exceptional varieties of the metre have obtained the same acceptance among Sanskrit poets as the standardized variety The definition, then, of the historical *Anusṭubh* (*Śloka* or *Padya*) as given by the prosodists is rather loose and vague, and should therefore be reconstructed. A close scrutiny of its various current varieties enables us, as we shall show, to define the metre and its varieties more precisely.

To begin with, we shall take up the odd lines first and try to find out the conditions which govern the odd lines of the metre.

---

1. See p. 299-300

(*A*) The first syllable is indifferent, *i. e*, it may be short or long

(*B*) The second and third syllables cannot *both* be short [1] That is, if the second syllable is short, the third must be long, or if the third is short, the second must be long In other words the first *three* syllables cannot form a नगण (III) or भगण (SII)

(*C*) The fourth syllable may be short or long in the standard form of the metre, but in exceptional varieties of the metre (to be mentioned later on), the fourth syllable *must* be long.

(*D*) As regards the 5th, 6th and 7th syllables, we have seen above that in the standard form of the metre they *must* form a यगण (ISS) for the 5th should be short and the 6th and 7th syllables should be long

But as detailed on pp 300 and 302 there are exceptions to this normal form, and that other गणs (besides यगण) are permitted in the combination of the 5th, 6th and 7th syllables.[2] Now let us see which are these other permissible गणs (combinations) We shall adopt the method of elimination A close perusal of the data[3] will show that the combination cannot be a जगण (ISI), for if the 5th and 6th syllables conform to the standard, the 7th also does the same and consequently it cannot be short to make a जगण (ISI) Nor can the combination be a सगण (IIS), for if the 6th syallable makes departure from the normal the 7th syllable also does the same and consequently it cannot be long to form a सगण (IIS).[4] The combination cannot be a तगण (SSI) either, for in no case of the exceptional examples (referred to above) we find the 5th and

1. See p 298-9, *ibid*

2. I am glad to record the keen interest of Mr. E. N. Bannerjee, Professor of Mathematics in D. A. V. College, Kanpur, in not only appreciating the contents of my paper referred to above but also writing a note on the subject (*The College Magazine*, 1939). His mathematical calculation of the varieties has been of much help to me.

3. See p. 302-3, *ibid.*

4. For the only exception (*Kumāra Saṃbhava*, X, 34), see the foot-note No. 2 on page 183-84

7th syllables voilating the rule and the 6th syllable observing it simulataneously. Thus, जगण (ISI), सगण (IIS) and तगण (SSI) being eliminated, we are left with the remaining four permissible combinations in the exeptional varieties of the metre But in all these exceptional varieties the preceding (i e, the fourth) syllable must be long

To put briefly, the normal form of the metre has a यगण (ISS) combination for the 5th, 6th and 7th syllables, and the current exceptional varieties have *any one* of the four combinations भगण (SII), रगण (SIS), मगण (SSS) and नगण (III), with the 4th syllable always long In all, therefore, there are five permissible types of the metre (one normal and four exceptional varieties)

(*E*) The eighth syllable is technically long in pronunciation, even though short in writing. Thus, speaking materially, it does not effect the number of varieties of the metre

Now we shall take up by turn each of the five permissible above mentioned (under D) types and try to determine the exact number of permissible varieties under each type.

I. यगण (ISS) *type in the* 5*th*, 6*th* and 7*th syllables.*—In this normal form of the metre, the quantity of the last four syllables being fixed, variations are possible in the quantity of the first four syllables only Now, the *first three* syllables cannot form a भगण (SII) or a नगण (III)—*vide* (B) above, where it has been shown that the second and third syllables cannot *both* be short Thus we are left with the remaining six गणs (जगण, सगण, यगण, रगण, तगण, and मगण) as the possible combinations of the first three syllables There are thus, six varieties of this type. And since in each of these six varieties, the fourth syllable may be short or long, we have in all 12 varieties of this type.

1 जलयग 2 जगयग 3. सलयग 4 सगयग 5. यलयग 6. यगयग
7 रलयग 8 रगयग 9. तलयग 10 तगयग 11 मलयग 12. मगयग[1]

[In these designations the first letter refers to the combination of the 1st, 2nd and 3rd syllables, the second letter ल or ग indicates whether the 4th syllable is short or long, the third letter shows the type of the com-

1. For illustrations, see the aypendix in the end.

bination of the 5th, 6th and 7th syllables, and the fourth letter indicates the quantity of the 8th syllable]

II भगण (SII) *type in the 5th, 6th and 7th syllables with the 4th syllable always long.* In this type also, as in the above यगण type, the first three syllables must form *one* of the six गणs (भगण and नगण being impossible). And as the 4th syllable must be long, we have only six varieties of this type

1 यगभग	2 रगभग	3 तगभग
4 जगभग	5 सगभग	6. मगभग[1]

III रगण (SIS) *type in the 5th, 6th and 7th syllables, with the 4th syllable always long*— Here also, we have six varieties as in the above .

1 यगरग	2 रगरग	3. तगरग
4. जगरग	5 सगरग	9 मगरग[1]

IV. नगण (III) *type in the 5th, 6th and 7th syllables with the 4th syllable always long* In this type also, as in above, we have six varieties .

1. यगनग	2. रगनग	3. तगनग
4 जगनग	5. सगनग	6. मगनग[1]

V मगण (SSS) *type in the 5th, 6th and 7th syllables with the 4th syllable always long.*—In this type the last four syllables are all long, and the fourth syllable being always long, the 2nd, 3th and 4rd syllables must form a रगण (SIS) [यगण (ISS) being not demonstrable]. So the only option is about the 1st syllable, which may be short or long. Thus we have only two varieties of this type.

1. लरमग 2. गरमग.[1]

To conclude our consideration of the odd quarters, we have 12 varieties of the standard (यगण ISS) type and 20 varieties of the exceptional types [भगण (SII), रगण (SII), and नगण (III) types (having six varieties each) and the मगण type, 2 varieties; thus 6+6+6+2=20].[1]

Now we will consider even (*sama*) quarters. About the last four syllables of an even quarter, it has already been pninted out[2] that "the

---

1. For illustrations, see the appendix in the end.
2. See Page 65, *ibid.*

even quarters always have the last four syllables alternately short and long (as ISIS) That is, the *sama-pādas* always conform to the restrictions of the *śloka* metre" In other words, the 5th, 6th and 7th syllables form a जगण (ISI) the standard combination for even quarters It is only in the first four syllables that we have varieties.

In even quarters also, the 2nd and 3rd syllables cannot both be short as we have seen above in the case of odd quarters As the 3rd and 4th syllables cannot be short and long (ल्गौ IS) respectively, it is clear that the 2nd, 3rd and 4th syllables cannot form a रगण (SIS), सगण (IIS) or नगण (III) We have therefore only the five remaining गणs [भगण (SII), जगण (ISI), यगण (ISS), तगण (SSI) and मगण (SSS)] as the permissible combinations of the 2nd, 3rd and 4th syllables And as the 1st syllable may be short or long, we have, in all, ten varieties of an *even* quarter

1 लभजग	2. गभजग	3 लजजग	4 गजजग	5 लयजग
6 गयजग	7 लतजग	8 गतजग	9 लमजग	10. गमजग[1]

The above detailed description of the current varieties of the standard and exceptional types of the historical *Anustubh* would clearly show that its traditional definition[2] falls too short of the requirement It is incomplete, incorrect and indefinite Its only merit is that it is short and describes fully the famous stanza (of Vālmīki) said to be the first *Anuṣṭubh* stanza in the classical literature [3] It records correctly the quantity of the last four syllables of that particular stanza, but says nothing about the same of the first four syllables of which we have as many as three varieties in the same stanza [4] We give therefore below in Sanskrit verses a comprehensive definition of all the current and permissible varieties—

---

1. For illustrations, see the appendix in the end.
2 See its definition above.
3. See page 296.
4. मानिषाद प्रतिष्टा त्वम् is रगयग variety of odd quarters.
   अगम. शाश्वती समा. is लयजग variety of even quarters.
   यत्क्रौचमिथुनादेकम् is तलयग variety of odd quarters.
   अवधीः काममोहितम् is लयजग variety of even quarters.

standard and exceptional both—with an explanatory Sanskrit commentary. All these varieties have been illustrated in an appendix in the end

It should be noted that in selecting the illustrations, the *earliest occurring* quarters have been chosen as samples from the following works in the *order of preference*, the *Raghuvaṃśa*, the *Kumārasambhava*, the *Śiśupālavadha*, and the *Mahāvīracharita*. Other works of the respective authors are not represented in the appendix, as they do not use additional varieties.

APPENDIX

A. *Even quarters* (10 varieties)

Standard—जगण (ISI) *type* (10 varieties)

ल भ जग
I S I I I S I S
1. लभजग क्वचाल्पविषयामति रघु० 1-2

ग भ जग
S S I I I S I S
2 गभजग उद्बाहुरिव वामन ,, 1-3

ल ज जग
I I S I I S I S
3. लजजग दधतुर्भुवनद्वयम् ,, 1-26

ग ज जग
S I S I I S I S
4. गजजग पार्वतीपरमेश्वरौ ,, 1-1

ल य जग
I I S S I S I S
5. लयजग उडुपेनास्मिसागरम् ,, 1-2

ग य जग
S I S S I S I S
6 गयजग माननीयो मनीषिणाम् ,, 1-11

ल त जग
I S S I I S I S
7. लतजग गमिष्याम्युपहास्यताम् ,, 1-3

ग त जग
S S S I I S I
8. गतजग वागर्थप्रतिपत्तये ,, 1-1

ल म जग
I S S S I S I S
9. लमजग प्रसूत: शुद्धिमत्तर ,, 1-12

ग म जग
S S S S I S I S
10. गमजग वंशेऽस्मिन्पूर्वसूरिभि: 1-4

B. *Odd quarters* (32 varieties)

Standard यगण (ISS) *type* (12 varieties)

ज ल य ग
I S I I I S S S
1. जलयग यथाविधिहुताग्नीनाम् रघु० 1-6

ज ग य ग
I S I S I S S S
2 जगयग यथापराधदण्डानाम् ,, 1-6

स ल य ग
I I S I I S S S
3 सलयग जगत पितरौ वन्दे ,, 1-1

स ग य ग
I I S S I S S S
4 सगयग हिमनिर्मुक्तयोर्योगे ,, 1-46

य ल य ग
I S S I I S S S
5 यलयग क्वसूर्यप्रभवोवंश ,, 1-2

य ग य ग
I S S S I S S S
6 यगयग तितीर्षुर्दुस्तर मोहात् ,, 1-2

र ल य ग
S I S I I S S S
7 रलयग वार्धके मुनिवृत्तीनाम् ,, 1-8

र ग य ग
S I S S I S S S
8. रगयग प्रांशुलभ्ये फलेलोभात् ,, 1-3

त ल य ग
S S I I I S S S
9. तलयग मन्द. कवियश.प्रार्थी ,, 1-3

त ग य ग
S S I S I S S S
10. तगयग त्यागायसम्भृतार्थानाम् ,, 1-7

म ल य ग
S S S I I S S S
11 मलयग वागर्थाविवसपृक्तौ ,, 1-1

म ग य ग
S S S S I S S S
12 मगयग त सन्त श्रोतुमर्हन्ति ,, 1-10

(ii) *Exceptional Types* (20 varieties)

I. भगण (SII) *type* (6 varieties)

य ग भ ग
S S I S S I I S
1 यगभग आपादपद्मप्रणता रघु० IV-37

र ग भ ग
S I S S S I I S
2 रगभग रामचन्द्रोदाशरथि ,,

त ग भ ग
S S I S S I I S
3 तगभग सन्मङ्गलस्नात इव ,, IV-47

ज ग भ ग
I S I S S I I S
4. जगभग तदन्वयेशुद्धिमति ,, 1-12

स ग भ ग
I I S S S I I S
5. सगभग ददृशेन्योरावणवत् शिशु०XIX-52

म ग भ ग
S S S S S I I S
6. मगभग सौमित्रेयो भ्रातृरत:

II. रगण (SIS) *type* (6 varieties)

य ग र ग
I S S S S I S S
1. यगरग ममैवांशो जीवलोके गीता० XV-7

र ग र ग
S I S S S I S S
2. रगरग धृष्टकेतुश्चेकितान: ,, 1-5

त ग र ग
S S I S S I S S
3. तगरग अव्यावहक्षेत्रमुक्त कुमार० XVI-22

ज ग र ग
I S I S S I S S
4. जगरग इद तु ते भक्तिनम्रम् ,, XVI-73

स ग र ग
I I S S S I S S
5. सगरग व्यसनेरिमन्मन्त्रशक्त्या महावीरच० ,, VI-2

म ग र ग
S S S S S I S S
6 मगरग सस्तूयन्ते विप्रश्रुति ,, VII-22

III. नगण (III) *type* (6 varieties)

य ग न ग
I S S S I I I S
1. यगनग अनाकृष्टस्यविषयै. रघु० I-23

र ग न ग
S I S S I I I S
2 रगनग भीमकान्तैर्नृपगुणै रघु० 1-61

त ग न ग
S S I S I I I S
3. तगनग अभ्युत्थिताग्निपिशुनै ,, 1-53

ज ग न ग
I S I S I I I S
4 जगनग युगान्तवातचलिता. कुमार०XVI-30

स ग न ग
I I S S I I I S
5. सगनग दिवसशारदमिव रघु० X-9

म ग न ग
S S S S I I I S
6 मगनग सन्तानार्थायविधये ,, 1-34

IV. मगण (SSS) *type* (2 varieties)

ल र म म
I S I S S S S S
1 लरमग फलानुमेया प्रारम्भा रघु० 1-20

ग र म ग
S S I S S S S S
2. गरमग अप्यर्थकामौ तस्यास्ताम् ,, 1-25

N B.—The following points can be noted from a study of the *selection* of the illustrations above.

(1) Kālidāsa does not use the exceptional varieties of the रगण (SIS) type and three exceptional varieties of the नगण (SII) type. It

is only in the *Kumārasambhava* that we see the two exceptional varieties (तगरग and जगरग) of the रगण type used by him *once* It may be noted that one of these two varieties, *i e*, तगरग variety, is found in the 16th canto, regarded as one of the spurious cantos of the work

(ii) The *Śiśupālavadh* of Māgha uses, in addition, only one exceptional variety, which is not seen in Kālidāsa and Bhāravi

(iii) The *Mahāvīracharita* (and not the *Uttararāmacharita* and *Mālatī-mādhava*) gives, in addition, two exceptional varieties (सगरग and मगरग) not seen in Kālidāsa, Bhāravi and Māgna.

(iv) The four exceptional varieties (रगभग, मगभग, यगरग and रगरग), though permissible, have not been used by Kālidāsa, Bhāravi, Māgha, Bhavabhūti and Śri Harsa Hence their illustrations have been selected haphazardly

30. THE LAGHU-ṢAṢṬHA VARIETY OF AN ANUṢṬUBH METRE

In the note entitled "*The sixth and seventh syllables of an Anuṣṭubh quarter*" (*IHQ*, XX, pp 82-3), Mr. D. C Sircar has attempted to reply to my criticism (*IHQ*, XIX, pp 358-9) of his finding fault with the metre in the lenged-verse on the seal of the Piperḍūla Copperplate Inscription (*ibid*, XIX. pp 142 f) As will be clear from a perusal of my two papers on the varieties of the Anustubh metre [*Nagpur University Journal*, (*NUJ*) No 2 (1936) and 6 (1940)], the historical Anuṣṭubh metre (called *Vaktra*, *padya* or *Śloka*), as employed in the classical period by the standard writers, has got 20 permissible varieties, where the rules of Laghu-pañcama and Guru-ṣaṣṭha are not observed These varieties are as prevalent and recognised as the standardised norm of the Anuṣṭubh metre The quarter-verse in question, Khaḍgadhārā-jita-bhuvaḥ is therefore just one of the 20 varieties and *not* a 'poetic licence.' A good number of examples of such occurrences are found in the works of standard Kāvya-writers. Are we to take such 55 cases in the *Raghuvaṃśa*, 39 cases in the *Kumārasambhava*, 23 cases in the *Kirātārjunīya* and 124 cases in the *Śiśupālavabha* (See *NUJ*, No 2, 1936, p. 67) as cases of poetic licence ? These cases should be taken as permissible varieties and *not* as "violations" by versifiers The works on Prosody have recognised these varieties and have named them as *Vipulā* and *Capalā* varieties of the metre (See *Pingala*, v-16/9; *Vṛttaratnākara*, II-iv). Thus there is no truth in the statement of Mr. Sircar that "As a matter of fact there is not a single authority on Sanskrit metre that allows a laghuṣaṣṭha in any quarter—odd or even—of the Anuṣṭubh metre "

In support of his proposed emendment (?), Mr Sircar has quoted three verses to show that when the fifth and sixth syllables are respectively short and long, the seventh syllable can be short *even* in odd quarters. But

these verses do not illustrate the historical Anustubh or its exceptional permissible varieties The historical Anustubh is *vaktra-anuṣṭubh* (an *ardha-sama* or *Visama vrtta*) and it should be distinguished from the *varnika-anustubh,* which is a *sama vtta* The first and third verses quoted by Mr Sircar are just the reverse (viparīta) of *Pathyā-vaktra* (Anustubh)—See *Vrttaratnākara* II-iv-3—which is a theoretical abstraction and has never been used by such Kāvya writers as Kāidāsa, Bhāravi, Māgha etc It would indeed be a great pity if Mr Sircar were allowed to find fault with recognised and permissible variety—[Vipulā variety of *Visama Vrtta* (*Vaktra*-anuṣṭubh) according to metrical authorities or *R-ga-na-ga* variety of the historical anustubh according to the nomenclature given by me in *NUJ,* No 6, 1940]—and to substitute it by his proposed reading, relying on the solitary opinion of *Saitava,* not followed by standard Kāvya writers. Mr. Sircar's second verse is still more off the point This verse is an example of *Pramāṇikā* or *Nagasvarūpinī* variety of *Samavrtta Varnika-anustubh* To quote this verse to show "hollowness of my criticism" is to make confusion worse confounded

[*Published in Indian Historical Quarterly, XX*—4, 1944]

31. A NOTE ON THE ALLEGED METRICAL DEFECT IN THE LEGEND-VERSE ON THE SEAL OF THE PĪPARDŪLĀ COPPER-PLATE INSCRIPTION

In the *Indian Historical Quarterly* (XIX, p 142), Messrs. D. C. Sircar and L. P Pandeya make the following remark with reference to the legend on the seal of the Pīpardūlā copper-plate inscription of king Narendra of Śarabhapura. "The versifier was morever not skilled enough; he allowed a *Laghu-saṣṭha* in the foot of the verse and this he could have easily avoided by writing—*jita-kṣiteḥ* instead of—*jitabhuvaḥ*" Further on p 145 (*Ibid*) in a foot-note on the text of the legend of the seal, they say "to rectify the metre, one may suggest the emendation—*kṣiteḥ*." The verse originally reads thus;

खङ्गधाराजितभुवः शरभात्प्राप्तजन्मन ।
नृपतेश्श्रीनरेन्द्रस्य शासन रिपुशासिन. ॥

We propose to show here that the remark about the metrical defect and the suggested emendation—*both* are uncalled for. Firstly, it should be noted that the *Labhu-saṣṭha* in the first foot of the verse does not warrant the conclusion that the author was not skilled enough The restriction of the *Guru-ṣaṣṭha* for the standard Anustubh-quarter holds good *only* in the case of even (*Sama*) quarters. As regards the odd (*Viṣama*) quarters, the restriction of the *Guru-saṣṭha* is not strictly enforced and numerous verses can be quoted from standard writers to show that this restriction is not generally observed e.g.,

Kālidāsa	मनाक्कृष्टस्य विषयैः......[रघुवंश I-23]
Bhāravi	युयुत्सुनेव कवचम् .....[किरातार्जुनीय XI-15]
Māgha	मम तावन्मतमिदम् ....[शिशुपालवध II-12]
Bhavabhūti	शोकक्षोभे च हृदयम्.....[उत्तरचरित III-29]

Sircar and Pandeya are not therefore justified in finding fault with the versification of the first foot of the legend-verse Besides, it should not be forgotten that the verse occurs as a legend on the royal seal, which should have been used in all important royal charters. An unsuccessful handling of the metre of the very legend of royal seal is therefore not likely to be tolerated, if the restriction of the *Guru-sasṭha* were generally observed.

Secondly, the emendation suggested by Sircar and Pandeya is entirely hopeless and reminds one of a remedy worse than the disease. The suggested reading of the verse "*Khadga-dhārājita-ksiteḥ*" can never fit in the verse as the first foot, for as I have shown elsewhere, if the fifth and sixth syllables are *short* and *long* respectively, the seventh syllable must be *long* to allow the odd quarter to become a permissible variety The suggested reading of the legend is therefore totally wrong, for the seventh syllable "*ksi*" does not conform to the above rule For further details and comprehensive treatment of the *Anustubh* metre—its history and varieties, my two articles published in the *Nagpur University Journal*, No II (1936) and VI (1940) on this subject may be consulted.

[*Published in Indian Historical Quarterly*, *XIX*—4, 1943]

32. BHṚṄGADŪTAM—A NEW KHAṆḌA-KĀVYA.

1. *Introduction* The main purpose of this paper is to bring before scholars some interesting points of information about Bhṛṅgadūtam—a recently found work of the Dūta-literature type. But before that, we propose to make some general observations on the Dūta-literature itself

2 *General remarks on the Dūta-literature.* The poetical works in the Sanskrit literature are divided into दृश्यकाव्य, and श्रव्यकाव्य; of them, the latter is further divided into Mahākāvyas and Khandakāvyas. The chief difference between a Mahākāvya and Khaṇḍakāvya is that in the latter, the author takes up a particular event and deals with it in a comparatively limited scope, while the author of a Mahākāvya has to take up a plot consisting of a number of smaller events. The rhetoricians have laid down rules about the size of, and the subjects dealt with in, a Mahākāvya. There are several things which must find their place in the descriptive part of a Mahākāvya.[1] The writer of a Khaṇḍa-kāvya has got this advantage that he is not required to describe all these things, he takes up a particular theme of his own choice and exercises his poetic imagination. In this way, a poet can show the best of his poetic talents in a Khaṇḍa-kāvya. To judge the real merits of a poet, we should, therefore, look at his Khaṇḍa-kāvyas, if any; there we will find the height of his poetic conception and imaginative facutly.

---

1. Cf. साहित्यदर्पण (6-322-4)
संध्यासूर्येन्दुरजनीप्रदोषध्वान्तवासरा ।
प्रातर्मध्याह्नमृगया शैलर्तुवनसागरा ।
सम्भोगविप्रलम्भौ च मुनिस्वर्गपुराध्वरा ।
रणप्रयाणोपयम-मन्त्रपुत्रोदयादय. ।
वर्णनीया यथायोगम् (etc.)

Meghadūta of Kālidāsa is unique in the Sanskrit literature in so far as it had led many later poets to imitate it This very fact is a living proof of the excellence and intrinsic worth of Kālidāsa's poetry Mr Chintaharana Chakravarti has mentioned[1] about fifty Khanda-kāvyas composed on the model of Kālidāsa's Meghadūta These works together form the so-called Dūta-kāvya literature or Dūta-literature

What are the peculiarities of the Dūta-literature ? The starting point of all the works of the Dūta-literature is to give expression to the feelings of separation An inanimate (as cloud in Meghadūta), or animate (as swan in Hansadūta) or an abstract thing (as mind in Manodūta) is made a messenger and a message is sent to the person or thing from whom the speaker is separated. The sentiment depicted is the विप्रलम्भशृङ्गार in the majority of works, but शान्तरस, करुणरस, भक्तिरस are also found[2] The message is usually sent by a lover to his or her beloved, but we come across such messages also in the Dūta-literature as a religious message from a disciple to his preceptor (Indudūta of विनयविजयगणि, a Jain monk), a message for seeking patronage of a king (Cātaka-sandeśa), or a message expressing the sense of devotion to a deity (मनोदूत of विष्णुदास)

Kālidāsa's Meghadūta is important for the geographical informations contained in the work It describes the various places between Rāma-giri and Alakā The majority of the later Dūta-kāvyas have lost sight of this important feature of Meghadūta But there are some which give geographical information, e g. Indudūta describes Jain temples and sacred places on the way from Yodhapura to Surat[3]

The metre usually employed in the Dūta-literature is Mandākrāntā, but there are a few exceptions We have got Mālinī-metre in Candra-dūta of Jambūkani, Śārdūla-Vikrīḍita, in Pikadūta, Sikharinī metre in Mano-dūta of Rāma-rāma, and Vasanta-tilakā in Hrdaya-

---

1. Ind Historical Quarterly (Vol III, No 2).

2. As in मनोदूत of विष्णुदास (शान्तरस) in मनोदूत of व्रजनाथ (करुणरस) and in भृङ्गदूत (भक्तिरस) Ind Hist. Quarterly (Vol. III, No 2).

3. शुकसन्देश of Lakshmidāsa given a detailed description of places between Rameśvaram and Gunapuram.

dūta The number of verses varies between twenty-three (in Candra-dūta) and two hundred (about) in Jain Meghadūta of Merutunga

There are some Dūta-kāvyas[1] which can be regarded as the समस्यापूर्त्ति, of one or two lines of Meghadūta. This unique way of incorporating a line or lines of all the verses of Meghadūta has immensely helped the preservation of the text and rejecting later interpolations.[2]

3. *Bhṛṅgadūtam--a recently found Dūta-kāvya* There are already two works[3] belonging to the Dūta-literature, which have identical or similar names. One of these, भृङ्गसन्देश or भ्रमरसन्देश is composed by Vāsudeva, a court-poet of Ravi-Varmā, the ruler of Calicut. In this work, the speaker sends a message to his wife who has been separated from him by a यक्ष It contains 192 verses. There is another work named भ्रमरदूत composed by Rudra Nyāya-Vācaspati In this work, Rāma sends a message to Sītā in Lankā through a bee. The work, which we are going to describe,[4] has for its theme a love-message sent by a Gopī to Srī Kṛṣṇa through a bee

The manuscript of the work is in private possession. The owner has kindly allowed the present writer to copy it and would be glad to allow its publication.

4. *Description of the MS.* The MS. is in a fairly good condition and tolerably well-written on thick paper. It is dated 1752 Vikrama Samvat 1696 A D

"सम्वत् १७५२ वर्षे फाल्गुण (? न) वदी (?) अष्टम्या रविवासरे।। शु ।।

It contains 19 leaves or 37 written pages, there being 9 or 10 lines and 3 or 4 verses in each page. The MS preserves the complete text except two stanzas (77, 78) which are omitted. It is difficult to account for this omission. After the 76th stanza, we get directly a stanza numbered

---

1. e.g. पार्श्वाभ्युदय of जिनसेन, and नेमिदूत of विक्रमकवि and many others.

2. See the Introductions of Meghadūta as edited by Pathak and Hultzsch.

3. See p. 279 (Ind Hist. Quarterly), Vol. III, No. 2.

4. This work has not been noticed by Mr. Chakravarti.

79th Perhaps it is due to the scribe's mistake The scribe of the work is one Rāmakrsṇa, resident of Sūkara-Ksetra

अलेखि रामकृष्णेन सूकरक्षेत्रवासिना।
पुस्तक मृङ्गदूतस्य धर्मकामार्थसिद्धये॥ (in the end)

He seems to have been an incompetent scribe He makes no difference at places between ण and न, श and स, ज and य, व and ब. Shortening and lengthening of vowels against metre are also seen Omission and substitution of letters have made it difficult to restore the original text in several cases The verse (56) has been misnumbered as [65) Sometimes, consonants are reversed (e.g पल्टी for पटली) But in spite of these shortcomings, it should not be difficult for a competent editor to restore the original readings

5. *Author*. The colophon[1] given in the end of the MS names the work as Bhramara-Sandeśa and regards it as composed by शतावधानकवि. But as this name appears to be more or less a title, given to the poet on account of his capacity of concentrating his mind on one hundred subjects at one time, we doubt whether this is the proper name of the poet The last stanza (perhaps not by the poet, for it stands in marked contrast to the previous verses as regards its metre and poetic worth) of the work runs thus —

श्रीकृष्णदेव (?·) स्मरणाभिधान·
शतावधान परमाभिधानम्।
श्रीमृङ्गदूत श्रुतिसारभूतम्।
व्यधादतिप्रेमकथानुभूतम्॥

It seems that the name of the poet was श्रीकृष्णदेव, though there is a difficulty in this conjecture, namely that we have to make a मध्यमपदलोपी समास here (श्रीकृष्णदेव इति स्मरण (योग्यम्) अभिधान यस्य स) But there are two considerations which may justify this unusual compounding In the first place, the versifier here is producing an effect of यमक (see धान and ऊत brought thrice in the first and second half of the verse respectively Secondly, the name of the poet being identical

1. इति श्रीशतावधान-कविकलित
भ्रमरश (? स) देश श (? स) माप्तम्।

with that of Śri Kṛsna, the hero of the book, the poet is necessarily reminded of his Lord's name and indulges in praising his name (स्मरणयोग्यम्)

Similarly the name of the works as given in the colophon differs from that given in the last stanza. The colophon[1] names it as भ्रमरसन्देश, the last stanza[2] names it as भृङ्गदूत The real name appears to be भृङ्गदूत, as is clear from the stanza, naming the scribe of the MS., quoted above. Thus we see that the colophon is misleading as regards the name of the work and the author.

6. *Date of the Work.* Nothing definite can be said at present about the period when this author कृष्णदेव flourished. We have so many authors bearing the similar or identical names, that it is difficult to say anything definite The matter is engaging the attention of the writer and an approximate date may be given at a later time Suffice it to say, at present, that he cannot be later than 1696 A D, the date of the MS. The fact that the MS was written in Sūkara-kṣetra, and that various details are given about व्रजभूमि indicates that the author may have lived, at least for some time, in the Western U P.

7 *The work proper* The work contains 126 verses in Mandākrāntā metre. Unlike Meghadūta there are no पूर्वभाग and उत्तरभाग divisions in the work All the verses go to form one unit—the work itself. The last stanza[3] is in Upajāti metre and states the names of the author and the work

8. *Subject-matter* A Gopī in artificial anger (प्राप्तमानान्तराया) has quarrelled with Śrī Kṛṣna and spends a restless night. The following morning, she sees, near by, a bee humming merrily on the opening lotus flowers With big tears in her sleep-idle eyes, she breathes a heavy sigh and asks the bee to take her message to her lover Śrī Krsṇa. The way shown to the messenger is not exactly one which the messenger must follow to reach his destination. What our author aims at is to mention and describe the various scenes of व्रजभूमि which are of great interest to

---

1. See above.
2. Quoted above.
3. Quoted above.

the Gopī and other devotees of Śrī Krsna The bee is asked to go first to the house of Nanda (याहि नन्दस्य गेहम्). The garden, the Mālatı-bower, scents of amorous spouts (कामक्रीडापरिमल), the arch– all these are admırably descrıbed. Then comes the Royal avenue (राजवीथि), where beautiful damsels are seen hurryıng to theır lovers, places and heart- attracting ball-games (कन्दुकक्रीडा) are beıng played. Reachıng Gokul through a spacıous gate, the messenger ıs to see the ımage of Ganeśa ın the court-yard, and the worshıp of Rohınī He ıs advısed to enjoy the playıng on musical ınstruments and the amorous dance in honour of the deıty Thence he goes to the way leadıng to the Yamunā rıver and lıstens to the wıtty and confidentıal talks of the ladıes who have gone there to fetch water He is to keep hımself aloof from these temptatıons and proceed on hıs undertaken errand. Now comes the temple of वाग्देवता (the goddess of speech) by whose grace even the anımals can compose excellent poetıc lınes [1] Thıs ıs followed by a very beautiful descrıptıon of Lord Śiva's temple. (कैलाशधाम).

Turnıng to the north, the messenger comes to the scene of कालियदमन, whence Śrī Krsna danced upon the hood of the great black snake. Then comes a long and vıvid descrıptıon of Vṛndāvana Now, varıous guesses are made as to what Śrī Krsṇa may be doıng at the tıme when the messenger happens to see him. The messenger may find him playıng wıth Gopa-boys, or returnıng with cows from grazıng fields, or caressing the young calves on theır back or lyıng on green turf and playıng upon the flute, under the cool shade of a Rauhına tree, or busy in varıous amorous spouts wıth the Gopīs. The messenger ıs asked to approach Śrī Kṛṣna humbly and delıver the message, whereın the Gopī refers to hıs past favours on her and of the present misfortune. She speaks ın excıted tone of the high fervour of her lover, makes her physıcal and spirıtual surrender to Śrī Kṛṣṇa. In the last stanza, her sincere devotıon bears fruit—the ever-kind and joyful Mukunda appears on the scene and grants her desire (साक्षाद्भूय स्वयमभिमतप्रापणायानुनिन्ये (मेने).

1. अल्पेनैव स्फुरितमतयो यत्प्रसादेन कुर्युः।
तिर्यञ्चोऽपि त्वरितममृतस्यन्दिनीः सूक्तिरेखाः॥ (Verse 40)

Its relation with Meghadūta. As has already pointed out at the outset, Meghadūta is the model on which the Dūta-kāvyas are based. Bhṛṅgadūta is no exception to this; rather it is a closer imitation of Meghadūta. It is greatly influenced by Meghadūta as regards language, metre, style, arrangement, and thought As is clear from the perusal of the subject-matter, the plot essentially follows the same line.

In the 1st verse of Meghadūta, we have

कश्चित् . . .यक्षश्चक्रे . . .वसतिं . ।

In the 1st verse of Bhṛṅgadūta, we have

. काचिद्गोपी . . . .कथमपि निशा कल्पकल्पा निनाय।

In the 2nd verse of Meghadūta, we have

. . .स . .मेघम् . . . ददर्श।

In the 2nd verse of Bhṛngadūta, we have

. . मधुकरमसौ कञ्चिदारादपश्यत्।

In the 3rd verse of Meghadūta, we have

. .अन्तर्बाष्पश्चिरम् . दध्यौ।

In the 3rd verse of Bhṛngadūta, we have

. . दीनया वीक्ष्य दृष्ट्या, खेदादेनां कथमपि नतभ्रूलता निःश्वसन्ती।

The last verse of Meghadūta[1] has got a similar echo in the following stanza (125) :—

एतत्कृत्वा मधुकरमवानीशितं मे दयावान्
वृन्दे वृन्दावनसुमनसा नित्यमानन्दमेतु।
प्राप्यामोदप्रसरसुभगामच्युतस्यानुवेल
वल्गद्भृङ्गी रणितमुखरा वैजयन्तीमुपास्ताम्॥

These few instances, quoted by way of स्थालीपुलाकन्याय, should suffice to show the close similarity.

There are two important features in which Bhṛngadūta stands in marked contrast with Meghadūta. In Bhṛṅgadūta, the interest of the poet lies in describing the various scenes of व्रजभूमिः। The separation of the Gopī from her lover is not caused by any external agency, as is found in the curse of Kuvera in Meghadūta. Naturally there is no need of mentioning and describing other cities, rivers and mountains, as the

1. एतत्कृत्वा प्रियमनुचितप्रार्थनावर्तिनो मे। . . . . . ॥

Gopī and Śrī Krsna are in the same place—the Vrajabhūmi. Hence no geographical description is given here

The second important feature of Bhrṅgadūta is that the conception of love depicted here is not purely human but divine Śrī Krsna is not regarded as a human figure In various places, frequent references are made to his divine aspect In the very first line of the book he is called पूर्णानन्दपरमपुरुष In the 6th verse, he is said to be श्रुतिमधुधुरामृग्यपादारविन्द He is referred to as ब्रह्मादीनामपि दिविषदा दुर्लभ, फलमविकल पुण्यकल्पद्रुमस्य (94) as निर्वाणहेतु (120). He is said to be सिद्धहेमाञ्जन for ससारक्लमविहृति In the 89th verse, the messenger is warned that he should not regard those damsels playing with Śrī Krsna as ordinary human beings They are said to have descended on the earth to serve Lord Visnu in the form of Śrī Krsna.

So here we have got what is called पतिपत्नीभाव of भक्तिमार्ग (Conjugal-love-aspect of the Path of Devotion). In the Indian thought of the Mediaeval period, there were three main currents of भक्तिमार्ग (Path of Devotion), मित्रभाव (companion-aspect) as in the works of Sūradāsa, दासभाव (servant-aspect) as in the works Tulasidāsa, and पतिपत्नीभाव (conjugal-love-aspect) as in the works of Mirābāi. It is the last path of serving God that finds expression in the utterances of the Gopī She says in verse 122 that she has no faith in the dry doctrines of Vedānta and final absorption in the absolute, what she desires most fondly is that she should come in personal contact with her Master and serve Him with speech, mind, and body.

The philosophy of love as revealed in the work is not, therefore, the विप्रलम्भश्रृङ्गार, but it is the craving for the realisations of *Divine Loves.*

Literary estimate. There is no doubt that the author shows masterly strokes in the field of poetic composition. Here and there we have got really fine phrases revealing the poetic talents of the author. But the conclusion is irresistible that the work betrays an inferior workmanship. There are adjectives having no significance and used only for filling the verse. Words are used in an unnatural sense and do not admit of simple interpretation.

We will illustrate these shortcomings from the first ten verses of the work.

(i) पूर्णानन्दे परमपुरुषे पुण्डरीकायताक्षे
सर्वैं पुण्यैरुपचितदृढप्रेमसिद्धाखिलार्था।
काचिद्गोपी प्रणयकलहप्राप्तमानान्तराया
प्रौढज्योत्स्ना कथमपि निशा कल्पकल्पा निनाय।

The adjective in the second line has no significance here and shows the poets' utter disregard for परिकरालंकार.

(ii) प्रात. प्रोद्यद्दिनकरकरत्याजितास्याञ्जमुद्रा-
मध्यासीन सरसबिसिनी सिन्धुधारा सृजन्ती।
वामा मीनक्षपणपटुना मञ्जुगुञ्जारवेण
प्रत्याश्वास मधुकरमसौ कञ्चिदारादपश्यत्॥

This beautiful verse loses its charm when we have to regard प्रत्याश्वासम् either as प्रत्याश्वस्य or प्रत्याश्वासयितारम् (पचाद्यच्). In the first case, there is a grammatical difficulty, in the second the sense is not happy.

(iii) निद्रामगादलसनयना दीनया वीक्ष्य दृष्ट्या
खेदादेन कथमपि नतभ्रूलता नि.श्वसन्ती।
सद्य. स्वैरं निजमुखसुधासेवके वासुदेवे
माव प्राप्ता पुलककलिकाराजिराजत्कपोला॥

(iv) मुक्त्वा मुक्ताफलसमरुचीन् सुन्दरीबाष्पविन्दून्
कृत्वा कण्ठ कथमपि मिलत्पञ्चम कोकिलेव।
सन्देक्ष्यन्ती सपदि हरये स्वा दशा प्रेयसे तां
मन्द मन्दं मधुकरमसौ प्राञ्जलिस्त जगाद॥

मावं प्राप्ता is a rare use of the word in the sense it is used here.
कृत्वा कण्ठं is not a happy use, it shows poverty of expression.

(v) अस्मादस्मत्सदनसविधाद्याहि नन्दस्य गेह
प्रत्यासन्नोपवनपवनानीतमाकन्दगन्ध।
गायन्तीनां कुवलयदृशां कृष्णमाकर्णयन्ती
यत्रोद्गीतं निवसति सखी नित्यमोदा यशोदा॥

Besides the difficulty of taking कृष्णम् in the sense कृष्णचरितम् and dragging उद्गीतम् the object of आकर्णयन्ती from the fourth पाद, the word सखी used as an epithet of यशोदा (Mother of Śrī Kṛṣṇa, the lover of गोपी)

is simply revolting. In the 15th verse,[1] however, the poet uses **देवी** as an epithet of यशोदा.

अलं परदोषोद्भावनेन. As we have already said, the work is not devoid of poetic excellence. We shall bring this paper to a close by quoting a few good verses from he book

(*viii*) सश्रीकान्तः किमपि कुपित सापराधे जनेऽस्मिन्
मत्सन्देशान्मधुप भवता माधवोऽद्य प्रसाद्य ।
तद्यायास्त्व दयित सुमनोवृन्दवृन्दावनान्त
यस्मिन् गोपैर्विहरति सम वल्लभो वल्लवीनाम् ॥

(120) लज्जा लूना कुलमगणित लङ्घिता मानमुद्रा
भग्न शील भय (?) मपहृत धिक्कृतो धर्मसेतु ।
यद्यद्दृष्ट प्रियमिति मया तत्तदत्याजि सर्व
त्वामेवैकं शरणमधुना यामि निर्वाणहेतुम् ॥

These may be regarded as good instances of प्रसादगुण. Below, I am quoting below beautiful stanzas as they reveal the poets' power of simple description.

(15) साय साय सह सहचरैः सौरभेयीसमूहान्
अन्वायान्त सुतमतिमुदा यत्र देवी यशोदा।
रक्षादीपावलिबलिकरा रक्षिताशेषलोक
प्रत्युद्याति प्रसृतहृदया प्रस्नुताभ्या स्तनाभ्याम् ॥

(23) सिन्दूरार्द्रे शिरसि दधती शेखर मौक्तिताना
सन्ध्यारागादुपनतमिव ज्योतिषां चक्रवालम् ।
वन्द्यानित्या व्रजयुवतिभिर्वैजयन्ती दधाना
बन्धूकाना यदजिरगता भाति हेरम्बमूर्त्तिः ॥

(31) सेकस्निग्धं चिकुरनिकर सयताग्र दधानो
मुक्त पश्चान्मृगमदरसामोदिकाश्मीरलेपः ।
हस्तन्यस्तैः कनककलशैरञ्जपत्रातपत्रैः
कालिन्देय नयति सलिलं यत्र कन्यानिकायः ॥

The following are the two verses indicating the flight of the poetic imagination :—

---

1. Quoted below.

(19) हैमान्कुम्भानुरसिजभरैर्दर्पणालि कपोलै-
र्भृङ्गान्पुष्पप्रकरमुखरान्पादभूषानिनादैः ।
तन्त्रीनादान्मृदुभिरुदितैः कुङ्कुमान्यङ्गकान्त्या
कर्पूरं च स्मितरचनया यत्र नार्यो हसन्ति ॥

(51) आनन्देन द्रुत इव हरेरङ्गलावण्यपूरः
कृष्णस्पर्शान्नव इव भुवो रोमराजीविलासः ।
दानस्यन्दोदय इव कलिन्दा (?) द्रिदन्तावलस्य
स्रोतोभारः सुभगसलिलः शोभते साधु यस्याः ॥

(यमुनायाः)

[*Published in Patna session Vol of All India Oriental Conference*, 1930. *Pages* 623-32]

past, the search and collection of old manuscripts was financed by the centre and the states. Also, we should not lose sight of the fact that it is not every day that a कौटिल्य or a भास is discovered, or a new evidence for fixing the date of Kālidāsa or for deciding the relative priority of Daṇḍin or Bhāmaha is brought forth to cause a sensation among the Sanskritists.

Even after conceding the above reasons, it should not be presumed that we have come to a point of exhausting the available material. There is a lot of material available, buried in manuscript collections and catalogues of manuscripts. The truth is that the Sanskrit Scholarship should give up its inertia and proceed ahead without looking now for the guidance from the West. The Western Orientalists have rendered in the past invaluable services, to the cause of Sanskrit studies Their scientific and impersonal approach, enviable thoroughness, and critical method are unfailing guides to us and should be strictly followed by us.

To me it appears that there are two weaknesses, we have to guard against. The first is the temptation of a short cut to cheap popularity Many of us, prompted by irrepressible लोकैषणा, are keen to get a credit, as early as possible, for having 'contributed' to the research-output, without caring for the quality of our 'product and thus go on adding to the bewildering mass of new contributions. Every-body is keen to write something. Few care to read what is already written before. There is, therefore, no surprise if much of what is written and produced is just incomplete, unassimilated and therefore trash. The second weakness is a corollary of the first, viz. averseness to the new fields and branches of studies in the research work. Here again the chief reason is the dislike for serious work, absence of perseverence and determination. Consequently, the scholars hover round and round the same old topics and do not cut new grounds. Even in the available stock of Sanskrit literature, there is much which requires close investigation. In fact, with the compact of modern age, the traditional intensiveness in study is fast disappearing and yielding place to पल्लव ग्राहिन् scholarship. The subtle reasoning, penetrative inquisitiveness and unassailable argumentativeness, as

exhibited in the works of post Kaiyata grammarians and Navya-Naiyāyikas are a taboo to the young scholars They are mostly concerned with the बहिरङ्ग परीक्षण of such works and not with their अन्तरङ्ग परीक्षण It is often forgotten that for the intellectual discipline and accuracy of thinking, a close study of the contents of the standard Shāstric works of the medieval period is not less important Really speaking, the scholastic literature of the medieval period is a great heritage of the past. Except in the sphere of Mathematics, no such intellectual eminence has been reached in the past by any nation in the world. Like scientists of the modern times, we should apply ourselves to the close study of none-the-easy and abstruse texts of scholastic writers We should remember the famous saying of Patañjali, व्याख्यानतो विशेष प्रति पत्तिर्नहि सन्देहादलक्षणम् that is, a thing does not cease to be (desired) simply because we cannot easily understand it

It is not only about the works of the speculative thought, that probing deep into a work, is necessary. The same is equally true of literary descriptive works also. We all know how this method of diving deep into the content of the यशस्तिलकचम्पू by K. K. Handique has shown the utility of such a study. V. S. Agrawal of Banaras has demonstrated the same in his study of Bānās Harsacharita and Kālidāsa's Meghadūta. Similar studies of other great works should be undertaken The need of the time is that each great work should be subjected to a close study in the light of the knowledge gleaned from contemporary literary and architectural records for bringing to light interesting items of valuable information. Another desideratum is the preparation of word-indices of important authors and standard works. Sporadic efforts have been made in this direction, e. g. A sherpe (Paris) has published the अभिज्ञान शाकुन्तल basic-text (Vol I, to be followed by its lexicon in Vol. II. T. K. Rāmachandra Iyer (Madras) has edited a Volume on concordance of Kālidāsa's Poems. But what is necessary is that the work of index and concordance making should be systematically planned and carried out in coordination with different Oriental research Institutes in the Country In fact, it should be a part of the Oriental Conference activities to chalk out a plan and get it executed by the different Universities and institutes

in a ten year plan with the financial help from the Centre and States Otherwise the purpose in view will not be fully achieved. The former work on Kālidāsa lexicon is to be based on the basic text which is proposed to take into account the printed text only It would be much better if this Shākuntala-lexicon were based on the critical text proposed to be published by the Central Government after a systematic collection of all available text material printed as well as manuscripts. The latter work, 'Concordance of Kālidāsa's Poems' published by Madras University is in Roman script and of poems only and thus it falls short of our exact requirements. Hence the need for a scientific planning of a comprehensive nature on an all India basis

Before attempting a rapid survey of the work done during the last 2-3 years in the classical Sanskrit, I have to seek your क्षमापन for the अल्पकृताकृत दोष, that is, the faults of incomplete commission and omission Taking into account the vast scope of the subject, I am sure I can crave you indulgence in the matter. To begin with big schemes and plans first, it is a matter of great delight that the critical edition of महाभारत by Bhandārkar Research Institute is now nearing completion. It fills one with a sense of pride to see that the biggest plan of India Scholarship will be completed within a few years. True to its own traditions, the Bhandārkar Oriental Research Institute has commenced last year another stupendous work of preparing a critical edition of the apilogue of महाभारत. The indefatigable energy of the Institute authorities indicates the truth of the saying . क्लेश· फलेन हि पुनर्नवतां विधत्ते. Another commendable feat of Indian Scholarship which is also alomst complete, is the planning of a five volume publication of the History of Dharmashāstra literature. With the publication of its fifth volume in near future its author M. M. Kāne will have the immense satisfaction of having completed single-handed a great plan undertaken by him. Similar is our satisfaction on seeing the progress in the editing of the voluminous work कृत्यकल्पतरु of Lakshmidhar by K. V. Rangaswāmi Aiyangar.

The Travancore University Oriental Manuscripts library journal has contributed its valuable service by publishing for the first time many

Sanskrit Kāvyas with or without old Sanskrit Commentaries Some of the Kāvyas are, विष्णुविलास and श्रीराम पञ्चशती by Ram Pānipade, त्रिपुरदहन (a यमक काव्य) by वासुदेव The मडलीक महाकाव्य of Gangādhar (edited by H D Velankar) published in Bhartiya Vidyā (XV—1-2) and गगादास प्रताप विलास (a नाटक) described in Baroda Oriental Institute Journal (IV—2-3) are new additions to Historical literary works in Sanskrit N A Gore has edited a very interesting लघुकाव्य named जारजात शतम् of Kavinīlakanth in which 110 stanzas excel one another in abusing (गालिप्रदान) one, who dared to accuse the author with stealing poetic thoughts and phrases of others

Among the dramas published in the last few years, भीमपराक्रम (a व्यायोग) by the son of Shatānand, मदन केतु चरित (a प्रहसन) by Ram Pānipade, आनन्द सुन्दरी व सट्टक of Ghanshyām (edited by A N Upādhyāya) are worth mentioning A Champū work named नृगमोक्ष प्रबन्ध of Nārāyan Bhaṭt, उषापरिणय प्रबन्ध (being published serially) are notable works. Among newly published commentaries of well known Sanskrit works, one may mention the टीका by pūrnā Saraswati on मालती माधव in Travancore Mss Lit Journal, that of Arunā girināth on रघुवश and the टीका of Rāghavānand on भागवत (published serially in Sanskrit College Magazine Tripputhere) are useful additions. V Raghavan's edition नृत्यरत्नावली (Madras O. R Mss Lit Series) of Jai Senāpati is another commendable publication.

The Travancore Oriental Manuscripts library journal & Adyar Library Bulletins have published many newly discovered original works and commentaries. Other manuscript libraries should also do the same. The Deccan College Research Institute has published as preparatory priliminaries for its gigantic scheme of the Sanskrit Thesarus on historical lines, नानार्थ मजरी of Raghav (edited by Krishnamurti Sharma, नानार्थ रत्नमाला of Dandadhinath (Ed Ramachandra Sharmā), एकार्थ रत्नमाला and द्वयक्षर रत्नमाला of Sanbhari (edited by E D Kulkarni) and कविकल्पद्रुम of बोपदेव (Edited by G. P Palsula) On rhetoric, may be mentioned the publication of अलकार कौस्तुभ of Karnapura with Vishwanath Chakravarti Commentary (from Vṛndāvan) and the Third volume of the नाट्यशास्त्र of Bharata awith the commentary of Abhinavagupta (edited by M. R.

Kāne and published by Baroda Oriental Institute) The edition of अवन्ति सुन्दरी of Dandin (edited by V. S Mahādeo Shāstrī) though still having many a lacuna, is a welcome publication, as it satisfies to some extent, the curiosity aroused in 1924 by R K Kavi's very fragmentary edition of its initial part only Another interesting work brought to light is वाक्चातुर्य तरंगिणी of Vishnukānt Shāstrī which aims at teaching Arabic and Persian through Sanskrit. The दानसागर of Ballālsen has been edited by भवतोष भट्टाचार्य in J Beng R. A S The edition of old Javaneso Rāmāyan Kakawin with special reference to the problem of interpolations in Kakawin" by C Hooykaas, confirms the earlier theory put forth by H B Sarkar, M. M. Ghosh that the grammatical महाकाव्य भट्टिकाव्य exercised a great influence in the literary activities of Java, Pandit Ramājñā Pandey of Banaras has, in his व्याकरण दर्शन भूमिका (published in Sanskrit Bhavan Series Banaras) attempted to bring together with his own bold criticism, the ideas purely Philosophical and partly linguistic, found scattered in grammarian literature In his शब्दापशब्द विवेक published by Bhartiya Sanskrit Bhavan, Jallandhar, Chārudeva Shāstrī has critically examined and discussed the correctness or otherwise of various forms and phrases from grammatical point of view with reference to Pāṇinian system. The Pāṇinīya-Sūtra-Vyakhyā (Madras) of Vir Raghav (edited by T. Chandraśhekharan) and a concordance of Sanskrit Dhātu Pāthas with an index of meanings (Poona) by G. P. Palsule are other useful publication The latter marks a distinct improvement on Liebich's lists published as an appendix to his edition of क्षीरतरंगिणी as it takes into account all the available Dhātupāṭhas besides giving an index of meanings also. India as known to Pāṇini (Lucknow) is a remarkable product of the patient labours of V. S. Agrawal in ransacking the Pāṇinian literature for presenting to us the India as was known to Pāṇini, Geographical aspects of Kālidāsà's Works (Calcutta) by B. C. Law, Love in the poems and plays of Kālidāsa (Banglore) by V. Raghvan, the Vidūṣṣak its theory and Practice and Humour in Sanskrit literature by I. T. Parikh, Art Experience (Mysore) by M. Hiriyanna are notable recent critical studies. The publication of various learned papers of P. K. Gode in two volumes of

studies of Indian literery History is a welcome publication and we expect in its remaining volumes his other learned papers Wide range of topics and thoroughness in their treatment are well known characteristics of Śhri P K Gode The conferment of honourary PH D on him by the International Academy of France is a well merited tribute to his scholarship Khsemendra Studies (Poona) by Suryakanta, Kālidāsa (in Hindi) by Chandrabali Pandey (Banaras), Sanskrit literature P E N publication by K. Chandraśhekhar and V H S Shāstrī, Psychological Studies in Rāsa by Rakesh Gupta (Banaras), the Indian Theatre by C. B Gupta (Delhi) are valuable additions to respective branches of Sanskrit literature

It is not possible to allude to various research articles published during the period under review. A few of them are noted here Bhavbhūti and the Ved, and Kālidāsa and Smriti (in J. B B R A S), studies in the Rāmāyan (B O L Institute Journal) by S N Vyāsa, Laughter as a Rasa-a Psychological reorienatist (Poona University Journal) by K N Watve, Two Nyayas in ralation to Dhvani creed (Baroda Institute Journal) by S R Bhattāchārya, The Āryā metre—A peep into its origin and varieties in early literature (Ibid) by Añjali Mukhopādyāya, a note or Paribhāsā Works (J Bhānas O R S XXXVI) by K V Abhyankar. Ramshankar Bhattāchārya (Banaras) and K C Chatterji (Calcutta) have been pursuing their critical studies on Sanskrit Grammar and have contributed many learned articles on Pāninian and allied systems. G C Jhāla has discussed the problem of yajnaphalam (in J Bom. B R A S. 29-1), has conclusively shown that its ascription to Bhāsā is untenable.

With the advent of independence the interest in Sanskrit studies has naturally increased and many schemes are being planned by official and non-official bodies His Highness the Maharaja of Banaras is said to have planned critical editions of Purānas. The Sahitya Academy founded by the Central Government has undertaken the work of publishing critical editions of Kālidāsa's works and also an anthology of Sanskrit literature in several volumes. Recently the Central Government had called a conference of Sanskrit Professors to consider the place of Sanskrit

in all stages of education and to recommend suitable measures for giving due recognition to Sanskrit studies. All these activities augur well for the future of classical Sanskrit. We may therefore conclude with Kālidāsa, सरस्वती श्रुतिमहती महीयताम्।

[*Presidential address delivered in the Anna-Malainagar Tanjore Session of All India Oriental Canference, (Classical Sanskrit section.)*, 1955]

34. SOME ASPECTS OF SANSKRIT LITERATURE

1 Importance of Sanskrit literature is seen when viewed from the following view points .

It is admittedly the earliest literature, the Rgveda being the oldest literary monument of the Indo-European languages And the Rgveda, it should be understood, itself is a finished product with a long tradition of literary activity before it Secondly, Sanskrit literature has been uninterruptedly continued unlike other classical literature of the world, and developed Even in the days of despondency and despair caused by foreign domination in the country, it continuted to be cultivated Thirdly, Sanskrit literature has, unlike the modern regional languages, always had in All India appeal & has been scrupulously & exclusively employed as a vehicle of expression for religious ceremonies and technical literatures Fourthly, Sanskrit literature is full of human interest, as it has works on almost all conceivable branches of human knowledge

2. The language in which the works of Sanskrit literature are written is unique, as its name is non-regional and Pānini, the greatest grammarian of the world, raised it to a status and refinement that it immortalised for ever as an All-India Language. Sanskrit is the mother language of all northern languages and has influenced more or less all languages of southern India Its alphabet is most scientifically arranged It is elastic and flexible, which give rise to many beautiful usages of 'Pun' & 'Alliteration in Classical Sanskrit literature. Its adaptability to suit different sentiments and emotions, and wide ranged diction are unsurpassed. Its etymological power gives it an effective expressiveness to all sorts of ideas and makes it best suited for coining terminological equivalents.

3. The contribution of Sanskrit Literature to the world thought is considerable. Its grammatical & philosophical speculations are un-

surpassed in the contemporary literatures of the world Through the doctrine of Karma & Philosophy of Non-Attachement, it has struck a line of balance on life-equilibrium in Man's attitude towards worldly affairs, a means to golden path between enjovment and renuciation, a way of not over-doing Our life is not an isolated thing. It is linked with the past and extands into the future In story- literature (fairy tales & fables) of the world, the Indian belief in transmigration of life played an important part. The inventions of Decimal system in Arithmatic has proved to be of immense value.

4. On the literary side, some of the works of Sanskrit literature have won world-wide admiration. Goethe danced with a translated copy of Shākuntalam on his head Max-Muller prayed for re-birth in a Vedic family of India. Schopenhaur found solace of his life in the Upaniṣhads. In both quality and magnitude no contemporary literature of the world can equal it. Its contribution to both sides of literary pursuits (Creative & Interpretative) is unique The numerous extant poetical works and different schools on Poetics (Alankra Dhwani Rasa etc) are the eloquent examples A keen penetrative insight and analysing acumen are seen in the niceties of Logic & Mimānsā systems.

5. The employment of poetry for non-Poetical literature is a wonder of the world literature. The grammar and other technical sciences are admirably treated in poetic style. The extreme care in preserving the Vedic texts intact through the various ways of recitation, and employment of Purāna, contents in the Medical and Astronomical sciences are unparalleled elsewhere.

6. That Sanskrit is a language of priestly class is a wrong notion. Its literature is a literature in full sence of the term. The Dharma propounded as one of the many topics in Sanskrit literature is very much different and wider than what the term 'religion' connotes. It is treated here as a World-force, a way of ideal life. It emphasizes Universalism, International-brotherhood. A devotee of Sanskrit literature is not narrow-minded a sectarian. His ideal is the good of others in preference to that of his own. He believes in performing his duties regardless of the fruits. He prays for a healthy, and not mere lengthy, life. He would

stand last in que to claim his own When others have already got theirs. He daily remembers the vast expanse of the Universe in relation to his tiny home, and also the eternity of time in relation of his momentary life in the time and space surrounding him He believes in variety of approaches through which God manifests Himself and can be realized For him the paths are many, but the goal is one. These are some of the sublime conceptions, which permeat the entire range of Sanskrit Literature and which have withstood the Indian people in the days of despair The Indian Culture owes every thing, which is good, true and beautiful to the continuous cultivation of Sanskrit literature

[*Summary of a lecture delivered in Allahabad University, as Extension lecture in* 1965]

35. SANSKRIT AND TULASĪDĀSA

As Kālidāsa is the cultural embodiment of the best in India during the first millinium of the Christian era, we have Tulasīdāsa in the 2nd millinium. He is a Typical representative of the Indian Culture and thought, is extent and influence, for linguistic and literary excellence and mass-appeal, and also for intrinsic poetic talents and missionary zeal for religious cum-social reforms

His association with Sanskrit language and its way of expression needs no proof Among the modern Indo-Āryanlanguages, Hindi is the fullest inheritor of Sanskrit, as it is essentially based on the Śaurasenī Prākrit and Śaurasenī is the Prākrit closest to Sanskrit phonetically In fact, to read and appreciate Tulsīdāsa the linguistic and literary background of Sanskrit language and literature with its traditions and environment, is indispensable. Tulsīdāsa himself says that what he writes is substantially based on Vedas, Purāṇas, Āgamas and Rāmāyaṇa (the fountain-head of Sanskrit poetry).

His enormous influence on the masses of the Hindi speaking regions is indiscribable. Even the illiterates are directly impressed by him and hundreds of verses from his Rāma-Charit Mānas-an immortal work-are frequently quoted by them in their everyday dealings. Like the name of Rāma, the most popular incarnation of God among Hindus, the Mānasa, is daily recited individually and collectively with a devotion and emotional fer vour. In fact, the hold of Tulasīdāsa on the Hindu mind in Northern India cannot be imagined. The grand preparations, being made for celebrating in 1974, his fourth Centenary on a very large scale by public and official agencies, afford an unmistakable evidence of his unparalleled contribution to mould and influence the Hindu mind.

His works are written in a language which abonds in Sanskrit words mostly in Tatsama form. A very large number of them, which are not

directly taken from Sanskrit, are easily recognizable, as Tadbhavā words It is refreshing to find that he is not averse to use colloquial (Deshaja) words of non-Sanskrit origin The popular words of even Persian and Arabic origin are not taboo to him But on the whole, the spirit and atmosphere of Sanskrit is all prevailing and running throughout, when not above then mostly beneath the surface [1]

The poetic figures such as similes and metaphores etc, are in almost all cases, the same as in Sanskrit words [2] In some typical cases they are refreshingly original also Seeing his continuous chainlike similes and metophers and strings of their alankāras, one is reminded of Bāna's Kādambari and other great prose works of Śanskrit literature The ornate phrasecology employed in medieval period Sanskrit works is met in Tulasī dasa also He shows intimate knowledge of the sciences of Music, astrology and Mathemetics[3] The external nature (flora, fauna rivers and mountains) as well as different aspects of human nature find similar echoes in Sanskrit poetry and Tulsīdāsa [4] Striking similar situations in character- portrayal are similarly found in Tulasīdāsa also sometimes in quite original forms

He believed in Vernāśrama—Vyavasthā As in Kālidāsa's age Buddhism in its declining days laid emphasis on renunciation and lost touch with the main currents of Indianness (Bhārtīyatā), similarly in the age of Tulsīdāsa, the spirit of Hindu India was cracking under the compact of cultural domination of foreigners and great social and religious upheavals were taking place Consequently, Hinduism was in danger At such a time, Tulsīdāsa appears on the scene and reminded his contemporaries of the glories of ancient Indian culture. He was like Kālidāsa an epock-making personality He showd the excellence of the balanced view of life, of Pravritti and Nivritti, i. e. Bhoga and Tyāga Like Vālmīki, he portrayed

---

1. See Rāma Charita-Mānasa (Pocket edition of Gita Press, Gorakhpur), Page 245.

2 Page 207 (Similes), 169 (Metaphors); p. 219.

3. P. 293-5; 269.

4. P. 273.

Rāma as an ideal king, being Maryādā Purusotama. But Tulsīdās goes further He never forgets that Rāma is really Supreme Being, over-everything and even such gods as Brahmā, Śhiva etc Rāma through his Līlā makes the universe dance according to his Will Tulsīdās emphasises the social virtues, attachment to one's duties and obligations andse sectarian and religious tolerence His conception of Rāma's rule has become a synonym of good administration, Rāma Rājya is to a Hindumind a picture of all happy world. Seeing his poetic talents and also reformist preachings he is both a saint-poet and poet-saint. A close study of his works will bring solace to the troubled society of modern age

[*Submitted to World Sanskrit Conference*; *Delhi* (*March*, 1972)]

36. KĀLIDĀSA — HIS UNSURPASSED GREATNESS

KĀLIDĀSA is the national poet of India. It is through him that the inner spirit and cultural heritage of this country find their eloquent expression. He is a representative poet of India Both in volume and quality, his writings stand unsurpassed in the post-epic period of Sanskrit literature He wrote lyrics, plays and Mahākāvyas and is therefore a versatile genius in the realm of poetic literature of Sanskrit language

The greatness of Kālidāsa is universally recognised in Indian tradition 'Kavikula-Guru' is the unique title given to him by the famous author of the well-known musical drama 'Gīta-Govinda. The name given to the second finger, Anāmikaa (nameless) owes its origin, in poetic tradition, to the fact that Kālidāsa's being placed on the first (little) finger, there was no poet even second in merit who could be placed on the second finger Thus by tradition and also according to poetic appreciation and critical judgment of the modern writers, Indian and foreign, Kālidāsa is India and there is no India without Kālidāsa

This well-merited greatness of Kālidāsa is based on his poetic talent exhibited in simple, lucid and elegant Sanskrit, in matchless skill of presentation, in lofty conception, minute observation and wonderful imagination. But what makes him a national poet, in the true sense of the term, is his unfailing love for the country and its people.

He is never tired of describing the vast land of India stretching from Kashmir to Ceylon He describes the Himalayas in the north and the Indian Ocean in the south in eloquent terms. He takes his reader on a round-tour of the country—starting from Ayodhya to the east to Āssām, Bengal, Utkal, Kalinga, and further to the southern regions (Pandya & Kerala), and also to the north across the Himalayas—Persia, the Pamir and the Oxus region He never fails to observe the special features and

manners of these places. He takes his readers to an aerial journey from Ceylon to Ayodhya and makes them follow the path of the cloud-messenger from Ramateka (Nagpur) to Alakā in Tibet. He has vividly described the confluence of Gangā and Yamunā at Prayag–a unique poetic piece in the whole Sanskrit literature

It is therefore with justifiable reason that the Kālidāsa Jayanti Samāroha Samiti of Allahabad has planned the staging of Kālidāsa's immortal drama 'Abhijnana Shākuntalam' in Kālidāsa Samāroha, Ujjain (on 13-11-1967) Kālidāsa has himself said that the drama is a unique means to cater to the varied tastes of people with different aptitudes So taking advantage of this occasion a venture is made here to present a fresh approach to the staging of Sanskrit plays

[*Published in Northern India Patrika*, (*November*, 1967)]

37. CORRESPONDENCE IN POETIC SANSKRIT BETWEEN AN ENGLISHMAN AND AN INDIAN PANDIT IN 1836 A. D.

As a token of homage to my revered teacher, Prof K Chattopādhyāya, who evinced great interest therein on the occasion of the Delhi session of All-India Oriental Conference held in 1957, I am reproducing the two unique letters in ornate poetic Sanskrit written one hundred and thirtyfive years ago They were discovered by my colleague, Prof K K Budholia (History Dept, Morris College, Nagpur) in Mandla (M P) The first letter marked 'A' is written in shining black ink on one side of a paper-sheet of 13″×8″ and contains thirty two verses in 45 lines The second letter (marked 'B') is written on both sides of a thinner paper-sheet of 8″×6″ and contains in 35 lines twelve verses The size of alphabets in 'B' is bigger and shows a less skillful hand in writing. The following items of information can be culled out from a close perusal of these letters. The letter (A) is written by one Pandit Rāmachandra of a place near Mandla (M P) and is addressed to one Lancelot Wilkinson in Shihoor nagar in Madhya Bharat, and the letter 'B' is a reply from Lancelot Wilkinson to the above-named Pandit The date as given in letter 'B' is आषाढ मास, कृष्णपक्ष, सूर्यतिथि, बुधवारे of the year 1758 corresponding to 1836 A D and the letter 'A' was written about one month earlier, i e आषाढ मास (अधिक) कृष्णपक्ष अष्टमी तिथि of the same year. Curiously enough, the Indian Pandit's letter, like Bāna's in the Harṣacarita, gives details of the month, Tithi and fortnight, but not of the year. The year, mentioned in the Englishman's letter 'B' is 1758 reckoned in Shaka era. In Shaka era, the अधिक मास precedes the शुद्धमास, therefore there is an interval of about one month intervening between the two letters Taking into consideration, the means of communication available

one hundred years before, and assuming that Shihoor nagar is modern Sihore near Bhopal, the time of one month is quite reasonable

We know that the fourth decade of the nineteenth century was the time when the medium of education was a topic of hot discussion among the authorities of East India Company Though ultimately, English was declared as the official language and began to be taught as the medium of instruction in Indian schools and Sanskrit was dethroned from its high position, it is interesting to see that the correspondence between an English officer and an Indian Pandit was carried on in Sanskrit, and that too in high-flown verses of various metres Herein lies the importance of these letters

Below is summarised the contents of the two letters In the letter 'A' Pandit Rāmchandra sends (Vs I & II) his blessings to the great patron of letters, Wilkinson Saheb, saying that his own poetic Muse need not have the feeling of despair due to the Kali age, because the great ruler Wilkinson is there ruling over the earth After conveying (Vs III) the news of his all-round welfare, he refers (Vs IV) to the Saheb's letters received earlier by him with great delight. Then he meets (Vs V) the charge of the Saheb of पुनरुक्तिदोष in his earlier letters by saying that a knot should be tied more than once to make it stronger. Then he refers to his present chief Maclot Saheb, who though very busy spares some time to study Sanskrit, and has made fairly good progress (Vs. X.) Then he proceeds (Vs. XII) to mention that a Maithila Brāhmaṇa named Vāsudeva, has been employed in Mandla for teaching children As the employed teachers were taking classes in their own houses, their mode of teaching could not be known by him and Maclot Saheb. The construction of a school building was under active consideration (Vs. XV). To an earlier enquiry from Wilkinson about the number of students in his school, Pandit Rāmachandra says that the people there (Vs. XVI) are rustic and are not studyminded. Then he enquires from Wilkinson about the condition of study in his place (Vs XIX) and requests him to send of available, some easy books useful for children (Vs. XX). He strikes a personal note by saying (Vs. XXI) that he was very sorry to hear that the Saheb suffered from eye troubles. In the end he asked pardon for saying (Vs.

XXII-XXV) in ornate language some striking and charming things, and reproduces the (Vs XXVII) well-known Verse that Seheb's well-known fame in the form of a she-swan reached heaven and there coming in union with the he-swan of Brahmā gave birth to a child, the white shining moon seen in the sky After imploring the Saheb (Vs XXX) for sending a reply, he closes the letter (Vs. XXXI), giving details of the month, day, etc but not of the year

In the letter 'B' Lancelot Wilkinson in a similar strain pays (B Vs I-II) his humble homage to the well-known Pandit Shri Rāmachandra After intimating his (Vs III) welfare in Sihoor nagar, he expresses his joy on reciving the Pandit's letter He congratulates (Verse IV) the Pandit for meeting successfully his charges of पुनरुक्तिदोष made in earlier correspondence, he says that he purposely raised the objection to arouse the Pandit to indulge in poetic fancy, as one blows out breath over the fire only to make it to emit more flames About the condition of study in Sihoor, the Saheb says that (Vs VII) it was the same as seen by him before. About his eye-trouble, he says that (Vs VII) his eye-trouble was chronic and that it was better at the time of writing the letter He also refers to the rusticity of the locality and to the sparse population in that region But, he adds, (Vs VIII) there is nothing impossible in the world and hopes that, like the marks caused by the rubbing of a rope on the well-stone, improvement can be effected in the knowledge of the local people. In the end, he refers (Vs. IX) to the poetic excellence of the Pandit's letter and expresses his inability to fully comprehend it. After the subsequent three Verses (X-XII) by a scribe, also named Rāmachandra, the letter comes to a close with इत्यलमतिपल्लवितेन, followed by the signature in initials "L. W" with words P. A (Political Agent, or Personal Assistant) written below the initials In the tenth Verse of the letter, it is stated that under the command of the great master, i e Lancelot Wilkinson, the preceding nine Verses have been composed in honour of Pandit Rāmachandra. Thus it becomes clear that Wilkinson Saheb got these Verses composed as his reply to Pandit Rāmachandra's letter, 'A'.

As compared to Pandit Rāmachandra's letter, Wilkinson's letter is rather formal, less ornate, to the point and is comparatively free from

hyperbole and exaggarations So there is no doubt that the ideas are his own and that they were put into Sanskrit by another Pandit As Wilkinson himself was a तीक्ष्णमति student of Sanskrit and a great patron of Pandit, not only the ideas but also expressions and phrases may have originated from him. The similes (Vs V & VIII) यथा फूत्कृतेनाग्निरुद्दीप्यमानः and कूपविनिबद्धदृषत्सुरेखाः are obviously his own

The language of these two letters and the homely subject matter found in these letters clearly show the Panditic tradition of correspondence is Sanskrit That an Englishman scrupulously followed the current tradition is an ample proof, if it were needed, of the current practice of those days to employ Sanskrit as a medium of correspondence

The Sanskrit of the letters is direct, forceful and of practical nature There is a flow and an air of popular language in the letters, though it cannot be denied that the very idea that the letters were written in Verses and long compounds were not avoided, show the artificiality of the style Sometimes, the expressions are uncouth, and complicated Metrical defects are not absent (e g, खलु प्राग in B-VI) Pandit Rāmachandra and the scribe Rāmachandra, both are not free from spelling mistakes (e g, श्रुणोतु (A-VIII), व्रूम (A-VIII), कूर्मो (A-XVI), विद्वस्नेह (A-26), शुभेशु (A-26), पश्यतु (B-8), विनिवत्ध (B-8), आपीतरे (B-9).

But despite these blemishes, there is a literary ornateness The varieties of metres is striking, and there are as many as eleven varieties of metres in only twelve verses of the Englishman's letter, 'B' The popular metres of Sanskrit poetry, like शार्दूल-विक्रीडित, आर्या, हरिणी, इन्द्रवज्रा, भुजगप्रयात, स्रग्धरा, वसन्ततिलका, मालिनी, प्रहर्षिणी, ताण्डवछन्द etc all figure there in the English-man's letter, 'B' This fact alone will show the *great* literary flourish in these letters It may also be noted that these two letters were not the only letters between the Englishman and the Indian Pandit, as can be easily inferred from the statements in the letter 'A'.

विद्वार्णैव गुणज्ञता समुदितो भूयानसूराभर
कालोय कलिराजगाम जगतीलावण्यकुक्षिभरि ।

इत्थं भावनया मदीय कविते मौनं किमालम्बसे
जागर्तु क्षितिमण्डलोपरि महान् विल्किन्सनाख्यो नृप.।।
स्वस्तिश्रीलसितेषु तीक्ष्णमतिषु क्ष्मापालमालस्थल-
प्रत्यक्षोन्नतभूषणेषु विदुषां जीवातुभूतेषु च।
बालाज्ञानतमस्त्रिमूर्तिषु . तथा भूते(षु) प्रसूतेष्वपि
सद्योद्यत्करुणाकरेषु सततं तथ्यार्थं सवादिषु।।१।।

यै. स्वप्रोद्दामधाम्ना निजमतिविभवैर्द्राक् प्रयत्नात् सुरत्नान्
कृत्वा दत्वा बुधेभ्यो गुणगणतरवो रोपिता पोषिताश्च।
तेषु क्ष्मारक्षकेषु प्रणयिजनमनः कल्पनाकल्पकेषु
विल्किन्सन्साहिबेषु प्रगुणगुणगणानन्दकोद्यद्यशस्सु।।
श्री रामचन्द्राभिधपण्डितेन भवत्कृपामौक्तिकमण्डितेन।
अनेककोटिप्रमिता इत कृता भवन्तु राजन्तुतरा सदाशिष ।।२।।

इहातिकुशलं प्रभो निरवधि त्वदीयं हित—
न्ममास्ति समपेक्षितं रचयतात् तथा शंकर।
भवद्भिरतिसुन्दरी बुधमनोरुचेस्तोषिणी
कृपाभरविबोधिनी स्वशुभपत्रिका प्रेषिता।।३।।

तया धनसमानया मम मनोमयूरं क्षणात्
प्रतिक्षणविलक्षणं विविधलक्षणं नर्तितं।
भवत्सुभगवृत्तकं जनगुणर्द्धिसञ्चिन्तकं
निवेद्य खलु साधितोप्यनुभव. सुधाया मम।।४।।

यत्पूर्वपत्रे भवता व्यलेखि मदीयपद्ये पुनरुक्तिदोष।
ज्ञेयो न सोऽस्मन्मतसम्मतो यतो न्यायैरनेकैर्भवतीह वारणम्।।५।।

निबध्यते ग्रन्थिरनेकवारमेकैव लोकैर्दृढताप्तये यत।
तेनैव पद्येन तदेव देव मयाप्यतः प्रार्थितमस्ति पत्रे।।६।।

यद्वा युक्त्यन्तरं त्वं शृणु नृप भवता साधितं. स्वान्तसंस्थो
भाव सर्वोप्यतो मे तदितरमधुना प्रार्थितु नास्ति किंचित्।
इत्येतद्ज्ञापितु तल्लिखितुमपि पुन पत्रिकायामलेखि
प्राज्ञैश्चित्ते विचार्य सदसदिदमिति प्रायशो दर्शिता दिक्।।७।।

अतो न वाच्य. पुनरुक्तिदोष सन्तोषकस्वीयगुणैर्जनानाम्।
अयि प्रभो स्वीयनृपस्य वृत्त ब्रूम श्रृ(?)णोतु प्रथम भवान् तत्।।८।।

अनेककार्याकुलचित्तवृत्ते श्री मेखलोटाख्यनृपालमौले।
सजायते नो बहुशोऽवकाशो यथावकाश पठतीह नित्यम्।।९।।

अतीवमतितीक्ष्णताभरबलान्मदीयो नृप—
स्तथापि सुरवाक्यदेविविधमर्मवेत्ताभवत्।
अनेकजनुभि कृत सततधर्म सत्कर्म यत्
तदीयफलभागसाविति न माननीय स्मय।।१०।।

गीर्वाणी श्रेणिगर्भस्थितमिदमखिल कर्तृकर्मादि किञ्चित्
किञ्चित् ज्ञात्वा मदीये मनसि घनतरानन्दकन्द विधाय।
सम्यग्गम्य. सुगम्य: सततजनहित श्रावक सप्रतीत्थ
ग्रन्थोनेनाधिपेन प्रथमर्मतिमुदा पठ्यते बोध्यमेतत्।।११।।

मदीयराज्ञ खलु धर्मकर्म किन्न श्रुत ख्यातमपीह लोके।
यदेकविप्रोऽर्भक पाठनेऽत्र नियोजितो योजितपाठनक्रम.।।१२।।

यवननगरकल्पेऽनल्पलोको द्विजानामिह न पठति विद्यां चेतसीत्थं विचिन्त्य।
यवनजनवरीण स्वीयशास्त्रे धुरीण. सुजनशिशुगणाना पाठक: सोप्यकारि।।१३।।

तथैव रेवातटमण्डलाङ्किते सदैव सत्पण्डितमण्डलीयुते।
श्रीमण्डलाख्ये नगरेपि योजित सत्पाठको मैथिलवासुदेव।।१४।।

तेषां शिक्षाप्रकार किमपि नहि मया मन्नृपेणापि सम्यग्-
ज्ञात शश्वद्यतस्ते निजगृह निवसद्बालकान्पाठयन्ति।
शिक्षाशाला विशालां विरचयितुमतश्चिन्त्यते साहिबेन
स्याच्चेदत्राप्यवश्य गुण गणरसिका. सम्भविष्यन्ति लोका:।।१५।।

यच्चोक्त भवता कियत् शिशुजना. सपाठिता यत्पुन—
स्तत्रास्ति द्विजमण्डली गुणगणाभ्यासस्य चैतत्फलम्।।
तत्प्रोक्त सकल सदेव भवता कुर्मो वय कि यतो
नास्ति ब्राह्मणमण्डली किमुत हो लोका वनस्था इह।।१६।।

अतश्च कालेन बलेन साध्या अनेकविद्याविविधा बुधाश्च।
भवादृशा यत्र गुणप्रयोजकाः किन्तत्र यत्नेन ममास्त्यसाध्यम्॥१७॥

अस्माभिस्तु निज वृत्त लिखित निखिल नृप।
परन्त्वग्रिमपत्रे तु भवद्भिरपि लिख्यताम्॥१८॥

भवत्पाठशाला अशेषबालाः कियन्त स्वविद्यालोकसतोषयन्त.।
कियद्भि कथ किं पठ्यते सर्वमेतद्भवन्तो लिखन्तु स्वान्तमानन्दयन्तु॥१९॥

ये ग्रन्था शिशुपाठने ऽतिसरला स्वल्पास्त्वनल्पार्थका
येषामध्ययने भवन्ति विविधज्ञानानुमानान्विता ॥
स्युश्चेते तव सन्निधौ गुणनिधे सम्प्रेषणीया यतोऽ-
नल्पस्वान्तकृपाव्यय प्रणयत. कृत्वैव तोष्या वयम्॥२०॥

परन्तु राजन् भवदीयचक्षुषे श्रुतो विकार श्रमसम्भवो मया।
अतश्च मे चित्तमतीव दु खित सत्कर्मकर्तुं कथमेवमापद ॥२१॥

भवतु मे ललितावविताभिता नृपधियेति मयेह न कल्पितम्।
किमपि वृत्तमिद स्वकपोलत प्रकृतिसुन्दरमेव हि सुन्दरम्॥२२॥

एतन्नगरकल्पस्थमित्थ वृत्त यथामति।
निवेदित पुरस्तेद्य किं सुज्ञेषु विशेषत ॥२३॥

चमत्काररसास्वादमोदसमोदिता बुधा ।
आनन्द न च विन्दन्ति विना ऽलकृत सद्वच ॥२४॥

युक्त एवास्ति मार्गोय दाक्षिण्यं वर्धते यत ।
अतोऽन्यद्वक्तुमिच्छामि यत्र सन्ततविस्मय ॥२५॥

विद्वत्स्नेहनिधे गुणोदधिसुधास्वादैकसमोदित-
स्वान्तानन्तशुभ शुभेशु कलितं वृत्त मया यत् श्रुतम्।
अत्युक्तौ यदि न प्रकुप्यसि मृषावाद न चेन्मन्यसे
तत्ब्रूमोद्भुतवस्तु वृत्तकथने व्यग्रा कवीना गिर.॥२६॥

भ्रान्त्वा भूवलय गुणीश्वरवर त्वत्कीर्तिहसी गता
व्योम्नि ब्रह्ममरालसंगमवशात् सा तत्र गुर्विण्यभूत्।
पश्य स्वर्गतरगिणी परिसरे तद्वर्णसालक्षितं
सात्रासूत नवीनमण्डकमिद शीतद्युतेर्मण्डलम्॥२७॥

सदोदितकृपानिधे प्रथितकीर्तिपूर्णाविधे
विवेकवचनोदधे श्रुणु मदीयमेक वच ।
भवद्गुणगणाश्रिय कणमपि प्रवक्तु प्रभु
कृतो न विधिनास्मि तत् प्रणयपुजत पूर्यताम् ।।२८।।

अलमस्त्वतिविस्तार' सुज्ञेषु वचसा मम।
लाघवेनैव मोदन्ते पडितास्तर्कमडिता ।।२९।।

इत्थमेवेह सप्रेक्ष्य पत्र रत्नसम भवान्।
सतोषयतु मत्स्वान्त क्लात कात्या यथा विधु' ।।३०।।

आषाढे मलिने मासे कृष्णपक्षे अष्टमी तिथौ।
रामचन्द्रो लिखत्प्राज्ञ श्लोकमौक्तिकमालिकाम्।
इत्याशीराशय शुभम्।

B

श्रीमद्वेदतदगतर्ककवितासाहित्यश्रृगारसन्मीमासाद्वयनीतिनिर्णयपुराणादिश्श्रुतै —विश्रुतै ।
आचारैरपि मण्डितेषु विमलै श्रीरामन्द्राख्ययाख्यातख्यातिषु पडितेषु परमानन्दानुसधायिषु।।१।।

लान्सीलट् विल्किन्सन्साहबबहादुरेण सरचिताः।
नतिततयः शतमितय सतत विलसन्तु सन्तु तत्प्रीत्यै।।२।।

शङ्करनगरे वरे कुशलमत्र तत्रत्यक सदा भवदनामय विलिखितव्यमस्मन्मुदे।
भवद्भिरधुनाऽमला विततपत्रिका प्रेषिता तदीक्षणसमक्षण क्षण इत' सुहृल्लक्षणः ।।३।।

आम्रेडितश्लोकनिविष्टदोषसवारण साधुकृत भवद्भि'।
इत्थ भवद्वाग्लहरी विनोद द्रष्टु किलास्माभिरधायि दोष ।।४।।

यथा फूत्कृतेनाग्निरुद्दीप्यमान स्फुरत्येवमाक्षिप्यमाणा महान्त ।
रसावेशतो वीरश्रृगारपूर्णा चमत्कारयुक्ता गिरन्ते गिरन्ते।।५।।

इति भावनया लिखित खलु प्रागितरैरसहसा न हि चिन्त्यमहो।
विदित सकल यदलेखि भवत्प्रभुणा पठित कृतकृत्यमपि।।६।।

अत्रत्या पाठशाला सशिशुगुरयुता यद्भवद्दृष्टपूर्वा
तद्वृत्त कि विलेख्य विदितमपि पुनर्लेखने को विशेष'।
अस्मन्नेत्रव्यथा त्वव्यवसितमतिवत् सर्वदानैकरूपा
तस्मान्निश्चेतुमर्हा नहि परमधुना किंचिदारोग्यमस्ति।।७।।

अत्रास्त्यरण्यजनता धनताविहीना तेनाशु किं पठितुमर्हति साधुविद्या।
इत्यद्भुत हि विदुषा किमसाध्यमत्र पश्यतु कूपविनिबद्धदृषत्सुरेखा '॥८॥

अनल्पकल्पपादपप्रवालकोमलामला सरस्वती विराजते स्म रामचन्द्रशास्त्रिणा।
विलोक्य तामुताकुला भवति चडपडिता आपीतरेऽस्मदादय प्रबोद्धुमीशते कथ॥९॥

॥ अथ प्रभ्वाश्रितरामचद्रो वदति ॥

इतिविविधविचित्रवृत्तरत्नैर्नवभिरिय ग्रथिता मयाद्य माला।
प्रभुवरविहिताज्ञया मनोज्ञा विलसतु पडितरामचद्रकठे॥१०॥

वत्सरे नागभूताश्वभूसमिते शोभनाषाढके कृष्णपक्षे तिथौ।
अर्कनाथे बुधे वासरे पत्रिकां रामचद्रोऽलिखत् सत्पदामन्त्रिका॥११॥

तत्पत्रसमवृत्त यद्यत्र नास्ति तथाऽपि ते।
लाघवेनैव तुष्यतु शास्त्रिण सुवचोस्त्रिण ॥१२॥

इत्यलमतिपल्लवितेनेति नति ॥

[*Published in Chattopādhyāya Felicitation Number of the Journal of Ganganath Jha Research Institute XXVII*—3-4 (1971) *Pages* 119-128]

38. BHĀVPRAKĀSH BY SHĀRADĀTANAYA

(Published in Gaekwad Oriental Series Baroda)

In the Literary treasury of Sanskrit—the creative and critical both, kinds of works are represented and have been well appreciated The Bhāvprakāsh of Shāradā Tanaya occupies an important place among the critical works written in the long period from Bharata to Panditarāja Jagannātha He belonged to the first half of the twelfth century His family had Kashyapa as its gotra-purusha and was well known for vedic and Shāstric learning. The birth place of Shāradātanaya, according to his own statement, was situated in the Northern Region of Āryāvarta Its identification is however not beyond doubt Some scholars indentify MERUTTAR with Meerut in Uttar Pradesh One great difficulty in accepting this identification is that so far all the manuscripts of Bhāvprakāsh have been discovered in south only At the same time we should not forget that he was an admiring follower of pratyabhijñāna philosophy of Kashmir So it is not improbable that Shradātanaya was born in Meerut of Uttar Pradesh.

As Shāradātanaya himself says he wrote another work, named Śāradīya on Science of Music But in the flow of eternal time Sāradā Tanaya and his works fell into oblivion and it was only in 1885 that his name came to be known through the Sanskrit commentaries on Kālidās's Vikramorvasheeyam and Rājashekhar's Karpūramañjarī Soon after a manuscript of Bhāva-prakāsha was received in Government Oriental Manuscripts Library Madras In 1929 a well edited edition of the work was published in Gaekwad Oriental Series of Baroda

The Bhāvprakāsh deals with all topics concerning stage. There are 10 parts in the work and they deal with Bhāvas (Emotions), Rasas,

word-meaning, relations, varieties of Dramatic works, Dancing and staging it The work is written in Epic style It is not well knit and adorned as a Mahākāvya Rules of prosody and grammar are not carefully attended to Similarly repetitions and re-elaborations are also present Still it cannot be denied that due to the comprehensive treatment and critical presentation the work deserves a conspicuous place among the works on Aesthetics and Dramaturgy

The principle of Rasa is important and much discussed in literary works Like Abhinavagupta, Shāradātanaya also regards Rasa as soul of poetry and takes figures of speech and style to be mere adorning instruments. Shāradātanaya prides in his claim to be a follower of Bharata and Abhinavagupta, still he maintains his independence and is not a blind follower. In some matters we see his independent views which differ from those of Abhinavagupta. According to Shāradātanaya, Rasa (Sentiment) in poetry can be both VYANGYA (suggested) and Vāchya (expressed), while Abhinavagupta insists on the Rasa being *suggested* only in good poetry In this respect Shāradātanaya agrees with DHANANJAYA, author of *Dasharoopaka* The other example of his independent approach is to regard VYAÑJANĀ as not different from TĀTPARYA VRITTI Thus to Shāradātanaya, DHWANI is implied in Tātparya Vritti Similarly in RASĀSWĀDA (enjoyment of Aesthetic Joy) Shāradātanaya does not agree with Abhinavagupta. According to Shāradātanaya the relation between Rasa and poetry is Bhāvya Bhavaka, that is effect and cause. Poetry creates Aesthetic joy and is thus its cause. The Ālambana and Uddeepana (Agent and inciting Vibhāvas), when presented before a reader or spectator through good poetry or Dramatic representation create or give rise to the sentiment of Bliss of extraordinary type The main propounder of this theory is Bhattanāyaka and our Shāradātanaya holds the same view Shāradātanaya is of the opinion that Shānta Rasā (Sentiment of calmness) cannot be staged or exhibited on the stage, but it can certainly be enjoyed through poetry Thus according to Shāradātanaya Poetry has a wider appeal than Drama

Another peculiarity of Shāradātanaya is his tendency to refer frequently to earlier critics and their opinions The important views of earlier

literary critics from Bharata to KSHEMENDRA have been mentioned in Bhāvaprakāsha There is a detailed description of the origin and development of Music and Dancing in the Bhāvaprakāsh The author is particularly interested in referring to and evaluating discriminately the views of his predecessors As Dramatic representation contributes more distinctly to the enjoyment of Aesthetic joy, our author has dealt with elaborately, in his treatment of Dramaturgy, with uprūpakas of Dramatic works Consequently he has mentioned by name many Dramatic works which are not available to-day such as INDRALEKHA, SĀGARA, KAUMUDĪ, VAKULA VEETHĪ, KUSUMA SHEKHAR, TĀRAKODDHĀRANA, DEVĪ PARIṆAYA, NALAVIKRAMA, PADMĀVATĪ PARIṆAYA, MĀREECHAVAÑCHITA, MENAKĀNAHUSH, VRIKODDHĀRA, SUGREEVA KALATRA etc It is obvious therefore that various works on Dramatic Literature were current and well known at the time of Shāradātanaya Similarly a close study of Bhāvaprakāsha reveals that its author was well acquainted with numerous works of contemporary literature on Aesthetics, Dance and Music Therefore it is not a surprize that he unhesitatingly mentions critical works of earlier times, many of which now remain in name only, for example such writers on Dramaturgy as ĀGNEYA, DRAUHINI, PADMABHOO, MĀTRIGUPTA and others.

In the end of his work Shāardātanaya has given a traditional account of Indian Geography He says that with the passage of each age, people migrate to south from north because of progressing advance of snowfall He enumerates 64 Regions of India including Kashmir, MERU KONKAṆA, GAUDA, LĀTA, VIDARBHA, KĀSHĪ, KOSHALA, MITHILĀ, ANGA, VANGA, KALINGA, PĀNDYA, KERALA, CHOLA etc The eighteen Regional Languages of India and literary prākrits of Dramas (SHAURASENĪ MAHĀRĀSHTRĪ) etc are mentioned in the work. Of particular interest is his reference to the speech, Dress etc of wild tribes as SHAKĀRA ĀBHĪR, CHĀṆDĀLA PULINDA, SHABARA, HALIKA etc as special actors, introduced on the stage in between different Dramatic scenes

Shāradātanaya ends with these verses.

He says that he has composed this work by the grace of Shāradā (Goddess of learning) following the footsteps of Bhattanāyaka and Abhinava gupta. Whoever grasps the import of this work in its essential features, will be certainly honoured by the kings adept in the science of Aesthetics Seeing that the work has been named as Bhāva-prakāsha, the use of the word Bhāva in the sense of Aesthetics is significant The author has also very admiringly hinted at the close relation between Royal patronage and development of Art and letters No surprize therefore that Bhāvaprakāsha of Shāradātanaya is assigned a distinguished place among the works of Indian Aesthetics

[*A review sent to the Publisher in* 1932]

39. SHAT-KHANDĀGAMA-A GREAT JAIN WORK

The Ṣhat-Khandāgama of Pushpadanta and Bhūtabali—with the commentary. Dhavalā by Vīrasena, Vol 1 Part I Edited by Prof H L Jain, M A. King Edward College, Amraoti, assisted by Pandit Phoolchandia Shāstri and Pandit Hiralal Shāstri

Published by Jain Sāhītya Uddhāraka Fund Office, Amraoti Pp 8 (Preface)+4 (Preface in English+96) (introduction)+410 Text+28 (Appendices), 1939.—Price Rs 10.

In the early days of the 19th Century when the Orientalists (foreign and Indian both) helped by the Government were bringing to light the available manuscript material of the Brāhmanical literature, the opposition of the orthodox Brahmins to the publication of their scriptures and the consequent pollution (according to their view-point) of their religious texts in the hands of non-votaries was not quite unexpected But even then, the obstacles in those days, were not insurmountable and all the Brāhmanical religious scriptures saw soon the light of the day, many of them were published for the first time in foreign countries. The Pālī scriptures (Tripitakes) available in various recensions—Ceylonese, Burmese, Chinese etc—were still more easily acquired and published in Roman script long ago It is only in recent times that their publication in Bengali and Devanagari script has been undertaken. But the state of affairs is rather different about the Jain scriptures The publication of the book (under review) has brought to our notice some startling facts about the preservation and recovery of Jain manuscripts and their publication.

Original Manuscript

The only available original Ms. of the work, of which the present published book is only a half of the first of its six sub-divisions, is written in

Canarese script and is preserved in the Jain temple, named Guruvasadi, at Mudbidri in South Canara. Wrapped in costly silk-coverings and kept in the inner sanctum of the temple, the Ms is now rather an object of worship than of study The Jain pilgrims hailing from all parts of India go there to have a glimpse of the silk-covering and only the rich ones are allowed to touch and worship it The early forms of the Canarese scripts show clearly that the Ms must have been written 5 or 6 centuries before By the passage of time the palm leaves of the Ms were tottering and there was an imminent danger of its being lost to the Jain world Some generous minded and far-sighted Jain devotees persuaded therefore with great difficulty the trustees of the temple to allow the preparation of its fresh copies in Canarese and Devanagari scripts

This permission was given on the express understanding that the copies freshly prepared would be retained in the Mudbidri temple and would not be taken away, to other places For in that case the custodians of the Ms feared the loss of revenue received from the Jain pilgrims of all parts of India The work of copying however started in 1896 and was completed in 1922. It cost about Rs 20,000 generously contributed by the rich members of the community The interesting part of our narrating the history of copying in detail is that in the course of copying the Ms one Jain Pandit Gajapati Upādhyāya helped by his learned wife Mrs. Laxmībāī prepared secretly a second copy also and managed to smuggle it from the Mudbidri temple.

He approached some Jain business men responsible for raising the fund necessary for copying the original Ms with a request to keep the second copy (prepared secretly) with them, but no orthodox Jain devotee could venture to, accept the offer on account of the superstitious belief in the expected curse of the custodians of the original Ms Nor was their fear without foundation for we are told that the first copyist Pandit Brahmasuri Shāstri died after comparing it with the original copy kept in Saharanpur The editors could not, to the great regret of the scholarly world, get access to the oldest original Ms. of Mudbidri But this fact should not detract from the great value of the present publication They have made the best possible use of the material accessible

to them in constituting the present text according to the sound principles of textual criticism The utilised Mss being very recent copies of a stolen (?) transcript of the original, belong to the same family and, being written with not due care and rather in haste, are at places corrupt and full of lacunae

But as the gaps occurred fortunately in different Mss in different places, they could be easily filled in The punctuation marks are not only not absent in these Mss but in one (belonging to the Karanja temple-library) they have been arbitrarily added afterwards only to show that the Ms contained the full-stop marks and was not less valuable on that account. But thanks to the scholarship of the erudite editors and their acquaintance with the subject matter, we have got from them a fairly satisfactory text.

Dvādasānga Jain Canon

The teachings of Lord Mahāvīra, are arranged into 12 angas (divisions) termed as Dvādasānga Jain canon Handed down orally from preceptor to pupil it was on the point of being entirely forgotten, when Dharasena (of about 2nd century B C) got some of its parts reduced to writing through his students, Pushpadanta and Bhūtabali. These portions saved from oblivion are named Shaṭ-khandā-gama and contain 60,000 sūtras in all The three grand commentaries, Dhavalā, Jayadhavalā and Mahādhavalā, are according to the Digambar Jain tradition, the standard expository explanations of the Shat-Khandā-gama. As said above the Mss of these works are preserved in Mudbidri only and while the copies of the first two are now available, the third remains still uncopied and therefore inaccessible to the scholars. The portion now published contains only the first 177 sūtras (out of 60,000 sūtras) with the commentary Dhavalā by Vīrasena of about 800 A D. Thus the published portion is only a fraction of the monumental work, the Ṣhat-khandā-gama and its explanations. The main theme of this work is the exposition of the Karma Philosophy The first three divisions of the great work deal with the Doctrine of Action from the point of view of soul and the last three from that of the objective Karmas.

The published portion deals with the first part of Jīvasthāna and treats the quest of the soul and the stages of the spiritual advancement. The sūtras are in Prākrit language and so are the Gāthās (verses) quoted in the commentary But the commentary Dhavalā is more in Sanskrit than in Prākrit. In fact in the published portion of the commentary about one-fourth only is in Prākrit This preponderance of Sanskrit in the commentary clearly shows that in the pre-Gupta period of the Jain literature Prākrit reigned supreme but with the rise of Brāhmanism in the Gupta age, Sanskrit reasserted itself and became the language of the learned expression with the result that even the non-Brāhmanical writers were not immune from its influence

The present book (under review) in its nice get-up and good printing is a welcome addition to the published Jain literature. There is visible on every page the touch of a scholarly hand in 'editing it The Gāthās quoted in the commentary from earlier Jain literature are printed in different types to distinguish them from the commentary as such The sūtras and commentaries are at first translated literally into Hindi and are then at places explained in detail with much clarity of expression These elaborate explanations bring all the allied matter together in one place and are bound to prove of much help to a beginner

The copious foot-notes on every page quote passages on allied subjects from the Brāhmanical and Jain literature with full references The appendices include lists of historical and geographical names, of the works quoted in the text, and a few samples of the Variant readings found in the utilized Mss. But the most important portion for a general reader is the comprehensive introduction in which Prof Jain has given a detailed survey of the works of Jain teachers and writers The critical discussion of the date of Dharasena and Vīrasena (authors of the sūtras and the commentary) and of the important problem of the beginning of the Vīra-Nirvāna Samvat (Jain era) bring to light a mass of scholarly information and bears testimony to the critical insight and judicious care with which they have accomplished the arduous task.

The whole Digamber Jain literature has been concisely summarised and its relation with the Śvetāmbara Jain literature is clearly indicated.

A short note on the forms of the Prākrit used in the work and the principles of textual reconstruction would be of great interest to the specialists On the whole, the introduction has greatly enhanced the value of the present work and its close study will acquaint one with many necessary items of information about the Jain literature

Those interested in the study of ancient Indian literature owe a debt to the editors of an important Jain work not available before In fact, the commentary published is an encyclopaedic work and is bound to arouse general interest among non-Jain scholars also, for it does not confine itself to mere interpretation of the sūtras or propounding the Jain doctrines Many other cognate matters are brought forth in the course of its discussions and we come across occasionally interesting treatment of such topics as grammatical, logical and philosophical etc

In a lucid and elaborate style the author, Vīrasena, handles the language with ease and confidence The vigorous and expressive Sanskrit prose of the commentary reminds one of the Standard Sanskrit prose of such great writers as Ānanda Vardhana and Jayanta Bhatta. We look forward with eagerness to the second volume of the work, wherein, Prof Jain has promised to give us an exposition of the Jain Philosophy based on the monumental work, Ṣhat-khandāgama, which, we are sure, will be a valuable contribution to the interpretation and proper understanding of the Indian Philosophy as a whole.

[*Published in Nagpur Times* (*Nagpur*) *on* 23-12-1939]

40. THE STRUCTURE OF THE AṢṬĀDHYĀYĪ

[*By Mr I S Pawate, M A , LLB , Pleader, Hubli, Published by the author PP, Xiv*+136, *Price Rs* 2]

Unlike other branches of Indology, the Indian grammatical system has yet got many aspects of its study untouched by the hands of the modern researchers The Pāṇinian system of grammar, the most important of all, has attracted no doubt the attention of the foreigners, and much solid work has been done by Goldstucker, Whitney, Kielhorn, Wackernagel, Leibich, Thieme, Faddegon and Buiskool etc who have tried to examine the subtle details of the 'Internal' study of Pāṇini's Astādhyāyī and its grand comentary But among the Indian scholars, the subject still remians 'untouchable.' Except the chronological and historical study of the Sanskrit grammatical systems by Belvalkar and H P Shāstri and a readable presentation of the Philosophy of the Sanskrit Grammar by P C Chakravarti, very little has been attempted to touch other aspects of the subject In fact, the intensive textual study of the Pāṇinian system has been regarded as a close preserve of Vaiyākarana-pandits only, and the modern Indian scholarship has concerned itself, if at all, only with the external aspect of its study The result is that on account of the absence of training in and appreciation for the modern methods of research, our Vaiyākaranas continue to remain engrossed with scholastic disquisition and hair-splitting argumentation, and the modern scholars, on the other hand, have no 'liking' for this branch of Pāṇinian research. Mr. Pawate, therefore, deserves to be congratulated on breaking the ice and publishing the present work containing the results of his laborious researches in Pānini

Mr Pawate has dived deep into the textual study of the Asṭādhyāyī and has arrived at conclusions which will appear, not without justification, startling and unpalatable to orthodox grammarians. His main thesis is that Pānini got handed down to him a book of sūtras with the *Dhātupātha*

and the *Ganapātha* as companion volumes to it. This book of sūtras, Pāṇini found incomplete and inadequate as a manual of Sanskrit grammar So he enlarged by incorporating into it sūtras borrowed from grammatical works belonging to other schools of grammar and by framing, where necessary, fresh sūtras of his own The incorporated sūtras can be, according to Mr Pawate, detected by the fact that they generally contravene the *Paribhāṣās* found in the Astādhyāyī The added ones can be detected by the three tests of the *mandūkapluti*, the चानुकृष्टस्योत्तरत्रानुवृत्ति and the purposeless yogavibhāga Applying these "tests" Mr Pawate has given in the end of the book his own idea of what should have been the Basic (original) Book of Sūtras of the first quarter of the third chapter of the present Astādhyāyī

The subject of grammar has always been, in the history of Indian scholarship, full of controversial problems A perusal of the grammatical texts will not fail to convince one that a suceeding generation of grammarians was always critical of the preceding generation The *Munitrayī Jayāditya* and *Kaiyaṭa*, *Haradaṭṭa* and *Rāmacandra*, *Bhaṭṭoji Dīkṣita* and *Nāgeśa Bhatta*—not mentioning the still 'newer' (Navyatara) grammarians—all these have been true to the above tradition Even in modern times, the long-drawn controversies between Bohtlingk and Goldstucker, Weber and Kielhorn, though of a different nature, yet pertaining to Pāṇini—are still fresh to scholar's mind How truly has Faddegon said

Goldstücker has admirably attacked Böht—
lingk, but for Bohtlingk we forget Goldstücker,
And Whiteny has admirably attacked
Pāṇini, but for Pāṇini we forget Whitney
I adore Böhtlingk because he reveals
to us the spirit of Pāṇini
I adore Pānini because he reveals
to us the spirit of India,
I adore India because it reveals
to us the spirit, the spirit,

The conclusions arrived at by Mr. Pawate after a searching examination of the Astādhyāyī and its commentaries, may not be acceptable

in all details, but his main thesis is entitled, by virtue of its strictly logical treatment and direct textual evidence adduced, to the most serious consideration of the modern Pāniniyas. Many other allied evidences have to be considered before his conclusions can claim finality.

Mr Pawate has rather unwarrantedly given more than due importance to the soundness of the principle that Pānini's text should be judged from the standards evolved and accepted by grammarians *later* than him When in the course of reconstructing the text, he rejects certain sūtras because they do not conform to certain 'tests', he forgets that Pānini might not have been bound by these tests We should judge Pānini from his standpoint He must have had his own method and procedure in writing the Astādhyāyī—the plan and brevity of which are still recognised as a great achievement In a book claiming with justification to cover the whole range of the contemporary Sanskrit language with the utmost economy from his point of view, the so-called digressions can be well explained. These digressions are not isolated interpolations They are occasioned sometimes by what precedes or follows Sometimes they arise from a desire to link together two logically divided subjects The sections in the Astādhāyī are not confined to the subject expected by us according to the context, they deal also with the subjects coherent in it It is therefore necessary to understand *Pānini* and to appreciate his position by entering into his spirit before passing any judgment on him As an illustration, we may point out that the seemingly indiscriminate use of the words, वा, विभाषा, उभयथा and अन्यतरस्याम् as words denoting option may not be due, as Patañjali (on 2-2-57) says and with which Mr Pawate readily agrees, to the fact that Pānini incorporated the sūtras with these words indicating option from different schools of grammar According to Mr Pawate, a particular school of grammar used invariably only *one* of the above words in the sense of option should we not try to see if any rationale could be seen in the use of the different words for denoting option. *Vā* may mean option, but in the order of preference, *Ubhayathā* may show equal option, while *Anyatarasyām* may mean that the form in one of the Bhāsās and *Vibhāṣā* (as opposed to *Bhāsā*) shows the prevalence of the form in a dialectical use only In the absence of any definite

knowledge of the contemporary language from which Pānini prepared his grammar, it is at present difficult to prove conclusively the above suggestion But it is worth while to explore such possibilities before committing to a particular conclusion The suggestion made by Mr Pawate (p. 117) that वृ (?) in 1 3 1 is *Mangalārtha* and that the sūtra stood at the beginning of that portion of the Basic Book of Sūtras which treated of the Dhātus or roots, is to say the least, ludicrous There may be justification in regarding the first syllable 'भू' as *Mangalārtha*, but not the second syllable 'वा' A more convincing explanation appears to be that in 1-3-1 the syllables 'भू' and 'वा' refer to the first and typical roots of the 1st and the 2nd conjugations

Another दोष in the गुणसन्निपात of the book is a very cursory treatment (in the Introduction) of the thesis that the *Kāśikā* was written not later than the 2nd century of the Cristian era. Besides containing a very sketchy attempt to revive a rejected doubt about the authenticity of Itsing's account and a laboured but irrelevant effort (x-xi) to show that the *Kāśikā* and *Jainendra Vyākarana* have drawn upon the Cāndra Vyākarana, the Introduction tries to establish that the commentary *Nyāsa* was written in pre-Bāna period. It is now generally accepted that the so-called references to the *Nyāsa* in Māgha (II-112) and Bāṇa (quoted on p xiii by Mr Pawate) need not necessarily refer to Jinendrabuddhi's work for, grammatical works called Nyāsa existed even before Jinendrabuddhi The word *Nyāsa* has got a technical meaning in the traditional study of the Pāninian grammar (suggesting a shorter sūtra in place of a longer one) and it may show that the word has been used by Bāna in its conventional sense. Mr. Pawate's reference (p. xvii) to the views of M. M. R. Narasimhācārya (rather frequently changing on the subject, Vide p. xiii) is unfortunately given in a Dravidian script and loses its usefulness for one not conversant with it. In fact, Mr Pawate has not shown his usual care in writing this part of the book. An allusion to Dr Belvalkar's opinion on the date of the *Kāśikā* (p.x) is not given with full references and one is left in doubt whether the allusion is to a footnote in Dr. Belvalkar's "Systems of Sanskrit Grammar" or to some other work unknown to the present writer.

41 AKBARṢĀHI - SṚṄGĀRADARPAṆA OF PADMASUNDARA
(with SRNGĀRASAÑJĪVINĪ of HARIDEVA MISRA)

Edited with an Introduction and Indices etc by K Mādhava Krishna Sharma, M. O. L , Curator, Anūp Sanskrit Library, Bikaner. Pp I-XXX vii+1-46+i-lviii. (1943)

This work forms the first number of the Ganga Oriental Series, published under the authority of the Govt of Bikaner. The importance of this work lies in the fact that it was written under the patronage of the great Moghul Emperor, Akbar– whose interest in promoting the cause of Sanskrit Literature by getting important Sanskrit works translated into Persian is well known Even his Revenue Minister, Todarmal wrote a comprehensive treatise on Dharmashāstra. He patronised many renowned scholars of Sanskrit. The AINE – AKBARI records the names of as many as 32 Hindu scholars of outstanding fame, who adorned his court The stanza 8 of the present work says that Akbar got this work written with a view to perpetuate his fame and name in this mortal world Another important feature of the work is that here we find in a contemporary Sanskrit text valuable information of historical importance In the first eight introductory verses, we are informed (1) that Akbar's grandfather, Baber Pādashāhi, born in the well known royal family of (jātis-cagattābhidhā), conquered Delhi region and exacted obedience from neighbouring kings, (2) that Akbar's father, Humayun conquered Gujerat and Bengal and extended his kingdom to the oceans in West and East, (3) that Akbar was able to defeat his enemies on account of his personal valour and attained by good fortune the foremost position among the kings in India; (4) that Akbar learnt Fine Arts, patronised scholars, poets, singers and warriors and ruled as an ideal ruler. The stanza 9

describes in an exquisite manner, Akbar as constituted by all the nine sentiments, that is he was an embodiment of different Rasas as suiting different occasions, *e. g*, Erotic with ladies and brave with warriors and so on The stanza 1 seeks benediction foi Akbar from the Great Light (called Rahman—Brahman), which as eternal truth illumines the whole universe and in which is woven this vast universe like gems in a necklace The stanzas in the end of the chapters describe Akbar as RASIKĀLAÑKĀRACHŪDĀMAṆI and adept in amorous sports with beautiful damsels of the harem.

The author, PADMASUNDARA, was a Jain poet His success in a literary contest brought him to prominence and he was greatly honoured by Akbar Akbar's association with leaders of various sects, Brāhmanas, Jains, and Christians etc is well known. A great Jain preacher, HIRAVIJAYA SŪRI, is said to have visited his court in 1582 But Padmasundara enjoyed Emperor's patronage long before that date His name appears as PARAMINDARA in the list of Hindu scholars given in the AINEAKABARI Padmasundara was a versatile scholar and wrote a good number of works, RAYAMALLĀBHYUDAYA, PĀRSVA-nāthacharitra, Jambūswamikathānaka (in Prakrit), HAYANASUNDARA (on Astronomy), SYĀDVĀDASUNDARAPRAKĀŚIKĀ (on Jain tenets), PRAMĀNASUNDARA (on Logic), SUNDARAPRAKĀŚASABDĀR-NAVA (a Lexicon) and some STOTRA-granthas Thus he was not only a poet, literary critic, but also a philosopher and lexicographer The present publication, therefore brings to light a great literary scholar of AKBAR'S time.

The work by itself, is not of much importance, for it is merely a very close imitation of an earlier and well known work on the subject, viz. SRNGĀRATILAKA of RUDRA or RUDRABHAṬṬA He is identified with the well known literary critic, RUDRATA in the prefatory notes by Dr. Kunhan Raja in the present publication. Consequently he refers only to Pischel's edition of SRNGĀRATILAKA and not to the Kāvyamālā edition, published from Bombay In the latter edition the SṚNGĀ-RATILAKA is ascribed to Rudrabhaṭṭa as distinguished from Rudrata. There is a difference of opinion among modern scholars about the identity

of the two names But the fact that Rudrata recognises TEN sentiments in his Kāvyālaṅkāra goes against the identity, for the SRNGĀRA TILAKA of Rudrabhatta recognises NINE sentiments only

The intimate relation of the two works is brought out clearly by Dr K Raja in his Notes on the present work There was not much justification for indicating the references to the corresponding verses in the two works, for the imitation is so close and faithfully carried that if the two works are put side by side, their resemblance will be seen at each and every step (PADE PADE), in subject matter, arrangement of topics, definitions and illustrative verses There is no originality either in the plan or in the contents. Substantial variations, if at all, are found in some illustrative verses only And even there, the attempted variations are not always happy. Rudrabhaṭṭa's beautiful diction and lucid style remain unreached by Padmasundara, whose characteristic features are long compounds and deliberate attempts in sound-effects. But his command over language and sweet phraseology not infrequently exhibited—will be much liked by RASIKAS of medieval Sanskrit poetry. The budding poets of Sanskrit will derive much benefit by studying this work along with that of Rudrabhaṭṭa and thus learning the art of emulating good poetry.

SRNGĀRADARPAṆA'S I ch. (pariccheda) is split into 2 chapters (ullāsas) of the work under review. Thus the three chapters of Rudrabhaṭṭa correspond to the four chapters of the present work. Roughly speaking, the first two chapters of the SRNGĀRADARPANA deal wth SAMBHOGA-SRNGĀRA, the third chapter with VIPRALAMBHA-SRNGĀRA (describing in both the cases various types of heroes and heroines) and the fourth chapter with RASAS other than SRNGĀRA, RĪTIS (styles of poetry) and KĀVYADOSHAS (defects of poetry). Like Bhavabhūti for KARUNA (sentiment of pathos), Padmasundara has fancy for SRNGĀRA (sentiment of love) and regards it as an essence of poetry. The book has therefore been named, like its prototype, as SṚNGĀRADARPANA, though other RASA's are also described however cursorily. It is rather indeed strange that the author nowhere mentions, or even hints at his indebtedness to Rudrabhaṭṭa and boldly records that

he wrote this charming (suramya) work for satisfying the taste of Sanskrit versifiers

The work has been edited with the help of a single Ms (dated Vikrama Samvat 1626=1569 A D) written about the same time or not much after the date of its composition Another incomplete Ms of a later date came to Editor's hand too late for being utilized in editing the text Its variants are therefore given in Ms variants No 2 At the end, there are critical notes in 16 pages by Dr Kunhan Raja, wherein he has given comparisons with corresponding portions of the SRNGĀRATILAKA of Rudrata (? Rudrabhaṭṭa) and suggested many amendmends of the text. The task of editing a text from a single Ms is very difficult and the Editor, Mr K. Mādhava Krishna Shārma, has done his best in presenting a much improved text by making changes here and there (all recorded in Ms Variants No 1) in the Ms readings It is unfortunate that there was no co-ordination between him and Dr Raja in editing the text and writing the Notes, as the latter appears to have written Notes after the text-portion has already been printed If the Notes had been written before printing the Text, many of the amendations suggested in the Notes could have been incorporated in the pried Text (e g. I–43, II–7, 46, 55, IV–78, 94 and many others). The Text would then have been more correct and readable. In the present form of the printed Text, there are places which are not easy to construe

Another work, the SRNGĀRASANJĪVINĪ by HARIDEVA MISHRA alias SHRILAL MISHRA of Muttra, is published as an appendix to the SṚNGĀRADARPAṆA. The date of HARIDEVA MISHRA is not certain, but it can not be later than the 17th Century, as the single available Ms. belonged to DĪKSHITA MANIRĀMA of the 17th. C –a great scholar in the court of Mahārāja Anūp Singhji of Bikaner. The SRNGĀRASANJĪVINĪ is a collection of 104 miscellaneous verses on various topics of SṚNGĀRA RASA The last three verses contain biographical information about the author The poetic merit of the work is of high order and will commend itself to the students of classical Sanskrit poetry. It is an entirely independent work and by a different author. One fails therefore to see the reason for *not only* relegating this interesting

work to an appendix, but also *not mentioning* its name on the outer as well as the inner cover of the volume Not only that Even in the appendix No 3 on p 26, where Ms readings are given, the name of this work is not mentioned and the reader is for a while put to bewilderment

It is hoped that in the later editions of the main work, the definition-verses and illustrative verses would be printed in different types (as in the Kāvyamālā edition of the SRNGĀRATILAKA) and intelligent notes explaining difficult and obscure words and phrases would be given in the footnotes of the two texts. This will ensure greater appreciation of the two works The patronage extended to the Oriental studies by the Bikaner state deserves commendation It is hoped that like other Oriental series started earlier by the states of Baroda, Gwalior, Kashmir, Mysore and Travancore, this new series also will enrich Sanskrit Literature by bringing to light unpublished works The Editor, Mr Sharma, deserves thanks of the Sanskritists for unearthing the two interesting poetic works in Sanskrit

[*Published in Nagpur University Journal, XI,* 1945]

42. HISTORICAL LINGUISTICS IN INDO-ARYAN

The book under review contains the Wilson Philological Lectures for the year 1940-41 delivered on six days in February and March, 1941. The credit for inaugurating this famous Lectureship on Philology goes to that doyen of Sanskritists, Dr R G Bhandarker, who in 1877 delivered the first series of lectures and heralded the beginning of a scientific attempt at a comparative study of the Indo-Aryan (=IA) family of languages in India by Indian scholars It was therefore in fitness of things that Dr Katre, a fine product of the scientific training in the Western methods of Linguistics, should have been selected to deliver the present Lectures Dr. Katre has devoted his time and talent for a number of years to the study of IA Philology and has therefore done full justice to the undertaken task of presenting a comprehensive account of the progress made in the study of Indian Linguistics. Abstruseness and tempting tendency to go into intricate details are inevitable in such studies But it is refreshing to see that the author has succeeded to a great extent in avoiding them in the first and the last two lectures. In the middle three lectures, he had to go deep into the intricacies of the subject and these lectures are therefore meant for specialists only.

In the first lecture, the author has given a rapid survey of the work done so far in Indian Linguistics by Indian and European scholars and has drawn attention to the shortcomings inherent in the old methods of Linguistics. He then proceeds (II & III lectures) to discuss in detail the verbal bases in the IA languages. A comparative study of the verbal bases in the Old, Middle and New IA languages is an interesting topic. A good deal of work for the earlier phase of IA was done by Whitney and since then it has been continued for later phases of IA by Pischel and Grierson It is now for Indians to undertake a

comprehensive study of the verbal bases in all the phases of IA and to demonstrate that each new Dhātupātha has not only repeated what was genuine in the earlier systems, but has also materially added to our knowledge of IA verbal bases It is only then that we will be able to show that old grammarians did not weave out of their imagination "phantastic forms of inorganic rubbish" in their lists of roots (*cf* Edgeru in his thesis on the verbal roots of the Sanskrit Language) In the fourth lecture, we have a discussion of the formation of the Nominal Stems in the IA languages. Here also, an earnest effort is necessary. The number of Stem-forms from a given base is much less in the Middle than Old IA. The variety of suffixes is therefore becoming less and less. A comparative study of these stem-forms, if properly made with a view to separate the inherited from the borrowed ones, will throw interesting light on the history of IA in its three phases The fifth lecture brings forth some important problems of Historical Linguistics, which have been left untouched so far by the new researches It has been propounded with much force by the author that in any discussion of a linguistic problem concerning IA, it is of great importance that we know the exact nature of a Sanskrit vocable Is it derived from the Ancient period ? Is it a loan from an II or IE dialect ? Is it a novel incorporation from a Non-Aryan language It is only on settling this question that its geographical location can be determined within narrow limits. Considerations of Morphology and Etymology may then be called upon to fix the exact region wherein such changes may have taken place In short, Time and Space factors should not be overlooked in the study of Indian Linguistics.

In the sixth lecture, the lecturer has further explained and discussed the burning problems of Indian Linguistics and its desiderata. The consideration of historical and geographical perspectives is a new branch of Linguistics in India, to which a new name, *Synonymics*, is usually given. It determines within narrower limits the extent of interborrowing and allows us to separate the borrowed element from the true inherited ones in Time and Space context. It should be noted in this connection that in Europe, this branch of Linguistics engaged attention of Philologists (called Junggrammatiker) like Brugmann, Delbruck, Osthoff etc ,

as early as 1870 We should be thankful to Dr. Katre for drawing attention to this new unexplored branch of Indian Linguistics and thus trying to bring it to the level of the comparative and Historical Linguistics attained in Europe Really it is a matter of shame that India which gave birth to Yāska, Pāṇini and Patañjali should now look to West for inspiration in Philological studies Speaking about the desiderata, Dr Katre refers to the need for (1) compiling Indices Verborum and Lexicons for individual authors like Bāna, Kālidāsa, Śhabara, Śhankarāchārya, etc , (2) making intensive linguistic studies of definite periods and definite regions, (3) compiling a Dictionary of all Proper Names by arranging the citations on chronological basis, giving exact references to the entire body of Indian Literature, and (4) preparing a Dictionary of Technical Terms of Medicine, Astrology, Architecture, Mathematics, etc , in their Historical evolution In addition to the above we badly need also an up-to-date Encyclopaedia of Sanskrit, which is Historical as well as Scientific and which takes into account all the stages of Sanskrit from the most Ancient to the Modern and the vast amount of the material published since the publication of the famous St Petersburg Dictionary in 1855-75.

As the lectures were printed some years after their delivering, it was quite inevitable in a growing subject like Linguistics that certain statements made in the original should need modification or some additional information should be given. These have been incorporated in the foot-notes, which are printed in the end instead of on the relevant pages within the body of the text This departure from the normal procedure has however resulted in some misleading references (*e g*, the references numbered 20 and onwards on P. 177 do not occur at all in the foot-notes). Another thing, the absence of which is very much felt, is a detailed outline of contents The reader has to go through a whole lecture before he knows where a particular topic has been dealt with A detailed outline of contents would have also spared the author many a repetition, which are unfortunately not few in the book The book in that case would have been a well-knit composite whole. There is no denying the fact that in the present form we get in some places an impres-

sion of reading a collection of stray notes We wish the author should have revised the typescript of the delivered lectures before sending for printing. We hope that in the next edition of the book, which we are sure will soon be called for, the above suggestions will be given due consideration.

Among Indian Linguisticians Dr Katre easily occupies a front-rank-position in the new generation The old generation consisted of such stalwarts as Bhandarkar, Grierson, etc. It is a matter of satisfaction that the scholars of the new generation, S. K Chatterji, I J S Taraporewala, Sukumar Sen, Siddheshwar Verma, B R Saxena, etc , are making valuable contributions to the development of Indo-Aryan Philology. Dr. Katre is entitled to our gratitude for drawing attention to the problems, which need investigation and without attempting which the Indian scholarship would remain much behind in its contribution to the progress of Indo-Aryan Linguistics The get-up and printing of the book leave nothing to be desired

[*Published in Nagpur University journal, No., XII-XIII* 1946-7.—(*Pages* 156-157.)]

43. DAŚARĀJÑA - YUDDHA

The Daśarājña-yuddha (Battle with 10 kings), the subject of the present book under review, is the first recorded war waged by an Indian prince against foreign invaders Like many other battles of later times, it was fought on the soil of Punjab and may be called "Paniapat" of Vedic times The name of the war "Daśarājña" is given in the Rgveda itself (VII 33 3) The battle is described in the seventh mandala, 18, 19, 33 hymns A number of personal and place names are given in the Ṛg. description On account of obscurity of these names and difference of opinion in the interpretation of these hymns, it is not easy to exactly know the details of the battle as regards its cause, course and consequence, etc

In the present book, an attempt has been made to give a historical account of the battle in the background of the geography of Central and Western Asia. About 2500 B C an Irānian king Cāyamāna, after establishing a vast empire between Babylonia and India, moved with the help of non-Indian tribes towards India He was opposed by Sudās, king of Pāñcāla, and was completely routed by him on the bank of Paruṣṇī (Rāvī) From this time begins the long-drawn feud between the Kurus and the Pāñcālas in Indian history which ended by the complete destruction of the Kurus in the great Mahābhārata war. Cāyamāna was a follower of Zoroaster (=Zarathustra in Avesta) and Jarūtha (in Rgveda) If he had succeeded in his attack over India, then this country would have succumbed to Zoroastrianism Being deprived of virile spirit of Vedic religion, the history of India would have then followed more or less the same course as that of Iran. Herein lies the importance of the heroic achievement of the Indian king Sudās and the significance of the Daśarājña battle.

The book contains seven chapters in all. The first chapter gives

an account of the events preceding the famous battle The name of the chief enemy of Sudās is shown to be Cāyamāna. His capital was Abīvarda (Sk Abhīvarta) in Khorasan Babri or Babra (Babylon) was burnt by the Atris, who along with Siñjāras (Sumerians) were helped by Vedic twin-gods, Aswins The second chapter deals with Vaśiṣtha's daring act of killing the founder of Zoroastrianism (Sk Jaiūtha) by throwing him in o fire and with his help to Sudās against the invader Cāyamāna by invoking the help of Aryan God, Indra Chapters III–VI deal with the identification of the allies of Cāyamāna and Sudās in the battle– the former included many Aryan tribes also This is followed by the description of the battle on the bank of Rāvī (Sk Purusnī) and the complete discomfiture of the enemy Among the details of the battle is the interesting account how the enemy was carried away by the strong current of the river, which he himself caused by following Iranian tactics in war of diverting the channel of the river, by digging it In the last chapter, the author has tried to show the identity of the Indo-Aryan and Sumerian cultures and has discussed the influence of Īrān on the Mahābhārata story

As said before, there is no unanimity of opinion on the interpretation of the Rg. hymns in the question. The Ṛg. being essentially a book of hymns in praise of gods, contains historical matter accidentally only Whether Sudās was son or grandson of Divodāsa; whether the cause of the battle was the enmity between the priestly families of (Bharadvāja and Vaśiṣtha or of Vaśitha and Viśvāmitra) or between Kurus & Pāñchālas, whether the attacking army consisted of non-Aryan tribes or some Aryan tribes also made common cause with the non-Aryan tribes, whether the various references refer to one and the same battle or to different battles in different periods of Vedic Age, whether only historical events are indicated or some of the references are only poetic decriptions of the natural phenomenon, these and other allied questions are yet to be finally answered by the Indologists The present book accepts a particular point of view and explains the hymns in the setting of the history of the contemporary period of Central and Western Asia. But the author follows the Hit-and-run-method in the presentation of the

subject-matter His allusions to the historical events of C and W Asia are very sketchy and incomplete He has not referred, in many cases, to the sources There is no critical evaluation of the evidences put forth in the book He takes many things as granted and then proceeds to weave his story on their basis It cannot be denied that the book in the present form aims at a popular presentation and does not give proof of being an academic treatment of a serious subject There is no critical examination of the current views on the topics and whenever such current views are indicated, there are sarcastic remarks made against them (*vide* PP 2, 12 15, 55, 56, 60, 76, 82, 83, etc See specially the last statement of the book). The book reveals great self-confidence and ambitious theorising of the author. He writes with an unbecoming air of superiority (*vide* PP 21 54, 67, 71, 76, 78, etc) The main structure of his thesis is resemblance of words found in the Vedas and Greek and Iranian literature He does not give attention to other equally necessary consideration of meaning, context, etymology of the words and to the contemporaneity or otherwise of the events In such a cursory and one-sided treatment, proper evaluation and unbiased judgement cannot be guaranteed Many of the indetifications are possible and on more comprehensive considerations may turn out to be acceptable But for securing that acceptance, the subject will require fuller treatment according to the accepted canons of Indological research Similarity of names is a great temptation, but it should be checked by other considerations, mentioned above In the course of tracing the name of the river Bālagāna in Iran to the Bāgala surname in Mahārāstra and Baghel rulers of Rewa State, the author mentions Baghelkhand as a part of Bundelkhand (?) (P 57). If such is the standard of accuracy about the well-known places in India, it is too much to vouchsafe for the accuracy of geographical references to the places in C and W Asia

In fairness to the author it must be mentioned that the author is not unaware of the fact that the present book is not the final word on the subject (Preface, P 6). The English version of the book is therefore withheld, for the present, with a view to see the reaction of the scholars to his present views. It is hoped that the author, in his planned English

version and also in future Marathi editions of the book, will take pains to give a more academic tone to his treatment of the subject and make the book more scholarly by relying on *dependable* evidences and giving references to the sources (specially foreign ones) utilised by him The book, in the present form, is certainly thought-provoking We would be glad to see its conclusions conclusively proved. In any case, the book even now affords an interesting and useful reading The reader on reading the book is taken back to the glorious period of our ancient history and feels elated to see the background of the Vedic history extending to the regions in Central and Western Asia

[*Published in Nagpur University Journal,*
No. XII-XIII (1946-7)–*Pages* 158-60]

44. MANORAMA & SHABDARATNA

The grammar of Sanskrit is a difficult subject This fact is recognised by all But what is not usually known even to educationists, is its vast literature and comprehensive scope The popular notion about the grammar of a language is that it is concerned with formulating rules on correct use of that language and at most with etymological derivations of its words The Sanskrit grammar is however a much 'bigger thing', and one is simply amazed at its development in the post-Christian centuries.

Rich Inheritance

The grammar of Sanskrit is a rich inheritance and shows the intellectual eminence of our ancestors In its 'higher' phase, it does not bother about the correctness or otherwise of a word or sentence or about the rules for teaching its correct use. Volumes after volumes have been written in the past, dealing with this phase of Sanskrit grammar. The scholastic criticism and subtle reasoning employed in the 'higher' grammar is a wonder of abstract scholarship. The laborious and searching examination of the Sanskrit grammarians from the time of Kashmerian Kaiyaṭa (11th. Century) to Maharashtrian Nāgesh Bhatta (19th Century) in the field of 'higher' Grammar is a conclusive-proof of their intellectual power and capacity for industrious research analysis For a general idea of the subject the present reviewer's article, "Scholastic disquisition in the Pāninian system of grammar", published in the Journal of Bhāratīya Vidyā Bhavan, Bombay, Vol. II. part I, Nov 1940. may be referred to

The display of subtle reasoning in Shankarāchārya's ADVAITA theory, Kumarila's MIMĀNSA, or Gadādhara's ANUMĀNA definition is unique and has its own peculiarity But their discussion and treatment are more or less 'objective' in the sense that they are concerned with

'visible' things such as appearance of the world, details of sacrificial rituals and Ghata-Pata (Jar or cloth) etc respectively and are therefore not so abstract as those of 'higher' grammar. The latter deal chiefly —

(1) Interpretation of a Pāninian Sūtra,

(2) Implications and significations deduced from it,

(3) Superfluity or other-wise of a word or words in it,

(4) Validity or otherwise of a grammatical maxim or canon of interpretation and so on In order to appreciate the view that 'higher' Sanskrit Grammar is more subtle and abstract, one has to drink deep at the fountain of the traditional learning by sitting at the feet of an orthodox Pandit.

Fulfils Long-Felt Want

The publication of the book under review has fulfilled a long-felt need in connection with the traditional study of 'higher' grammar. Pānini's ASHTĀDHYĀĪ is already a difficult book The later commentaries and sub-commentaries are still more so Their interpretation and presentation, over-learned and garbed in the frightening style of Neo-Logicians (Navya—Nyāya) have made these works so obscure. The result is that the commentary is more difficult than the text. And the tradition of grammatical learning is a scare for an average sanskrit student. The present Marāthi translation with a fuller explanation of a standard commentary and its sub-commentary on Bhattojidikshita's SIDDHĀNTA-KAUMUDĪ will therefore go a long way in meeting the demands of the student world.

The Siddhānta-Kaumudī by Bhattojidīkshita is a standard work dealing with 'Lower' phase of Sanskrit grammar and is universally read in the beginning of the grammatical studies. The 'Higher' grammar begins, after one has read the Siddhānta Kaumudī or Kāshikā with the commentaries or sub-commentaries on the above works. These commentaries are more difficult than the commented text There is no attempt made to explain the text. On the other hand new problems which are not given in the text, are raised and are followed by a learned discussion thereon. This process of not explaining the text but raising allied prob-

lems and discussing them is carried on further in the subsequent sub-commentaries In fact the later a commentary, the more difficult is its treatment and presentation of the subject-matter. Thus the commentaries on the Siddhānta Kaumudī, viz Praudha-Manoramā and its sub-commentaries Shabdaratna, Chitraprabhā by Bhagavata Harishastri, Bhāvaprakāsha by Payagunde, Ratnaprakāshikā by Bhairava Mishra are commentaries only in name. In reality, they are learned discussions clothed in a learned style The traditional way of learning being 'gurumukhi' (acquired from teacher's mouth), is not easily available for an average learner in the present set-up of our educational system Hence the need for such easy books as will serve as 'aids' to the understanding of these texts without the help of a teacher

Cent Precent success

The present publication therefore is especially welcome, as it is written with the express and definite aim to make the text intelligible to a student, even if he does not go to a teacher. We are glad to say that the translator has fully succeeded in his object He has not given only a translation but also a full explanation of the subjects discussed in a very lucid manner. He has taken care that nothing which is necessary for understanding the text remains unexplained, even at the cost of repetition. He has given copiously explanatory notes and explained in detail by quotations what was only hinted in the text In short, with the help of this book, a student who has read intelligently the Siddhānta-Kaumudī, should be able to understand the text of Praudha-Manoramā and its sub-commentary Shabdaratna-without a teacher's help. That the translator has been able to achieve cent percent success in his claim is due to the fact that he in his career was an Officer in C. P. Judicial service.

He has brought upon this work his remarkable judicial talents of a clear analysis of facts and lucid presentation in a clear-cut language. It will ever remain the present reviewer's regret that if Rao Bahadur Saheb had agreed to his request to write his book in Sanskrit in the same easy style in which he has written the Marathi translation, the book would have been of immense help to all the Sanskrit students of India and abroad.

He has a wonderful capacity for writing in a very simple and intelligible style and his Sanskrit commentary would have been equally successful After all, the book is meant for advanced students of Sanskrit grammar, who have read the Siddhānta-Kaumudī, and it does not matter much for them whether they are given Marathi or Sanskrit version of the commentary. But the love for Marathi, his mother tongue made Rao Bahadur Saheb indifferent to the wider needs of the students in general, though in his innate modesty he underrated his power of expressing in Sanskrit The result is that Marathi-speaking Sanskritists have now got a thing which non-Marathi speaking should be envious of

Unique Work

Rao Bahadur Wadegaonker is no more in the world He died on the 10th March 1950, after about twenty-five years life of retirement—which he devoted to academic work After his retirement, he devoted his time to the study of Mimānsā and then to Sanskrit grammar. In 1937, he published the Marathi translation (with full explanatory notes) of the Paribhāshendu-shekhara of Nāgoji Bhaṭṭa, which like present work is again a unique work and has been of much help to the Marathi-understanding students, for they can easily interpret the text without help of a teacher. He continued his devoted service to Sanskrit grammar by undertaking the Marathi translation of PRAUDHA-MANORAMĀ and its sub-commentary SHABDARATNA His health in old age did not cope with his mental energy and intellectual vigour but his perseverance devotion to the task undertaken was unflinching It was a sight for gods to see this grand old man in the rest-deserving days of retirement struggling hard-almost unaided to understand and explain the intricate grammatical texts and writing lucid explanations thereof in complete defiance of his increasing physical ailments and senile debility Though flesh was failing mind was active. Before he was overtaken by unsparing death, he was able to finish his work upto the end of the chapter on Strīpratyaya (about one-third of the whole work). The scarcity of the paper and the prohibitive cost of printing came in the way of his publishing the work in his life time.

Appeal to Lovers of Sanskrit

Now it has fallen to the lot of his devoted sons to undertake its publication. On the first anniversary of his death, they have published the first part of the work (upto Samjñā-prakarana) It is now for lovers of Sanskrit to enlist themselves as advance-subscribers for the publication of the remaining parts of the work The publisher, Mr K N Wadegaonker, has undertaken this unprofitable task mainly as a memorial to his father and would be willing to publish the remaining work, if only one hundred subscribers come forward to purchase it. With the present revival of love of Sanskrit learning and awakening among the educated public for unearthing the ancient wisdom of the country, it should not be difficult to make the scheme successful The intelligentsia of Maharashtra and specially of Madhya Pradesh should not miss this chance of not only contributing to the enrichment of literature on higher Sanskrit grammar, but also paying their tribute to the great Judge-Grammarian of our province.

[*Published in Nagpur Times*
Nagpur (*September*, 1951)]

45. PLEA FOR POPULARISING SANSKRIT STUDY IN INDIA

The readers of newspapers may have read with interest that in the special Oxford University Convocation recently held at Śāntiniketan to confer the honorary D Litt Degree on our renowned poet Dr. Tagore, the formal benediction sent by the Oxford University was written in Latin and the reply by Dr Tagore was given in Sanskrit. Dr. Tagore's speech was in Sanskrit more with a desire to reply in a language corresponding to Latin than in accordance with the actual practice in modern Indian Universities. In no Indian University except the Benares Hindu University, the formal presentation in a Convocation takes place in a non-English language. But in the famous Universities of the United Kingdom, Latin is employed on such ceremonial occasions of academic significance This fact shows clearly the great importance attached to the Classics there. In India, unfortunately, Sanskrit is fast losing its importance. Even in the academic world, our great educationists are indifferent to the growth and preservation of Sanskrit studies. The rapidly dwindling number of Sanskrit students in High School Certificate and University Examinations clearly demonstrates its growing unpopularity in the student world. We give below the figures about the C. P. and Berar examinations to illustrate the point; but the same is more or less true of the other parts of India.

	Examination	Year	Total No. of candidates	No of Students offering Sanskrit	Percentage of Sanskrit Students
1	Matriculation	1930	1786	847	47 p.c.
2.	„	1939	4692	1238	26 „
3.	Intermediate	1925	381	126	33 „
4.	„	1940	1171	171	14 „
5.	B.A.	1925	154	59	38 „
6.	„	1940	607	81	13 „

As said before, our educationists dazzled with the modern outlook of Education, do not realize the immense loss to posterity which will result from the neglect of Sanskrit studies in India In their enthusiasm for so-called 'westernization' they scoff at Sanskrit studies as a *dead* and *useless* subject But they should know that their kinsmen in England are not indifferent to the importance and utility of the Classics. They not only give a prominent place to the Classics in their scheme of education, but also try to make them more popular We propose to give below extracts from the "Report of the Committee appointed by the British Government to enquire into the position of Classics in the educational system of the United kingdom" A cursory glance over the report will not fail to convince that the Classics occupy a position of *exceptional privilege in the national education* of a country Here it should be clearly understood that Latin and Greek are not so intimately related to English as Sanskrit is to the modern Indian languages. A great majority of the modern Indian words are still used in pure Sanskrit form, and the rest (leaving the loan-words aside), are descended from Sanskrit As regards cultural influence also, it is now readily agreed that

> "For a full comprehension of modern India, a knowledge of Sanskrit literature is indispensable as furnishing a key to the civilization of the Hindus The Hindu culture as reflected in the Sanskrit literature displays not only an originality, but also a continuity which has scarcely a parallel elsewhere. It is only through Sanskrit that we can trace our languages and institutions through an uninterrupted development for more than three thousand years."

It goes without saying therefore that the views propounded in the extracts below, are *doubly* true of the Indian Classics and every effort should be made to secure their proper place in the educational scheme of India For it would be nothing less than "*a national disaster* if the Classical studies were to disappear from our education," or to be confined to a small group of Pandits We hope that the attention of the educational authorities will be drawn to what their colleagues in Great Britain think about the importance of Latin and Greek in the English system of education and they will readjust the present system of education in India

and do the needful with a view to secure for the Indian Classics their honoured place.

The Committee, the relevant extracts from whose report are given below, was appointed in 1919 by the Prime Minister of Great Britain

> "to enquire into the position to be assigned to the Classics (Greek and Latin) in the educational system of the United Kingdom and to advise as to the means by which the proper study of these language may be maintained and improved"

It was presided over by the most Hon'ble the Marquess of Crewe, K. G., and consisted of 19 famous educationists of the country. The Committee sat on 85 days and personally interviewed 140 witnesses These included officials and non-officials of the Board of Education and the Civil Service Commission, representatives of the Universities and of the University Colleges in the United Kingdom (including Women's Colleges), Head and Assistant teachers in Public and Secondary Schools, representatives of Associations interested in education, persons connected with various political parties, and firms, and journalists It also considered memoranda supplied by persons qualified to advise on various points. In addition, the Committee tried to acquaint itself with a considerable number of published documents bearing on the subject In order to ascertain the existing state of classical studies in the Universities and Schools, a comprehensive questionnaire was issued. It was thus after a very laborious search for data and consideration of all relevant matters that the Committee prepared its unanimous report in 1921. The report (published in 1923 by His Majesty's Stationery Offices, London and containing more than 300 pages of close print) is a valuable document on the subject and deserves a close study by the educationists of the world.

In the introductory part of the report the Committee says :

> "The question of the position of Classics in a national system of education touches at almost every point the whole field of education from a historical and theoretical and a practical point of view. The Classics are not like Science or modern languages something that has recently been added to the educational curriculum. They were for centuries the main, if not the sole, instru-

ment of education other than elementary, not only in this country but in all Western Europe A very large part of our present education cannot be understood without some knowledge of its predecessor Our ideas of Law and Citizenship, Freedom and Empire, poetry and prose literature, our political, metaphysical, aesthetic and moral philosophy, indeed our organized national pursuit of truth in all its non-experimental branches, as well as a large and vital part of the religion which has won to itself so much of the civilized world are rooted in the art or thought of that ancient civilization Much of that art or thought has disappeared beyond recovery, but much also remains enshrined in writing and monuments still extant and accessible, regarded throughout all the centuries as 'Classic' or belonging to the highest class of human achievement" (p 6)

Referring to the advantages which an Honours Graduate in Classics has, the Committee says ·

(*a*) He has obtained access to literature, both in prose and in poetry which in the judgment of many is absolutely the noblest in the world, but, if that claim is not admitted, is at least unique, inimitable and irreplaceable. We have here a spiritual value, which cannot be exactly reckoned, but which certainly, to some of those who have experience of it, ranks among the most treasured possessions of their lives. (*b*) He has had the advantage of studying a civilization in which many of the fundamental problems were the same as our own (*c*) He has attained this access to beauty and this power of understanding by means of a peculiar course of training which requires the exercise of many different powers of the mind and forms a remarkable combination of memory training, imagination, aesthetic appreciation and scientific method . .The method of the study of the Classics is much slower than most of the usual methods of learning a modern language, and, in the purely linguistic sense, less effective Classical scholars after many years of study can seldom talk or even write the classical languages fluently .But they have gained a far better understanding of the

formation of words and sentences and of the logical or psychological principle underlying language in relation to thought; have formed that invaluable habit of thinking out the real meaning of words and phrases before attempting to translate them, have been forced to use the historical imagination which leads to appreciate beauty or nobility in literature even when it appears in a strange dress As contrasted with the modern languages, the classical languages are severe trainers of the observation, for they are highly inflexional and express differences of meaning by minute variations in the forms of words They attain extraordinary flexibility and delicacy of expression" (pp. 7 and 8)

Referring to other advantages of classical studies the report says

"We lay great emphasis on the importance of the study of the Classics as a preparation for other studies, or rather as a dynamic element in a general national education which must, for obvious reasons, be mainly concerned with modern subjects ..None will derive greater benefit from an early training in the Classics than those who in after life will be largely occupied in the writing of their mother-tongue. The importance of such a training to a modern journalist is discussed below (p. 257). Its importance to writers of some *permanent* literature has been proved by history" (p. 11).

Referring to the attack on a classical education made in some quarters by persons of high distinction, the report says :

"Much has been made in the past of the antagonism between science and literature and particularly between modern science and ancient literature But the struggle is now over, and both sides have discovered that they cannot achieve their end without co-operation. It has been realized that the object of education, on its social side, is to fit a man to play his part in the environment in which he is placed and that in this environment the forces of nature are not the sole determinant It is not only on the knowledge of the physical phenomena of the Universe that the happiness and welfare of most men depend, they depend rather on the knowledge of the minds and character of themselves and of their fellow-

men The first object of education is the training of human beings in mind and character as citizens of a free country."

The joint conference of a Council of Humanistic studies and the Board of Scientific Societies held in 1917 has "reached an agreement on the importance of providing opportunity for adequate instructions in Latian and Greek "

"It is not less remarkable that this point of view is strongly held by accredited representatives of the Labour party, which felt seriously concerned with the fact that in industrial schools education is too much limited to utilitarian subjects and that there is a lack of opportunity for children of the working classes to get a classical education" (p 21)

Replying to the oft-raised objection that the excellence of classical literature is granted, but its knowledge can be obtained through translations, the report says that

"(*i*) This argument leaves out of the account the value of the language itself as an expression of the civilization and national character;

"(*ii*) In no great literature is the substance separable without loss from the form in which it is expressed They are correlative parts of the same organic whole To hold any other view is to deny that there is such a thing as literature . .Every language has its metaphors, but they are not all readily to be caught in a translation . This untranslateable quality belongs most markedly to poetry and the higher type of prose, the kind of literature which aims at beauty and depends for its effect upon form .. " (pp. 22-25)

On page 269, the report after giving a detailed survey of the present position of the Classics in the educational system, says that

> "The evidence points to the conclusion that the position of Latin needs strengthening and that steps should be taken to make the study of Greek accessible to every class of the community and to preserve it as an integral element in national education. The measures taken should be directed towards the attainment of three ends :
>
> "(*i*) To secure for the classics at a sufficiently early stage

a substantial position in the general education of pupils in public and secondary schools,

"(*ii*) To provide full opportunity for all pupils with the requisite tastes and aptitudes to carry the study of both languages to the highest point which they are qualified to attain,

"(*iii*) To bring those (including adults) who are and must for good reason or of necessity remain ignorant of the classical languages into some contact with the classical spirit" (p 269)

The recommendations of the Committee are classified under 22 convenient heads to cover the entire range of the classical studies (from both the theoretical and practical considerations) in its various aspects, *viz.*, first examinations, public examinations, advanced courses, pofessional examinations, University degrees, special state scholarships in schools, colleges and Universities (pp. 270-282) The general principles on which the Committee bases its conclusions, "divide boys or girls, whatever their home surroundings, into three classes

(*i*) A certain number are capable of the high intellectual training, literacy, aesthetic, linguistic, historical and philosophical, which are described above as characteristic of the best type of classical scholar. We hold that it should be made accessible to them

(*ii*) A larger class containing many young people of practicability, and some of strong intellectual powers and tastes in subjects other than classics, will nevertheless generally profit by the antiquity, and indeed will be left intellectually maimed or one-sided without it.

(*iii*) There will be a very large number of boys and girls, who, if they begin classics at all, must drop them altogether about the age of 16, either because they then leave school to earn their living or because they turn entirely to non-classical studies.
It is of the first importance that the course in classics (devised for them) should be complete and rounded-off and directed towards the attainment of a definite end" (pp. 9-10).

The following statements occur in the concluding part of the report :

"We have found that there is no sphere of national activity, of national life and thought, which does not in some way touch the object that we have in view Ancient thought is in-woven in the fabric of our modern life that it would be a national disaster if classical studies were to disappear from our education or to be confined to a small class of the community is conceded by men of every school . That which contributes to the development of the finest minds should not be denied to any of our people" (p 268)

[Published in Modern Review, Calcutta (October, 1940)]

46. PRESERVATION AND IMPROVEMENT OF THE INDEGENOUS SYSTEM OF SANŚKRIT LEARNING IN C. P. & BERĀR

Due to the absence of State patronage and public sympathy, the traditional study of Sanskrit is dying fast in our Province There are a number of old Sanskrit Pāthashālās in the province and many have been added to that number owing to the recent integration of the Chattisgarh states They are struggling hard to survive to this day But with limited resources, they cannot be expected, in the very nature of things, to do much in the matter And even this usefulness cannot continue long; for in face of increasing public apathy and the State the Pāthashālās are gradually becoming extinct

With a view to preserve and promote the traditional system of Sanskrit Learning, the Nagpur University instituted recently Diploma Examinations in Oriental Learning But the University being an examining body, the condition of Sanskrit Pāthashālās remained uneffected.

It need hardly be pointed out that the University syllabus in Sanskrit for its highest examination (M A. stage) introduces a university student only to the elementary works of the various branches of Sanskrit learning. It is only after passing the M A exam that a Sanskrit student is in a position to study the more important and difficult standard works in Sanskrit. In absence of the study of these texts, any research in Indology based on original texts is bound to be incomplete and superficial It is a common experience of Sanskritists that it is very difficult to comprehend fully these important texts, without guidance from a competent Pandit. It is therefore necessary that there should be a provision for imparting instruction in higher works of Sanskrit Learning.

It may be pointed out in this connection that OTHER PROVINCIAL GOVERNMENTS of India are substantially contributing to the encouragement and preservation of Sanskrit Learning In U P more than 100 Pāthashālās receive financial aid from the Govt Fifty p c of the approved expenditure of a recognized Pāthashālā is met by the Govt Besides this, the Govt maintains a full-fledged Sanskrit College in Benaras and it has recently decided to raise it to an All India Sanskrit University There is an Inspector of Sanskrit Pāthashālās for supervising the work of Pāthashālās Similarly the *Bihar, Bengal, Assam* and *Utkal* Govts spend lacs of rupees per year for preserving and promoting traditional system of Sanskrit learning by giving financial aid to the Pāthashālās and maintaining a *Sanskrit Mahāvidyālaya* I have no personal knowledge of the steps taken by other Provincial Govts, e g., Punjab and Madras and Bombay Presidencies, but am sure some provisions are made there also

Nothing of the above kind is done by our Govt in C. P and Berār With the establishment of the national Govt in the province, it is high time that C P & Berār Govt does not lag behind other Provinces and makes a beginning in the matter

I have therefore to make the following suggestions.

(*a*) The Govt. should enquire from other Prov Govts and States of Indian Union as to what they are doing for the preservation and promotion of Sanskrit studies and the annual expenditure incurred thereon

(*b*) The Director of Public Instruction may be requested to submit a comprehensive report on the condition of the existing Pāthashālās in various districts under the following heads,

1 The date of starting the Pāthashālā
2 Its management is in the hands of a regularly formed Managing Committee OR of a single person.
3 It is financed by the public of the locality OR by a philanthrophist
4 Has it got its own building ?
5. The number of students reading.

6. The number of students who appeared during the last five years in various examinations and the names of the examining institution
7. The number of the teachers with their qualification and monthly salary
8. The annual expenditure in the last five years

Pending the collection of the above information from other Provinces and the existing Pāthashālās in C P & Berār and final Planning of a longterm scheme by the Govt, the following suggestions may be kindly considered as IMMEDIATE MEASURES for making a beginning

I The Govt should make a special annual grant of to the Nagpur and Saugor Universities for providing higher instruction in the following five branches of Sanskrit learning by employing five learned Pandits on a minimum salary of Rs. 200/- p. m, 1. Vedic ritual and Mīmāṇsa, 2. Systems of Vedānta, 3. Other Philosophical systems, 4 Higher Sanskrit Grammar, 5. Sāhitya

II An annual grant of Rs 12000/- should be provided for giving grant-in-aid to the deserving Pāṭhashālās in Nagpur, Jubbulpur, Raipur, Bilaspur, Saugor, Akola, Amraoti and other places for enabling them to work more efficiently. As in U. P. and elsewhere, the *Govt should contribute half of the expenditure on the salary of the teachers*, the other half being met by the public of the locality.

The Pāṭhashālās in the above places are working under very discouraging circumstances. By giving them financial help, the Govt would be able to enforce the conditions necessary to improve their working. They will serve as feeders for the University Sanskrit College.

The importance of Sanskrit learning for a full appreciation of Indian culture and enrichment of the Literature in Modern Indian Languages need not be emphasised. It is therefore fervently hoped that the Govt will do its best to preserve and promote Sanskrit Learning—Our precious heritage from the Past.

[*A Note sent to Education in Madhya Pradesh* (1948)]

47. STUDY OF SANSKRIT

I am prompted to write the following by your Editorial note on 'Sanskrit' in Thursday's issue of Nagpur Times It is very encouraging to see that the importance of Sanskrit, from the cultural and linguistic points of view, is being gradually accepted and its revival is no longer a taboo with our educationists The future posterity of free India will hardly believe that in the days of foreign rule in India, even Hindi and Marathi scholars of our University were opposed to the obligatory study of Sanskrit either with or as a part of the courses in Hindi and Marathi Now with the advent of independence, the cultural renaissance has ushered in the new ideology in the educational system In many provinces Sanskrit is or is being made a compulsory subject in the schools. The C. P. High School Education Board in its meeting has recommended to its successor Board the compulsory study of Sanskrit in the last four years of the High School stage

A Snag

In your above editorial note you have referred to a snag in the above proposal. You say "True this will mean that students in NON-HINDI areas will have to study four languages—namely mother tongue, national language, English and now Sanskrit" I am sure you did not intend to convey the idea that the students in NON-HINDI areas will be put to some disadvantage in comparison with the students from Hindi-speaking areas. Lest this impression should colour our view in educational reconstruction, I hasten to suggest that the students of Hindi-speaking areas should be made to study compulsorily an additional language (other than Hindi). This step will not only bring on par the students from all parts of India, but will also lead to the spread of much desirable poly-linguism

among our people. In Europe, every liberally educated person knows two or more languages, besides Greek or Latin The fact that the mother tongue of a student happens to be also the national language of the country, should not mean that he should know one language LESS than his fellow brother from non-Hindi areas

Inevitable

As regards the difficulty of learning four languages in the school stage, it may be pointed out that it is inevitable in the present transitional stage The compulsory study of English must continue for the present in our schools for obvious reasons, But in the distant future of our educational set-up, a student need not study compulsorily more than three languages (mother tongue, Sanskrit and an additional Indian language) in his school career. It is a common experience of many that a foreign language is learnt more easily at an advanced age So it will be advisable to postpone the introduction of English to the Intermediate stage, when the Indian languages are sufficiently developed to warrant this step

Your remark about the ridiculous demand for 'due representation to Sanskrit Pandits' is quite reasonable But the spirit behind the above demand for due representation is that the personnel of our embassies stationed in foreign countries should have cultural and literary background and be acquainted with the glorious literature of ancient India Our ambassadors abroad should not look small and feel awkward about their not knowing India's literary past, when visiting the oriental sections of the learned academies of Europe and America, where substantial effort has been made to popularise the immortal Sanskrit works by translation, abridgments and treatises thereon.

[*Published in Nagpur Times, Nagpur* (30-11-1949)]

48. STATE ENCOURAGEMENT TO SANSKRIT PĀṬHASHĀLĀS

The writer of the main Editorial in 'Nagpur Times' of November 5, is entitled to gratitude of the lovers of Sanskrit, as he has drawn pointed attention to an urgent problem of cultural importance Sanskrit had an international status in the glorious days of free India.

But with the advent of slavery, Bhārata-varsha lost its soul and consequently Sanskrit also lost its place. Under foreign domination, the people became indifferent to the glory of Indian culture and did not view with favour the study of Sanskrit, as it was not an "Economic undertaking" like Persian and English It was no longer given its due place in the general education of a Hindu Somehow its study was kept alive in Sanskrit Pāthashālās by the liberality of the religious-minded people

There was no help or encouragement given to these Pāthāshālās, which entirely depended on the charity of some rich patrons With the disappearance of princes and malguzars, the condition of these Pāthashālās can be easily understood

It was, therefore, a matter of no less satisfaction that M P Government provided in the current year an amount of about Rs 15,000/-/-, as a maintenance grant to the fast-vanishing and starving Sanskrit Pāthashālās in the province A good beginning, even though small, should always be welcome It is hoped that the Government will substantially increase the grant in future. The Government should also institute a suitable agency for supervising proper use of the grant and for raising the tone of Sanskrit learning on indigenous lines.

It may be of interest to know what other States in India are doing in this direction. An enquiry into the matter on inter-State level will furnish valuable data for deciding the future line of action. An attempt

is made here to summarise the steps taken by the Uttar Pradesh Government for preserving and promoting the study of Sanskrit or indigenous lines

(A) In 1951-52 there were 1,385 Sanskrit Pāthashālās in Uttar Pradesh. Of them nine were run by the State and 402 were aided institutions

(B) The Uttar Pradesh Government spent more than three lakhs of rupees (Rs. 309, 240/-) in 1951-52 as grant to Sanskrit Pāthashālās, besides an amount of ten thousand rupees as Library grant and Rs 27,500/- as contribution to building and repair funds

(C) Over and above the amounts mentioned above, the State spent about one lakh of rupees (Rs. 99,900/- in 1950-51) in maintaining a full-fledged Government Sanskrit College in Benaras for imparting instruction in higher branches of Sanskrit learning

(D) The Uttar Pradesh Government has a separate Inspectorate for supervising the work of Sanskrit Pāthashālās, consisting of a Chief Inspector and a number of Assistant Inspectors of Sanskrit Pāthashālās An amount of twenty-five thousand rupees (Rs 25,670/-) was spent in 1950-51 for maintaining this Inspectorate.

In all the Uttar Pradesh spent in 1950-51 about SIX LAKHS of rupees (Rs. 593-468/-) in preserving and promoting the indigenous system of Sanskrit learning.

In may, 1950, the Uttar Pradesh Government invited and organized an All-India Sanskrit Examinations Standardisation Conference at Benaras. In accordance with the recommendations of the Conference, which was attended by the delegates and representatives of almost all Provincial Governments and Universities in India, including Madhya Pradesh Government and Nagpur University, the syllabus of Sanskrit studies has been considerably expanded to suit the modern requirements of Sanskrit teaching Such subjects as History, Politics, Economics, general Science etc. have been introduced, without impairing the high standard of Sanskrit studies, with a view to increase the usefulness of Sanskrit Pandits in the social and cultural service of the motherland. The Sanskrit Pandits need not be now exhibits or relics of ancient India.

The courses for the various examinations have been so framed as to correspond, in content and quality of knowledge, to the Matriculation, Intermediate and B A., examinations of Indian Universities These recommendations will, it is hoped, go a long way to make Sanskrit study an "Economic proposition" in the new set-up of our educational system

The coming session of Sanskrit Vishva Parishad at Benaras on the 15th and 16th November will discuss the place of Sanskrit in Indian education, the assistance given by Central and State Governments to study Sanskrit, the opening of Government and semi-Government services for Sanskrit Pandits and many other allied subjects

It is hoped that under the inspiring leadership of our President, Dr Rajendra Prasad, active steps will be taken to secure the help of all the State Governments in bringing about a thorough improvement in the miserable condition of Sanskrit Pāṭhashālās scattered in all parts of India

The establishment of an All-India Sanskrit University financed by the Central and State Governments is a welcome step, which the Conference proposes to consider. But what is needed most to revive and improve the study of Sanskrit in every corner of India is to bring into life again the dying Sanskrit Pāṭhashālās, which have been the real custodians of orthodox Sanskrit learning This aim cannot be fully achieved, unless the State Government realise their responsibility and contribute liberally towards its success

[*Published in Nagpur Times*
(*Nagpur*) *on* 9-11-1952]

49. SANSKRIT EDUCATION-TWOFOLD POLICY SUGGESTED

The different methods of teaching Sanskrit as prevalent at present can be classified broadly under two heads —Traditional (Orthodox) and Modern (Western) The former method has been prevailing in old type Institutions, and is fast losing its popularity in the new set-up of educational schemes.

The students taught in these methods are those who had received no General Education before and confine themselves to the exclusive study of Sanskrit. They had learnt neither the Modern Indian Languages and their literature, nor the other subjects comprised under Social-Studies

More or less, their study of Sanskrit begins as the first phase of their education. Except the nodding acquaintance with their mother tongue and some religious instruction at home, they had read nothing before. In a vast majority of cases, a very elementary knowledge of mother tongue, (and even that confined mostly to spoken form) and of traditional religious practices of the family imparted orally, was the only background, equipped with which they started learning Sanskrit.

In many cases, their knowledge of three 'Rs' was very inadequate and just sufficient to enable them to proceed to learn Sanskrit. Their aim was not to acquire general education of the environments (i e elementary knowledge of Social Studies). A good grounding in Sanskrit Grammar and Literature with power of expression in Sanskrit was their sole aim. So they began with studying aphorestic rules of grammar and logic mainly and literature secondarily.

Wrong Emphasis

Naturally the emphasis in the beginning was more on cramming than on understanding. No doubt, after some years of patient labour

and possibly uninteresting instruction, they did acquire a good knowledge of Sanskrit Grammar and literature and became votaries of Sanskrit learning of the orthodox type, and occasionally composed original works in Sanskrit

Some of them turned to some sort of professional career of miscellaneous type by studying Joytish, Ayurveda or Karma Kānd, while others aspired for a career of teachership in Sanskrit or leadership in the religious and cultural spheres of their limited community life. Others have had to depend on the alms and donations of the generous public

The other method (called modern or western method) came in vogue as a result of contact with western education during the British regime The exclusive study of Sanskrit fell in disfavour with progressive section of the people

So side by side with the neglected orthodox type of sanskrit education ordinarily meant for poorer people, Sanskrit began to be taught as an optional subject in the secondary and University classes and was offered by a very small number of students

New Arrangement

In the new arrangement, the students naturally neither devote full time to Sanskrit, nor they have that single-mindedness which is so necessary for studying as abstruse a subject like Sanskrit Grammar and Logic as a mental discipline

The old Grammatical and Logical rules are not favoured The emphasis is not on Grammar and Logic for its own sake, but as an aid to understand Sanskrit language

The result is that the students, no doubt, develop their capacity, to an appreciable extent, to understand and appreciate Sanskrit literature; but they lack grounding in, and command over the language and consequently in power of expressing themselves in Sanskrit

They are also wanting in all-exclusive mastery over the intricacies of the subtle discussions in higher Sanskrit Grammar and Philosophy. As they are unable by the very nature of their education to compose original works in Sanskrit, Sanskrit literature which has been continuously growing from ancient times has come to a stop and stagnation has set in.

The study of Sanskrit was likened to that of Latin and Greek in the West—the dead archaic languages. The unique character of the Sanskrit language, as a source of inspiration in the development of modern Indian languages and as a living force in the social and literary life of the Indian society, was forgotten in the dazzling compact with the spirit of the modern age.

In short, the traditional method has fallen in disfavour with the new ambitious generation of our people, and the modern method has failed to keep the torch of Sanskrit learning alive The result is that now the study of Sanskrit stands in need of reorientation and planning on proper lines

There has been no planned research into the methods of teaching Sanskrit. But occasionally some publications (like "Sanskrit Self-Taught", or "Sanskrit in sixty days" etc.) have come to light. Their main aim is obviously to give their readers a smattering of colloquial use of Sanskrit

Such efforts are obviously imitations of similar publications for teaching foreign languages. Naturally, they can not be taken seriously for the simple reason that the modern foreign languages (French, German etc) intended to be taught are, unlike Sanskrit, spoken languages, and ancient foreign languages (like Greek and Latin) are, unlike Sanskrit, archaic languages

The position of Sanskrit is unique. Sanskrit is neither a spoken language with a very vast majority of people in India, nor is it an absolutely dead and archaic language. It has advantages of both spoken and archaic languages.

For an Indian, whose mother tongue is an Indo-Aryan language or even a Dravidian language, Sanskrit is to a very great extent, a living speech in his vocabulary and phonology besides being immanent in the thought and contents of the literature of his mother tongue. But at the same time, on account of its synthetic character and morphological complexities of its Grammar, Sanskrit language, though not foreign in any sense, becomes a difficult language to study and a dispair to many students of the present times.

The study of Sanskrit should follow a two-fold path Horizontal and

Vertical. Its study should be made wide-spread as a basic language, useful to understand, appreciate, enrich and develop the modern Indian languages and their literature For that purpose, the modern method of teaching Sanskrit should be encouraged

Two-Fold Path

Secondly, there should be facilities provided for intensive study of Sanskrit to the selected few, who desire to pursue the advanced study of Sanskrit. For such students there is no other alternative and an encouragement to the traditional method of teaching Sanskrit is the only practical approach

In this revival of traditional method of teaching Sanskrit, certain reorientations are necessary Firstly, the students of this type will have to be brought out of their narrow and exclusive world and be taught, in addition to Sanskrit, subjects of social Science and Humanities also

This will open new avenues in their future career and also make them better equipped to enter public life and be more useful citizens of the country The advantages of this new scheme are that the study of Sanskrit in its higher and advanced stages will not be neglected and its votaries will not depend on donations or alms of the generous public

An experiment in such a new scheme of Sanskrit education is being made in Madhya Pradesh—wherein the State has established a new type of Sanskrit College, and Saugar University has instituted new courses of Sanskrit studies and now examinations, which comprise of different subjects of ancient Sanskrit learning and also of such modern subjects as English, History, Economics. Political Science, etc

The success of the above experiment will largely depend on the complete and efficient implementation of the scheme and on encouragement from the State and Union Government

[*Published in M P. CHRONICLE,*
(*Bhopal*) 1957]

50. A NEW TYPE SANSKRIT COLLEGE IN M. P.

In the initial implementation of an important recommendation of M. P Sanskrit Institution Reorganigation Committee, the M. P. State Government started a college at Raipur on the auspicious day of 2nd October, 1955, Gandhi Jayanti day The main aim in starting this college was to give a new orientation to the study of Sanskrit, by combining the best of old and new methods of education

The Chief object of having this unique course of studies is to remove the one-sidedness and narrow outlook of the old traditional Panditic learning and also to give sound knowledge of, and profoundness in Sanskrit language coupled with good foundation to the Sanskrit students taught by modern methods It is expected that students going out from this college will not only be good Sanskrit Pandits, but also will be useful citizens of the country well-equipped with the knowledge of modern subjects to serve their mother-land in different walks of public life

The courses taught in this college therefore comprise of important subjects under Sanskrit learning as well as modern subjects such as Hindi, English, History, Economics & Civics or Political Science The five modern subjects are compulsory in the Intermediate (Classics) and three of the above modern subjects of advanced standard are compuslory in the B. A. (Classics) stage Hindi and English are compulsory in both the stages The medium of instruction and Examination for Sanskrit subjects is Sanskrit, and for other subjects the medium is Hindi

The students admitted to this college are *either* Matriculates with good marks in Sanskrit *or* Pūrva-Madhyamā passed with English as one of optional subjects

The syllabuses are framed by the committee of Courses in Oriental Learning under the faculty of Arts and the examinations mentioned below are conducted by the Saugar University.

Names of Examinations .—

1. The Intermediate Arts (Classics)

   or

   Madhyamā (New)—2 year's course

2 The B A (Classics)

   or

   Shāstri (New)—2 year's course

3. The M A. (Classics)

   or

   Āchārya (New)—2 year's course

There are following posts on the teaching staff of the college

Principal	One	M P Education Service	Class—I
Lecturer	One (in Veda)	M P Education Service	Class—II
Lecturer	One (In Vyākarana)	,,	Class—II
Lecturer	One (in Sāhitya)	,,	Class—II
Lecturer	One (in Darshan)	,,	Class—II
Lecturer	One (in Hindi)	,,	Class—II
Lecturers	Two (in English)	,,	Class—II
Lecturer	One (in History)	,,	Class—II
Lecturer	One (in Economics)	,,	Class—II
Lecturer	One (in Political Science)	,,	Class—II
Physical Training Instructor	One		

With the starting of M A (Classics) classes from the next session, there will be 4 (four) posts of Reaers' rank dadded to the teaching staff

Library —

The College Library has been gradually built up with a view to have a good reference and research Library on various branches of Indology and General Subjects under Humanities So far about Rs 58136/-have been spent for purchasing Library books Research Journals and Periodicals in addition to Magazines and Newspapers are subscribed for the college library

Stipends —

In the present session 1958-59 about 80 students were given stripends at the following rates

30/ P M.-for Intermediate Arts (Classics)

35/ P M.-for B A. (Classics)

There is no tution fee charged from students and no distinction of caste and creed made in the time of admission

Building and Hostels

The construction of college building consisting of about 20 rooms is nearing completion, and before july 1959 the college will be shifted to its new Home

The hostel at present is housed in a rented building meant for about 30 students. The question of constructing a hostel for 50 students and 10 teachers quarters is under active consideration of the Government

Extra Curricular Activities

Besides various Literary and Cultural Societies working under the supervision of different college teachers, Students Union, the (N C C) National Cadet Corps, games and other sports, Social service camps, Educational excursion trips, staging of Sanskrit Dramas and Kavi-Sammelana etc. figure among extra-curricular activities of the students in the college

It will be thus seen that this Govt Sanskrit College is a fore-runner of such Institutions, the establishment of which has been recommended by the Sanskrit Commission (Govt of India) for remodelling Sanskrit education The College enjoys equal prestige and status with other Govt Colleges of Arts, Science etc in M P State and is treated on par as regards recognition and affiliation to University, scale of pay of professors, amount of stipends paid to students and in all other matters

[*Submitted to Sanskrit Vishwa Parishad Bombay on* 19-3-59]

51. "VISIT TO THE PATNA ORIENTAL CONFERENCE & PLACES OF HISTORICAL INTEREST"

At the outset, I think I should justify my claim to speak on the subject I have been in touch with the Oriental Conference proceedings since 1926 & that Patna Conf was the third of the Conferences I attended in succession, though, of course in different capacities I attended the Allahabad Conference in 1926 as a Student-Volunteer who took an active part in some of the functions of the Conf, went to the Lahore Conf in 1928 as an advanced student, and at Patna I went as a full-fledged professor

To know in brief, the history of the Conf, you may know that its sessions are held every third year, the first session being held at Poona under the presidentship of that Veteran Scholar, late Dr R G Bhandarkar That world renowned Orientalist, Prof Sylvan Levi presided over the II Conf at Calcutta The third session of the Conf was held at Madras, the president being M M Dr Ganga nath Jha, my revered teacher The fourth session at Allahabad had as its president that famous Parsi Scholar, Sir J J Modi, who graced also the recent Patna session and there brought life in the opening proceedings of the Conf, when, proposing a Vote of thank, made a direct and personal appeal to His Excellency, the Governor of Behar & Orissa for seeing that लक्ष्मी & सरस्वती, the Goddess of wealth & Goddess of learning flourish & who side by side startled the world of scholars by again affirming the old theory of Dr. Spooner that Chandra-Gupta, one of the greatest Emperors of India, was a Parsi The fifth session of the Conf. was held at Lahore in 1928 under the presidentship of M M Haraprasad Shastri, who in spite of his old age and feeble health so much so that he was brought with Presidential chair on a perambulator, delivered a very informing & inspiring address. The sixth Conf in 1930, about which I am to say something tonight, was held under the presidentship of R.B Hīrālāl, a well-known Indologist of our province As the President

of the Reception Committee said at Patna, 'Mr. Hīrālāl & R D Banerji are the two great shining names in Oriental scholarship in the generation following that of Dr. R G Bhandarkar & M M H P Shāstri, they have filled up chapters of Indian History of which we know mere outline when we inherited Indology after fleet & Kielhorn In his masterly Presidential address, Mr Hīrālāl surveyed the whole field of the research work in Indology during the last ten years His brief historic survey of the achievements of Indian Scholarship was very admirably supplemented by practical suggestions We people in C P should be proud of him, whom the greatest honour, that the Indian Orientalists could give, was shown

The Conf lasted for 4 days from the 17th to 20th Dec , followed by a historical excursion to Rajgrha & Nalanda The Chairman of the Reception Committee was Mr K P Jaiswal, the renowned interpreter of Hathigumpha Inscription and the chief figure among the Oriental Scholars of Behar. The Reception Committee took great pains to look to the comfort's of the delegates from outside The delegates were provided with well-furnished rooms in the M. L. C. quarters of New Patna Mr Jaiswal being a leading barrister of the Province, the whole Bar association, it seemed, was at our service The majority of the Student-Volunteers were drown from the Law College. The delegates had a very busy programme there. There were 12 sections (such as Vedic Sanskrit, Classical Sanskrit, Philosophy, Anthropology & History, Epigraphy, Fine arts, Philology etc) & the different sectional meetings were held under different Presidents from 11 A M to 2 P M every day. The real instrinsic worth of holding these Confs was to be seen in these sectional meetings, where the papers of the scholars were discussed & free exchange of opinion took place. The rest of the programme added to the spectacular show of the Conf. We were shown round all the best & important parts of Patna —a city of about Twelve miles in length & situated along the bank of the Ganges While being taken to the Party at the Govt. house, we were shown the fine buildings of the New Capital,Secretariat, Council House, High Court– all newly built after the formation of the province of Behar & Orissa in 1912 We obtained the most picturesque view of the illuminated Patna, when we had a Steamer-trip on the Ganges from one extreme

part of the city to the other Before I come to other interesting items of the programme, I think I should give a short account of Patna & its importance for the lovers of Sanskrit learning

Patna stands on one of the ancient cities of the world, Pātaliputra the Rome of Hindu India. Mr. Jaiswal recalled to us that at Patna we were on the very land & on the very site-where lived, wrote & left an undying heritage, Pānini, the first & still the foremost philologist of the world, Kautilya, the Hindu Aristotle, Ashoka, the propounder of the greatest royal truth 'Real conquest is duty', our Patañjali the great grammarian who has ruled over the SK language for the last 2000 years Āryabhatta the great Astronomer & Mathematician who at the age of 23 formulated the theory of Earths gravitation in 498 A D According to Buddhist accounts, Ajātashatru a king of Magadha, built a fort here & round this grew up a town which became the Capital of the Mauryan Empire. About 300 B C Magasthenes, the ambassador of Sclukes Nikator, Visited Pātaliputra and the fragments of his account have come down to us The importance of Pātaliputra declined with the fall of the Mauryan dynasty, but the place came into prominence once more with the rise of the Gupta dynasty in the 4th C A. D Fāhien who visited India in the 5th C A. D spent three years at Pātaliputra, He was greatly impressed by Ashoka's palace which he found still standing and gives a glowing picture of Pātaliputra as a great centre of learning Huen Tsang, however, some two & half centuries later, describes it as an old city, long deserted.

The present city of Patna may be said to date from the days of Sher Shāh who built a fort & mosque which still stands rear the Eastern gate of the city wall. Patna was an important Provincial Capital in Moghul days, a monument of those days is still seen the Patthar ki Masjid. In the modern times, the old city has been enriched by the addition of the Cantonment, the new Capital with fine govt buildings. Among the old places of historical interest may be mentioned the gola, an enormous granary built in the shape of a bee hive in 1786 for the prepetual preventions of famine in those days, Afzal Khān's garden where Farrukhsiyar was enthroned as Emperor in 1712, the small Sikh temple near Patna Chowk where Guru Govinda Singh was born in 1664, the European Cemetary Con-

taining a monument to those who fell in the Patna Massacre in 1763 near the well where the bodies of the Victims were thrown. In the end, may be mentioned the splendid & imposing palace of R. B Rādhā Krishna Jalan with its magnificent position on the River This is one of the best show-places of Patna, a fine collection of antiquities & curios speaks of highly of the aesthetic taste of the owner. The members of the Conf. were entertained here by R B. Saheb & were shown round the wonderful treasure-house

Even in Modern times, Patna had been marked out as a seat of culture That famous Scotch scholar Mecrindle whose works are constantly referred to by the students of Ancient History, Sir George Grierson, the foremost linguist of our days, lived here. Pandit Rāmāvatāra Sharma, that Veteran Scholar of Sanskrit, lived & wrote here his 7th Darshana in Sanskrit-the most severe & philosophical denial of a universal creator,— & left unfortunately unfinished his pioneer work on Sanskrit Lexicones Sir Jadunātha Sarkār stayed at Patna & making use of the khudabaksh Library became an authority on the Moghul Period Mr K P Jaiswal, Dr. Banerji-Shāstrī & Dr Harichand now keep up the torch there and are doing a splendid work in Phieology, poetics & inscriptional studies

Here I may mention the Educational Institutions run by the Behar Govt for the spread of Oriental studies Patna University has now been provided with a chair in Maithili Language & thus has been brought in line with Calcutta & Benares Universities which give teaching in the advanced studies of Bengali & Hindi respectively The Behar Govt maintains two Govt Sanskrit Colleges, while Bengal, U P and Punjab Govts maintain only one & the other provinces of India maintain no Govt Sanskrit College. They also maintain one first class Madarasa to impart teaching in Arabic & Persian upto the highest standard The Govt also supports 300 Madarasas & Pāthashālās at a cost of $1\frac{1}{4}$ lacs a year. In addition to these they have established an Ayurvedic College & a Tibbi College & a Sanskrit Convocation. Besides this, the Behar Govt keep up Patna Museum, the Khudabaksh Library & the Behar & Oriass Research Society. I have said all this in detail to give you an idea what the Behar education Dept. is doing for the cause of Oriental studies, quite in keeping with the

ancient tradition of Magadha & Mithila. May we not wish here that our C. P Govt also may move a little in this direction ?

Pātaliputra Excavations

One morning we were taken to the site of the old Pātaliputra, where excavations are being carried on. All the doubts about the identification of the place with the ancient historical city have been set at rest by the Ginar inscription found at Gulzaribagh Mr Jaiswal has discovered there an arch stone with pre Ashokan letters and Dr. Spooner has discovered the site of the hundred pillered Hall, desribed so vividly by Megasthenes A large Ashokan stone piller with masonmarkes at the bottom, wooden planks dating from the Mauryan times are seen standing in the excavated pit These excavations have revealed the traces of the palace buildings of timber & stone, ereeted in the Ashokan times. The chief objects of interest obtained in these excavations, are a great wooden palisade, pieces of creepers in gold which Megasthenes saw in the palace of Chandragupta, remnants of polished umbrella of stone, which was fixed on the thrones of the Mauryas, a chariot wheel, steel implements of war gold rings, of some glass seals with Brāhmī letters

Patna Museum

Its sand stone building in the Rajput style richly embellished with carved stone work is, as Mr. Jaiswal said, the most beautiful museum building in British India & it would have done credit to modern Delhi

The Museum is very rich in the collection of Indian coins, numbering about 11000, punch-marked series alone number about 3000. There is the finest collection of Gupta coins, besides the coins of Indo-Parthian; Indo Scythian, Indo-Kushan and Pathān & Moghul Kings A unique & interesting coin is the gold Ashwamedha coin of Kumara Gupta & also a portrait gold coin of Jahangir with a goblet of wine The museum possesses the best known sculpture of the Mauryan times—a life-size female image placed at the entrance of the Museum—which has been pronounced to be the finest piece of Hindu Plastic art of the pre-christian centuries. The Didargang site where this image was dug out marks the position of

the famous Ganges palace of the Nanda & Maurya Kings—named as सुगाङ्गप्रासाद in Mudrā-Rākṣasa Besides the section of ethnological collections, we saw also in the Museum a collections of estampages of all the important inscriptions of the province, the most important being a fine plaster cast of the famous Hathigumpha inscriptions of Kharavela. In the collection of the copper-plate grants, the earlist we saw was that of the Vākātaka King, Pravar sena II of the 5th C A D

In one wing of the Patna Museum buildings is located the Behar & Orissa Research Society containg an up-to-date reference library of the modern research journals published in India & abroad, and a fair collection of Mss

Oriental Public Library

This library is known also as the Khudabaksh Library It is said to be finest collections of the Islamic literature in the world (c 6000 Mss Art & Rarer). There is also a fine collection of standard English works handsomely bound, including many rare & valuable books there is kept in the library the 1st edition of the Waverly novels Some of the poetical works are sumptuously illustrated and magnificently bound. One of them is a history of the house of Taimur, embellished with about 150 full-page illustrations, which was made for Akbar & contains the autograph of Shahjahan. Various specimens of exquisite penmanship are passages in the Ms. copies of the Koran, put in glass cases There is a Ms which bears the autographs of five emperors of India, Jahangir, Shah-Jahan, Aurangzeb, Edward VII and His Majsty King George V. The beautiful building of the library with its adjacent reading hall is aptly described as a worthy setting for the jewels it contains

Nalanda & Rajagrha

Our most interesting item of the programme was visit to Rajgrha & Nalanda. Nalanda is at a distance of 65 miles from Patna Our conveyances took us direct to the site of the excavations at Nalanda This place has got a number of raised mounds of earth The excavations carried on in one mound has brought to light the remains of the ancient

Buddhist Nalanda University—the oxford of Hindu India, described so vividly by the Chinese pilgrims In the excavated area, one could see there the long rows of the uniforms room used by the students as a hostel, large lecture rooms with high walls, the University temple with decorated images on all the sides (even female statues putting on यज्ञोपवीत (Sacred thread), a number of monasteries used by monks, three strong wells, a number of standing stupas where it is said the remains of the distinguished professors have been deposited and the perfect system of drainage. A short museum is attached to the site of excavation where the finds of excavations, such as berch-book, earthen pots, blackened rice, copper-plate inscriptions, are safely kept. The excavations at Nalanda. have settled many debated points in the history of Indian Architecture The existence of arch-rooms proves that the construction of arch was known in India before the Mohammaden period & the concrete plasters on the walls of the rooms prove the use of cement composed of lime & brick powder in Hindu India. A recently found inscription referring to a monastery being founded at the Nalanda University by the king of Sumātrā & jāvā has proved that the fame of the Nālānda Univerisity was not confined to India only, but went abroad I may refer to a point here of local interest Those of you who have seen the Nāgārjuna Cave while going from Ramateka in Nagpur district to Khinsey tank may be interested to know that that cave is associated with the life of a very great philosopher of Hindu India—I mean Nāgārjuna. Nārgārjuna, was only 7 year old, when some astrologers foretold his father that the son, Nāgārjuna would die an immature death when still young in his own country Berar (Vidarbha) The parents sent the son Nāgārjuna away to a far-off place at Ramateka-outside Berar, to see that the predictions of the astrologers should not materialize Now, as chance would have it, the boy नागार्जुन was taken from Ramateka by a Buddhist monk to Nalanda Univeristy & was admitted there as a student. Gentlemen, that Nāgārjuna of Berar won lawrels there finally became a famous buddhist philosopher of his times & held the distinguished post of Principalship of that very University where he was educated.

A journey of 7 miles still further led us to Rajagrha—the great ancient

city which was founded by Jarāsandha & where the Buddhistic Council after the death of Buddha was held The old city with its many places of historical importance of Buddha's times, has been very graphically described in great detail by Fahien, & Huen Tsang, the famous Chinese pilgrims Now it is all ruin there, just ascending a small hill at whoes foot a river, Saraswati, flows, one can have a birds eye-view of the remains of the ancient city now fallen in ruins Who would not shed tears on seeing the huge devastation of the old city brought about by that All-destroying Time The hill contains 7 natural springs of hot water all in a line & at a distance of a few yards The temperature of the water coming out from these springs varies & in a descending order, the first spring being the hottest Madrasi delegate just sat below the mouth of the 1st spring & enjoyed bath while for us the water of the Ist spring was too hot, so we had our bath at the 2 nd spring It is said that the bath at these springs is a sure cure for skin-diseases & thousands go every year for that purpose There is held a religious fair of the Jainas every year, when people throng in large numbers If being regarded as a place of pilgrimage, a light railway, managed by Martin & Co goes upto the foot of Ragagrha hills, where a small town is also growing fast

A Sanskrit Drama

A unique & most interesting function in connection with the conf was the staging of a Sk. Drama for the delectation of the delegates. Dramas in classical language are a very fine method of keeping up a living touch with the heritage of the past combining as they do, not only scholarly control over the subject, but also the much-needed reapproachment between the public at large & their ancient culture through visualization It is much to be regretted for Patna that the local Sanskrit scholars & teachers could not themselves stage a play & had to ask Sanskrit Sāhitya Parishad of Calcutta to stage a drama When the Conf was held at Allahabad four years ago a Sk play could easily be arranged there by the professors & students of the University The play selected at Patna was Mudrā Rāksasa, written by Vishākhadatta in the 8th C of Christian era, Curiously enough, I have to teach that very play to my IV year Students,

and it was really a fortunate coincidence that I happened to see that very play on the stage I remember very well to have said to my students that from Patna I would be coming back richer in experience after visualizing the very seemes that I am to explain in the class The place of action in this drama is Pātaliputra or Patna of 22 centuries ago The play, it must be admitted, is characterized less by action than by unexpected intrigues & turns which events are made to take, which are perhapes better enjoyed in reading than witenessing it on the stage This was a difficulty under which the performers had to labour But inspite of this disadvantage & the additional disadvantage through the absence of proper stage apparatus, the play was pronounced to have been a distinct success & caused an agreeable surprise The cast presented a striking galaxy of professors & teachers in Sanskrit, M A as well as old type Pandits—all members of the Calcutta Sāhitya Parishad who displayed a marvellous combination of acting & recitation The musical talents of the two वैतालिक (bards) who come in the III act to create disunion between the king & Chānakya was much appreciated The scene of snake-charmer was as full of humour & mirth as the tragic scene where Chandan dāsa is taken to the place of excecution evoked pathelic sentiment. A novel feature of the performance was that of the cermonial, exhibited on the stage before the commencement of the play proper & which is known as जर्जर पूजा-the worship of the bannerof India. The second novel feature was that the characters of the play spoke in the language of the play Even at Alld, we could not avoid substituting Sanskrit for Prākrit speeches It is really a great credit to the Parishad of Calcutta that the higher characters spoke in Sanskrit & lower characters spoke in different Prākrits & thus produced a literally faithful representations of the play. The part of Chānakya was played by Pandit Kālipad Tarkachārya, Principal of the Sanskrit College & that of Chandragupta by Prof Durgamohan Bhattacharya of the Calcutta University This very fact should account for the splendid success the play was said to have achieved

Gentlemen, that is all I saw during my recent vistit to Patna.

[*Read in Morsis College, Sanskrit Society, Nagpur in january,* 1931]

52. ASSOCIATION WITH MORRIS COLLEGE NAGPUR

That my association with the College was very happy and cordial can be easily imagined, when it is known that I joined the College in the forenoon on the 11th October, 1929 precisely at the auspicious time when the annual social gathering of the College was being inaugurated by an ex-student Shri N. L Inamdar, a well-known educationist of Amaravati The first event of my life in the College was to be introduced by the Principal (Mr F. M Cheshire) at his residence to the chief guest of the celebration As the luck would have it, Shri Inamdar had passed his M A, in Sanskrit and, therefore, the Principal made a good use of the occasion for knowing from him about Sanskritists in the very first meeting with me We, all the three, had a hearty chat about Sanskrit language and its study The conversation took place in the verandah of the Principal's Bungalow, which I myself occupied later on as a Principal and which I left, with a heavy heart, 27 years later in 1956 on the eve of States Reorganisation. They say that the world is round and it was so with me I began and also ended my association with the College from the same spot of the stage. I purposely use the word 'stage' here Is it not our life, after all, a drama ?

As no classes were to be held on that day due to social gathering celebrations, the Principal kindly invited me to the college playground in the afternoon to witness, and participate also as he kindly desired in, the friendly foot-ball match between the staff and students. This was the second event of my first day in the college Having been a Pandit-type of student in my University life at Allahabad, I did not venture to participate in the match; but I enjoyed it very much and felt amused to see the two enormous-bodied Professors of those days ('Father' Sen-Gupta and 'Mother' Ganguly) running and gasping for breath in their vain efforts

to kick the ball, passed on hither and thither deliberately by the student players to cause amusement Thus my reminiscences about the College began with such joyful moments of association.

I am very glad to know that the Amrita Mahotsava of the College is to be very appropriately commemorated with the laying of the foundation-stone of an independent library building The college liberary located in 1929 in the two right wing rooms of the main building, has been steadily expanding and one class-room after another was added to it and found later on insufficient In 1955 I myself converted the last class-room on the ground floor (Room No 2) into a Post-graduate Students Study Room, and with that step was completed the process of utilising the entire available accommodation on the ground floor (except the college office and Principal's room), for the library With no further expansion being possible in the main building of the college, it was inevitable that another place should be found out for locating the library and it is just in the fitness of things that the College will soon have an independent library building The gradual encroachment of the library upon more and more space available around it in the main college building till further expansion became impossible, may remind one of the Shatapatha Brāhmana story of the evergrowing fish which accidentally came to the hands of Manu who had to keep it by stages into larger and larger receptacles

May the Nagpur Mahavidyalaya also similarly grow to greater and greater dimensions

[Published in the Souvenir of the Amrita Mahotsava (75 *years jubilee) held in* 1960]

53. LATE PATANJALI SHASTRI

Sir —The Sanskrit Pandits of India will be shocked to learn of the sudden death of M Patañjali Shastri on March 16, 1963 at New Delhi He had returned on the previous evening by air from Varanasi after attending the Executive Council meeting of Hindu University and was to proceed to Madras Thus he had the rare fortune of dying in harness

I was privileged to serve on 1960 as an ex-officio secretary of Central Sanskrit Board of which he was first chairman. His love for Sanskrit learning of the orthodox type and keen desire to improve the social and academic status of Sanskrit pandits made him the greatest champion of Sanskrit studies. The introduction of Sanskrit language as an integral and compulsory part of the study of modern Indian languages in the three-language formula of the re-organized scheme of secondary education, and institution of Government of India scholarships for the products of the Pāṭhashālā system of Sanskrit learning materialized mainly due to his inspiring lead The other laudable schemes of the Central Sanskrit Board e g, financial help to languishing Sanskrit journals and weeklies, subsidy for re-printing important rare and out-of-print Sanskrit texts, awards given to writers with a view to encouraging the evolution of simplified Sanskrit—were some of the other important measures of the Central Sanskrit Board under his distinguished chairmanship for promoting the cause of Sanskrit studies. He incessantly tried to persuade the Ministry of Education to raise the status of the Central Sanskrit Board to that of University Grant Commission

Being a great law pandit, he rose to be the Chief Justice of India In these days it is rare to see a person of such stature and eminence living an orthodox way of life according to the tenets of old scriptures He regularly performed sandhyā and tarpana and periodical shrāddha to

ancestors Recently, he came to Prayag and rigidly performed religious rites He was a typical representative of the best in Indian tradition—simple in dress, unassuming in conversation and polite to the core in official and personal dealings It is sad to recollect that he could not fulfil his readily-given promise to address the Sanskrit students of Allahabad University May his pious soul be united with the Universal Spirit

[*Published in Northern India Patrika Allahabad on* 18-3-1963]

54. LATE ADITYANATH JHA

Sir —Allow me to join in voicing the feeling of irreparable loss to the administrative, intellectual and cultural life caused by the death of Dr Adityanath Jha Before joining the ICS, he was selected for the post of Professor of English in M. P Education Service-Class I (Morris College, Nagpur). His efforts, as chairman of the Sanskrit Programme Advisory Committee, All India Radio, New Delhi, for starting daily news bulletins and weekly news review in Sanskrit will soon, it is expected, bear fruit which will go a long way in demonstrating the powerful expressiveness of Sanskrit as a vehicle of all shades of current knowledge. The academicians of Allahabad will never forget his successful initiative in rejuvenating the financial and academic side of the Ganganatha Jha Research Institute and raising it to become a Central Indological Institute under the Government of India.

[*Published in N. I. Patrika, Allahabad on* 14-2-1972.]

55. ARTHA-VICĀRA IN SANSKRIT CRAMMAR

The science of Grammar in Sanskrit language has beer studied in a unique manner—which is quite different from the same in other languages Usually the science of Grammar is regarded as concerned with teaching the correct forms (ŚABDĀNUŚĀSANA) But the Sanskrit Grammar goes further It dives into the derivation of words (Nirvacana). It also concerns itself with the step-by-step formation of the finished forms (SUBANTA and TIÑANTA) And then it extends its scope to the consideration of the relation of a word with its meaning and the relation between words in a sentence and so on

The last aspect of grammatical studies (ARTHAVICĀRA) has been assiduously pursued and treated threadbare by Indian Pandits from an early period. Patañjali begins his famous work MAHĀBHĀSYA with the question as to what is word, what is its relation with the object denoted by it, wherein lies the power of expression, whether letters syllables, words, phrases or sentences have inherent expressiveness in them. The analysed as well as complete aspects of language are closely studied. The unique concept of VĀKYA-SPHOTA is an unparalleled contribution of Indian Mind, and on psychological considerations the doctrine of SPHOTA, like APŪRVA of the Mīmāmsakas, is established as a link between what is heard and what is comprehended Its identification with ŚABDA-BRAHMA has raised these speculations to be higher spheres, wherein Grammar and Philosophy meet and Grammar (VYĀKARAṆA) has been proclaimed as a DARŚANA and given a definite place in the SARVA-DARŚANA-SANGRAHA.

Bhartrhari, Kauṇḍabhaṭta and Nāgeśabhatta have written pioneer works on this speculative branch of Sanskrit Grammar The science of Grammar in their hands is no longer only a ŚABDAŚĀSTRA, in collabo-

ration with Naiyāyikas and Mīmāmsakas it becomes ARTHAŚĀSTRA or more explicitely ŚABDĀRTHAŚĀSTRA The learned treatment of this special grammatical study, being highly technical and intricate, is regarded an intellectual feat, beyond the comprehension of an ordinary Sanskritist. There was therefore a real need for a work which could present these intricate speculations in a lucid and simple garb for the Indologists of the English-knowing world. That need has been fulfilled by the present work by Dr V Subbarao of Andhra University He is an astute student of Sanskrit Grammar. For more than two decades he has studied laboriously its ARTHA-VICĀRA aspect as discussed in the VĀKYAPADĪYA, VAIYĀKARAṆA-BHŪSAṆASĀRA and LAGHU-MAÑJŪSHĀ Through this commendable work the windoes have been opened and the precious un-approachable wealth of Indian Grammarians genius has now been made available to those who desire to appreciate its splendour.

As one who has been associated with its inception and recognition by the Nagpur University, it is but natural that I should feel great pleasure in writing this FOREWORD to the nicely-planned and executed book and placing it before the serious students of Sanskrit.

[*Published as a foreword to "Philosophy of a sentence and its parts" by Dr. V Subbarao of Andhra University,* 1970.]

56. INTRODUCTORY REMARKS

. This is the IX number of 'Studies in Humanities'—the mouth piece of 'Research study Circle' of Allahabad University The Research Study Circle is reborn every year in the beginning of the calender year with a new set of office bearers—which is both an advantage as well as a disadvantage The advantage is that old prejudices and hesitations are not followed to reappear and there is fresh untapped enterprise, unfettered enthusiasm The disadvantage is that the mellowed experience and awareness of possible pitfalls are wanting with a resultant immaturity. The only continuing thread is the office of Presidentship but even that 'office' changed its 'bearer.' So the annual transformation of the 'Circle' was complete in 1965

The ex-president prof. Ehtesham Hussian passed on to me the new office-bearers, bubbling with fresh, but sometimes, irksome activity I must place on record my oppreciation of their spirit of compromise to work together, which I made an indispensable condition for further work I am glad that they remained true to their written promise.

An encouraging new feature of this year's activities is the paper-reading on different subjects by the members of the 'circle' The university authorities are not unaware of certain preliminary facilities, which unfortunately are not available to the research students But with greater number of research students, becoming members of the Research study circle, and consequent improvement in its financial position, it is hoped that a measure of success can be expected in this direction.

Our ideal is to promote both the academic tone of research and also the corporate life of those, who pursue it; and so long as we have unswe-verring faith in our ideal, unceasingly try our best, we need not-plead guity. It is with this confidence and belief, that this publication ventures to make its annual reappearance.

[*Published in "Studies in Humanities" (Allahabad University Research Study Circle) Vol. IX*, 1968.]

57. FOREWORD

Among many pressing problems that face us on the advent of Swarajya in our country is the problem of evolution of a national language According to the decisions of the Indian Parliament English as an inter-provincial language has to be replaced by Hindi in fifteen years To bring this change Herculean efforts will have to be made to so enrich Hindi language that it may be able to express fully and satisfactorily 'modern' ideas of day-to-day life It should be no longer a controversial matter that our national language should, except in case of words popularly current among masses, have corresponding Indian words for every English word used by an educated Indian At the same time, the new words should be such as are likely to receive willing acceptance at the hands of the people of non-Hindi speaking provinces. The only way to achieve this objective is to fall back on Sanskrit words, for Sanskrit language is the source of nourishment to all the languages in India

It is therefore not surprising that various institutions in India are now-a-days busy with coining words of scientific terminology. But very little seems to have been done on a systematic basis in the sphere of 'every-day-use' words The present book is, therefore, a laudable effort in the desired direction. The author of this book, Shri. S N. Kulkarni is a silent, but solid, worker. He is a retired Head master of M. P Education service, a seasoned teacher and writer of many textbooks of repute A keen desire for planning something original and useful has been a key-note in his life.

None is more conscious of the various imperfections and shortcomings in the book than he himself. His justification is two-fold; firstly to arouse interest in the educated public for discarding English words and using Sanskrit words instead, and secondly to place before the linguists a tentative picture-plan for replacement of English words. In fact, in these days of

transition, many more such attempts are needed, before we reach a more or less final shape of things to come.

This dictionary follows the old tradition of arranging words The Indian tradition of lexicography is based on psychological 'relatedness' as it classifies words into different groups according to their meaning and not to their initial letters The present arrangement has a great advantage over the artificial one of an alphabetical dictionary. Through this arrangement we learn other words related in meaning and thus acquire knowledge in natural way Another important feature in part I of this book is the tabular arrangement of words in Hindi, Sanskrit, Marathi and English which will go a long way in making readers familiar simultaneously with synonyms in other languages and thus removing our exclusiveness in the linguistic sphere The author has given so far as possible Sanskrit words as are used in old texts, but in case of words of 'Modern Ideas'—which are grouped in Part II of the book, he has utilized old Sanskrit roots which are not in much use but which when joined to a suitable suffix, give us a handy word for use. If the ideas are 'new', new words will have to be coined Such words should impart living touch to our vocabulary and pass on as new current coins

The practical advantage of this dictionary is that we can now replace almost all the English words of every—day use, and thus raise the status of our national language in the world

The mere fact that we can do so, is enough to thrill many with a sense of pride on the potentiality of our linguistic tradition. The author has amply demonstrated this linguistic richness and is therefore entitled to our gratitude. For he has by this book, enabled us to walk erect in the assembly of races. Now we need not confess to our national shame that we are short of words in expressing new ideas. Our ancestors have acclaimed the Sanskrit language as 'Kamadhenu' (desire—yielding cow) "गौर्गौः कामदुघा प्रोक्ता" but it is given to very few to possess the skill of utilizing her I have no hesitation in saying that Shree S. N. Kulkarni richly deserves to be placed among those few.

[*Published in* 1951 *as a foreword to Vyavahārakosha (Sanskrit-English-Hindi-Marathi) Dictionary be S. N. Kulkarni, Nagpur*]

58. A REQUEST TO RĀJYAPĀLA OF UTTAR PRADESH

Sir —Recently at a function held at the Allahabad University and also at the exhibition organised by the Allahabad Museum, when our respected Rājyapāl (B Gopal Reddy) rose to speak in English, a part of the audience protested and requested him to speak in Hindi or in Telugu (the Rājyapāl's mother tongue) The Rājyapāl knowing his inability to speak fluently in Hindi agreed to speak in Telugu, provided the audience could understand him in Telugu The Rājyapāl, therefore, continued to address the meeting in English, much to the resentment of the general audience.

Really speaking, the Rājyapāl of Uttar Pradesh, who is usually from a non-Hindi area, is expected to pick up at the earliest the regional language of the State in the interest of increasing dialogue between him and the people of the State, or alternatively, he may come prepared with a Hindi version of his intended speech, written in the script of his mother language, when he visits a Hindi-speaking State If even this is not possible and practicable, he should bring with him an official interpreter of his choice, who will translate into Hindi what the Rājyapāl is pleased to say on the occasion Any one of the above alternatives will bring the Rājyapāl nearer to the hearts of the people and avoid much of the unfortunate linguistic misunderstanding.

As a second best solution, it is suggested that the Allahabad University (Hindi Department) which has on its teaching staff teachers of different Indian languages, can easily provide an interpreter on such occasions, when a Rājyapāl or a distinguished person visits the University. Similarly, the Hindi Sahitya Sammelan or any other educational institution should see that a person well-versed in Hindi as well as in another regional

language is made available to translate the non-Hindi speech into Hindi, for the general audience. This will be an important contribution towards removing the distance between Hindi and other regional languages and also pave the way for the gradual replacement of English from everyday use in our public life. That a distinguished non-Hindi-speaking guest, being unable to find an interpreter, should be compelled to speak in English, is a challenge to the Hindi world It is not quite an unfounded allegation that the Hindi-speaking educationists do not take pride in learning a non-Hindi regional language. The earlier this impression is removed, the better we will serve the cause of national integration.

[*Published in Northern India Patrika on* 21-12-1969]

59. NEW MOTTO OF THE INDIAN TERRITORIAL ARMY

Sir,—I am prompted to write the following by reading your interesting editorial comment "Misprint or joke" in the Nagpur Times of the 8th, Oct. 1949 I have not seen the note by Dr Kunhan Raja, asking for the enlightenment on the linguistic significance of the new motto of the Indian Territorial Army But I can understand his difficulty. The motto newly accepted is "Sāvadhānī Va Shūratā" (Caution and Valour). The first two words of the above motto are used in a non-Sanskritic way. The first word *Sāvadhānī* should be replaced by *Sāvadhānatā*. The word *Avadhāna* in Sanskrit means "attention, presence of mind." Consequently the word *Sāvadhāna* would mean "One who is attentive, careful, cautious." The abstract noun from the adjective *Sāvadhāna* is *Sāvadhānatā*. The form *Sāvadhānatā*, if used in the motto, will match well with the last word *Shūratā* (valour) The form *Sāvadhānī* is current in Hindi as an abstract noun, but it is likely to mislead or embarrass the non-Hindi public. Hence the above amendment. The form *Sāvadhānatā* would be understood by, and acceptable to, all the Indians. This fact emphasizes the need of the adoption by our national Govt. of a clear-cut principle that in coining a motto or slogan, it is preferable to employ the Sanskrit form of a word to its non-Sanskritic forms current in a regional language.

USE OF "VA"

The other difficulty is the use of the word '*VA*' in the sense of 'and'. It does not have the sense of 'or', as suggested in the editorial note, for which the Sanskrit word is '*VĀ*' with a long 'a'. Now '*VA*' with a short 'a' means 'and' in Marathi language. This Marathi sense of the word was in the mind of the Govt Officer who coined this new army motto.

Here again the misunderstanding arose from the fact that a non-Sanskritic word of a regional language has been used It is advisable to use the Hindi word 'aur' और in the place of '*VA*' The use of the Sanskrit word 'CHA' in the sense of 'and' would not be proper, for the new motto is intended to be in our national language, not in Sanskrit, though a suitable quotation in Sanskrit would have served the purpose well or rather better But the requirements of the Army being for popular use, a Sanskrit motto may have been out of place there In the present form, the motto is quite suitable for Marathi speaking areas, as regards the second word 'VA', and for Hindi-speaking areas as regards the first word 'Sāvadhānī' The amended form of the motto 'SĀVADHĀNATĀ AUR SHŪRATĀ' (सावधानता और शूरता) would be intelligible in the Hindi-speaking areas also and thus can be used as a national motto in the Indian Territorial Army

A PARALLEL

Here I am reminded of another similar case, where the Marathi usage of a word misled many The new postage stamps worth 3 pies have the script '3 pai' (३ पै) In Hindi speaking areas *Pai* is an abbreviation of *Paisa* (pice). So the new stamp with the script '3 *Pai*' was mistaken for a stamp of "3 *Paisa*" (9 pies) In Hindi the word Paī (पाई) is used for pie and *Paisa* is used for a pice But in Marathi, Pai (पै) is used for pie., Hence the confusion. We can easily account for the confusion, if we know that the postage stamps are printed in Nāsik

The Rāshtrabhāshā of India would have to be enriched *primarily* from Sanskrit and *secondarily* from regional languages also, provided the words of the latter supply a new idea or do not cause confusion. The first alternative in the above proviso is for avoiding the word '*VA*' in the new motto of the Territorial Army, and the second alternative is for avoiding the use of PAI in the new postage stamp

[*Published in Nagpur Times*
Nagpur, on (10-10-1949)

60. A PROJECT FOR THE STUDY OF "PĀNINIAN SYSTEM OF GRAMMAR"

An outline of the Chapters :—

Chapter I—Beginnings of Sanskrit Grammar; Padapāṭha, etymological attempts, and linguistic speculations in the Brāhmaṇa texts

Chapter II—Pre-Pāninian Grammarians—यास्क, शाकटायन etc. works on Phonetics and Prātishākhyas.

Chapter III—Pānini—His age; life; Geographical and Historical data; exhaustive list of such items of information; identifications of mentioned places (where possible).

Chapter IV—Aṣṭādhyāyī—Its outline; Analysis; Methodology structural technique, 'Rationale' etc.

Chapter V—Auxiliary Works—Gaṇapāṭha, Dhātupāṭha; लिङ्गानुशासन; फिट् सूत्र; उणादि सूत्र; Paribhāṣhās etc.—Their essential scope, lists, Interpolations; Principles of testing non-genuine parts, Reconstruction if of original lists.

Chapter VI—Studies in Pānini's Sūtras :—

Interpolated Sūtras ? Principles examined, natural interpretations, called "Restoration" of the original text.

Chapter VII—Pāṇini's contribution to the science of language; His indebtedness to predecessors; scope of his originality; drawbacks and imperfections; mistakes of omission and commission.

Chapter VIII—Kātyāyana and Patañjali—Their Age; life; Geographical and Historical data; importance of Mahābhāṣhya. Its style; and method of treatment.

Chapter IX—Pāṇini, Kātyāyana and Patañjali—Their relation to each other.

Aim of Vārtikas; their form and methodology; Collections of .ātyāyan's Vārtikas, Patañjali's methodology and achievements

Chapter X—Later commentators :—Vāmana and Jayāditya; Kaiyaṭa; Rāmachandra; Bhaṭṭojī Dīxita and Nāgesha Bhatta.

Chapter XI—Traditional interpretation of Pāṇini's Sūtras; its aims and achievements; Difference of fundamental view-points, anachronism; Methodology illustrated.

Chapter XII—Philosophy of Grammar—Kāraka; Samāsa; Syntax; theories on derivation; meaning of स्फोट वाद and शब्दब्रह्म; भर्तृहरि & कौण्डभट्ट; नागेश & गदाधर।

Chapter XIII—Grammar and other Sciences—Influence of Grammar on other systems of thought (Nyāya and Mīmānsā).

Chapter XIV—Pāṇini's Grammar—Its past, present and future.

[*Prepared in* 1934 *for guidance in study and research.*]